श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

समयसार

प्रवचनकार

क्षु० श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी

प्रकाशक

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान,

नरिया, वाराणसी — 221 005

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला – २०

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

समयसार

(समय-प्राभृत)

प्रवचन-सहित

प्रवचनकार
आध्यात्मिक सन्त, प्रशममूर्ति श्री गणेशप्रसाद वर्णी
(मुनिराज श्री गणेशकीर्ति महाराज)

सम्पादक
अनेक ग्रन्थों के संशोधक, सम्पादक एवं टीकाकार
डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
पूर्व प्राचार्य, श्री गणेश दि० जैन महाविद्यालय, सागर (म०प्र०)

प्रकाशक
श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी
फोन नं० : ०५४२-३१४०१८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला

ग्रन्थमाला सम्पादक

प्रो0 (डा0) राजाराम जैन
प्रो0 उदयचन्द्र जैन

© श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान, वाराणसी

आई एस बी एन 81–86957–26–X

वी0नि0 संवत् : 2528
ई0 सन् : 2002

तृतीय संस्करण, 1100 प्रतियाँ

मूल्य : 150 रु0

कम्पोजिंग :
सरिता कम्प्यूटर्स, वाराणसी

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स एवं पब्लिशर्स
19, सिविल लाईन्स, रूड़की – 247 667
दूरभाष : 01332 – 73140, 74740

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Shri Ganesh Prasad Varni Granthmala - 20

Shri Kund Kund Acharya's

SAMAYASAAR

with discourses

By

Shri Ganesh Prasad Varni
(Muniraj Shri Ganesh Kirtiji Maharaj)

Editor

Dr. Pannalal Ṣahityacharya

Shri Ganesh Varni Dig. Jain Sansthan
Naria, Varanasi - 221 005

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Shri Ganesh Prasad Varni Granthmala - 20

Granthmala Editors

Prof. (Dr.) Rajaram Jain
Prof. Udaichandra Jain

© Shri Ganesh Varni Dig. Jain Sansthan, Varanasi

ISBN-81-86957-26-X

Vir Nirvama Samvat : 2528
2002

Third Edition, 1100 Copies

Price : 150.00

Composed at :
Sarita Computers, Varanasi

Printed at :
Ajay Printers & Publishers
19, Civil Lines, Roorkee - 247 667
Phone : 01332-73140, Fax : 74740
E.mail : mehta@ndb.vsnl.net.in

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय वक्तव्य

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा विरचित समयसार को जैन आगम में अति विशिष्ट स्थान प्राप्त है । पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के प्रवचनों को टीका रूप में प्रस्तुत करने वाला यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित करते हुये हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है । इस ग्रन्थ में संकलित पहले तथा दूसरे संस्करणों के प्रकाशकीय, प्राक्कथन तथा प्रस्तावना आदि अतिविशिष्ट विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं, जिनमें पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, पं. दरबारीलाल जी कोठिया शामिल हैं । इनके शब्दों के आगे मेरा कुछ भी लिखना धृष्टता ही होगी । इतना अवश्य कहूँगा कि श्री गणेश वर्णी संस्थान (प्रारंभ में श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला) की स्थापना, संचालन सदा से जैन समाज के शीर्षस्थ विद्वान करते आये हैं तथा कर रहे हैं । इनके द्वारा जो साहित्य की निधि इस संस्था को सौंपी गयी है हम तो मात्र उसकी रक्षा ही कर रहे हैं ।

इस संस्करण के प्रकाशन में संस्थान के उपाध्यक्ष डा0 फूलचन्द्र जी प्रेमी तथा उनकी धर्मपत्नी डा0 पुष्पा जैन का अमूल्य योगदान है। ग्रन्थ का शुद्धिकरण उन्होंने पूरे मनोयोग से किया है, इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

हमारी अपील पर अनेक दान दाताओं ने स्वेच्छा से ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु दान प्रेषित किया है। उनमें प्रमुख हैं :– **श्री दिगम्बर जैन समाज, इम्फाल (द्वारा श्री तनसुखराय सेठी, अध्यक्ष) रू. 17000, श्री अनिल कुमार अग्रवाल, नई दिल्ली, रू. 1000, श्री महेन्द्र कुमार रमणलाल शाह, अहमदाबाद, रू. 1101 तथा रू. 101 ।** हम इन सभी दानदाताओं का अतिशय आभार प्रकट करते हुये आशा करते है कि आगे भी वे संस्थान को अपना सहयोग प्रदान करते रहेंगे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्थान के संचालन में इसके कार्यकारी निदेशक डा0 कमलेश कुमार जैन, सं. मंत्री श्री खुशालचंद जी सिंघई., उपमंत्री श्री पद्म जैन सदा सहयोगी रहते है । हम इन सभी के आभारी हैं।

ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री केशवदेव जी जैन, कानपुर, उपाध्यक्ष श्री पं. उदयचंद्र जी जैन, तथा संस्थान के वरिष्ठ उपाध्यक्ष डा0 राजाराम जी जैन का वरद्हस्त तो सदा रहता है । हम उक्त सभी महानुभावों को भी धन्यवाद देते हैं । संस्थान की दैनिक व्यवस्था संभालते डा0 कपिल देव जी गिरि को भी मैं बधाई देता हूँ । जिनके प्रयत्नों से कुछ न कुछ अभिवृद्धि होती रहती है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संस्थान के संस्थापक सिद्धान्ताचार्य पं0 फूलचन्द्र जी शास्त्री का यह जन्म शताब्दी वर्ष भी है । इस ग्रन्थ के प्रकाशन के द्वारा हम उन्हें अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हैं ।

प्रो० (डा०) अशोक जैन
मन्त्री

26 जनवरी 2002
गणतन्त्र दिवस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समयसार की महिमा

श्री कुन्दकुन्द आचार्य को बारम्बार नमस्कार हो। उन्हीं का यह वास्तविक महोपकार है जो आज इस भारतभूमि में अध्यात्म का विस्तार से प्रचार हो रहा है। जिन्होंने उनके द्वारा निर्मित समयसारादि शास्त्रों का अवलोकन किया, उन्होंने वास्तविक आत्मस्वरूप का अनुभव किया।

जिनकी बुद्धि सूक्ष्म है— वे तो समयसार की प्रथम गाथा से ही सर्ववस्तुस्वरूप जानने के सुपात्र हो जाते हैं। प्रथम गाथा में सर्व सिद्ध-भगवान् को नमस्कार किया। इससे यह तत्त्व दृष्टि में आता है कि प्रत्येक आत्मा में सिद्धपर्याय शक्ति रूप से विद्यमान है तथा नमस्कार करने से यह तत्त्व समझ में आता है कि आत्मा सर्वथा शुद्ध नहीं। आत्मा नामक वस्तु एक है। उसकी २ अवस्थाएँ हैं— १. सिद्धपर्यायरूप और २. असिद्धपर्यायरूप।

परमार्थदृष्टि से आत्मा अनुपम और अखण्ड है। परन्तु जब पर्यायदृष्टि से विचार किया जाता है तब अनेक प्रकार से उस आत्मा का निरूपण होता है।

यही **'संसारिणो मुक्ताश्च'** (त०सू० २-१०) सूत्र में जीव की दो अवस्थाओं द्वारा सब अवस्थाओं का वर्णन किया है। वह कथन पर्यायदृष्टि से आत्मतत्त्व का है। केवल दृष्टि से किया हुआ अनुभव यथार्थ नहीं है।

दूसरी गाथा में इसका विस्तार से वर्णन है। वह इस प्रकार है—

जीवो चरित्त-दंसण-णाणट्ठिओ हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं।।२।।

इस गाथा में यह दिखाया गया है कि जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है उसे स्वसमय कहते हैं और जो पुद्गलकर्मप्रदेशों में स्थित है उसे परसमय कहते हैं। ये दोनों पर्याय हैं— जिनमें वही जीव है। यद्यपि ये दोनों पर्यायें जीव की हैं, परन्तु इनमें एक पयार्य आत्मा को आकुलता की जननी होने से त्याज्य है और दूसरी पर्याय उपादेय है। उसी की प्राप्ति का उपाय रत्नत्रयरूप पुरुषार्थ है।

समयसारग्रन्थ अपूर्व आत्मप्राप्ति का साधन है। सर्वसे प्रथम समय (आत्मा)— सार प्राप्ति के लिये आत्म-तत्त्व को जानने की आवश्यकता है। उसका मूल उपाय 'अहं प्रत्यय' है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहम्प्रत्ययवेद्यता ही आत्मतत्त्व की ज्ञापक (साधक) है। 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' — मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ— ऐसा बोध जिसमें होता है, वही तो 'अहं' पद वाच्य आत्मा है।

यह प्रत्यय मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी दोनों के होता है। भेद इतना है— जो सम्यग्ज्ञानी जीव केवल आत्मा की श्रद्धा करता है, और मिथ्यात्वी द्रव्यान्तर के मिलाप सहित आत्मा का अनुभव करता है।

समयसार पर लिखना अथवा प्रवचन करना सामान्य नहीं। मैंने जो कुछ लिखा, प्रवचन किया सो दुर्बल अवस्था में। समय यदि अच्छा आया, कुछ करूँगा, परन्तु आना कठिन है।

गणेश वर्णी

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

गत अक्तूबर १९६८ में श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला से **'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत'** नाम का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। विद्वत्संसार और सामान्य पाठक-जगत् में इस ग्रन्थ का जो समादर एवं स्वागत हुआ वह उल्लेखनीय तथा प्रसन्नतावर्धक है। मार्च १९६९ में **'सत्य की ओर'** कृतिका ग्रन्थमाला ने प्रकाशन किया। यह एक छोटी-सी रचना है, पर समाज में इतनी माँग हुई कि एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ कि यह संस्करण समाप्तप्राय है।

हमें अत्यधिक प्रसन्नता है कि जिन प्रशममूर्ति आध्यात्मिक सन्त के प्रति कृतज्ञता ख्यापन एवं स्मृति में ग्रन्थमाला संस्थापित हुई उन्हीं ज्ञानप्रसारक परोपकारी महामना श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी (अन्तिमावस्था में मुनिराज गणेशकीर्ति) का **'समयसार-प्रवचन'** आज प्रकट हो रहा है।

इस प्रकार ग्रन्थमाला एक वर्ष के भीतर अपने पाठकों एवं संरक्षक-सदस्यों को तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देने में समर्थ हो सकी है। हम नहीं जानते कि इतनी जल्दी इन ग्रन्थ रत्नों के प्रस्तुत करने में कौन-सी दैवी शक्ति काम कर रही है। हमें तो लगता है कि पूज्य वर्णीजी का परोक्ष प्रभावपूर्ण पुण्य कार्य कर रहा है, जिसके कारण समाज के उदार सज्जन संकेत या प्रेरणा पाते ही अपना आर्थिक सहकार सदा देने को तैयार रहते हैं। हमारा अनुभव दृढ़ होता जाता है कि समाज उचित दिशा में आर्थिक सहायता दिल खोलकर देती है।

समयसार-प्रवचन के प्रकाशन के साथ एक कहानी है। वर्णीजी इसे प्रकाशित नहीं करना चाहते थे। उनके निकट सूत्र जब उसके प्रकाशन के लिए उन पर जोर देते थे, तो वे इतना ही कहकर उन्हें टाल देते थे कि **भैया! कुन्दकुन्द महाराज और अमृतचन्द्रस्वामी की सूर्य-चन्द्र प्रकाश की तरह प्रकाशक कृतियों के सामने मेरा जुगुनू से भी कम प्रकाशक प्रवचन क्या लाभदायी होगा?— उससे कोई लाभ नहीं होगा।** जब उनसे पुनः कुछ काल बीतने पर कहा जात, तब भी वे वही उपर्युक्त उत्तर देते थे। इससे कुछ लोगों की यह धारणा हो गयी थी कि वर्णीजी जब उसका प्रकाशन नहीं चाहते और उसे न्यून बतलाते हैं तो उसे प्रकाश में नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लाना चाहिए। किन्तु एक दूसरा पक्ष था, जो उसे प्रकाश में लाने के लिए उत्सुक था। इस पक्ष का कहना था कि जब सावन की अन्धेरी में चन्द्र का प्रकाश नहीं होता तब पथिक जुगनू के अल्प प्रकाश के सहारे अपना मार्ग तय कर लेते हैं। आपका प्रवचन भले ही विद्वानों के लिए उपयोगी न हो, किन्तु सैकड़ों ऐसे व्यक्ति हैं जो कुन्दकुन्द महाराज और अमृतचन्द्रस्वामी की कृतियों का रसास्वाद लेना चाहते हैं, पर अपनी बुद्धिमन्दता के कारण वे उनका रसास्वाद नहीं ले पाते— वे उससे वञ्चित रहते हैं। आपकी कृति के सहारे वे उसका भी रसास्वाद ले सकेंगे। वर्णीजी इन्हें भी टाल देते थे। अन्ततोगत्वा उनके समक्ष समयसार-प्रवचन का प्रकाशन न हो सका।

डॉ०नरेन्द्रकुमारजी एम०ए०, साहित्याचार्य पूज्य वर्णीजी के उपदेशों और पत्रों का सम्पादन कर चुके थे और उसका प्रकाशन 'वर्णी-वाणी' के नाम से अनेक भागों में वर्णी-ग्रन्थमाला कर चुकी थी। उनकी तीव्र भावना थी कि वर्णीजी का समयसार-प्रवचन अवश्य प्रकाशित होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने लाला फिरोजीलालजी दिल्ली को प्रेरित किया और उनके आर्थिक द्रव्य से मूल ग्रन्थ की फोटो-कापी लिवायी। ला०फिरोजीलालजी ने पुत्र-गोद की रस्म पर १० मई १९६७ को हमें दिल्ली बुलाया। डॉ० नरेन्द्रकुमारजी भी पहुँच गये थे। तय हुआ कि समयसार-प्रवचन का प्रकाशन वर्णी-ग्रन्थमाला के तत्त्वावधान में लालाजी अपने **'वर्णी अहिंसा प्रतिष्ठान'** से करें और मूल प्रति पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन उदासीनाश्रम ईसरी से हम मंगा लें।

परन्तु कुछ महीनों बाद दुर्भाग्यवश उक्त व्यवस्था टूट गयी और हम निराश होकर चुप हो गये। दो वर्ष बाद लोगों की प्रेरणा से, जिसमें सम्पादकजी की प्रेरणा विशेष थी, वर्णी-ग्रन्थमाला से उसे प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। जैसा कि सम्पादकीय में सम्पादकजी ने उल्लेख किया है कि सम्पादित पाण्डुलिपिका मूल ग्रन्थ से मिलान और संशोधन का कार्य श्रीमान् पं०जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी ने किया है। निस्सन्देह उनका यह योगदान स्तुत्य है।

अनेक ग्रन्थों के सुयोग्य संशोधक, टीकाकार और सम्पादक श्रीमान् पण्डित पन्नालालजी वसन्त, साहित्याचार्य ने पूज्य वर्णीजी की **'मेरी जीवनगाथा'** के दोनों भागों की तरह इसका भी तत्परता, परिश्रम और सच्चे साहित्यकार की भाँति सम्पादन किया है। यद्यपि उनकी यह सम्पादित पाण्डुलिपि कुछ महीनों में ही तैयार हो गयी थी, किन्तु ग्रन्थमाला के सामने तत्काल आर्थिक कठिनाई होने और नयी व्यवस्था के जमाने में श्रम और समय अपेक्षित होने से कुछ विलम्ब हो गया। साहित्याचार्यजी,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए हुए किसी भी दायित्व में प्रमाद करना नहीं जानते। विद्वानों की नयी पीढ़ी में दो ही साहित्यिक विद्वान् नजर आते हैं जो तत्परता और शीघ्रता से साहित्यिक कार्यों को गति देते और उन्हें मूर्त रूप प्रदान करते हैं। वे हैं साहित्याचार्यजी और डॉ०नेमिचन्द्रजी शास्त्री आरा। हमें इन विद्वानों पर गर्व है और खुशी की बात है कि ग्रन्थमाला को इन दोनों विद्वानों का सहकार प्राप्त है। डॉ०नेमिचन्द्रजी तो सहयोगी मन्त्री भी हैं।

प्रस्तावना में सम्पादक जी ने कुन्दकुन्दस्वामी, उनके समयसार एवं अन्य ग्रन्थों, टीकाकारों, टीकाग्रन्थों और ग्रन्थ-विषय का विस्तार से परिचयात्मक ऊहापोह किया है। अत: इस सम्बन्ध में और विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, एक अन्वेषकदृष्टि से कुन्दकुन्द के विदेह-गमन के प्रकाशक प्रमाणों की खोज निरन्तर जारी रहना चाहिए। साथ ही देवसेन के दर्शनसारगत उल्लेख पर, जिसमें कुन्दकुन्द के विदेहगमन का स्पष्ट निर्देश है, सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द का **'सुय-केवली-भणियं'** (१-१) विशेषण विशेष ध्यातव्य है। अमृतचन्द्रसूरि ने इसका अर्थ **'श्रुतप्रकाशित** और **केवलीभणित'** किया है, जिसका तात्पर्य है कि कुन्दकुन्द ऐसे **'समय-पाहुड'** की रचना कर रहे हैं जो श्रुत (श्रुतकेवली अथवा आगम) और केवली प्रतिपादित है। इससे जहाँ उसमें स्वरुचिविरचित तत्त्व का परिहार किया गया है, वहाँ श्रुतकेवली प्रकाशित और केवली कथित तत्त्व होने से प्रामाणिकता भी प्रकट की गयी है। अतएव समीक्षकों एवं ऐतिहासिकों के लिए कुन्दकुन्द का यह विशेषण और अमृतचन्द्रसूरिकृत उसका व्याख्यान उपेक्षणीय नहीं है। प्रमाणों के सामने आने पर कुन्दकुन्द के विदेहगमन पर और अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

ऊपर कहा गया है कि वर्णी-ग्रन्थमाला समाज के आर्थिक सहकार पर निर्भर है। अतएव इसके प्रकाशन की एक योजना बनायी गयी कि यदि कुछ महानुभाव प्रस्तुत ग्रन्थ की १००, ५०, २५, १० आदि प्रतियाँ खरीद लें या उतनी प्रकाशन-सहायता दे दें तो यह ग्रन्थ सरलता से प्रकाश में आ जायेगा। तदनुसार हमने कुछ पत्र लिखे और कुछ स्थानों पर गये। हमें प्रसन्नता हैं कि लगभग ३००-४०० प्रतियों के पेशगी ग्राहक या सहायक हो गये। आज इन्हीं उदार सज्जनों के सहयोग से केवल साढ़े तीन माह में ग्रन्थ छपकर तैयार हो गया। हम इन सभी आर्थिक सहयोगियों के आभारी हैं।

यदि लाला फिरोजीलालजी, जो पूज्य वर्णीजी के परमभक्तों में से हैं और बड़े उदार प्रकृति के हैं तथा डॉ०नरेन्द्रकुमारजी, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वप्रथम पहल की और जिनकी भावना इसे शीघ्र प्रकाश में लाने की रही, मूल ग्रन्थ की फोटो-कापी न कराते एवं प्रकाशन के लिए आगे न आते, तो शायद यह अभी प्रकाश में न आ पाता। अत: हम इन दोनों ही महानुभावों को हृदय से धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते।

आदरणीय पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, उपाध्यक्ष वर्णी-ग्रन्थमाला ने हमारे अनुरोध पर पाण्डुलिपि का वाचन किया और अपने मूल्यवान् परामर्श दिये और प्राक्कथन लिख देने की कृपा की, अत: हम उनके भी आभारी हैं। बन्धुवर पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य ने पूज्य वर्णीजी का एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्पादित कर ग्रन्थमाला को दिया और शतश: पाठकों को लाभान्वित किया, एतदर्थ उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

ग्रन्थ के सुन्दर और शीघ्र मुद्रण के लिए प्रिय बाबूलालजी फागुल्ल संचालक महावीर प्रेस और उनका परिकर भी धन्यवादार्ह है।

भाद्रशुक्ल ५
वी०नि० २४९५
१५-९-६९

(डॉ०) दरबारी लाल कोठिया
मन्त्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

हमें हर्ष है कि पूज्य वर्णीजी (मुनि गणेश कीर्ति) महाराज के इस समयसार-प्रवचन को पाठकों ने अत्यधिक पसन्द किया। वीर-निर्वाण संवत् २४९५ में इसका प्रथम संस्करण निकला था और वह एक वर्ष पूर्व ही समाप्त हो गया था। पाठकों की निरन्तर माँग आ रही थी।

अतः आज द्वितीय संस्करण को प्रकाशित करते हुए हमें उतनी ही प्रसन्नता है जितनी प्रथम संस्करण के प्रकाशन के समय थी। आशा है अब पाठकों की माँग को हम पूरा करने में सक्षम हो सकेंगे।

इस समय ग्रन्थमाला आर्थिक संकट में चल रही है। वर्णी-वाणी, जैनदर्शन, सत्य की ओर, अध्यामपत्रावली और समयसार-प्रवचन के पूर्व संस्करण समाप्त हो जाने से उनका पुनः प्रकाशन कराया गया है और जिनमें लगभग तीस हजार रुपया लग चुका है। हमें तत्काल दश हजार रुपयों की और जरूरत है, जिससे प्रेस आदि का बकाया रुपया चुकाया जा सके। अनुरोध है कि समाज के साहित्यानुरागी ग्रन्थमाला के संरक्षक सदस्य एवं ग्राहक बनकर हमें सहायता करें तथा उदारदानी ग्रन्थमाला को दान देकर सहयोग करें।

सबके आभार सहित

(डॉ०) दरबारी लाल कोठिया
मन्त्री

चमेली कुटीर, डुमराँव बाग
अस्सी, वाराणसी-५
२७ मार्च, १९७५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

प्रस्तुत 'समयपाहुड' (समयसार) श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत अनुपम अध्यात्मग्रन्थ है। इसकी एक आत्मख्याति नाम की संस्कृत-टीका आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा तथा दूसरी तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत-टीका, उनके बाद जयसेनाचार्य द्वारा रची गयी है। इसका सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद पण्डितप्रबर जयचन्द्रजी ने किया है। यह अनुवाद अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका पर आधृत है। इसका नाम 'आत्मख्याति-समयसार' है।

समयसार के अध्येता उसकी रचनाकाल के बाद से ही प्रायः अनेक आचार्य होते आये हैं। अनेक मनीषियों ने कुन्दकुन्दाचार्य को अपने ग्रन्थों में बहुमान देकर स्मरण किया है। भगवान् महावीर तथा गौतम गणधर के बाद यदि किसी आचार्य का उल्लेख मंगलाचरण में मंगलप्रदाता के रूप में किया गया हैं तो वह भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य का ही है।[१]

यद्यपि धर्मोपदेष्टा अन्य अनेक आचार्य भी हुए हैं तथापि श्रीकुन्दकुन्द का नाम उनके उत्तरवर्ती सभी आचार्यों की जिह्वा पर नृत्य करता आया है।

आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन के उत्तरवर्तियों में इस ग्रन्थ के अध्ययन करनेवालों में हिन्दी के कविवर बनारसीदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने "अर्धकथानक" में इसके अध्ययन की चर्चा की हैं। इसके अतिरिक्त कविवर ने "नाटक समयसार" नाम से छन्दोबद्ध रचना करके तो समयसार को हिन्दी जगत में आदृत बनाया है। हिन्दी के जैन कवियों में कविवर दौलतराम, द्यानतराय, भागचन्द्र आदि की रचनाओं में जो अध्यात्म के दर्शन होते हैं वह सब कुन्दकुन्द के समयसार का ही प्रभाव है। प्रतीत होता है कि ये विद्वान् उक्त महान् ग्रन्थ के गहरे स्वाध्यायी थे।

पूज्य श्री १०५ वर्णी गणेशप्रसादजी महाराज ने अपने जीवन के करीब ५० वर्ष इस महान् ग्रन्थ के पारायण में व्यतीत किये हैं। अपने अध्ययनकाल से लेकर मेरा सम्पर्क पूज्य वर्णीजी से था। यद्यपि हमारे न्यायशास्त्र के विद्यागुरु स्व०श्रीमान् आदरणीय पं०अम्बादासजी शास्त्री थे, जो पूज्य वर्णीजी के भी विद्यागुरु थे, तथापि हम अपने सहाध्यायियों के साथ वर्णीजी के पास भी उक्त विषय पढ़ते थे, इस नाते

---

१. मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा सप्तम प्रतिमाधारी विद्वान् ब्रह्मचारी होने के नाते भी हम सब उन्हें अपना गुरु ही मानते थे। वर्णीजी का मुझपर अत्यधिक स्नेह इस कारण भी था कि उन्होंने सप्तम प्रतिमा की दीक्षा मेरे पूज्य पिता ब्रह्मचारी गोकुलप्रसादजी के पास ली थी। ऐसे महान् सन्त का स्नेहभाजन होना मेरा परम सौभाग्य था।

पूज्य वर्णीजी के मुखारविन्द से मुझे समयसार के प्रवचन सुनने का अवसर प्रायः सदा मिलता था। मैं उन्हें प्रायः समयसार का ही स्वाध्याय करते पाता था। ग्रन्थराज उनके लिए 'सुधानिधि' थे। वे कभी-कभी स्वप्न में भी समयसार का स्वाध्याय किया करते थे और उनके समीप रहनेवाले उनके मुख से सोते समय पंक्तियों का पाठ सुनते थे।

इसी युग में ब्र० शीतलप्रसादजी तथा कारंजा के भट्टारक श्रीवीरसेनस्वामी भी समयसार के अध्येता हुए हैं। पर इस अमृत का स्वाद वे शायद अपने तक ही सीमित रख सके। ब्र० शीतलप्रसादजी ने इस विषय पर कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं।

श्री कानजीस्वामी तो समयसार से इतने प्रभावित हैं कि वे अहर्निश प्रायः इसी का स्वाध्याय एवं प्रवचन करते हैं। उन्होंने समयसार के अध्ययन के आधार पर स्वयं को तथा अपने हजारों शिष्यों को अध्यात्म की ओर मोड़ दिया है।

पूज्य वर्णी जी अध्यात्मरस के रसिक थे। दूसरों को भी उसका रसास्वाद कराने में उनकी माधुरी वाणी समर्थ थी। जब पूज्यश्री का प्रवचन होता था, तो ऐसा लगता था कि इनकी वाणी कैसे पकड़कर रख ली जाय, जो कालान्तर में भी हमारे हृदय में सुधा-सिंचन करती रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक बार वर्णीजी से प्रार्थना की कि वे समयसार पर कुछ लिखें।

वर्णीजी ने अनेक श्रोताओं के आग्रहवश चुपचाप लिखना भी प्रारम्भ कर दिया था। उनके स्वर्ग प्रयाण के बाद शोध हुई तो उनके लिखे समयसार-प्रवचन की पाण्डुलिपि पायी गयी। वर्णीजी की भाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित थी, अतः उनका समयसार-प्रवचन भी स्वभावतः वैसी ही भाषा में लिखा गया। सर्वसाधारण की, जो खड़ी हिन्दी से परिचित हैं, कठिनाई भी हल हो सके, इस अभिप्राय से यह आवश्यक समझा कि इसे खड़ी भाषा में अवतरित किया जाय। यह कार्य श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर ने करना स्वीकार किया और उसे बहुत सुन्दर स्वरूप दिया, जो वर्णी-ग्रन्थमाला द्वारा प्रकट होकर आज आपके सामने आ रहा है।

१० सिम्बर १९६९, **जगन्मोहनलाल शास्त्री**
कटनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज, जिन्होंने ईसरी में अन्तिम समय दिगम्बर मुनि-दीक्षा धारण कर श्री १०८ गणेशकीर्ति महाराज नाम से भाद्रपद कृष्ण ११ वि० सं २०१८ को स्वर्गारोहण किया था, समयसार के माने हुए विद्वान् और कुशल प्रवक्ता थे। वे न्याय के आचार्य थे और संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार रखते थे। कुन्दकुन्दस्वामी के द्वारा विरचित 'समयसार' आत्मतत्त्व का वर्णन करने-वाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। श्रीअमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्य ने उसपर संस्कृत टीकाएँ लिखकर उसके गम्भीर भाव को सरलता से समझाकर जनसाधारण का बहुत उपकार किया है। यह समयसार वर्णीजी महाराज को अत्यन्त प्रिय था। जीवन के अन्तिम वर्षों में तो वे '**सर्वं त्यज, एकं भज**' के सिद्धान्तानुसार अन्य ग्रन्थों से अपना उपयोग हटाकर एक समयसार पर ही अपना उपयोग केन्द्रित करने लगे थे। उन्हें अमृतचन्द्रसूरि द्वारा विरचित आत्मख्याति सहित समयसार कण्ठस्थ था। उनके मुखारबिन्द से समयसार का प्रवचन सुनते समय श्रोता को जो आनन्द प्राप्त होता था उसका वर्णन वही कर सकता है जिसने कि उस प्रवचन को मनोयोगपूर्वक साक्षात् सुना है। समयसार का संस्कार उनके हृदय में इतना अधिक आरूढ हो गया था कि वे स्वप्न में भी इसका प्रवचन करते थे। ईसरी में उनके समीप रहनेवाले लोगों के मुख से सुना है कि पूज्य वर्णीजी स्वप्न में भी अमृतचन्द्रसूरि की आत्मख्याति के साथ समयसार की कितनी ही गाथाएँ अविकल बोलते रहते थे। उनकी यह क्रिया स्वप्न में जब कभी २०-२५ मिनिट तक अविरल चलती रहती थी।

इस समय समयसार के स्वाध्याय में पर्याप्त वृद्धि हो रही है। जो 'समयसार' शब्द का अर्थ नहीं समझते हैं, निश्चय और व्यवहार नय का स्वरूप नहीं जानते हैं वे भी हाथ में समयसार लिये देखे जाते हैं। कहना चाहिये कि यह समयसार का युग है। कुन्दकुन्द महाराज के हृदय-हिमालय से जो अध्यात्म की मन्दाकिनी प्रवाहित हुई, उसकी सरस-शीतल धारा में अवगाहनकर संसार-भ्रमण से संतप्त मानव परमशान्तिका अनुभव करें, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। समयसार ने अनगिनत जीवों का कल्याण किया है। उसका स्वाध्याय कर अन्य अनेक धर्मी लोग शाश्वत कल्याणकारी दिगम्बर धर्म में दीक्षित हुए हैं। कविवर बनारसीदासजी, शतावधानी रायचन्द्रजी और सोनगढ़ के श्रीकानजी स्वामी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संपर्क में रहनेवाले लोगों ने पूज्य वर्णीजी महाराज से जब इस बात का आग्रह किया कि महाराज! आप समयसार के अधिकारी विद्वान् हैं, अधिकारी इसलिये कि आप न केवल हिन्दी टीकाओं के आधार से इसके ज्ञाता हुए हैं किन्तु प्राकृत और संस्कृत भाषा में विरचित मूलग्रन्थ तथा उसकी संस्कृत-टीकाओं के एक-एक पद का विश्लेषणकर उसके ज्ञाता हुए हैं, साथ ही आपकी प्रवचन-शैली भी आकर्षक एवं उच्चकोटि की है, जिससे साधारण-से-साधारण श्रोता भी गहन तत्त्व को सरलता से हृदयंगम कर लेता है। अतः आप के द्वारा इसकी टीका लिखी जावें—इस पर प्रवचन किये जावें, जिससे भविष्य में भी जनता लाभान्वित होती रहे। तब लोगों की प्रर्थाना सुनकर वे सहजभाव से यह कहकर टाल देते थे कि **'भैया मिश्री के चखने में ही आनन्द है उसके गुणवर्णन में नहीं।'** फिर भी इस ओर उन्होंने ध्यान दिया और अपनी दिव्य लेखनी से समयसार की टीका लिखकर अपनी स्वाध्याय-मञ्जूषा में रख लीं।

जब जबलपुर में महाराजश्री का चातुर्मास हो रहा था, तब हमारे एक मित्र ने पत्र लिखा कि पूज्य वर्णीजी महाराज ने अपनी आत्मकथा और समयसार की टीका लिखकर पूर्ण कर ली है, इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो। प्रयत्न करने पर भी ये अमूल्य रत्न उन्होंने प्रदान नहीं किये। प्रत्येक कार्य समय आने पर ही सिद्ध होता है। जबलपुर से सागर की ओर विहार करते हुए आप मलहरा आ गये थे। उसी वर्ष सागर में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् की ओर से द्वितीय शिक्षण शिविर का आयोजन हो रहा था। इसका निमन्त्रण देने के लिए मैं स्वयं मलहरा गया था। मध्याह्न की सामायिक के बाद उन्होंने आत्मकथा का वह प्रकरण उपस्थित जनता के समक्ष स्वयं सुनाया, जिसमें उन्होंने अपनी धर्ममाता पूज्या चिरोंजाबाईजी के जीवन पर प्रकाश डाला था। उसे सुनकर सबका हृदय गद्‌गद हो गया। मैं आत्मकथा की उन कापियों को प्राप्त करने के लिए प्रयास करता रहा। फलतः वे उन्होंने मुझे दे दीं। शिक्षण-शिविर के कार्यक्रम से निवृत्त होते ही मैं उनकी पाण्डुलिपि में संलग्न हो गया और ३-४ माह के भीतर उसका एक व्यवस्थित रूप सामने आ गया। **'मेरी जीवन-गाथा'** के नाम से **'वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी'** के द्वारा उसका प्रकाशन हो गया। इस तरह एक रत्न तो सामने आ गया था। परन्तु दूसरा रत्न 'समयसार की टीका' को उन्होंने प्रकाश में नहीं आने दिया।

समाधिमरण के बाद जब उनकी स्वाध्याय-सामग्री देखी गई तब उसमें यह टीका प्राप्त हुई। इसके प्रकाशन के लिये श्रीनरेन्द्रकुमारजी एम० ए०, साहित्याचार्य ने, जो अब पी-एच० डी० भी हैं, बड़ा प्रयत्न किया। ला० फिरोजीलालजी दिल्ली को प्रेरित करके उनके आर्थिक सहकार से इसके समस्त पृष्ठों को टाईप कराकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने ४-६ प्रतियाँ तैयार कराईं और विद्वानों के पास भेजीं। फिर भी उसके प्रकाशन का सुयोग नहीं बना। पिछले वर्षों में ईसरी में होनेवाले मन्दिरप्रतिष्ठा के अवसर पर श्री पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० जगन्मोहनलालजी तथा खुशालचन्द्रजी के साथ मैं भी वहाँ गया था। प्रसन्नता की बात है कि वर्णी ग्रन्थमाला के मंत्री डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने पं० कैलाशचन्द्रजी द्वारा मूलकापी ग्रन्थमाला से प्रकाशित करने के विचार से वाराणसी मंगवा ली और वह उनकी तथा पं० जगन्मोहनलालजी की सलाह से संपादनार्थ मुझे भेज दी।

वर्णीजी द्वारा लिखित समयसार को देखने की उत्सुकता बहुत पहले से हृदय में विद्यमान थी, अतः इसका अध्ययन शुरू कर दिया। देखने पर ऐसा लगा कि यह टीका एक प्रवचन के रूप में है, जिसमें उन्होंने अधिकांश अमृतचन्द्रसूरि की आत्मख्यातिटीका, कहीं-कहीं जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति और अनेक शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त अपने जिनागम-सम्बन्धी अनुभव का आश्रय लिया है। समयसार के गूढ़ भाव को उन्होंने बड़ी सरलता से अनेक दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है। साथ ही अमृतचन्द्रसूरि द्वारा निर्मित कलश-काव्यों का भी कहीं अर्थरूप में और कहीं भावार्थरूप में व्याख्यान किया है। यह प्रवचन उन्होंने नातिविस्तर और नातिसंक्षेप की पद्धति से लिखा है। इस प्रवचन के आधार पर श्रोता श्रीकुन्दकुन्दस्वामी और अमृतचन्द्रसूरि द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को सरलता से ग्रहण कर सकता है। कितने ही प्रवचन मूल लक्ष्य से भटककर प्रवाह में अन्यत्र बह जाते हैं परन्तु पूज्य वर्णीजी का यह प्रवचन मूलानुगामी है।

बाद में इसे संपादित करने का कार्य शुरू किया। संपादन करते समय समयसार की दोनों संस्कृत-टीकाओं तथा पं० जयचन्द्रजी कृत हिन्दी टीका को सामने रखा गया तथा पूज्य वर्णीजी ने जो लिखा है उसका उनसे मिलान किया गया। उन्होंने अपने इस प्रवचन में अमृतचन्द्रसूरि के कलशोंपर व्याख्यान तो किया था—कहीं अर्थ के रूप में और कहीं भावार्थ के रूप में, परन्तु मूल श्लोकों को उद्धृत नहीं किया था। आज समयसार के अध्येताओं में कलशों के स्वाध्याय का भी प्रचार बढ़ रहा है। इसके ऊपर स्वतन्त्र टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं पर बीच-बीच में समयसार की गाथाओं का संदर्भ टूट जाने से वे अपूर्ण-सी दिखती हैं। अतः मैंने कलशों के मूल श्लोक भी तत् तत् प्रकरणों में उद्धृत कर दिये तथा जहाँ जैसा आवश्यक दिखा उसके अर्थ और भावार्थ को स्पष्ट कर दिया। वर्णीजी के द्वारा लिखित प्रति में अन्त के स्याद्वादाधिकार के प्रवचन के पृष्ठ नहीं मिले। ये पृष्ठ कहीं गुम गये या लिखे ही नहीं गये, इसका निर्णय नहीं हो सका। ग्रन्थ अपूर्ण न रहे, इस भावना से मैंने श्रीजयचन्द्रजी की हिन्दी-टीका के आधार पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वादाधिकार का हिन्दी-व्याख्यान स्वयं लिखकर जोड़ दिया है। वर्णीजी की भाषा अपनी एक शैली स्वयं रखती है, उसमें यद्यपि आधुनिक खड़ी बोली और संस्कृतबहुल शब्दों का आश्रय कम हैं तथापि उसमें माधुर्य है, आकर्षण है और हृदयगत भाव को प्रकट करने की अद्भुत क्षमता है। इसलिये परिमार्जन के नाम पर उसमें उतना ही परिमार्जन किया गया है जितना कि अत्यन्त आवश्यक दिखा। कहीं-कहीं कुछ उदाहरण एक से अधिक बार आ गये थे उन्हें अलग कर दिया।

इस ग्रन्थ का संपादन करते समय अन्तरङ्ग में बड़ा आह्लाद था, ऐसा लगता था कि एक अपूर्व ग्रन्थ जनकल्याण के लिये सामने आ रहा है, इसलिये दिनभर संस्थाओं के कार्यों में व्यस्त रहने के बावजूद भी रात्रि के दो-दो बजे तक अथवा जब नींद खुल गई तभी यह कार्य होता रहा। ऐसा लगता था कि जैसे कोई अदृश्य शक्ति इस कार्य में मुझे शक्ति प्रदान कर रही है।

ग्रन्थ तैयार होने पर मुझे लगा कि इस ग्रन्थ का सम्बन्ध एक ऐसे उच्च संयमी एवं ख्याति प्राप्त विद्वान् के साथ है जो समाज में जन-जन की श्रद्धा के भाजन थे और वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं। **'जीवन-गाथा के'** दोनों भागों का संपादनकर उनकी पाण्डुलिपियाँ उन्हें दिखाकर तथा अक्षरशः उन्हें सुनाकर अपने दायित्व से मुक्त हो गया था। पर यह संस्करण उनके अभाव में प्रकाशित हो रहा है, अतः चिन्तित था कि ग्रन्थ में कहीं कोई त्रुटि न रह जावे। फलतः मैंने इसे अन्य विद्वानों को भी दिखा लेना उचित समझा। श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और पं० दरबारीलालजी कोठिया की संमत्यनुसार संपादित पाण्डुलिपि श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी के पास भेज दी। हर्ष की बात है कि उन्होंने पूज्य वर्णीजी द्वारा लिखित मूल प्रति तथा समयसार की अन्य प्रतियों को सामने रखकर अक्षरशः उसका अवलोकन किया तथा जहाँ सुधार आवश्यक समझा उसकी एक सूची बनाई और उसे लेकर सागर पधारे। यहाँ ५ दिन रहे तथा संपादित पाण्डुलिपि का पुनः वाचन कराकर ऊहापोहपूर्वक आवश्यक सुधारों को यथास्थान आयोजित कराया। मैं पण्डितजी की इस तल्लीनता से मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हो रहा था। इस तरह पण्डितजी के निरीक्षण के बाद पाण्डुलिपि की पूर्णता के विषय में मैं आश्वस्त हो सका। पण्डित जगन्मोहनलालजी एक-एक शब्द-विन्यास को बड़ी बारीकी से परखते हैं। समयसार का अनुभव भी आपका उत्तम है। इस कार्य में उन्होंने जो सहयोग प्रदान किया उसके लिये मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

संपादन के पूर्व इसके प्रकाशन की जो व्यवस्था निश्चित हुई थी वह विघटित हो गई, इसलिए नवीन व्यवस्था के लिए वर्णी-ग्रन्थमाला को प्रयास करना पड़ा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और इसमें कुछ समय भी लग गया। पर मेरा हृदय इस ग्रन्थ को जहाँ से प्रकाशित करना चाहता था वहीं से इसका प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। वर्णी-ग्रन्थमाला पूज्य वर्णीजी के नाम से सम्बद्ध है तथा उन्हीं के वरद हस्त एवं शुभाशीर्वाद से इसका कार्य प्रारम्भ हुआ था। सर्वप्रथम 'मेरी जीवन गाथा' के नाम से वर्णीजी की आत्मकथा का प्रथम भाग इस ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ था। उसके बाद वर्णीजी से सम्बद्ध मेरी जीवनगाथा द्वितीय भाग, वर्णी-वाणी ४ भाग आदि अनेक ग्रन्थ और भी इस ग्रन्थमाला ने प्रकाशित किये हैं। वर्तमान में उसके उत्साही मन्त्री श्री डॉ० दरबारीलालजी कोठिया ग्रन्थमाला के संचालन में बड़ा श्रम, समय और मनोयोग देते हैं। प्रूफ देखने आदि का कार्य भी आप निःस्पृहभाव से स्वयं निपटा लेते हैं। उन्हीं के परिश्रमस्वरूप इस ग्रन्थ का प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमाला से हो रहा है,अत: वे धन्यवाद के पात्र हैं। धन्यवाद के प्रकरण में श्री नरेन्द्रकुमारजी का नाम अविस्मरणीय है, क्योंकि उनके प्रयत्न के फलस्वरूप ही यह ग्रन्थरत्न प्रकट हो रहा है।

अन्त में इस ग्रन्थ के संपादन में हुई त्रुटियों का उत्तरदायित्व मुझपर है और मैं इसके लिये विद्वत्समाज से क्षमाप्रार्थी हूँ। भावना है कि घर-घर में इसका प्रचार हो और सभी लोग इसके माध्यम से श्रीकुन्दकुन्दस्वामी की देशना को समझने का प्रयत्न करें।

विनीत

पन्नालाल जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य और उनका प्रभाव

इस समयप्राभृत अथवा समयसार के मूलकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य हैं। ये दिगम्बर जैनाचार्यों में सर्वाधिक वाङ्मयप्रभावक एवं प्रसिद्धि को प्राप्त आचार्य हैं।

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

इस मङ्गल-पद्य के द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम के बाद कुन्दकुन्दस्वामी को मङ्गल कहा गया है। इनकी प्रशस्ति में कविवर वृन्दावन का निम्नाङ्कित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमें बतलाया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द-सा आचार्य न हुआ, न है और न होगा—

जासके मुखारविन्दतें प्रकाश भास वृन्द
स्याद्वाद जैन बैन इंद कुन्दकुन्दसे
तासके अभ्यास तैं विकास भेदज्ञान हो
मूढ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्दसे।
देत हैं अशीस शीस नाय इंद चंद जाहि
मोह मार खंड मार तंड कुन्दकुन्दसे
विशुद्धि-बुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्ध-ऋद्धि-सिद्धिदा
हुए न हैं न होंहिगे मुनिंद कुन्दकुन्दसे।।

श्रीकुन्दकुन्दस्वामी के इस गुणस्तवन का कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्व का विशेषतया आत्मतत्त्व का विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रन्थों में उन्होंने पर से भिन्न तथा स्वकीय गुण-पर्यायों से अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इसमें अध्यात्मधारारूप जिस मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसके शीतल प्रवाह में अवगाहनकर भवभ्रमण श्रान्त पुरुष आत्मशान्ति को प्राप्त करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्दाचार्य का विदेहगमन

श्रीकुन्दकुन्दस्वामी के विषय में यह मान्यता प्रचलित हैं कि वे विदेहक्षेत्र गये थे और सीमन्धरस्वमाी की दिव्यध्वनि से उन्होंने आत्मतत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था। विदेहगमन का सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले आचार्य देवसेन (वि० सं० की १०वीं शती) है। जैसा कि उनके दर्शनसार से प्रकट है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति।।४३।।

दर्शनसार

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमन्धरस्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान से बोध न देते तो श्रमण—मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते।

देवसेन के बाद ईसा की बारहवीं शताब्दी के विद्वान् जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय की टीका के आरम्भ में निम्नलिखित अवतरण-पुष्पिका में कुन्दकुन्दस्वामी के विदेहगमन की चर्चा की है—

'अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणी-श्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दा-चार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिव-कुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।'

'जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे, प्रसिद्ध कथा के अनुसार जिन्होंने पूर्वविदेहक्षेत्र जाकर वीत-राग-सर्वज्ञ श्रीमंदरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शनकर तथा उनके मुखकमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थों से शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण कर जो पुनः वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे ऐसे श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्त्व की मुख्य रूप से और बहिस्तत्त्व की गौणरूप से प्रतिपत्ति कराने के लिये अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेपरुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिये पञ्चास्तिकाय प्राभृतशास्त्र रचा....।'

षट्प्राभृत के संस्कृत-टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरि ने अपनी टीका के अन्त में भी कुन्दकुन्दुस्वामी के विदेह गमन का उल्लेख किया है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमन्धरापरनामस्वयं-प्रभजिनेन तत्श्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टा-भरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे'—

'पद्मनन्दी,कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामों से जो युक्त थे, चार अङ्गल ऊपर आकाशगमन की ऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, पूर्वविदेहक्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर में जाकर श्रीमन्धर अपर नाम स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की जिन्होंने वन्दना की थी,उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भरतक्षेत्र के भव्यजीवोंको संबोधित किया था, जो जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभूषणरूप थे तथा कलिकाल के सर्वज्ञ थे, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में'—

उपर्युक्त उल्लेखों से साक्षात् सर्वज्ञदेव की वाणी सुनने के कारण कुन्दकुन्दस्वामी की अपूर्व महत्ता प्रख्यापित की गई है। किन्तु कुन्दकुन्दस्वामी के ग्रन्थों में उनके स्वमुख से कहीं विदेहगमन की चर्चा उपलब्ध नहीं होती। उन्होंने समयप्राभृत में सिद्धों की वन्दनापूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है—

वंदितु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।।१।।

इसमें कहा गया कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा भणित समयप्राभृत को कहूँगा। यदि सीमंधरस्वामी की दिव्यध्वनि सुनने का सुयोग उन्हें प्राप्त होता तो उसका उल्लेख वे अवश्य करते। फिर भी देवसेन आदि के उल्लेख सर्वथा अकारण नहीं हो सकते।

कुन्दकुन्दाचार्य के नाम

पञ्चास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द, पद्मनन्दी आदि अपर नामों का उल्लेख किया है, षट्प्रभात के टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँचों नामों का निर्देश किया है। नन्दिसंघ से सम्बद्ध विजयनगर के शिलालेख में भी, जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पाँच नाम बतलाये गये हैं। नन्दिसंघ की पट्टावली में भी, उपर्युक्त पाँच नाम निदिष्ट हैं परन्तु अन्य शिलालेखों से पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द अथवा कोण्डकुन्द इन दो नामों का ही उल्लेख मिलता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द का जन्मस्थान

इन्द्रनन्दी आचार्य ने पद्मनन्दी को कुण्डकुन्दपुर का बतलाया है। इसीलिये श्रवणवेलगोला के कितने ही शिलालेखों में उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पी० वी० देसाई ने 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया' में लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मीलपर एक कोनकुण्डल नाम का स्थान है जो अनन्तपुर जिले के गुटीतालुके में स्थित है। शिलालेख में इसका प्राचीन नाम 'कोण्डकुन्दे' मिलता है। यहाँ के निवासी इसे आज भी 'कोण्डकुन्द' कहते हैं। बहुत कुछ संभव है कि कुन्दकुन्दाचार्य का जन्मस्थान यही हो।

कुन्दकुन्द के गुरु

संसार से निःस्पृह वीतराग साधुओं के माता-पिता के नाम सुरक्षित रखने—लेखबद्ध करने की परम्परा प्रायः नहीं रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्यों के माता-पिता विषयक इतिहास की उपलब्धि नहीं है। हाँ, इनके गुरुओं के नाम किसी -न-किसी रूप में उपलब्ध होते हैं। पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्दस्वामी के गुरु का नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दिसंघ की पट्टावली में उन्हें जिनचन्द्र का शिष्य बतलाया गया है। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य ने बोधपाहुड के अन्त में अपने गुरु के रूप में भद्रबाहु का स्मरण किया है और अपने आप को भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है। बोधपाहुड की गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सद्द-विआरो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स।।६१।।
बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भयवओ जयओ।।६२।।

प्रथम गाथा में कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रों में शब्द-विकार को प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित किया गया है। भद्रबाहु के शिष्य ने उसको उसी रूप में जाना है और कथन किया है। द्वितीय गाथा में कहा गया है कि बारह अंगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता गमकगुरु भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवंत हों।

ये दोनों गाथाएँ परस्पर में संबद्ध हैं। पहली गाथा में कुन्दकुन्द ने अपने को जिन भद्रबाहु का शिष्य कहा है, दूसरी गाथा में उन्हीं का जयघोष किया है। यहाँ भद्रबाहु से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पड़ते हैं क्योंकि द्वादश अङ्ग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और चतुर्दश पूर्व का विपुल विस्तार उन्हीं से संभव था। इसका समर्थन समयप्राभृत के पूर्वोक्त प्रतिज्ञावाक्य 'वंदितु सव्वसिद्धे—' से भी होता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत को कहूँगा। श्रवणवेलगोला के अनेक शिलालेखों में यह उल्लेख मिलता है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु वहाँ पधारे और वहीं एक गुफा में उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटना को आज ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकृत किया जा चुका है।

बोधपाहुड के संस्कृत-टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरिने— 'भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विसाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशानामाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्'

इन पक्तियों द्वारा कहा है कि यहाँ भद्रबाहु के शिष्य से विशाखाचार्य का ग्रहण है। इन विशाखाचार्य के अर्हद्बलि और गुप्तिगुप्त ये दो नाम और भी हैं तथा ये दशपूर्व के धारक ग्यारह आचार्यों के मध्य प्रथम आचार्य थे। वही श्रुतसागरसूरि ६२वीं गाथा की टीका में भद्रबाहु को 'पञ्चानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः' इन शब्दों द्वारा पाँच श्रुतकेवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली प्रकट करते हैं।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्द को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दी से ३०० वर्ष पूर्व ठहरते हैं और उस समय जब कि ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्वों के जानकार आचार्यों की परम्परा विद्यामान थी, तब उनके रहते कुन्दकुन्दस्वामी की इतनी प्रतिष्ठा कैसे संभव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है? इस स्थिति में कुन्दकुन्द को उनका परम्पराशिष्य ही माना जा सकता है, साक्षात् नहीं। श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व उन्हें गुरुपरम्परा से प्राप्त रहा होगा, उसी के आधार पर उन्होंने अपने आप को भद्रबाहु का शिष्य घोषित किया है। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। अतः उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को उनके शिष्य विशाखाचार्य ने जाना। उसकी परम्परा आगे चलती रही। गमकगुरु का अर्थ श्रुतसागरजी ने उपाध्याय किया है, सो विशाखाचार्य के लिये यह विशेषण उचित ही है।

कुन्दकुन्द का समय

कुन्दकुन्दस्वामी के समय-निर्धारणपर प्रवचनसार की प्रस्तावना में डा० ए० एन० उपाध्ये ने, समन्तभद्र की प्रस्तावना में जुगलकिशोरजी मुख्तारने, पञ्चास्तिकाय की प्रस्तावना में डा० ए० चक्रवर्ती ने तथा कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह की प्रस्तावना में पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने विस्तार से चर्चा की है। लेख-विस्तार के भय से मैं उन सब चर्चाओं के अवतरण नहीं देना चाहता। जिज्ञासु पाठकों को तत् तत् ग्रन्थों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से जानने की प्रेरणा करता हुआ कुन्दकुन्दस्वामी के समय-निर्धारण के विषय में मात्र दो मान्यताओं का उल्लेख कर रहा हूँ। एक मान्यता प्रो० हर्वोल द्वारा संपादित नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार पर यह है कि कुन्दकुन्द विक्रम की पहली शताब्दी के विद्वान् थे। वि० सं० ४९ में वे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्यपद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी। डॉ० ए० चक्रवर्ती ने पञ्चास्तिकाय की प्रस्तावना में अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रम की तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान् हैं, जिसका समर्थन जुगलकिशोरजी मुख्तार, डॉ० ए० एन उपाध्ये, नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि इतिहासज्ञ विद्वान् करते आये हैं।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और उनकी महत्ता

दिगम्बर जैन ग्रन्थों में कुन्दकुन्द द्वारा रचित ग्रन्थ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन-शैली ही इस प्रकार है कि पाठक उससे वस्तुस्वरूप का अनुगम बड़ी सरलता से प्राप्त कर लेता है। निम्नांकित ग्रन्थ कुन्दकुन्दस्वामी के द्वारा रचित निर्विवाद रूप से माने जाते हैं तथा जैन समाज में उनका सर्वोपरि मान है—

१ नियमसार, २ पञ्चास्तिकाय, ३ प्रवचनसार, ४ समयसार (समयप्राभृत), ५ बारस-अणुवेक्खा, ६ दंसणपाहुण, ७ चारित्रपाहुड, ८ सुत्तपाहुड, ९ बोधपाहुड, १० भावपाहुड, ११ मोक्खपाहुड, १२ सीलपाहुड, १३ लिंगपाहुड, १४ दसभत्तिसंगहो।

इनके सिवाय रयणसार नामका ग्रन्थ भी कुन्दकुन्दस्वामी के द्वारा रचित प्रसिद्ध है। परन्तु उसके अनेक पाठभेद देखकर विचारक विद्वानों का मत है कि यह कुन्दकुन्द के द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अन्दर अन्य लोगों की गाथाएँ भी सम्मिलित हो गई हैं। इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार के अनुसार षट्खण्डागम के आद्य भागपर कुन्दकुन्दस्वामी के द्वारा रचित परिकर्मग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ का उल्लेख षट्खण्डागम के विशिष्ट व्याख्याकार आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका में कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तो वह उपलब्ध रहा, परन्तु आजकल उसकी उपलब्धि नहीं है। शास्त्रभण्डारों—खासकर दक्षिण के शास्त्रभण्डारों में इसकी खोज की जानी चाहिये। मूलाचार भी कुन्दकुन्दस्वामी के द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योंकि उसकी अन्तिम पुष्पिका में **('इति मूलाचारविवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलचाराख्यविवृत्तिः) कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रमणस्य'** यह उल्लेख पाया जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्दस्वामी के समस्त ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। अतः उनका परिचय अनावश्यक मालूम होता है। समयसार या समयप्राभृत पाठकों के हाथ में हैं अतः उसका परिचय देना आवश्यक जान पड़ता है।

समयप्राभृत (समयसार) नामकी सार्थकता

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं' इस प्रतिज्ञावाक्य के **'मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः'** इस कलशा के तृतीय श्लोक में तथा **'जोसमयपाहुडमिमं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं'** इस समारोपात्मक अन्तिम गाथा के अनुसार प्रकृत ग्रन्थ का नाम 'समयप्राभृत' है, 'समयसार' नहीं। किन्तु पीछे चलकर नियमसार और प्रवचनसार के अनुसार इसका नाम भी 'समयसार' प्रचलित हो गया। समयसार नाम प्रचलित हो गया। समयसार नाम प्रचलित होने में अमृतचन्द्रस्वामी द्वारा रचित आत्मख्याति टीका के **'नमः समयसाराय'** इस मङ्गलश्लोक में समयसार शब्द का प्रयोग भी एक कारण है। अमृतचन्द्रस्वामी ने समय का अर्थ जीव किया है—**'टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः। समयत एकत्वे युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः'** अर्थात् टङ्कोत्कीर्ण चित्स्वभाववाला जो जीव नाम का पदार्थ है वह समय कहलाता है। जो एक साथ समस्त पदार्थों को जाने वह समय है ऐसी समय-शब्द की निरुक्ति है। जयसेनाचार्य ने भी **'सम्यग् अयः बोधो यस्य भवति स समयः आत्मा अथवा समं एकभावेनायनं गमनं समयः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार समय का अर्थ आत्मा किया है। इन्हीं जयसेनाचार्य ने 'प्राभृत' का व्याख्यान करते हुए लिखा—**'प्राभृतं सारं सार; शुद्धावस्था, समयस्य आत्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं, अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतम्'।** अर्थात् प्राभृत का अर्थ सार है, सार शुद्ध अवस्था को कहते हैं, अतः आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम समयप्राभृत है। संस्कृत कोषों में प्राभृत का एक अर्थ उपहार या भेंट भी बतलाया गया है, आत्मा की जो भेंट है वह समयप्राभृत है। अथवा **'सम्-एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् अयते गच्छति'** अर्थात् जो अपने गुण और पर्यायों के साथ एकीभाव को प्राप्त हो वह समय है। इस निरुक्ति के अनुसार समय का अर्थ समस्त पदार्थ होता है। उनमें प्राभृत अर्थात् सारभूत पदार्थ जीवपदार्थ हैं। प्राभृत का एक अर्थ शास्त्र भी होता है, अतः समयप्राभृत का अर्थ आत्मा का शास्त्र है। **'प्रकर्षेण आ समन्तात् भृतम् इति प्राभृतम्'** अर्थात् जो उत्कृष्टता के साथ सब ओर से भरा हुआ हो— जिसमें पदार्थ का पूर्वापरविरोध रहित साङ्गोपाङ्ग वर्णन हो उसे प्राभृत कहते हैं। इस ग्रन्थ में समय अर्थात् आत्मा अथवा समस्त पदार्थों—नव पदार्थों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है इसलिये यह समयप्राभृत है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय के भेद

कुन्दकुन्दस्वामी ने समय अर्थात् आत्मा के 'स्वसमय और 'परसमय' की अपेक्षा दो भेद किये हैं। जो जीव अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वभाव में स्थित हैं वह स्व-समय है और जो पुद्‌गलमयकर्मप्रदेशों में स्थित है वह परसमय है। पुद्‌गल कर्मप्रदेशों में स्थित होने का अर्थ उन्हें आत्मस्वरूप मानना है। जब तक यह जीव परमाणुमात्र भी पुद्‌गलद्रव्य को आत्मस्वरूप मानता रहता है तब तक वह परसमय ही कहलाता है। संसार के समस्त प्राणी इन्हीं दो भेदों में विभक्त हैं।

समयप्राभृत की वस्तु-व्यवस्था एवं वर्णनीय पदार्थ

समयसार में कुन्दकुन्दस्वामी ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन पदार्थों को वर्णनीय पदार्थ माना है। इन्हीं को यथार्थरूप से जानना सम्यग्दर्शन कहा है। यथा—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।

अर्थात् भूतार्थनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष सम्यक्त्व हैं। यहाँ कारण में कार्य का उपचार कर सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है। अर्थात् जीवाजीवादि पदार्थ सम्यक्त्व के कारण हैं और सम्यक्त्व कार्य है। इन्हीं नौ पदार्थों का विशद वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी ने इन नौ पदार्थों से पुण्य और पाप को आस्रव में गतार्थ कर सात ही तत्त्व माने हैं तथा उनके क्रमको भी परिवर्तित कर दिया है। जैसे **'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्'** अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है—

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'

जीव और अजीव तत्त्व का क्रम कुन्दकुन्द और उमास्वामी की मान्यता के अनुसार एक-सा है। परन्तु आस्रव के बाद कुन्दकुन्दस्वामी ने उसके विरोधी संवर का पाठ रखा है और उमास्वामी ने आस्रव के बाद होने के कारण उसके बाद बन्ध का पाठ रखा है। संवरपूर्वक ही निर्जरा कार्य-कारिणी होती है, इस दृष्टि से कुन्दकुन्दस्वामी ने संवर के बाद निर्जरा का पाठ रखा है। उमास्वामी ने भी संवर और निर्जरा का यही क्रम स्वीकृत किया है। कुन्दकुन्द ने निर्जरा के बाद बन्ध और उसके बाद बन्ध के विरोधी मोक्षतत्त्व का पाठ रखा है। अपनी-अपनी विवक्षाओं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार दोनों मान्यताएँ ठीक हैं। पुण्य और पाप के विषय में अधिक भ्रान्ति होती है, अत: कुन्दकुन्दस्वामी ने उस भ्रान्ति को दूर करने के लिये अलग से उनका वर्णन करना उचित समझा, पर उमास्वामी ने उन्हें आस्रव का ही एक विशेष रूप समझकर उनका स्वतन्त्र वर्णन करना ठीक नहीं समझा। उमास्वामी के द्वारा स्वीकृत क्रमका समर्थन करते हुए पूज्यपाद और अकलंक स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक में कहा है कि जीवतत्त्व सब तत्त्वों में प्रमुख है अत: उसका पहले कथन किया है। उसके बाद जीव के विरोधी अजीवतत्त्व का वर्णन किया है। जीव और अजीव के संयोग से जीव की संसारदशा होती है। उसके कारण आस्रव और बन्ध हैं। मोक्ष उपादेय तत्त्व है और उसकी प्राप्ति संवर और निर्जरापूर्वक होती है, अत: बन्ध के बाद संवर और निर्जरा का कथन है। अन्त में प्राप्त होने के कारण सबसे अन्त में मोक्षतत्त्व का कथन है।

इन पदार्थों का विशद वर्णन करने के लिए कुन्दकुन्दमहाराज ने समयप्राभृत को निम्नलिखित दश अधिकारों में विभाजित किया है— '१ पूर्वरङ्ग, २ जीवाजीवाधिकार, ३ कर्तृकर्माधिकार, ४ पुण्य-पापाधिकार, ५ आस्रवाधिकार, ६ संवराधिकार, ७ निर्जराधिकार, ८ बंधाधिकार, ९ मोक्षाधिकार और १० सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार। नयों का सामञ्जस्य बैठाने के लिये अमृतचन्द्रस्वामी ने पीछे से स्याद्वादाधिकार नाम का एक स्वतन्त्र अधिकार और जोड़ा है। अमृताख्याति टीका के अनुसार समग्र ग्रन्थ ४१५ गाथाओं में समाप्त हुआ है। तात्पर्यवृत्ति के अनुसार कुछ गाथाएँ अधिक है।

कुन्दकुन्दाचार्य सम्मत नयव्यवस्था

कुन्दकुन्दस्वामी ने निश्चयनय और व्यवहारनय के भेद से सिर्फ दो नय स्वीकृत किये हैं। वस्तु के एक अभिन्न और स्वाश्रित—परनिरपेक्ष परिणमन को जाननेवाला निश्चयनय है और अनेक-भेदरूप तथा पराश्रित—परसापेक्ष परिणमन को जाननेवाला व्यवहानय है। यद्यपि अन्य आचार्यों ने निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं और व्यवहारनय के सद्‌भूत, असद्‌भूत, उपचरित, अनुपचरित आदि के भेद से अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामी ने इन भेदों के चक्र में न पड़कर सिर्फ उपर्युक्त दो भेद स्वीकृत किये हैं। अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न आत्मा की परिणति के कथन को उन्होंने निश्चयनय का विषय माना हैं और कर्म के निमित्त से होनेवाली आत्मा की परिणति को व्यवहारनय का विषय माना है। निश्चयनय आत्मा में काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को स्वीकृत नहीं करता। वे पुद्‌गलद्रव्य के निमित्त से होते हैं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिये उन्हें सीधे पुद्गल के कह दिये हैं। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि के विकल्प जीव के स्वभाव नहीं है, अत: निश्चयनय उन्हें स्वीकार नहीं करता। इन सबको आत्मा के कहना व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय स्वभाव को विषय करता है, विभाव को नहीं। जो स्वमें स्वके निमित्त से होता है यह स्वभाव है, जैसे जीव के ज्ञानादि और जो स्वमें पर के निमित्त से होते हैं वे विभाव हैं, जैसे जीव में क्रोधादि। ये विभाव चूँकि आत्मा में ही परके निमित्त से होते हैं, इसलिये इन्हें कथंचित् आत्मा के स्वीकृत करने के लिये परवर्ती आचार्यों ने निश्चयनय में शुद्ध और अशुद्ध निश्चय का विकल्प स्वीकार किया है। परन्तु कुन्दकुन्द महाराज विभाव को आत्मा का मानना स्वीकृत नहीं करते—वे उसे व्यवहारनय का ही विषय मानते हैं।

निश्चय और व्यवहारनय में भूतार्थग्राही होने से निश्चयनय को भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होने से व्यहारनय को अभूतार्थ कहा है। यहाँ व्यवहारनय की अभूतार्थता निश्चयनय की अपेक्षा है। स्वरूप और स्वप्रयोजन के अपेक्षा नहीं। उसे सर्वथा अभूतार्थ मानने में बड़ी आपत्ति दिखती है। श्रीअमृतचन्द्रस्वामी ने ४६वीं गाथा की टीका में लिखा है—

'व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वाद-परमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव नि:शंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभाव:। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव:।'

यही भाव तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने भी दिखलाया है—

'यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालंबनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्या-लंबनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलंबनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा नि:शंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जना:। ततश्च पुण्यरूपधर्माभावे इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित: पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम्। तस्माद्व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्राय:।'

इन अवतरणों का भाव यह है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छों को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा का अंगीकार करना उचित है उसी प्रकार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का प्रतिपादक होने से तीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त अपरमार्थ होने पर भी व्यवहारनय का दिखलाना न्यायसंगत है। अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्य नहीं है। अत: उसके आलम्बन से पदार्थ का प्रतिपादन करना उचित है। अन्यथा व्यवहार के बिना परमार्थनय से जीव शरीर से सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशा में जिस प्रकार भस्म का उपमर्दन करने से हिंसा नहीं होती उसी प्रकार त्रस-स्थावर जीवों का नि:शङ्क उपमर्दन करने से हिंसा नहीं होगी और हिंसा के न होने से बन्ध का अभाव हो जायेगा, बन्ध के अभाव से संसार का अभाव हो जायेगा। इसके अतिरिक्त रागी, द्वेषी और मोही जीव बन्ध को प्राप्त होता है अत: उसे ऐसा उपदेश देना चाहिए कि जिससे वह राग, द्वेष, मोह से छूट जाये, यह जो आचार्यों ने मोक्ष का उपाय बताया है वह व्यर्थ हो जावेगा, क्योंकि परमार्थ से जीव राग, द्वेष, मोह से भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्ष का उपाय स्वीकार करना असंगत होगा और इस तरह मोक्षका भी अभाव हो जायेगा।

नय परार्थश्रुतज्ञान के भेद हैं। परार्थ का तात्पर्य यह है जिससे दूसरे की अज्ञाननिवृत्ति हो। इससे सिद्ध होता है कि नयों का प्रयोग पात्रभेद की अपेक्षा रखता है। एक ही नयसे सब पात्रों का कल्याण नहीं हो सकता। कुन्दकुन्दस्वामी ने स्वयं भी बारहवीं गाथा में इसका विभाग किया है कि शुद्धनय किसके लिए और अशुद्धनय किसके लिए आवश्यक है। शुद्धनय से तात्पर्य निश्चयनय का और अशुद्धनय से तात्पर्य व्यवहारनय का लिया गया है। गाथा इस प्रकार है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।

अर्थात् जो परम भाव को देखनेवाले हैं उनके द्वारा शुद्धतत्त्व का कथन करनेवाला शुद्धनय जानने के योग्य है और जो अपरम भाव में स्थित हैं उनके लिए व्यवहारनय का उपदेश कार्यकारी है।

नयों के विसंवाद से मुक्त होने के लिए कहा गया है—

जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं।।

अर्थात् यदि जिनेन्द्र भगवान् के मत की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों ही नयों को मत त्यागो, क्योंकि यदि व्यवहारनय को त्याग दोगे, तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थ की प्रवृत्ति का लोप हो जावेगा अर्थात् धर्म का उपदेश ही नहीं हो सकेगा। फलत: धर्मतीर्थ का लोप हो जावेगा और यदि निश्चय को त्याग दोगे, तो तत्त्व के स्वरूप का ही लोप हो जावेगा, क्योंकि तत्त्व को कहनेवाला तो वही है।

यही भाव श्रीअमृतचन्द्रसूरिने भी कलशकाव्य में दरशाया है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा:।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।।१४।।

अर्थात् जो जीव स्वयं मोह का वमन कर निश्चय और व्यवहारनय के विरोध को ध्वस्त करनेवाले एवं स्यात्पद से चिह्नित जिनवचन में रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसार का अवलोकन करते हैं जो कि परम ज्योतिस्वरूप है, नवीन नहीं अर्थात् द्रव्य-दृष्टि से नित्य है और अनयपक्ष—एकान्तपक्ष से जिसका खण्डन नहीं हो सकता।

सम्यक्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए दोनों नयों का आलम्बन लेता है। परन्तु श्रद्धा में वह अशुद्धनय के आलम्बन को हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तु-स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनय का आलम्बन स्वयं छूट जाता है। कुन्दकुन्दस्वामी ने उभय नयों के आलम्बन से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन किया है, इसलिए वह निर्विवाद रूप से सर्वग्राह्य है।

समयप्राभृत के अधिकारों का प्रतिपाद्य विषय

(१) पूर्वरङ्ग—कुन्दकुन्दस्वामी ने स्वयं पूर्वरङ्ग नाम का कोई अधिकार सुचित नहीं किया है। परन्तु संस्कृतटीकाकार अमृतचन्द्रसूरि ने ३८ वीं गाथा की समाप्ति पर पूर्वरङ्ग समाप्ति की सूचना दी है। इन ३८ गाथाओं में प्रारम्भ की १२ गाथाएँ पीठिकारूप में हैं, जिनमें ग्रन्थकर्त्ता ने मङ्गलाचरण, ग्रन्थ-प्रतिज्ञा, स्व-समय-परसमय का व्याख्यान तथा शुद्धनय और अशुद्धनय के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। इन नयों के ज्ञान विना समयप्राभृत को समझना अशक्य है। पीठिका के बाद ३८वीं गाथा तक पूर्वरङ्ग नाम का अधिकार है, जिसमें आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निदर्शन कराया गया है। शुद्धनय आत्मा में जहाँ द्रव्यजनित विभाव-भाव को स्वीकृत नहीं करता वहाँ वह अपने गुण और पर्यायों के साथ भेद भी स्वीकृत नहीं करता। वह इस बात को भी स्वीकृत नहीं करता कि आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र ये गुण हैं क्योंकि इनमें गुण और गुणी का भेद सिद्ध होता है। वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह घोषित करता है कि आत्मा सम्यग्दर्शनादिरूप है। आत्मा प्रमत्त है और आत्मा अप्रमत्त है, इस कथन को भी शुद्धनय स्वीकृत नहीं करता, क्योंकि इस कथन से आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायों में विभक्त होता है। वह तो आत्मा को एक ज्ञायक ही स्वीकृत करता है। जीवाधिकार में जीव के निज स्वरूप का कथन कर उसे परपदार्थों और परपदार्थों के निमित्त से जायमान विभावों से पृथक् निरूपित किया है। नोकर्म मेरा नहीं है, द्रव्यकर्म मेरा नहीं है और भावकर्म भी मेरा नहीं है, इस तरह इन पदार्थों से आत्म-तत्त्व को पृथक् सिद्धकर ज्ञेय-ज्ञायकभाव एवं भाव्य-भावकभाव की अपेक्षा भी आत्मा को ज्ञेय तथा भाव्य से पृथक् सिद्ध किया है। जिस प्रकार दर्पण अपने में प्रतिबिम्बित मयूर से भिन्न है उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञान में आये हुए घटपटादि ज्ञेयों से भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओं के प्रतिबिम्ब से संयुक्त होने पर भी तज्जन्य ताप से उन्मुक्त रहता है,उसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्व में रहते कर्म-कर्मफल के अनुभव से रहित है। इस तरह प्रत्येक परपदार्थ से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का श्रद्धान करना जीवतत्त्व के निरूपण का लक्ष्य है। इस प्रकरण के अन्त में कुन्दकुन्दस्वामी ने उद्घोष किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि।।३८।।

अर्थात् निश्चय से मैं एक हूँ, दर्शन-ज्ञान से तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि यह जीव पुद्गलद्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुई संयोगज पर्याय में आत्मबुद्धि कर उनकी इष्ट-अनिष्ट परिणति में हर्ष-विषाद का अनुभव करता हुआ व्यर्थ ही रागी, द्वेषी होता है और उनके निमित्त से नवीन कर्मबन्धकर अपने संसार की वृद्धि करता है। जब यह जीव परपदार्थों से भिन्न निज शुद्ध स्वरूप की ओर लक्ष्य करने लगता है तब परपदार्थों से इसका ममत्वभाव स्वयमेव दूर होने लगता है।

(२) जीवाजीवाधिकार

जीव के साथ अनादिकाल से कर्म और नोकर्मरूप पुद्गलद्रव्य का सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्वदशा में यह जीव शरीररूप नोकर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मानकर उसमें अहंकार करता है, इस रूप ही मैं हूँ, ऐसा मानता है, अतः सर्वप्रथम इसकी शरीर से पृथक्ता सिद्ध की है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादिक भावकर्मों से इसका पृथक्त्व दिखाया गया है। आचार्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महाराज ने कहा है कि हे भाई—ये सब भाव पुद्‌गलद्रव्य के परिणमन से निष्पन्न हैं, अतः पुद्‌गल के हैं, तूँ इन्हें जीव क्यों मान रहा है। यथा—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति।।४४।।

जो स्पष्ट ही अजीव हैं, उनके कहने में तो कोई खास बात नहीं है। परन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव के साथ धुलमिलकर अनित्य तन्मयीभाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं उन्हें अजीव सिद्ध करना इस अधिकार की विशेषता है। 'रागादिक भाव अजीव है, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि भाव अजीव हैं। यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है। अजीव हैं—इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ये घटपटादि के समान अजीव हैं। यहाँ 'अजीव हैं' इसका इतना तपर्य है कि ये जीव की निज परिणति नहीं हैं। यदि जीव की निज परिणति होती तो त्रिकाल में इनका अभाव नहीं होता। परन्तु जिस पौद्‌गलिक कर्मकी उदयावस्था में ये भाव होते हैं उसका अभाव होने पर ये स्वयं विलीन हो जाते हैं। अग्नि के संसर्ग से पानी में उष्णता आती है, परन्तु वह उष्णता सदा के लिए नहीं आती है। अग्नि का सम्बन्ध दूर होते ही दूर हो जाती है। इसी प्रकार क्रोधादि कर्मों के उदयकाल में होनेवाले रागादि भाव आत्मा में अनुभूत होते हैं परन्तु वे संयोगज भाव होने से आत्मा के विभाव भाव हैं, स्वभाव नहीं, इसीलिए उनका अभाव हो जाता है। ये रागादिक भाव आत्मा को छोड़कर अन्य जड़ पदार्थों में नहीं होते किन्तु आत्मा के उपादान से आत्मा में उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें आत्मा के कहने के लिए अन्य आचार्यों ने एक अशुद्ध निश्चयनय की कल्पना की है। वे शुद्ध निश्चयनय से आत्मा के नहीं हैं। परन्तु अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा के हैं, ऐसा कथन करते हैं। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामी तो बेदाग और बेलाग बात कहना पसन्द करते हैं। वे विभाव को आत्मा के मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्हें आत्मा के कहना इसे वे व्यवहारनय का विषय मानते हैं और उस व्यवहार का, जिसे कि उन्होंने अभूतार्थ कहा है। व्यवहार को अभूतार्थ कहने का तात्पर्य इतना ही है कि वह अन्य द्रव्याश्रित परिणमन को अन्य द्रव्य का परिणमन मानता है। 'व्यवहारनय अभूतार्थ है' इसका यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि वह अनुपादेय है। पात्र की योग्यता के अनुसार व्यवहार की उपादेयता का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ इतनी बात खासकर ध्यानस्थ करना आवश्यक है कि यह कथन निमित्तप्रधान दृष्टि का है, उपादानप्रधान दृष्टि का नहीं। उपादानप्रधान दृष्टि में रागादिक का उपादान आत्मा ही है, कर्मरूप पुद्‌गल नहीं।

इसी प्रसङ्ग में जीव स्वरूप बतलाते हुए कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं।।४९।।

अर्थात् हे भव्य! तू आत्मा को ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्शरहित है, शब्दरहित है, अलिङ्ग ग्रहण है अर्थात् किसी खास लिङ्ग से उसका ग्रहण नहीं होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नहीं किया गया है, ऐसा है , किन्तु चेतनागुणवाला है।

यहाँ चेतनागुण जीव का स्वरूप है और रस, गन्ध आदि उसके स्वरूप नहीं हैं। परपदार्थ से उसका पृथक्त्व सिद्ध करने के लिए ही यहाँ उनका उल्लेख किया गया है। वर्णादिक और रागादिक सभी जीव से भिन्न हैं---जीवेतर हैं। इस तरह इस जीवाजीवाधिकार में आचार्य ने मुमुक्षु प्राणी के लिये परपदार्थ से भिन्न जीव के शुद्ध स्वरूप का दर्शन कराया है। साथ ही उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थ को अजीव दिखलाया है। वस्तुतः यह संसार जीव और अजीवमय ही तो है। यह जीवाजीवाधिकार ३८वीं गाथा से लेकर ६८वीं गाथा तक चला है।

(३) कर्तृकर्माधिकार

जीव और अजीव (पौद्गलिककर्म) अनादिकाल से सम्बद्ध अवस्था को प्राप्त हैं, इसलिए प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनके अनादि सम्बन्ध का कारण क्या है? जीव ने कर्म को किया या कर्म ने जीव को किया? यदि जीव ने कर्म को किया तो जीव में ऐसी कौन-सी विशेषता थी कि जिससे उसने कर्म को किया। यदि बिना विशेषता के ही किया तो सिद्ध महाराज भी कर्म को करें, इसमें क्या आपत्ति है? और कर्म ने जीव को किया तो कर्म में ऐसी विशेषता कहाँ से आई कि वह जीव को कर सके—उसमें रागादिक भाव उत्पन्न कर सके। बिना विशेषता के ही यदि कर्म रागादिक करते हैं तो कर्म के अस्तित्वकाल में सदा रागादिक उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रश्नावली से बचने के लिए यह समाधान किया गया है कि जीव के रागादि परिणामों से पुद्गलद्रव्य में कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गल के कर्मरूप परिणमन—उनकी उदयावस्था का निमित्त पाकर आत्मा में रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं। इस समाधान में जो अन्योन्याश्रय दोष आता है उसे अनादि संयोग मानकर दूर किया गया है। इस कर्तृकर्माधिकार में कुन्दकुन्दस्वामी ने इसी बात का बड़ी सूक्ष्मता से निरूपण किया है। इस वर्णन को समझने के लिए सबसे पहले उपादानोपादेय भाव और निमित्त-नैमित्तिकभाव को समझना आवश्यक है। इसके बिना कर्तृकर्माधिकार का सूक्ष्म विषय सहसा ग्रहण में नहीं आता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो स्वयं कार्यरूप परिणमन करता है वह उपादान कहलाता है और जो कार्य होता है वह उपादेय कहलाता है। जैसे मिट्टी घटाकार परिणति करती है अतः वह घट का उपादान है और घट उसका उपादेय है। यह उपादान-उपादेयभाव सदा एक द्रव्य में ही बनता है क्योंकि एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप परिणमन त्रिकाल में भी नहीं कर सकता। उपादान को कार्यरूप परिणति करने में जो सहायक होता है वह निमित्त कहलाता है उस निमित्त से उपादान में जो कार्य निष्पन्न हुआ है वह नैमित्तिक कहलाता है। जैसे कुम्भकार तथा उसके दण्ड, चक्र, चीवर आदि उपकरणों की सहायता से मिट्टी में घटाकर परिणमन हुआ तो यह सब निमित्त हुए और घट नैमित्तिक हुआ। यहाँ निमित्त और नैमित्तिक दोनों पुद्‌गलद्रव्य के अन्दर निष्पन्न हैं और जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्‌गलद्रव्य में कर्मरूप परिणमन हुआ, यह निमित्तनैमित्तिकभाव दो द्रव्यों में हुआ।

अब विचार करना है कि कर्म का कर्ता कौन है? तथा रागादिक का कर्ता कौन है? जब उपादान-उपादेयभाव की अपेक्षा विचार होता है तब यह बात आती है कि चूँकि कर्मरूप परिणमन पुद्गलरूप उपादान में हुआ है, इसलिए इसका कर्ता पुद्गल ही है, जीव नहीं, परन्तु जब निमित्त-नैमित्तिकभाव की अपेक्षा विचार होता है तब जीव के रागादिक भावों का निमित्त पाकर पुद्गल में कर्मरूप परिणमन हुआ है, कुम्भकार के हस्तव्यापार का निमित्त पाकर घट का निर्माण हुआ है, रथकार के हस्तव्यापार से रथ की रचना हुई है इसलिए इन सब के निमित्त कर्ता क्रमशः रागदिक भाव, कुम्भकार और रथकार हैं। इसी प्रकार द्रव्यकर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादिक परिणति हुई है, इसलिए इस परिणति का उपादानकारण जीव स्वयं है और निमित्तकारण द्रव्यकर्म की उदयावस्था है।

कुन्दकुन्दस्वामी ने निमित्त-नैमित्तिकभाव को अलग से स्वीकृत करते हुए भी कर्तृ-कर्मभाव का वर्णन उपादानोपादेयभाव से ही किया है। उन्होंने कहा है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ।।८०।।
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णंपि।।८१।।
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएणं भावेण।
पुग्गकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।८२।।

अर्थात् पुद्गलद्रव्य जीव के रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर कर्मभाव को प्राप्त होता है, इसी तरह जीवद्रव्य भी पुद्गलकर्मों के विपाककाल रूप निमित्त को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाकर रागादि भावरूप परिणम जाता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जीवद्रव्य कर्म में किसी गुण का उत्पादक नहीं अर्थात् पुद्गलद्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादि भाव को प्राप्त होता है। इसी तरह कर्म भी जीव में किन्हीं गुणों को नहीं करता है किन्तु मोहनीय आदि कर्म के विपाक को निमित्तकर जीव स्वयमेव रागादिरूप परिणमन करता है। इतना होने पर भी पुद्गल और जीव इन दोनों का परिणमन परस्पर निमित्तक है, ऐसा जानो । इसी से आत्मा अपने भावों के द्वारा अपने परिणमन का कर्त्ता होता है, पुद्गल कर्मकृत जो सब भाव हैं उनका कर्त्ता नहीं है अर्थात् पुद्गल के जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनका कर्त्ता पुद्गल है और जीव के जो रागादि भाव हैं उनका कर्त्ता जीव है।

आत्मा में वैभाविकशक्ति होने के कारण मिथ्यादर्शनादिरूप परिणमन करने की योग्यता है, अत: अन्तरङ्ग में उस योग्यता से तथा बहिरङ्ग में पूर्वबद्ध मिथ्यात्व आदि द्रव्यकर्म के विपाक से इधर आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है उधर पुद्गलद्रव्य में वैभाविकशक्ति होने के कारण कर्मरूप परिणमन करने की योग्यता है, अत: अन्तरङ्ग में उस योग्यता से तथा बहिरङ्ग में जीव के मिथ्यादर्शनादि विभाव-भाव के निमित्त से पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। आत्मा और पुद्गल में विद्यमान वैभाविकशक्ति से जायमान योग्यता को लक्ष्य में रखकर जब कथन होता है तब कहा जाता है कि आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन स्वयं करता है और पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वयं करता है। जब आत्मा और पुद्गल की इस योग्यता को गौणकर बहिरङ्ग निमित्त की प्रधानता से कथन होता है तब कहा जाता है कि पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मरूप पुद्गल के निमित्त से आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है और आत्मा के मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन के निमित्त से पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणमन करता है।

कुन्दकुन्दस्वामी ने कर्तृ-कर्मभाव का वर्णन एक द्रव्य में किया है, दूसरा द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता या कर्म नहीं हो सकता। इसके फलितार्थ में यह नहीं निकाला जा सकता कि कुन्दकुन्दस्वामी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को नहीं मानते थे, क्योंकि उन्होंने निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को सर्वत्र स्वीकृत किया है। यहाँ जीव के रागादिक भाव और पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप भाव में निमित्त-नैमित्तिकभाव स्वीकृत किया है। नियमसार में भी सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनों का उल्लेख करते हुए उसे स्वीकृत किया है। यथा—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।५३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् सम्यग्दर्शन का बाह्य निमित्त जिनसूत्र—जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरङ्गहेतु दर्शनमोहनीयकर्म की क्षय आदि अवस्थाएँ हैं।

षड्द्रव्यों के कार्य और उपकार आदि का वर्णन तो पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों में किया ही है। निमित्त-नैमित्तिकभाव की स्वीकृति के बिना न इस लोक की व्यवस्था बनती है और न परलोक की।

जीवजीवादि नौ पदार्थों के विवेचन के बीच में कर्तृकर्मभाव की चर्चा छेड़ने में कुन्दकुन्दस्वामी का इतना ही अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव अपने आप को किसी पदार्थ का कर्त्ता, धर्ता तथा हर्त्ता मानकर व्यर्थ ही राग-द्वेष के प्रपञ्च में पड़ता है। अपने आप को पर का कर्त्ता मानने से अहंकार उत्पन्न होता है तथा परकी इष्ट-अनिष्ट परिणति में हर्ष-विषाद का अनुभव होता है। जब तक परपदार्थों में हर्ष-विषाद का अनुभव होता रहता है तब तक यह जीव अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में सुस्थिर नहीं होता, वह मोह की धारा में बहकर स्वरूप से च्युत रहता है। मोक्षाभिलाषी जीव को अपनी यह भूल सबसे पहले सुधार लेनी चाहिये। इसी उद्देश्य से आस्रवादि तत्त्वों की चर्चा प्रारम्भ करने के पूर्व कुन्दकुन्द महाराज ने सचेत किया है कि हे मुमुक्ष प्राणी! तू कर्तृत्व के अहंकार से बच, अन्यथा रागद्वेष के दल-दल में फँस जावेगा।

निमित्त-नैमित्तकभाव को सर्वथा अस्वीकृत कर देने पर तो जिनागम का प्रासाद ही ढह जावेगा। इसी कर्तृकर्माधिकार में अमृतचन्द्रस्वामी ने अनेक नय-पक्षों का उल्लेखकर तत्त्ववेदी पुरुष को उनके पक्ष से अतिक्रान्त बताया है। आखिर नय वस्तुस्वरूप को समझने के साधन हैं, साध्य नहीं। एक अवस्था ऐसी आती है जहाँ व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के नयों का अस्तित्व नहीं रहता, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपचक्र का तो पता ही नहीं चलता कि वह कहाँ गया—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्यो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।९।।

६९ से लेकर १४४ गाथा तक कर्तृकर्माधिकार चला है।

पुण्य-पापाधिकार

संसारचक्र से निकलकर मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी प्राणी को पुण्य का प्रलोभन अपने लक्ष्य से भ्रष्ट करनेवाला है, इसलिये कुन्दकुन्दस्वामी आस्रवाधिकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रारम्भ करने के पहले ही इसे सचेत करते हुए कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तूं मोक्षरूप महानगर की यात्रा के लिये निकला है, देख, कहीं बीच में ही पुण्य के प्रलोभन में नहीं पड़ जाना। यदि उसके प्रलोभन में पड़ा तो एक झटके में ऊपर से नीचे आ जावेगा और सागरों पर्यन्त के लिये उसी पुण्य-महल में नजरकैद हो जायेगा।

अधिकार के प्रारम्भ में ही कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि लोग अशुभ को कुशील और शुभ को सुशील कहते हैं। परन्तु वह शुभ सुशील कैसे हो सकता है, जो इस जीव को संसार में ही प्रविष्ट रखता है, उससे बाहर नहीं निकलने देता। बन्धन की अपेक्षा सुवर्ण और लोह दोनों की बेड़ियाँ समान हैं। जो बन्धन से बचना चाहता है उसे सुवर्ण की भी बेड़ी तोड़नी होगी।

वास्तव में यह जीव पुण्य का प्रलोभन तोड़ने में असमर्थ-सा हो रहा है। यदि अपने आत्म-स्वातन्त्र्य तथा शुद्धस्वभाव की ओर इसका लक्ष्य बन जावे तो कठिन नहीं है। दया, दान, व्रताचरण आदि के भाव लोक में पुण्य कहे जाते हैं और हिंसा आदि पापों में प्रवृत्तिरूप भाव पाप कहे जाते हैं। पुण्यभाव के फलस्वरूप पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है और पाप भाव के फलस्वरूप पापप्रकृतियों का बन्ध होता है। जब उन पुण्य और पापप्रकृतियों का उदयकाल आता है तब इस जीव को सुख-दुःख का अनुभव होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध इस जीव को संसार में ही रोकनेवाला है। इसलिये इनसे बचकर उस तृतीय अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये, जो पुण्य और पाप दोनों के विकल्प से परे हैं। उस तृतीय अवस्था में पहुँचने पर ही यह जीव कर्मबन्ध से बच सकता है और कर्मबन्ध से बचने पर ही जीव का वास्तविक कल्याण हो सकता है। उन्होंने कहा है—

परमट्ठबाहिरा जे, अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता।।१५४।।

जो परमार्थ से बाह्य हैं अर्थात् ज्ञानात्मक आत्मा के अनुभवन से शून्य हैं वे अज्ञान से संसारगमन का कारण होनेपर भी पुण्य की इच्छा करते हैं तथा मोक्ष के कारण को जानते भी नहीं हैं।

यहाँ आचार्य महाराज ने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थज्ञान से रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्ष का साक्षात् कारण जो वीतरागपरिणति है उसे तो जानते नहीं हैं और पुण्य को मोक्ष का साक्षात् कारण समझकर उसकी उपासना करते हैं। जब कि वह पुण्य संसार की प्राप्ति का कारण है। कषाय के मन्दोदय में होनेवाली जीव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की जो शुभोपयोगरूप परिणति है उसे पुण्य कहते हैं, ऐसा पुण्य शभकर्म के बन्धका कारण है, कर्मक्षय का कारण नहीं हैं। परन्तु अज्ञानी जीव इस अन्तर को नहीं समझ पाता है। यहाँ पुण्यरूप आचरण का निषेध नहीं है किन्तु पुण्याचारण को मोक्ष का मार्ग मानने का निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है। परन्तु श्रद्धा में यही भाव रहता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा स्वपद नहीं है। यहाँ इतनी ध्यान में रखने के योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धिपूर्वक छोड़ा जाता है उस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नहीं छोड़ा जाता—वह तो शुद्धोपयोग की भूमिका में प्रविष्ट होने पर स्वयं छूट जाता है।

जिनागमन का कथन नयसापेक्ष होता है, अत: शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोगरूप पुण्य को त्याज्य कहा गया है। परन्तु अशुभोपयोगरूप पाप की अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है। शुभोपयोग में यथार्थमार्ग जल्दी मिल सकता है परन्तु अशुभोपयोग में उसकी संभावना ही नहीं है। जैसे प्रात: काल सम्बन्धी सूर्यलालिमा का फल सुर्योदय है और सायंकाल सम्बन्धी लालिमा का फल सुर्यास्त है। इसी आपेक्षिक कथन को अंगीकृत करते हुए श्री पूज्यपादस्वामी ने इष्टोपदेश में शुभोयोगरूप व्रताचरण से होनेवाले देवपद को कुछ अच्छा कहा है और अशुभोपयोगरूप पापाचरण से होनेवाले नारकपद को बुरा कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्।।२।।

व्रतों से देवपद पाना अच्छा है परन्तु अव्रतों से नारकपद पाना अच्छा नहीं है क्योंकि छाया और धूप में बैठकर प्रतीक्षा करनेवालों में महान् अन्तर है।

अशुभोपयोगरूप पाप सर्वथा त्याज्य ही है और शुभोपयोग उपादेय ही है। परन्तु शुभोपयोग पात्रभेद की अपेक्षा हेय और उपादेय दोनों रूप है। यद्यपि किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने सम्यग्दृष्टि के पुण्य को निर्जरा का कारण बताया है और मिथ्यादृष्टि के पुण्य को बन्ध का कारण। परन्तु वस्तुतत्त्व का यथार्थ विश्लेषण करने पर यह बात अनुभव में आती है कि सम्यग्दृष्टि जीव के मोह का आंशिक अभाव हो जाने से जो आंशिक निर्मोह अवस्था हुई है वह उसकी निर्जरा का कारण है और जो शुभरागरूप अवस्था है वह बन्ध का ही कारण है। बन्ध के कारणों की चर्चा करते हुए कुन्दकुन्दस्वामी ने तो एक ही बात कही है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५०।।

रागी जीव कर्मों को बाँधता है और विराग को प्राप्त हुआ जीव कर्मों को छोड़ता है, यह श्री जिनेश्वर का उपदेश है, इससे कर्मों में राग नहीं करो।

यहाँ आचार्य ने शुभ या अशुभ दोनों प्रकार के राग को बन्ध का कारण कहा है। यह बात जूदी है कि शुभराग से शुभकर्म का बन्ध हो और अशुभराग से अशुभकर्म का बन्ध हो।

यह पुण्यपापाधिकार १४५ से १६३ गाथा तक चला है।

आस्रवाधिकार

संक्षेप में जीवद्रव्य की दो अवस्थाएँ हैं—एक सांसारिक और दूसरी मुक्त। इनमें सांसारिक अवस्था अशुद्ध होने से त्याज्य है और मुक्त अवस्था शुद्ध होने से उपादेय है। संसार अवस्था का कारण आस्रव और बन्धतत्व हैं तथा मोक्ष अवस्था का कारण संवर और निर्जरा तत्त्व हैं। आत्मा के जिन भावों से कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार हैं—१. मिथ्यात्व, २. अविरमण, ३. कषाय और ४. योग। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकार ने इन चार के सिवाय प्रमाद का वर्णन और किया है। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामी प्रमाद को कषाय का ही एक रूप मानते हैं, अत: उन्होंने चार आस्रावों का वर्णन किया है। इन्हीं चार के निमित्त से आस्रव होता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में चारों ही आस्रव हैं। उसके बाद अविरतसम्यग्दृष्टि तक अविरमण, कषाय और योग ये तीन आस्रव हैं। पंचमगुणस्थान में एकदेश अविरमण का अभाव हो जाता है। छठवें गुणस्थान से दशवें तक कषाय और योग ये दो आस्रव हैं और उसके बाद ११, १२ और १३ गुणस्थानों में सिर्फ योग आस्रव है तथा चौदहवें गुणस्थान में आस्रव बिल्कुल ही नहीं है।

इस अधिकार की खास चर्चा यह है कि ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव और बन्ध नहीं होते। जबकि कारणानुयोग की पद्धति से अविरतसम्यग्दृष्टि आदि को लेकर तेरहवें गुणस्थान तक क्रम से ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२, १७, १, १, १, प्रकृतियों का बन्ध बताया है। यहाँ कुन्दकुन्दस्वामी का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी के उदयकाल में इस जीव के तीव्र अर्थात् अनन्त संसार का कारण बन्ध होता था वैसा बन्ध सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होता। सम्यग्दर्शन की ऐसी विचित्र महिमा है कि उसके होने के पूर्व बध्यमान कर्मों की स्थिति घटकर अन्त: कोड़ाकोड़ी प्रमाण हो जाती है और सत्ता में स्थित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों की स्थिति इससे भी संख्यात हजार सागर कम हो जाती है। वैसे भी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के ४१ प्रकृतियों का आस्रव और बन्ध तो रुक ही जाता है। वास्तविक बात है कि सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्दर्शन रूप परिणामों से बन्ध नहीं होता उसके जो बन्ध होता है। उसका कारण अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों का उदय है। सम्यग्दर्शनादि भाव मोक्ष के कारण हैं। इसी बात को अमृतचन्द्रसूरि ने निम्नाङ्कित कलशा में स्पष्ट किया है—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य, ते हि बन्धस्य कारणम्।।११९।।

चूँकि ज्ञानी जीव के राग-द्वेष और विमोह का अभाव है, इसलिये उसके बन्ध नहीं होता। वास्तव में रागादिक भाव ही बन्ध के कारण हैं।

यह आस्रवाधिकार १६४ से १८० गाथा तक चलता है।

संवराधिकार

आस्रव का विरोधी तत्त्व संवर है अतः आस्रव के बाद ही उसका वर्णन किया जा रहा है। 'आस्रवनिरोधः संवरः' आस्रव का रुक जाना संवर है। यद्यपि अन्य ग्रन्थकारों ने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चरित्र को संवर कहा है किन्तु इस अधिकार में कुन्दकुन्दस्वामी ने भेदविज्ञान को ही संवर का मूल कारण बतलाया है। उनका कहना है कि उपयोग, उपयोग में ही है, क्रोधादिक में नहीं है और क्रोधादिक क्रोधादिक में ही हैं उपयोग में नही हैं। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न है अतः उनसे भेदज्ञान प्राप्त करने में महिमा नहीं है, महिमा तो उन रागादि भावकर्मों से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करने में है, जो तन्मयीभाव को प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं। अज्ञानी जीव इस ज्ञानधारा और रागादिधारा को भिन्न-भिन्न नहीं समझ पाता, इसीलिये वह किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उनमें तत्काल राग-द्वेष करने लगता है। परन्तु ज्ञानी जीव उन दोनों धाराओं के अन्तर को समझता है इसलिये वह किसी पदार्थ को देखकर उनका ज्ञाता द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी, द्वेषी नहीं बनता। जहाँ यह जीव रागादिक को अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से भिन्न अनुभव करने लगता है वहीं उनके सम्बन्ध से होनेवाले राग-द्वेष से बच जाता है। राग-द्वेष से बच जाना ही सच्चा संवर है। किसी वृक्ष को उखाड़ना है तो उसके पत्ते नोंचने से काम नहीं चलेगा, उसकी जड़पर प्रहार करना होगा। इसी तरह आस्रव और बन्ध को रोकना है तो मात्र क्रियाकाण्ड से काम नहीं चलेगा, किन्तु उसकी जड़पर प्रहार करना होगा। रागद्वेष की जड़ है परपदार्थों में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मीयभाव—उनको अपना मानना। अत: भेदज्ञान के द्वारा उन्हें अपने स्वरूप से पृथक् समझना यही उनके नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। इस भेद-विज्ञान महिमा का गान करते हुए श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—

भेदविज्ञानत: सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

जितने आज तक सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार में बद्ध हैं वे भेद विज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

इस भेदविज्ञान की भावना तबतक करते रहना चाहिये जब तक कि ज्ञान पर से च्युत होकर ज्ञान में ही प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। परपदार्थ से ज्ञान को भिन्न करने का पुरुषार्थ चतुर्थ गुणस्थान से शुरू होता है और दशम गुणस्थान के अन्तिम समय में समाप्त होता है। वहाँ यह जीव परमार्थ से अपनी ज्ञानधारा को रागादिक की धारा से सर्वथा पृथक् कर लेता है। इस दशा में इस जीव का ज्ञान सचमुच ही ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है और इसीलिये इस जीव के रागादिक के निमित्त से होनेवाले बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाता है। मात्र योग के निमित्त से सातावेदनीय का आस्रव और बन्ध होता है सो भी सांपरायिक आस्रव नहीं तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं । मात्र ईर्यापथ आस्रव और मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। अन्तर्मुहूर्त के भीतर ऐसा जीव नियम से केवलज्ञान प्राप्त करता है। अहो! भव्य प्राणियों! संवर के इस साक्षात् मार्गपर अग्रसर होओ, जिससे आस्रव और बन्ध से छुटकारा मिले।

संवराधिकार १८१ से १९२ गाथा तक चलता है।

निर्जराधिकार

सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्यराशि से अनन्तगुणित कर्म परमाणुओं की निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रतिसमय हो रही है। पर ऐसी निर्जरा से किसी का कल्याण नहीं होता, क्योंकि जितने कर्म परमाणुओं की निर्जरा होती है उतने ही कर्म परमाणु आस्रवपूर्वक आकर बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। कल्याण उस निर्जरा से होता है जिसके होने पर नवीन कर्म परमाणुओं का आस्रव और बन्ध नहीं होता। इसी उद्देश्य से यहाँ कुन्दकुन्द महाराज ने संवर के बाद ही निर्जरा पदार्थ का निरूपण किया है। संवर के बिना निर्जरा की कोई सफलता नहीं है।

निर्जराधिकार के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।१९३।।

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा चेतन-अचेतन पदार्थों का जो उपभोग करता है वह सब निर्जरा के निमित्त करता है। अहो! सम्यग्दृष्टि जीव की यह कैसी उत्कृष्ट महिमा है, कि उसके पूर्वबद्ध कर्म उदय में आ रहे हैं और उनके उदयकाल में होनेवाला उपभोग भी हो रहा है परन्तु उससे नवीन बन्ध नहीं होता, किन्तु पूर्वबद्ध कर्म अपना फल देकर खिर जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कर्म और कर्म के फल का भोक्ता अपने आप को नहीं मानता। उनका ज्ञायक तो होता है पर भोक्ता नहीं होता। भोक्ता अपने ज्ञानस्वभाव का ही होता है यही कारण है कि उसकी वह प्रवृत्ति निर्जरा का कारण बनती है।

सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ्य है। ज्ञानसामर्थ्य की महिमा बतलाते हुए कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है कि जिस प्रकार विषका उपभोग करता हुआ वैद्य पुरुष मरण को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गलकर्म के उदय का भोग करता हुआ बन्ध को प्राप्त नहीं होता। वैराग्यसामर्थ्य की महिमा बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अरतिभाव से मदिरा का पान करनेवाला मनुष्य मद को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार अरतिभाव से द्रव्य का उपभोग करनेवाला ज्ञानी पुरुष बन्ध को प्राप्त नहीं होता। कैसी विचित्र महिमा ज्ञान और वैराग्य की है कि उनके होने पर सम्यग्दृष्टि जीव मात्र निर्जरा को करता है बन्ध को नहीं। अन्य ग्रन्थों में इस निर्जरा का प्रमुख कारण तपश्चरण कहा गया है। परन्तु कुन्दकुन्दस्वामी ने तपश्चरण को यथार्थ तपश्चरण बतानेवाला जो ज्ञान और वैराग्य है उसी का सर्वप्रथम वर्णन किया है । ज्ञान और वैराग्य के बिना तपश्चरण निर्जरा का कारण न होकर शुभबन्ध का कारण होता है।

अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव के क्या निर्जरा ही निर्जरा होती है, बन्ध बिलकुल नहीं होता? इसका उत्तर करणानुयोग की पद्धति से यह होता है कि सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा प्रारम्भ हो गई। मिथ्यादृष्टि जीव के ऐसी निर्जरा आज तक नहीं हुई, किन्तु सम्यग्दर्शन होते ही वह ऐसी निर्जरा का पात्र बन जाता है। 'सम्यग्दष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षीणमोहजिना:' आगम में गुणश्रेणी निर्जरा के ये दश स्थान बतलाये हैं इनमें निर्जरा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा और बन्ध दोनों चलते हैं। निर्जरा के कारणों से निर्जरा होती है और बन्ध के कारणों से बन्ध होता है। जहाँ बन्ध का सर्वथा अभाव होकर मात्र निर्जरा ही निर्जरा होती है ऐसा तो सिर्फ चौदहवाँ गुणस्थान है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसके पूर्व चतुर्थ गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक निर्जरा और बन्ध दोनों चलते हैं। यह ठीक है कि जैसे-जैसे यह जीव उपरितम गुणस्थानों में चढ़ता जाता है वैसे-वैसे निर्जरा में वृद्धि और बन्ध में न्यूनता होती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्यशक्ति की प्रधानता हो जाती है, इसलिये बन्ध के कारणों की गौणता कर ऐसा कथन किया जाता है कि सम्यग्दृष्टि के निर्जरा ही होती है, बन्ध नहीं। इसी निर्जराधिकार में कुन्दकुन्दस्वामी ने सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का विशद वर्णन किया है।

यह अधिकार १९३ से लेकर २३६ गाथा तक चलता है।

बन्धाधिकार

आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य है और दोनों में चेतन-अचेतन की अपेक्षा पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर है। फिर भी इनका अनादिकाल से संयोग बन रहा है। जिस प्रकार चुम्बक में लोहे को खींचने की और लोहा में खिंचने की योग्यता है, इसी तरह आत्मा में कर्मरूप पुद्गल को खींचने की और कर्मरूप पुद्गल में खिंचने की योग्यता है। अपनी-अपनी योग्यता के कारण दोनों का एकक्षेत्रावगाह हो रहा है। इसी एकक्षेत्रावगाह को बन्ध कहते हैं। इस बन्धदशा के कारणों का वर्णन करते हुए आचार्य ने स्नेह अर्थात् रागभाव को ही प्रमुख कारण बतलाया है। अधिकार के प्रारम्भ में ही वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार धूलि बहुल स्थान में कोई मनुष्य शस्त्रों से व्यायाम करता है, ताड़ तथा केले आदि के वृक्षों को छेदता भेदता है, इस क्रिया से उसके साथ धूलिका सम्बन्ध होता है सो इस सम्बन्ध के होने में कारण क्या है? उस व्यायामकर्ता के शरीर में जो स्नेह—तैल लग रहा है वही उसका कारण है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव इन्द्रियविषयों में व्यापार करता है उस व्यापार के समय जो कर्मरूपी धूलिका सम्बन्ध उसकी आत्मा के साथ होता है उसका कारण क्या है? उसका कारण भी उसकी आत्मा में विद्यमान स्नेह अर्थात् रागभाव है। यह रागभाव जीव का स्वभाव नहीं, किन्तु विभाव है और वह भी द्रव्यकर्म की उदयावस्थारूप कारण से उत्पन्न हुआ है। आस्रवाधिकार में आस्रव के जो चार प्रत्यय—मिथ्यादर्शन, अविरमण, कषाय और योग बतलाये हैं वे ही बन्ध के भी प्रत्यय—कारण हैं। इन्हीं प्रत्ययों का संक्षिप्त नाम राग-द्वेष अथवा अध्यवसानभाव है। इन अध्यवसान भावों का जिनके अभाव हो जाता है वे शुभ-अशुभकर्मों के साथ बन्ध को प्राप्त नहीं होते। जैसा कि कहा है—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण गुणे ण लिंपंति।।२८०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध के इस वास्तविक कारण को समझता है। इसलिये वह उसे दूर कर निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नहीं समझ पाता, इसलिये करोड़ों वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्बन्ध अवस्था प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का आचरण—तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु 'धम्मं भोगणिमित्तं णदु कम्मक्खयणिमित्तं' धर्म को भोग के निमित्त करता है, कर्मक्षय के निमित्त नहीं।

अरे भाई! सच्चा कल्याण यदि करना चाहता है तो इस अध्यवसान भावों को समझ और उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ कर।

कितने ही जीव निमित्त की मान्यता से बचने के लिए ऐसा व्याख्यान करते हैं कि आत्मा में रागादिक अध्यवसान भाव स्वतः होते हैं, उसमें द्रव्यकर्म की उदयावस्था निमित्त नहीं है। ऐसे जीवों को बन्धाधिकार की निम्न गाथाओं का मनन कर अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिये—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।२७८।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहि।।२७९।।

जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह स्वयं लालाई आदि रंगरूप परिणमन नहीं करता, परन्तु लाल आदि द्रव्यों से ललाई आदि रङ्गरूप परिणमन करता है इसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है वह स्वयं राग आदि विभाव भावरूप परिणमन नहीं करता है, किन्तु अन्य राग आदि दोषों-द्रव्यकर्मोदय जनित विकारों से रागादि विभाव भावरूप परिणमन करता है।

श्रीअमृतचन्द्रस्वामी ने भी निम्न कलशा के द्वारा उक्त भाव का निरूपण किया है—

न जातु रागादिनिमिमित्तभावमात्मात्मना याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।१७५।।

जिस प्रकार अर्ककान्त—स्फटिकमणि स्वयं ललाई आदि को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मा स्वयं रागादि के निमित्तभाव को प्राप्त नहीं होता। उसमें निमित्त परद्रव्य का संयोग ही है। वस्तु का स्वभाव ही यह है, किसी का किया नहीं है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभाव के अन्तर को समझता है। वह स्वभाव को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो अकारण मानता है पर विभाव को सकारण ही मानता है। ज्ञानी जीव स्वभाव में स्वत्वबुद्धि रखता है और विभाव में परत्वबुद्धि। इसीलिये वह बन्ध से बचता है।

यह अधिकार २३७ से लेकर २८७ गाथा तक चलता है।

मोक्षाधिकार

आत्मा की सर्व कर्म से रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व होनेवाली बद्ध अवस्था का प्रत्यय कराता है। मोक्षाधिकार में मोक्षप्राप्ति के कारणों का विचार किया गया है। प्रारम्भ में ही कुन्दकुन्दस्वामी लिखते हैं—जिस प्रकार चिरकाल से बन्धन में पड़ा हुआ कोई पुरुष उस बन्धन के तीव्र मन्द या मध्यम स्वभाव को जानता है तथा उसके कालको भी समझता है परन्तु यदि उस बन्धन का—बेड़ी का छेदन नहीं करता है तो वह उस बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव कर्मबन्ध के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध को जानता है परन्तु उस बन्धको छेदने का पुरुषार्थ नहीं करता तो वह उस कर्मबन्ध से मुक्त नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में कुन्दकुन्द स्वामी ने बड़ी उत्कृष्ट बात कही है। वह उत्कृष्ट बात है सम्यक्चारित्र। हे जीव! तुझे श्रद्धान है कि मैं कर्मबन्धन से बद्ध हूँ और बद्ध होने के कारणों को भी जानता है परन्तु तेरा यह श्रद्धान और ज्ञान तुझे कर्मबन्धन से मुक्त करनेवाला नहीं है, मुक्त करानेवाला तो यथार्थश्रद्धान और ज्ञान के साथ होनेवाला चारित्ररूप पुरुषार्थ ही है। जब तक तूँ इस पुरुषार्थ को अंगीकृत नहीं करेगा तब तक बन्धन से मुक्त होना दुर्भर है। मात्र श्रद्धान और ज्ञान को लिये हुए तेरा सागरों पर्यन्त का दीर्घकाल यों ही निकल जाता है पर तूँ बंधन से मुक्त नहीं हो पाता। परन्तु उस श्रद्धान और ज्ञान के साथ जहाँ चारित्ररूप पुरुषार्थ को अंगीकृत करता है वहाँ तेरा कार्य बनने में विलम्ब नहीं लगता। यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्त में भी काम बन जाता है।

हे जीव! तू मोक्ष किसका करना चाहता है? आत्मा का करना चाहता हूँ। पर इस संयोगीपर्याय के अन्दर तूने आत्मा को समझा या नहीं? इस बात का तो विचार कर। कहीं इस संयोगीपर्याय को ही तो तूने आत्मा नहीं समझ रखा है। मोक्षप्राप्ति का पुरुषार्थ प्रारम्भ करने के पहले आत्मा और बन्ध को समझना आवश्यक है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेएदव्वो शुद्धो अप्पा य घेतव्वो।।२९५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीव और बन्ध अपने-अपने लक्षणों से जाने जाते हैं। सो जानकर बन्ध तो छेदने के योग्य है और आत्मा ग्रहण करने योग्य है।

शिष्य कहता है भगवान्! वह लक्षण तो बताओ, जिसके द्वारा मैं आत्मा को समझ सकूँ। उत्तर में कुन्दकुन्दमहाराज कहते हैं—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो।।२९६।।

उस आत्मा का ग्रहण कैसे किया जावे? प्रज्ञा—भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञा से उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञा से उसे ग्रहण करना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा।।२९७।।

प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है वही मैं हूँ और अवशेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं।

इस प्रकार स्वपर के भेदविज्ञान पूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है वही मोक्षप्राप्ति का वास्तविक पुरुषार्थ है। चारित्र की परिभाषा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।

चरित्र ही वास्तव में धर्म है, और सम परिणाम धर्म है तथा मोह—मिथ्यात्त्व और क्षोभ—रागद्वेष से रहित आत्मा की जो परिणति है वही साम्यभाव है।

व्रत, समिति, गुप्ति आदि इसी साम्यभावरूप चारित्र की प्राप्ति में साधक होने से चारित्र कहे जाते हैं। यह अधिकार २२८ से लेकर ३०७ गाथा तक चलता है।

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

आत्मा के अनन्त गुणों में ज्ञान ही सबसे प्रमुख गुण है। उसमें किसी प्रकार का विकार शेष न रह जावे, इसलिये पिछले अधिकारों में उक्त-अनुक्त बातों का एक बार फिर से विचार कर ज्ञान को सर्वथा निर्दोष बनाने का प्रयत्न इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा परद्रव्य के कर्तृव्य से रहित है। इसके समर्थन में कहा गया कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण और पर्यायरूप पणिमन करता है, अन्य द्रव्यरूप नहीं, इसलिये वह पर का कर्त्ता नही हो सकता। अपने ही गुण और पर्यायों का कर्ता हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं है। कर्मों का कर्ता पुद्गलद्रव्य है, क्योंकि ज्ञानावरणादिरूप परिणमन पुद्गलद्रव्य ही हो रहा है। इसी तरह रागादिक का कर्त्ता आत्मा ही है, परद्रव्य नहीं, क्योंकि रागादिरूप परिणमन आत्मा ही करता है। निमित्तप्रधान दृष्टि को लेकर पिछले अधिकार में पुद्गलजन्य होने के कारण राग को पौद्गलिक कहा है। यहाँ उपादानप्रधान दृष्टि को लेकर कहा गया है कि चूँकि रागादिरूप परिणमन आत्मा का होता है, अत: आत्मा के हैं। अमृतचन्द्रस्वामी ने तो यहाँ तक कहा है कि जो जीव रागादिक की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही निमित्त मानते हैं वे शुद्धबोधविधुरान्ध बुद्धि हैं तथा मोहरूपी नदी को नहीं तैर सकते—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः।।२२१।।

कितने ही महानुभाव अपनी एकान्त उपादन की मान्यता का समर्थन करने के लिये इस कलशा का अवतरण दिया करते हैं। पर वे श्लोक में पड़े हुए 'एव' शब्द की ओर दृष्टिपात नहीं करते। यहाँ अमृतचन्द्रसूरि 'एव' शब्द के द्वारा, यह प्रकट कर रहे हैं कि जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही कारण मानते हैं स्वद्रव्य को कारण नहीं मानते, वे मोहनदी को नहीं तैर सकते। रागादिक की उत्पत्ति में परद्रव्य निमित्त कारण है और स्वद्रव्य उपादानकारण है। सो जो पुरुष स्वद्रव्यरूप उपादानकारण को न मानकर परद्रव्य को ही कारण मानते हैं—मात्र निमित्तकारण से उनकी उत्पत्ति मानते हैं वे मोहनदी को नहीं तैर सकते। यह ठीक है कि निमित्त कार्यरूप परिणत नहीं होता, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में उसका साहाय्य अनिवार्य आवश्यक है। अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है। जिनागम की यह निर्विवाद मान्यता सनातन है।

आत्मा परका—कर्म का कर्त्ता नहीं है, यह सिद्धकर ज्ञानी जीव को कर्मचेतना से रहित सिद्ध किया गया है। इसी तरह ज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभाव का ही भोक्ता है, कर्मफल का भोक्ता नहीं है यह सिद्धकर कर्मफल चेतना से उसे रहित सिद्ध किया है। ज्ञानी तो एक ज्ञानचेतना से ही सहित है, उसी के प्रति उसकी स्वत्वबुद्धि रहती है।

इस अधिकार के अन्त में एक बात और बड़ी सुन्दर कही गई है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि कितने ही लोग मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थ के नानालिङ्ग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धारण करने की प्रेरणा इसलिये करते हैं कि ये मोक्ष के मार्ग हैं परन्तु कोई लिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है। मोक्ष का मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इसलिये—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।।४१२।।

मोक्ष मार्ग में आत्मा को लगाओ, उसी का चिन्तन करो और उसी में बिहार करो, अन्य द्रव्यों में नहीं।

इस निश्चयपूर्ण कथन का कोई यह फलितार्थ न निकाल ले कि कुन्दकुन्दस्वामी मुनिलिङ्ग और श्रावक लिङ्गका निषेध करते हैं। इसलिए वे लगे हाथ अपनी नयविवक्षा को प्रकट करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।४१४।।

परन्तु व्यवहारनय दोनों लिङ्गों को मोक्ष मार्ग में कहता है और निश्चयनय मोक्षमार्ग में सभी लिङ्गों को इष्ट नहीं मानता।

इस तरह विवाद के स्थलों को कुन्दकुन्दस्वामी तत्काल स्पष्ट करते हुए चलते हैं। 'जिनागम का कथन नयविवक्षापर अवलम्बित है' यह तो सर्व सम्मत बात है। इसलिये व्याख्यान करते समय वक्ता अपनी नयविवक्षा को प्रकट करते चलें और श्रोता भी उस नयविवक्षा से व्याख्यात तत्त्व को उसी नयविवक्षा से ग्रहण करने का प्रयास करें, तो विसंवाद उत्पन्न होने का अवसर नहीं आ सकता।

यह अधिकार ३०८ से लेकर ४१५ गाथा तक चलता है

स्याद्वादाधिकार

यह अधिकार श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने स्वरचित टीका के अङ्गस्वरूप लिखा है। इतना स्पष्ट है कि समयप्राभृत अध्यात्मग्रन्थ है। अध्यात्मग्रन्थों का वस्तुत्त्व सीधा आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला होता है। इसलिये उसके कथन में निश्चय का आलम्बन प्रधानरूप से लिया जाता है, परपदार्थ से सम्बनध रखनेवाले व्यवहारनय का आलम्बन गौण रहता है। जो श्रोता दोनों नयों के प्रधान और गौण भावपर दृष्टि नहीं रखते हैं उन्हें भ्रम हो सकता है। उनके भ्रम का निराकरण करने के उद्देश्य से ही अमृतचन्द्रस्वामी ने इस अधिकार का अवतरण किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस अधिकार में उन्होंने स्याद्वाद के वाच्यभूत अनेकान्त का समर्थन करने के लिये तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयों से आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। अन्त में कलश-काव्यों के द्वारा इसी बात का समर्थन किया है। अमृतचन्द्रस्वामी ने अनेकान्त को परमागम का जीव—प्राण और समस्त नयों के विरोध को नष्ट करनेवाला माना हैं। जैसा कि उन्होंने स्वरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ के मङ्गलरूप में कहा है—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।

आत्मख्याति टीका के प्रारम्भ में भी उन्होंने यही आकांक्षा प्रकट की है—

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्येव प्रकाशताम् ।। २।।

अनन्तधर्मात्मक परमात्मतत्त्व के स्वरूप का अवलोकन करनेवाली अनेकान्तमयी मूर्ति निरन्तर ही प्रकाशमान रहे।

इसी अधिकार में जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि ४७ शक्तियों का निरूपण किया है जो नयविवक्षा के परिज्ञान से ही सिद्ध होती हैं। इन शक्तियों का विवेचन ग्रन्थ की टीका में किया गया है। इसी अधिकार में उपायोपेयभाव का भी विचार किया है। इसमें एक ज्ञानमात्र आत्मा में ही उपाय और उपेयभाव का समर्थन किया है । वही आत्मा साधक है और वही आत्मा सिद्ध भी है। अन्त में १ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्तिनास्ति, ४ स्यादवक्तव्य, ५ स्यादस्ति अवक्तव्य, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य और ७ स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य इन सात भङ्गों के द्वारा द्रव्य का निरूपण किया है।

संस्कृतटीकाकारों का परिचय

अमृतचन्द्रसूरि

समयसार या समयप्राभृत पर दो संस्कृत-टीकाएँ उपलब्ध हैं—एक आत्मख्याति और दूसरी तात्पर्यवृत्ति। आत्मख्याति के रचयिता अमृतचन्द्रसूरि हैं। इन्होंने कुन्कुन्दस्वामी के हार्द (अभिप्राय) को खोलने का पूर्ण प्रयास किया है। कुन्दकुन्दस्वामी के प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और समयसार पर इनकी टीकाएँ मिलती हैं जो तद्तद् ग्रन्थों के साथ मुद्रित हो चुकी हैं। आप की भाषा पाण्डित्यपूर्ण है। अध्यात्मग्रन्थों की टीका में यदि सरल भाषा का प्रयोग होता तो और भी लाभदायक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होता। समयसार की टीका के साथ आपने गाथाओं के अभिप्राय को स्पष्ट अथवा पल्लवित करने के लिए श्लोक भी लिखे हैं जो कलशा के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके संस्कृतटीकासहित तथा मात्र हिन्दी टीकासहित अलग से भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं। ये कलशकाव्य इतने लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं कि कितने ही महानुभावों के नित्यपाठ में सम्मिलित हो गये हैं। इन्हीं की शैली का अनुकरण कर पद्मप्रभमलधारीदेव ने नियमसार की संस्कृत-टीका लिखी हैं तथा टीका के बाद कलशकाव्य भी।

इन टीकाओं के सिवाय अमृतचन्द्रस्वामी के द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा तत्त्वार्थसार ये दो ग्रन्थ और मिलते हैं। इन आचार्य ने अपना परिचय किसी ग्रन्थ में नहीं दिया है। यहाँ तक कि समयसार के इस निरूपण का कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नहीं है' इनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा है, जिससे वे समयसार के अन्त में लिखते हैं—

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः।।२७८।।

अपनी शक्ति से वस्तुस्वरूप को सूचित करनेवाले शब्दों के द्वारा यह समय— आगम अथवा समयसार की व्याख्या की गई है। स्वरूप में गुप्त रहनेवाले अमृतचन्द्रसूरि का इसमें कुछ भी कर्तृत्त्व नहीं है।

इसी भाव के श्लोक पञ्चास्तिकाय तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अन्त में उपलब्ध हैं।

यह आचार्य अनेकान्त के अनन्यभक्त थे। निश्चय और व्यवहारनय के पारस्परिक विरोध को शमन करने के लिये पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इन्होंने लिखा है—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।८।।

जो यथार्थरूप में व्यवहार और निश्चय को जानकर मध्यस्थ होता है वही शिष्य देशना के पूर्ण फलको प्राप्त होता है।

ये विक्रम संवत् १००० के लगभग हुए हैं क्योंकि जयसेन के धर्मरत्नाकर में इनके द्वारा रचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के ४९ पद्य उद्धृत हैं। जयसेन ने अपना यह ग्रन्थ वि० सं० १०५५ में बनाया है, ऐसा उसकी प्रशस्ति के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्तिम पद्य से प्रकट है। इस तरह अमृतचन्द्रसूरि १०५५ के पूर्ववर्ती ही हैं, उत्तरवर्ती नही।[1]

जयसेनाचार्य

तात्पर्यवृत्ति के कर्ता श्रीजयसेनाचार्य है। इनकी टीका की भाषा बहुत सरल और हृदयग्राही है।

वास्तव में अध्यात्म-ग्रंथों की टीका ऐसी ही भाषा में होनी चाहिये। इन्होंने कुन्दकुन्द के प्रवचनसार, समयसार और पञ्चास्तिकाय इन तीनों ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं और उनमें निश्चय-व्यवहारनय का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य बैठाया है कि पढ़ते समय हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति की गाथाओं में कहीं-कहीं हीनाधिकता पाई जाती है अर्थात् तात्पर्यवृत्ति में ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जिनकी टीका अमृतचन्द्रसूरि ने नहीं की है। इससे इतना सिद्ध होता है कि इन ग्रन्थों की प्रतियों में पाठभेद बहुत पहले से पाया जाता है। अमृतचन्द्रस्वामी ने अपनी टीका का आधार अन्य प्रति को बनाया होगा और जयसेन ने दूसरी प्रति को। अमृतचन्द्रस्वामी ने छानबीनकर द्विरुक्त अथवा अनावश्यक गाथाओं को छोड़ा है परन्तु जयसेन ने ऐसा नहीं किया।

जयसेन बारहवीं शताब्दी के विद्वान् है। इनकी टीका की पद्धति का अनुसरणकर परमात्मप्रकाश और बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीकाएँ तत्तत् कर्त्ताओं के द्वारा लिखी गयीं।

पं० बनारसीदासजी

जैनसाहित्य में हिन्दी भाषा का इतना बड़ा अन्य कवि नहीं हुआ। इनका जन्म एक धनी-मानी सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। इनके प्रपितामह जिनदास का साका चलता था, पितामह मूलदास हिन्दी और फारसी के पंडित थे और नरवर (मालवा) में वहाँ के मुसलमान नवाब के मोदी होकर गये थे। इनके मातामह भदनसिंह चिनालिया जौनपुर के प्रसिद्ध जौहरी थे और पिता खड्गसेन कुछ दिनों तक बंगाल के सुलतान मोदी खाँ के पोतदार रहे थे। इनका जन्म जौनपुर में माघ सूदी ११ संवत् १६४३ में हुआ था। यह श्रीमाल वैश्य थे। यह बड़े ही प्रतिभाशाली सुधारक कवि थे। शिक्षा सामान्य प्राप्त की थी, पर अद्भुत प्रतिभा होने के कारण यह अच्छे कवि थे। इन्होने १४ वर्ष की अवस्था में एक हजार दोहा-चौपाईयों का नवरस नामक ग्रन्थ बनाया था, जिसे आगे चलकर, इस भय से कि संसार पथ-भ्रष्ट न हो, गोमती

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ८ अंक ३-५।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में प्रवाहित कर दिया था।

इनके पिता मूलतः आगरा-निवासी ही थे तथा इन्हें भी बहुत दिनों तक आगरा रहना पड़ा था। उस समय आगरा जैन विद्वानों का केन्द्र था। इनके सहयोगियों में पं० रामचन्द्रजी, चतुर्भुज वैरागी, भगवतीदासजी, धर्मदासजी, कुंवरपालजी और जगजीवनरामजी विशेष उल्लेख योग्य हैं। ये सभी कवि थे। महाकवि बनारसीदास का सन्तकवि सुन्दरदास से सम्पर्क था। बताया गया है[१]—'प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास के साथ सुन्दरदास की मैत्री थी। सुन्दरदास जब आगरे गये थे तब बनारसीदास के साथ सम्पर्क हुआ था। बनारसीदासजी सुन्दरदास की योग्यता, कविता और यौगिक चमत्कारों से मुग्ध हो गये थे। तभी इतनी श्लाघायुक्त कंठ से उन्होंने प्रशंसा की थी। परन्तु वैसे ही त्यागी और मेधावी बनारसीदासजी भी थे। उनके गुणों से सुन्दरदासजी प्रभावित हो गये, इसी से वैसी अच्छी प्रशंसा उन्होंने भी की थी।'

महाकवि बनारसीदास का सम्पर्क महाकवि तुलसीदास के साथ भी था। एक किंवदंती में कहा गया है कि कवि तुलसीदास ने अपनी रामायण बनारसीदास को देखने के लिये दी थी। जब मथुरा से लौटकर तुलसीदास आगरा आये तो बनारसीदास ने रामायण पर अपनी सम्मति "विराजै रामायण घटमाहीं मर्मी होय मर्म सो जाने मूरख समझें नाहीं।" इत्यादि पद्य में लिखकर दी थी। कहते हैं इस सम्मति से प्रसन्न होकर ही तुलसीदास ने कुछ पद्य भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति में लिखे हैं। ये पद्य शिवनन्दन द्वारा लिखित गोस्वामीजी की जीवनी में प्रकाशित हैं। इनकी निम्न रचनाएँ हैं—

१. नाममाला—एक सौ पचहत्तर दोहों का छोटा-सा शब्दकोष है। इसकी सं० १६७० में जौनपुर में रचना की थी।

२. नाटकसमयसार—यह कविवर की सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना है। इसकी रचना सं० १६९३ में आगरा में की गयी थी।

३. बनारसीविलास—इसमें ५७ फुटकर रचनाएँ संग्रहीत हैं। इसका संकलन सं० १७०१ में पं० जगजीवन ने किया था।

४. अर्द्धकथानक—इसमें कवि ने अपनी आत्मकथा लिखी हैं। इसमें संवत् १६९८ तक की सभी घटनाएँ दी गयी हैं।[२]

१-२. डॉ०नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्यकृत हिन्दी-जैन-साहित्य-परिशीलन, भाग १, पृ० २४४ से साभार उद्धृत।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आद्य हिन्दी-टीकाकार श्रीजयचन्द्र

आत्मख्याति के आधार पर समयसार की सर्वप्रथम हिन्दी टीका पं० जयचन्द्रजी ने की है। इस टीका का निर्माण इन्होंने कार्तिक वदी १० विक्रम संवत् १८६४ को किया है।

श्री पं० जयचन्द्रजी छावड़ा खण्डेलवाल जैन थे। जयपुर से ३० मील की दूरी पर स्थित फागई (फागी) ग्राम में रहनेवाले श्रीमोतीरामजी के पुत्र थे। बाल्यावस्था से ही इनकी जैनतत्त्वचर्चा में रुचि थी। कुछ समय बाद आप फागई से जयपुर आ गये। यहाँ आने पर इन्होंने विद्वानों की अच्छी शैली देखी। उन विद्वानों के सम्पर्क से आप की स्वाध्याय सम्बन्धी अभिरुचि बढ़ती गई। इनका जन्म वि० सं० १७९५ को हुआ था और समाधिमरण १८८१-८२ के लगभग माना जाता है। आप की रचनाओं में उनका काल दिया हुआ है, जिससे जान पड़ता है कि आपने १८५९ से रचना करना शुरू किया है और यह रचनाकार्य १८७४ वि० सं० तक चलता रहा है। आप संस्कृतभाषा के अच्छे जानकार थे। न केवल धर्मविषय के आप ज्ञाता थे, किन्तु न्याय-विषय में भी अच्छे निष्णात थे। ये स्वतंत्र कविताएं भी लिखते थे। समयसार के प्रत्येक अधिकार में जो आपने सवैया आदि पद्य दिये हैं वे बहुत ही भावपूर्ण हैं। आप की साहित्यिक रचनाएँ निम्न प्रकार हैं—

(१)	तत्वार्थसूत्रवचनिका	वि० सं० १८५९
(२)	सर्वार्थसिद्धिवचनिका*	चैत्रशुक्ला ५ सं० १८६१
(३)	प्रमेयरत्नमालावचनिका*	आषाढ शु० ४ सं० १८६३
(४)	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षावचनिका*	श्रावण कृ० ३ सं० १८६३
(५)	द्रव्यसंग्रहवचनिका*	श्रावण कृष्णा १४ सं० १८६३
(६)	समयसारवचनिका*	कार्तिक कृ० १० सं० १८६४
(७)	देवागम (आप्तमीमांसा) वचनिका*	चैत्र कृ० १४ वि० सं० १८६६
(८)	अष्टपाहुडवचनिका*	भाद्र० शु० १२ सं० १८६७
(९)	ज्ञानार्णववचनिका*	माघ कृष्णा ५ सं० १८६९
(१०)	भक्तामरस्तोत्रवचनिका	कार्तिक कृ० १२ सं० १८७०
(११)	पद्यों की पुस्तक (मौलिक) (२४६ पद्यों का संग्रह)	आषाढ़ शु० १० सं० १८७४
(१२)	सामायिकपाठवचनिका	
(१३)	पत्रपरीक्षावचनिका	

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१४) चन्द्रप्रभचरित्र-द्वितीयसर्ग-वचनिका

(१५) मतसमुच्चयवचनिका

(१६) धन्यकुमारचरित-वचनिका

इन रचनाओं में तारकाङ्कित ग्रन्थों की प्रतियाँ स्वयं पण्डितजी के हाथ की लिखी हुई दि० जैन बड़ा मन्दिर जयपुर में विराजमान हैं।[1]

प्रस्तुत टीका के कर्त्ता श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी

इस संस्करण में सर्व प्रथम प्रकाशित टीका के कर्त्ता जैनसमाज के अतिशय प्रसिद्ध एवं जन-जन् के श्रद्धाभाजन पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज हैं। आप का जन्म असाटी वैश्य नामक वैष्णव कुल में झाँसी जिला के अन्तर्गत (ललितपुर) हँसेरा ग्राम में कुवांर बदी ४ वि० सं०१९३१ को हुआ था। पिता का नाम हीरालालजी और माता का नाम उजियारी था। हँसेरा से आकर आपके पिताजी मड़ावरा (ललितपुर) में रहने लगे थे। जैनमन्दिर के समीप उनका घर था। मन्दिर में होनेवाली पद्मपुराण की वचनिका सुनकर बालक गणेशप्रसाद की जैनधर्म की ओर रुचि जागृत हुई और वह उत्तरोत्तर इतनी वृद्धिगत होती गई कि उसने इन्हें दिगम्बर मुद्रा में दीक्षित कराया।

आपने धर्ममाता श्री चिरोंजाबाई जी के सम्पर्क में आकर बहुत कुछ पाया। वाराणसी, खुर्जा, नदिया, मथुरा, आदि स्थानों में रहकर संस्कृतभाषा और नव्यन्याय का उच्च अध्ययन किया। गवर्नमेन्ट क्वीन्स कालेज बनारस से न्यायाचार्य परीक्षा पास की। बनारस का स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर का गणेश दि० जैन विद्यालय स्थापित कर आपने जैन समाज में संस्कृत तथा धार्मिक विद्या का भारी प्रचार किया।

आप पहले वर्णी, फिर क्षुल्लक और अन्तिम समय में दिगम्बर मुनि पद के धारक हुए। आपने अगणित मानवों का कल्याण किया। 'मेरी जीवनगाथा' प्रथम और द्वितीय भाग स्वलेखनी से लिखकर समाज के लिये आपने अपने जीवन की उदात्त घटनाओं से परिचित कराया है। समयसार आप का प्रिय विषय था। वर्षों आपने इसका मनन किया था और उसके बाद यह टीका अपने लिखी थी। आप के हाथ की लिखी प्रति श्री ग० वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी में सुरक्षित है। पत्रलेखनकला में आप की प्रतिभा अद्भुत थी। आपने अपने भक्तजनों को सैकड़ों

---

१. श्री पं०जयचन्दजी छावड़ा का परिचय तथा उनके साहित्यिक कार्यों की सूची द्रव्यसंग्रह भाषावचनिका की डॉ०दरबारीलाल जी कोठिया द्वारा लिखित भूमिका से साभार ली गयी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पत्र लिखे हैं, जिनमें तत्त्व का अच्छा उपदेश भरा हुआ है। उन पत्रों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आप प्रवचनकला के पारंगत विद्वान् थे। कठिन-से-कठिन विषय को इतनी सरलता से समझाते थे कि श्रोता मन्त्रमुग्ध से रह जाते थे। 'वर्णी-वाणी' के नाम से आप के उपदेशों, सन्देशों एवं पत्रों का चार भागों में प्रकाशन ग० वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी से हो चुका है।

विक्रम-संवत् २०१८ भाद्रपद कृष्ण ११ को ईसिरी में मुनि अवस्था में आप का समाधिमरण हुआ। खेद है कि उनकी यह रचना उनके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हो सकी। आपका मुनि अवस्था का नाम श्री १०८ गणेशकीर्ति महाराज था।

सागर, श्रावणशुक्ला १०,
२०२६ विक्रमाब्द

विनीत
पन्नालाल जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

	गाथा	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	१	१-५
जीवाजीवाधिकार		
स्वसमय और परसमय का लक्षण	२	६-९
एकत्व की कथा सुन्दर और बन्ध की कथा विसंवादिनी	३	१०-११
एकत्व विभक्त आत्मा की प्राप्ति सुलभ नहीं है	४	११-१२
एकत्व विभक्त आत्मा को दिखलाने की प्रतिज्ञा	५	१२-१४
ज्ञायकभाव न अप्रमत्त है, न प्रमत्त है, किन्तु शुद्ध है	६	१४-१७
दर्शन, ज्ञान और चारित्र का विकल्प व्यवहार से है	७	१७-१८
व्यवहार के बिना उपदेश अशक्य है	८	१९-२०
परमार्थ और व्यवहारनय से श्रुतकेवली का स्वरूप	९-१०	२०-२२
व्यवहारनय अभूतार्थ और शुद्धनय-निश्चयनय भूतार्थ है	११	२२-२३
शुद्धनय और व्यवहारनय से किसे उपदेश देना चाहिए	१२	२३-२७
भूतार्थनय से जीवाजीवादि का जानना सम्यक्त्व है	१३	२८-३५
शुद्धनय का स्वरूप	१४	३५-४०
शुद्धनय से आत्मा को जाननेवाला समस्त जिनशासन को जानता है	१५	४०-४२
साधु को दर्शन, ज्ञान और चारित्र की सेवा करनी चाहिये	१६	४२-४५
मोक्ष के इच्छुक मनुष्य को जीवरूपी राजा की सेवा करनी चाहिए	१७-१८	४५-४७
जीव अप्रतिबुद्ध कब तक रहता है	१९	४७-५०
अज्ञानी जीव आत्मा के विषय में कैसे विकल्प करता है	२०-२२	५०-५२
अप्रतिबुद्ध – अज्ञानी जीव को समझाने का उपाय	२३-२५	५२-५६
अप्रतिबुद्ध जीव कहता है कि शरीर ही आत्मा है	२६	५६
अप्रतिबुद्ध जीव के पूर्वपक्ष का उत्तर	२७	५७
अज्ञानी, शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति मानता है	२८	५८
केवली के गुणों का स्मरण ही निश्चय से उनका स्तवन है	२९	५८-५९
शरीर के स्तवन से आत्मा की स्तुति नहीं होती, दृष्टान्त सहित निरूपण	३०	५९-६०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जितेन्द्रिय का लक्षण (निश्चय-स्तुति)	३१	६०-६२
जितमोह का लक्षण (निश्चय-स्तुति)	३२	६२-६३
क्षीणमोह का लक्षण (निश्चय-स्तुति)	३३	६३-६५
ज्ञान ही प्रत्याख्यान है	३४	६५-६६
ज्ञाता के प्रत्याख्यान में दृष्टान्त	३५	६६-६७
मोह से निर्ममत्व का लक्षण	३६	६८-७०
धर्म आदि से आत्मा की निर्ममता का वर्णन	३७	७०-७१
परमाणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है	३८	७१-७४
मिथ्यावादी जीवों के द्वारा आत्मा की नाना प्रकार से मान्यता	३९-४३	७५-७७
ये सब भाव पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम हैं	४४	७८-८१
आठ प्रकार के कर्म पुद्‌गलमय हैं	४५	८१
अध्यवसानभाव जीव के हैं ऐसा व्यवहारनय का कथन है	४६	८२-८४
दृष्टान्त द्वारा व्यवहार नय के कथन का समर्थन	४७-४८	८४-८५
आत्मस्वरूप	४९	८५-८८
वर्ण, गन्ध, रस आदि से जीव की पृथकृता का वर्णन	५०-५५	८८-९२
वर्णादिक, व्यवहार से जीव के हैं, निश्चय से नहीं	५६-५७	९२-९४
मार्ग का दृष्टान्त देकर उक्त बात का समर्थन	५८-६०	९५
संसारी जीवों के वर्णदिक हैं, मुक्त जीवों के नहीं	६१	९६
वर्णादिक को जीव के मानने पर आपत्ति का प्रदर्शन	६२	९६
संसारी जीव के वर्णादिक मानने पर उनके रूपी होने का प्रसंग आता है	६३-६४	९७-९८
पुद्‌गलमयी कर्मप्रकृतियों से रचे गये जीवस्थान जीव के कैसे हो सकते हैं?	६५-६६	९८-९९
पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर ये सब व्यवहार से संज्ञाएँ हैं -	६७	९९-१००
मोहकर्म के उदय से होने वाले गुणस्थान जीव के कैसे हो सकते हैं?	६८	१०१-१०६

कर्तृकर्माधिकार

आत्मा और आस्रव का अन्तर नहीं समझना ही बन्ध का कारण है	६९-७०	१०७-१०८
कर्तृ-कर्मप्रवृत्ति का अभाव कब होता है? इसका उत्तर	७१	१०८-१०९
ज्ञानमात्र से बन्ध का निरोध किस तरह होता है? इसका उत्तर	७२	१०९-१११
आस्रव से आत्मा की निवृत्ति होने का उपाय	७३	१११-११२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आस्रवों को जानने पर उनसे निवृत्ति होती है	७४	११२-११४
ज्ञानी आत्मा का लक्षण	७५	११४-११६
ज्ञानी जीव पुद्गलकर्म को जानता हुआ भी उनरूप नहीं परिणमता है	७६	११६-११७
स्वकीय परिणाम को जानने वाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव क्या हो सकता है? इसका उत्तर	७७	११८
पुद्गलकर्म के फल को जानने वाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव क्या हो सकता है? इसका उत्तर	७८	११८-११९
पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यपर्यायों को नहीं ग्रहण करता है	७९	११९-१२०
जीव और पुद्गल परिणाम में निमित्त-नैमित्तिकभाव होने पर भी कर्तृ-कर्मभाव नहीं है	८०-८२	१२१-१२३
निश्चयनय से आत्मा, आत्मा का ही कर्ता और भोक्ता है	८३	१२३-१२४
व्यवहारनय का पक्ष दिखाकर उसको दूषित करते हैं	८४-८५	१२४-१२५
द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है	८६	१२६-१२८
मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति तथा योग आदि जीव और अजीवरूप हैं	८७-८८	१२८-१३०
मिथ्यात्व आदि भाव चैतन्यपरिणाम के विकार कैसे हैं?	८९	१३०-१३१
आत्मा में मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति भाव का कर्तृत्व	९०	१३१
आत्मा विकारी भावों का कर्ता है और पुद्गलकर्मों का कर्ता है	९१	१३२-१३३
अज्ञानमय जीव कर्मों का कर्ता है	९२	१३३-१३४
ज्ञानमय जीव कर्मों का कर्ता नहीं है	९३	१३४-१३५
अज्ञान से कर्म किस प्रकार होते हैं? इसका कथन	९४	१३५-१३६
ज्ञेय-ज्ञायकभावविषयक भेद के अज्ञान से कर्म का प्रादुर्भाव कैसे होता है?	९५	१३७
अज्ञान से आत्मा कर्ता है, इसका उपसंहार	९६	१३८-१३९
सर्वकर्मों के कर्तृत्व को कौन छोड़ता है?	९७	१३९-१४४
व्यवहार से घटपटादि के कर्तृत्व का निषेध	९८-९९	१४४-१४५
निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी आत्मा घटपटादि का कर्ता नहीं है	१००	१४५-१४६
ज्ञानी जीव ज्ञान का ही कर्ता है	१०१	१४६-१४७
अज्ञानी भी परभाव का कर्ता नहीं है	१०२	१४७-१४८
परभाव, पर के द्वारा हो भी नहीं सकता	१०३	१४८
आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता नहीं है	१०४	१४८-१४९
जीव उपचारमात्र से कर्मों का कर्ता है	१०५	१४९-१५०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपचार कथन का दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादन	१०६	१५०
व्यवहार का कथन दृष्टान्त सहित	१०७-१०८	१५०-१५२
कर्मबन्ध के कारण	१०९-११२	१५२-१५४
जीव और प्रत्ययों में एकपन का निषेध	११३-११५	१५४-१५५
पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप परिणमन करता है	११६-१२०	१५६-१५७
जीव के परिणामस्वभाव का समर्थन	१२१-१२५	१५७-१५९
आत्मा जिस भाव को करता है उसी का कर्ता होता है	१२६	१५९-१६०
ज्ञानमयभाव और अज्ञानमयभाव के कार्य	१२७	१६०-१६१
ज्ञानी के ज्ञानमयभाव और अज्ञानी के अज्ञानमयभाव क्यों होता है?	१२८-१२९	१६१-१६२
उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा समर्थन	१३०-१३१	१६२-१६३
अज्ञानमयभाव द्रव्यकर्म के हेतु किस प्रकार होते हैं?	१३२-१३६	१६३-१६४
जीव का परिणाम पुद्गल से पृथक् ही है	१३७-१३८	१६४-१६५
पुद्गलद्रव्य का परिणाम जीव से पृथक् है	१३९-१४०	१६५-१६६
कर्म की बद्ध और स्पृष्ट दशा का नयविवक्षा से वर्णन	१४१	१६६
नयपक्षों का वर्णन	१४२	१६६-१७५
पक्षातिक्रान्त पुरुष का स्वरूप	१४३	१७५-१७६
पक्षातिक्रान्त ही समयसार है	१४४	१७६-१८१

पुण्यपापाधिकार

संसार में प्रवेश करने वाला कर्म सुशील कैसे हो सकता है?	१४५	१८३-१८४
सुवर्ण और लोहे की बेड़ी के दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन	१४६	१८४-१८५
कुशील के संसर्ग और राग से विनाश होना निश्चित है	१४७	१८५
दृष्टान्तपूर्वक कुत्सित शील-कर्म को छोड़ने की प्रेरणा	१४८-१४९	१८५-१८६
राग बन्ध का कारण है और विराग मोक्ष का कारण है	१५०	१८६-१८७
ज्ञानस्वभाव में स्थित मुनि मोक्ष प्राप्त करते हैं	१५१	१८७-१८८
परमार्थ में स्थित हुए बिना तप और व्रत, बालतप तथा बालव्रत हैं	१५२	१८८
परमार्थ से बाहिर मनुष्य व्रतादि धारण करते हुए भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होते	१५३	१८८-१९०
परमार्थ से बाह्य मनुष्य अज्ञान से पुण्य चाहते हैं	१५४	१९०-१९१
मोक्षपथ का वर्णन – मोक्ष का वास्तविक कारण	१५५	१९१
परमार्थ का आश्रय करने वाले मुनियों के ही कर्मक्षय होता है	१५६	१९२-१९३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म मोक्ष के हेतु का तिरोधान करने वाला है, इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन	१५७-१५९	१९३-१९५
शुभाशुभकर्म स्वयं बन्धरूप है	१६०	१९५
मिथ्यात्व आदि कर्म सम्यक्त्व आदि का आच्छादन करने वाले हैं	१६१-१६३	१९५-२००
आस्रवाधिकार		
मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये कर्मों के कारण– आस्रव हैं	१६४-१६५	२०१-२०२
ज्ञानी जीव के आस्रवों का अभाव है	१६६	२०३
रागादियुक्त भाव ही बन्ध का कारण है और रागादि रहित भाव अबन्ध का कारण है	१६७	२०३-२०४
कर्मभाव नष्ट होने पर पुनः उदय नहीं होता, इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन	१६८	२०४-२०६
ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है	१६९	२०६
ज्ञानी निरास्रव कैसे है, इसका उत्तर	१७०	२०७
ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन बन्ध का कारण है	१७१-१७२	२०७-२०९
ज्ञानी निरास्रव कैसे है, इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन	१७३-१७६	२०९-२११
सम्यग्दृष्टि के राग, द्वेष, मोहरूप आस्रव नहीं होते	१७७-१७८	२११-२१२
दृष्टान्त द्वारा उक्त कथन का समर्थन	१७९-१८०	२१२-२१४
संवराधिकार		
समस्त कर्मों के संवर का प्रथम उपाय भेदज्ञान है, उसकी प्रशंसा	१८१-१८३	२१६-२१७
भेदविज्ञान से शुद्धात्मा को उपलब्धि कैसे होती है, इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन	१८४-१८६	२१७-२१८
शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर किस प्रकार होता है?	१८६	२१८-२१९
संवर किस प्रकार होता है?	१८७-१८९	२१९-२२०
संवर क्रम	१९०-१९२	२२०-२२३
निर्जराधिकार		
सम्यग्दृष्टि की सभी प्रवृत्तियाँ निर्जरा का निमित्त हैं, इसका कथन	१९३	२२४-२२५
भावनिर्जरा का स्वरूप	१९४	२२५-२२६
ज्ञान की सामर्थ्य का वर्णन	१९५	२२६
वैराग्य की सामर्थ्य का वर्णन	१९६	२२६-२२७
दृष्टान्त द्वारा वैराग्य की सामर्थ्य का वर्णन	१९७	२२७-२२८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि जीव सामान्यरूप से स्व और पर को किस प्रकार जानता है?	१९८	२२८-२२९
सम्यग्दृष्टि जीव विशेष रूप से स्व और पर को किस प्रकार जानता है?	१९९-२००	२२९-२३०
रागी सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता, इसका समाधान	२०१-२०२	२३१-२३२
स्वपद ग्रहण करने का उपदेश तथा स्वपद क्या है? इसका उत्तर	२०३	२३२-२३४
ज्ञान की एकरूपता का समर्थन	२०४	२३४-२३६
ज्ञानगुण के बिना स्वपद की प्राप्ति सम्भव नहीं है	२०५-२०६	२३६-२३८
ज्ञानी पर को ग्रहण क्यों नहीं करता? इसका उत्तर	२०७-२०९	२३८-२४०
ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है	२१०	२४०-२४१
ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है	२११	२४१-२४२
ज्ञानी के आहार और पान आदि का परिग्रह नहीं है	२१२-२१४	२४२-२४४
ज्ञानी के त्रिकाल सम्बन्धी उपभोग का परिग्रह नहीं है	२१५	२४४
ज्ञानी के वेद्य-वेदकभाव का अभाव	२१६	२४४-२४६
ज्ञानी के भोग-उपभोग में राग नहीं होता	२१७	२४६-२४७
उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा समर्थन	२१८-२१९	२४७-२४९
शङ्ख के दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन	२२०-२२३	२४९-२५२
राजा के दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन	२२४-२२७	२५२-२५४
सम्यग्दृष्टि के निःशङ्कित अङ्ग का वर्णन	२२८-२२९	२५४-२६०
निःकाङ्क्षित अंग का वर्णन	२३०	२६०-२६१
निर्विचिकित्सा अङ्ग का वर्णन	२३१	२६१
अमूढदृष्टि का अङ्ग का वर्णन	२३२	२६२
उपगूहन अङ्ग का वर्णन	२३३	२६२-२६३
स्थितिकरण अङ्ग का वर्णन	२३४	२६३
वात्सल्यगुण का वर्णन	२३५	२६३-२६४
प्रभावनागुण का वर्णन	२३६	२६४-२६५

बन्धाधिकार

बन्ध के कारण का दृष्टान्तपूर्वक वर्णन	२३७-२४१	२६७-२६९
व्यतिरेकदृष्टान्त द्वारा उक्त कथन का समर्थन	२४२-२४६	२६९-२७२
मूढ-अज्ञानी तथा असंमूढ-ज्ञानी का अभिप्राय	२४७	२७२
मरण का अध्यवसाय अज्ञान क्यों है? इसका उत्तर	२४८-२४९	२७२-२७३
जीवन का अध्यवसाय अज्ञान क्यों है? इसका उत्तर	२५०	२७३-२७४
जीवन का अध्यवसाय अज्ञान क्यों है? इसका उत्तर	२५१-२५२	२७४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुख-दुःख का अध्यवसाय करने वाला अज्ञानी है	२५३	२७५
अध्यवसान के अज्ञानरूप होने का कारण	२५४-२५८	२७५-२७७
अध्यवसान ही बन्ध का कारण है	२५९-२६१	२७८-२७९
हिंसा का अध्यवसान ही हिंसा है	२६२	२७९
अध्यवसान ही पुण्य-पाप के बन्ध का कारण है	२६३-२६४	२७९-२८०
अध्यवसानभाव ही बन्ध का कारण है, बाह्य वस्तु नहीं	२६५	२८०-२८१
अध्यवसानभाव का मिथ्यापन क्यों है?	२६६	२८१
अध्यवसानभाव स्वार्थक्रियाकारी क्यों नहीं हैं?	२६७-२६९	२८१-२८३
अध्यवसानभाव से रहित मुनि कर्मबन्ध से लिप्त नहीं होते	२७०	२८४
अध्यवसानभाव के पर्यायवाचक – एकार्थक शब्द	२७१	२८४-२८५
निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है	२७२	२८६
अभव्यद्वारा व्यवहारनय का आश्रय किस प्रकार होता है?	२७३	२८७
अभव्य का श्रुतज्ञान अकार्यकारी है	२७४-२७५	२८७-२८८
व्यवहार और निश्चयनय से ज्ञान-दर्शन-चारित्र का वर्णन	२७६-२७७	२८८-२९०
रागादिक के निमित्त कारण का कथन	२७८-२८२	२९०-२९३
आत्मा रागादिक परिणामों का अकर्ता किस प्रकार है?	२८३-२८५	२९४-२९५
द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तिकभाव का उदाहरण	२८६-२८७	२९५-२९८
मोक्षाधिकार		
मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है?	२८८-२९०	३००
बन्ध की चिन्ता से बन्ध नहीं कटता है	२९१	३००-३०१
मोक्ष का कारण क्या है?	२९२-२९३	३०१-३०२
आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् किसके द्वारा होते हैं?	२९४-२९७	३०२-३०७
निश्चय से आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है	२९८-२९९	३०७-३१०
पर को अपना कौन ज्ञानी मानता है?	३००	३१०-३११
अपराधी ही शङ्कित होता है	३०१-३०३	३१२
अपराध का शब्दार्थ	३०४-३०५	३१२-३१४
प्रतिक्रमणादिक विषकुम्भ हैं	३०६-३०७	३१४-३१९
सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार		
दृष्टान्तपूर्वक आत्मा का अकर्तापन	३०८-३११	३२२-३२४
अज्ञान की महिमा का वर्णन	३१२-३१५	३२४-३२६
अज्ञानी कर्मफल को भोगता और ज्ञानी उसे जानता भर है	३१६	३२७-३२८
अज्ञानी भोक्ता है और ज्ञानी अभोक्ता है	३१७-३२०	३२८-३३०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञान-विषय में लोक और श्रमणों की समानता	३२१-३२३	३३१
परद्रव्य मेरा नहीं है इसका दृष्टान्तपूर्वक कथन	३२४-३२७	३३२-३३४
उपर्युक्त कथन का युक्ति द्वारा समर्थन	३२८-३३१	३३४-३३७
कर्म के द्वारा ही जीव अज्ञानी अथवा ज्ञानी किया जाता है इसका निराकरण	३३२-३४४	३३७-३४३
अनेकान्त के द्वारा क्षणिकवाद का निषेध	३४५-३४८	३४३-३४७
जीव कर्म को करता हुआ तन्मय नहीं होता, इसका दृष्टान्तपूर्वक कथन	३४९-३६५	३४७-३६१
राग-द्वेष-मोह जीव से अभिन्न परिणाम हैं	३६६-३७१	३६१-३६४
सब द्रव्यस्वभाव से ही उपजते हैं	३७२	३६४-३६६
शब्द, रस, गन्ध आदिक बाह्य पदार्थ रागद्वेष के कारण नहीं हैं	३७३-३८२	३६६-३७१
प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचना का स्वरूप	३८३-३८६	३७१-३७३
अज्ञानचेतना बन्ध का कारण है	३८७-३८९	३७३-३८९
शास्त्र आदि से ज्ञान भिन्न है	३९०-४०४	३९०-३९६
विशुद्ध आत्मा कुछ नहीं ग्रहण करता है	४०५-४०७	३९६-३९७
पाखण्डिलिङ्ग और गृहिलिङ्ग मोक्ष के कारण नहीं हैं किन्तु रत्नत्रय मोक्ष का कारण हैं	४०८-४१५	३९७-४०५

स्याद्वादाधिकार

	कलश
स्याद्वादशुद्धि के लिए पुनः विचार	२४६
तत्स्वरूप प्रथमभङ्ग	२४७
अतत्स्वरूप द्वितीयभङ्ग	२४८
एकस्वरूप तृतीयभङ्ग	२४९
अनेकस्वरूप चतुर्थभङ्ग	२५०
स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तित्वरूप पाँचवाँ भंग	२५१
परद्रव्य की अपेक्षा नास्तित्वरूप छठवाँ भंग	२५२
स्वक्षेत्र की अपेक्षा अस्तित्वरूप सातवाँ भंग	२५३
परक्षेत्र की अपेक्षा नास्तित्वरूप आठवाँ भंग	२५४
स्वकाल की अपेक्षा नास्तित्वरूप नवमाँ भंग	२५५
परकाल की अपेक्षा नास्तित्वरूप दशवाँ भंग	२५६
स्वकीयभाव की अपेक्षा अस्तित्वरूप ग्यारहवाँ भंग	२५७
परभाव की अपेक्षा नास्तित्वरूप बारहवाँ भंग	२५८
नित्यत्वरूप तेरहवाँ भंग	२५९
अनित्यत्वरूप चौदहवाँ भंग	२६०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्तशासन की सिद्धि	२६१-२६२
अनेकान्तसिद्धि का उपसंहार	२६३
स्याद्वाद की महिमा	२६४
ज्ञानी और अज्ञानी का भेद	२६५
अनेकान्तभूमिका की प्राप्ति का उपाय	२६६
उसी को आत्मा की उपलब्धि का कथन	२६७
शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति की आकांक्षा	२६८
ज्ञानी एक अखण्ड आत्मा की भावना करता है	२६९
ज्ञानी का वस्तुतत्त्व का जानना	२७०
आत्मा की अनेकरूपता ज्ञानियों के लिए भ्रमोत्पादक नहीं	२७१
आत्मा का आश्चर्यजनक वैभव	२७२
आत्मा की आश्चर्यजनक महिमा का वर्णन	२७३
चिच्चमत्कार का स्तवन	२७४
अमृतचन्द्रस्वामी श्लेषालंकार से अपना नाम देते हुए आत्मज्योति की आकांक्षा करते हैं	२७५
समस्त अज्ञान का विज्ञानघन में परिणमन	२७६
टीकाकार अमृतचन्द्रस्वामी का आत्मख्यातिटीका के प्रति अकर्तृत्व का सूचन	२७७

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धपरमात्मने नमः

कलिकालप्राणिकल्याणकारकश्रीकुन्दकुन्दाय नमः

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित

समयसार

प्रशममूर्ति आध्यात्मिक सन्त श्रीगणेशवर्णीकृत

समयसार-प्रवचनसहित

चिदानन्दमयं ज्योतिः सर्वतत्त्वावभासकम्।
विभ्राजतां मम स्वान्ते रागद्वेषविवर्जितम्।।१।।
समयप्राभृतं भव्यं भव्यचेतोऽभिरञ्जकम्।
कुन्दकुन्दकृतं भक्त्या विवृणोमि समासतः।।२।।
कुन्दकुन्दमुखोद्भूतं वचोऽनेकान्तभूषितम्।
भूयाद् भव्यमनोमोहतिमिरौघविनाशनम्।।३।।
आचार्यामृतचन्द्रोऽसौ जयसेनश्च सन्मुनिः।
व्याख्याकारौ मम स्यातां मार्गदर्शनदीपकौ।।४।।
भूयांसो भविनः सन्ति संस्कृतज्ञानवर्जिताः।
तेषां कृते प्रयासोऽयं लोकभाषामयो मम।।५।।

१. जीवाजीवाधिकार

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य मङ्गलाचरणपूर्वक ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हैं–

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
बोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली-भणियं।।१।।

अर्थ– अहो भव्यजीवो! मैं कुन्दकुन्दाचार्य ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्व सिद्ध-परमात्माओं की वन्दना कर इस समयप्राभृत को कहूँगा, जो श्रुतकेवली के द्वारा कहा गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ— संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं-एक चेतन और दूसरा अचेतन। उनमें चेतन पदार्थ को जीव कहते हैं और जो अचेतन है उसे अजीव कहते हैं। अजीव के ५ भेद आगम में कहे हैं धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। जीवसहित इन्हीं पाँच को षट्द्रव्य कहते हैं। इन छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल— ये चार द्रव्य सर्वथा शुद्ध हैं— इनमें कोई प्रकार का विभाव परिणमन नहीं होता, सर्वदा इन द्रव्यों का एक सदृश परिणमन रहता है। शेष जो जीव और पुद्गल द्रव्य हैं वे स्वभावरूप भी परिणमते हैं और विभावरूप भी। जब वे जीव और पुद्गल केवल अपनी अवस्था में (अलग-अलग) रहते हैं तब उनका परिणमन शुद्ध ही रहता है और जबतक जीव तथा पुद्गल की परस्पर अनादिकाल से आगत बन्धावस्था रहती है तबतक अशुद्ध परिणमन रहता है। हाँ, इतनी विलक्षणता है कि पुद्गल द्रव्य की अशुद्धावस्था जीव के साथ से भी होती है और पुद्गल के सम्बन्ध से भी। किन्तु जीव की अशुद्धावस्था केवल पुद्गल के सम्बन्ध से ही होती है। अत: इस संसार में अनादि काल से यह जीव कर्मरूप पुद्गल के सम्बन्ध से निरन्तर अशुद्धावस्था का पात्र हो रहा है और जबतक अशुद्धावस्था रहेगी तबतक संसार का पात्र रहेगा। संसारी होने से संसार में जो सुख-दु:ख होता है उसका वह भोक्ता भी होता है।[१] जब इस जीव का संसार अल्प रहता है तब इस जीव को यह विचार होता है कि मेरा निज शुद्ध स्वभाव तो परको केवल देखना और जानना है, मैं जो उनको अपना इष्ट-अनिष्ट मानता हूँ यह मेरी अज्ञानता है। जैसे दर्पण में पदार्थ के प्रतिबिम्बित होने से दर्पण कुछ पदार्थ नहीं हो जाता, केवल घटपटादि पदार्थों के सम्बन्ध से दर्पण का घटपटादि प्रतिबिम्बरूप परिणमन हो जाता है। यह परिणमन दर्पण की ही स्वच्छता का विकार है। विकार का अर्थ परिणमन ही है। इसी तरह आत्मद्रव्य ज्ञानादिगुणों का पिण्ड है। उसके ज्ञानगुण में यह विशेषता है कि उसके समक्ष जो भी पदार्थ आता है उसके ज्ञातृत्व रूप परिणमन का वह कर्ता होता है, वह ज्ञान अन्य ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। परन्तु अनादिकालीन आत्मा के साथ ज्ञान-शक्ति के सदृश एक विभावनाम की शक्ति है जिसके कारण आत्मा में मोहनीय कर्म के निमित्त से अनर्थ का मूल मोह उत्पन्न होता है। उसी मोह के उदय में आत्मा विभ्रान्त दशा का पात्र होता है और उस विभ्रान्त दशा में पर में निजत्व की कल्पना कर रागी-द्वेषी होता है और उनके वशीभूत होकर जो अनर्थ करता है वह किसी से छिपा नहीं है। इसी चक्र का नाम संसार है। इस संसार से मुक्त होने के अर्थ सकलपरमात्मा ने एक ही मार्ग निर्दिष्ट किया है। वह है निज स्वभाव का आलम्बन।

---

१. व्यवहारनय से जीव कर्मफल—सुख-दु:ख का भोक्ता होता है, निश्चय से अपने ज्ञानदर्शन का भोक्ता है। — द्रव्यसंग्रह गाथा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसका आलम्बन होते ही जीव बन्धन से छूट जाता है। अत: जिन जीवों को आत्म-कल्याण की अभिलाषा है वे उन जीवों की, जो कर्मबन्ध से छूट गये हैं, उपासना कर स्व-स्वरूप की प्राप्ति की दिशा में बढ़ें। इसी अभिप्राय को लेकर श्रीकुन्दकुन्द महाराज ने प्रथम ही इस समयप्राभृत में सिद्धभगवान् को नमस्कार किया है। 'ध्रुव, अचल और अनुपम गति को जिन्होंने प्राप्त किया है ऐसे सिद्ध परमात्मा को नमस्कार कर मैं श्रुतकेवली के द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत कहूँगा' ऐसा कहने से आचार्य महाराज का यह आशय विदित होता है कि इसके द्वारा हमारा और पर का दोनों का कल्याण होगा। समयप्राभृत के निरूपण करने से उपयोग निरन्तर आत्मस्वरूप के परामर्श में तल्लीन रहेगा, इससे निरन्तर मन्दकषाय रहेगी तथा वस्तु स्वरूप के विचार से जो स्वरूप में स्थिरता होगी वह ध्यान की साधक होगी, अत: कर्मों की निर्जरा भी अवश्यंभाविनी है जो सिद्धपद की प्राप्ति में परम्पराकारण होगी, यह तो स्वयं को लाभ है ही, किन्तु जो भव्यजीव इसका पठन-पाठ करने में समय लगावेंगे उनके सर्वप्रथम तो समय के सदुपयोग का अवसर आवेगा, द्वितीय, संसारिक पदार्थों के सहवास से जो निरन्तर कलुषित परिणाम रहते हैं उनसे रक्षा होगी और तृतीय, अनन्तकाल से अप्राप्त जो आत्मा ज्ञान उसके पात्र होंगे। उसके पात्र होते ही निरन्तर परिणामों की निर्मलता से उस तत्त्व का विकास वृद्धिरूप हो जावेगा, जो परम्परा से परमात्मा के समकक्ष पहुँचा देगा। ऐसा इस समयप्राभृत के कहने का उद्देश्य श्रीकुन्दकुन्द महाराज का है।

मूल गाथा में स्वामी ने सिद्धगति को तीन विशेषणों से विशेषित किया है अर्थात् सिद्धगति ध्रुव, अचल और अनुपम है, यह प्रतिपादित किया है। संसारी आत्माएँ निरन्तर कलुषित और चञ्चल रहती हैं, क्योंकि उनके मोह और योग का सद्भाव है। गुणस्थानों के होने में मोह और योग ही कारण हैं। मोह की मुख्यता से बारह गुणस्थान हैं और योग की मुख्यता से त्रयोदशवाँ तथा चतुर्दशवाँ गुणस्थान हैं। मोह से आत्मा में मिथ्यात्व एवं राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है जिससे आत्मा निरन्तर कलुषित रहता है और उसी कलुषता से नाना प्रकार के विभावों का पात्र होता है। इन तीनों में मोह आत्मा को अनन्त संसार का पात्र बनाता है, अत: मोह का नाम मिथ्यात्व है। इसी के प्रताप से आत्मा परपदार्थों के निमित्त से जायमान रागादिकों में निजत्व का संकल्प करता है। वास्तव में मिथ्यादर्शन अनिर्वचनीय है, क्योंकि ज्ञानगुण को छोड़कर जितने भी आत्मा के गुण हैं सर्व ही निर्विकल्प हैं, मात्र ज्ञानगुण ही एक ऐसा गुण है जो सबकी व्यवस्था बनाये हुए हैं। अत: मिथ्यादर्शन के होने पर आत्मा में परपदार्थों के प्रति जो निजत्त्व की बुद्धि होती है उसी का नाम मिथ्याज्ञान है। 'तदभाववति तज्ज्ञानं मिथ्याज्ञानम्' अर्थात् परपदार्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में निजत्व का अभाव है उसमें निजत्वरूप से स्वकीय बोध होना, इसी का नाम मिथ्याज्ञान है। जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। इसी मिथ्यादर्शन के सहवास से आत्मा की परपदार्थों में निजपने की परिणति होती है, और इसी के सहवास से आत्मा का जो चरित्र है वह मिथ्याचारित्र हो जाता है। अत: श्री स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में यह लिखा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।।

अर्थात् धर्म के ईश्वर गणधरादिक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। यह रत्नत्रयरूप धर्म मोक्ष का मार्ग है और इससे विपरीत मिथ्यादर्शनादित्रय संसार का मार्ग है।

इसी प्रकार कुन्दकुन्द महाराज ने प्रवचनसार में स्वयं कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।।

स्वरूप में जो आचरण है उसी का नाम चारित्र है, उसी का अर्थ स्वसमय प्रवृत्ति है, उसी को वस्तुस्वभावपने से धर्म कहते हैं, उसी का शुद्ध चैतन्यप्रकाश से व्यवहार होता है और वही यथावस्थित आत्मगुणात्मक होने से साम्य शब्द से कहा जाता है और दर्शनमोह तथा चारित्रमोह के उदय के निमित्त से जो आत्मा में मोह और क्षोभ होता है उसी मोह-क्षोभ के अभाव को सम या साम्य शब्द से कहते हैं। यह गुण सिद्धगति में पूर्णरूप से सदा के लिए विद्यमान रहता है, इसीसे सिद्धगति को ध्रुव कहते हैं और योगों के द्वारा जो आत्म प्रदेशों की चञ्चलता होती है उसका अभाव होने से वह अचल गति है। संसार में चार गतियाँ कर्म के सम्बन्ध से होती हैं और सिद्धगति कर्मों के अभाव से होती है, अतएव निरुपम है। ऐसी सिद्धगति को प्राप्त सिद्धभगवान् का भाववचनों के द्वारा अपने आत्मा में ध्यान कर और द्रव्यवचनों द्वारा परात्मा में ध्यान कराके श्रीकुन्दकुन्द स्वामी अपने और पराये मोह के नाश के अर्थ द्वादशाङ्ग का अवयवभूत जो समयसारप्राभृत है उसका परिभाषण करते हैं। यह समयप्राभृत प्रमाणभूत है क्योंकि यह अनादि निधन श्रुत के द्वारा कहा गया है। इसके मूलकर्ता सर्वज्ञ हैं तथा उनकी दिव्यध्वनि का निमित्त पाकर श्रीगणधर-देव भी इसके प्रकट कर्ता हैं। वास्तव में समय नामक पदार्थ अनादिनिधन है, ये तो सूर्य की तरह उसके प्रकाशक हैं, परमत-कल्पित ईश्वर की तरह कर्ता नहीं हैं।।१।।

श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने समयसार के ऊपर आत्मख्याति नामक टीका लिखी है, जो श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के भाव को हृदयङ्गम कराने में अत्यन्त सहायक है। मैंने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस विवरण में उसी आत्मख्याति का अधिकांश आश्रय लिया है। आत्मख्यातिटीका में अमृतचन्द्रस्वामी ने अनेक श्लोक लिखे हैं, जो कलश के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा तत्त्व के निरूपण करने और अभिप्राय के निर्मल बनाने में परम सहायक हैं। इस विवरण में उन कलशों का भी विवरण है। ग्रन्थ की टीका के प्रारम्भ में वे लिखते हैं—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।१।।

अर्थ– मैं समयसार अर्थात् समस्त पदार्थों में श्रेष्ठ उस आत्मतत्त्व को नमस्कार करता हूँ जो स्वानुभूति से स्वयं प्रकाशमान है, चैतन्यस्वभाववाला है, शुद्ध सत्तारूप है और समस्त पदार्थों को जाननेवाला है अथवा चैतन्य स्वभाव से भिन्न समस्त रागादिक विकारीभावों को नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ– षड्द्रव्यात्मक संसार में स्वपरावभासक होने से आत्मद्रव्य ही सारभूत है, वह आत्मद्रव्य स्वानुभूति से प्रकाशमान है, चैतन्य स्वभाव को लिये हुए है, अनाद्यनन्त काल तक स्थित रहने से सद्भावरूप है, तथा अपनी ज्ञायकशक्ति से लोकालोक के समस्त पदार्थों को जाननेवाला है अथवा चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त आत्मा के जितने अन्य विकारीभाव हैं उन्हें पृथक करनेवाला है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में उसी शुद्ध आत्मतत्त्व को नमस्कार किया गया है।

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्।।२।।

अर्थ– जो अनन्त धर्मों से युक्त शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अवलोकन करती है ऐसी अनेकान्तरूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान हो।

भावार्थ– आत्मा अस्तित्व, नास्तित्व आदि परस्परविरोधी अनन्त धर्मों से तन्मय है, अतः उसके यथार्थ स्वरूप का अवलोकन करनेवाली अनेकान्तदृष्टि ही है। परस्परविरोधी अनेक अन्त-अनेक धर्मों का समन्वय करनेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि कहलाती है। इसी अनेकान्तदृष्टि में रूपकालंकार से मूर्तिका आरोप करते हुए आचार्य ने कहा है कि वह अनेकान्तदृष्टिरूपी मूर्ति निरन्तर प्रकाशमान रहे, क्योंकि उसके प्रकाश में ही आत्मतत्त्व का निर्दोष वर्णन हो सकता है।

आगे समयसार की व्याख्या का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं—

मालिनीछन्द

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः।।३।।

अर्थ– इस समयसार की व्याख्या से मेरी अनुभूति की परम विशुद्धता प्रकट हो। यद्यपि मेरी वह अनुभूति शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति से युक्त है अर्थात् परम ज्ञायकभाव से सहित है तथापि वर्तमान में परपरिणति का कारण जो मोहनाम का कर्म है उसके उदयरूप विपाक से निरन्तर रागादिक की व्याप्ति से कल्माषित—मलिन हो रही है।

भावार्थ– आत्मा का स्वभाव तो पदार्थ को जानना मात्र है। परन्तु अनादिकाल से एक मोहकर्म इसके साथ लगा हुआ है जो इसकी परपदार्थों में रागद्वेषादिरूप परिणति के कराने में निमित्त कारण है उसी मोहकर्म के उदय से मेरी वह अनुभूति-ज्ञातृत्वशक्ति, अनुभाव्य-रागादिक परिणामों की व्याप्ति से मलिन हो रही है अर्थात् पदार्थों को जानकर उनमें इष्ट अनिष्ट कल्पना करके अशुद्ध हो रही है सो समयसार की व्याख्या से मेरी अनुभूति में परम विशुद्धता आ जावे—उसमें से इष्ट-अनिष्ट का भाव निकल जावे, यही मैं चाहता हूँ। समयसार की व्याख्या करने का मेरा यह प्रयोजन है।

आगे वह समय क्या है? यह कहते हैं –

जीवो चरित्त-दंसण-णाण-ट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गल-कम्मपदेश-ट्ठियं च तं जाण परसमयं।।२।।

अर्थ– जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित है उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गलकर्म प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय जानो।

विशेषार्थ– जीव का स्वभाव देखने-जानने का है, क्योंकि पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक हैं, वे ही पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासमान होते हैं अतः आत्मा का ज्ञान भी सामान्यविशेषात्मक है। ज्ञान एक ऐसा गुण है जो प्रदीप की तरह स्वपरप्रकाशक है अर्थात् परको जानता है और अपने को जानता है। सर्वज्ञ का ज्ञान अक्रमवर्ती है अर्थात् स्व-परपदार्थों में युगपद् प्रवर्तमान होता है परन्तु छद्मस्थों का ज्ञान क्रमवर्ती है अर्थात् स्व-परपदार्थों को क्रम से जानता है। जिस सम परको जानता है उस समय उपयोग परकी ओर रहता है। ऐसा व्यवहार भी होता है कि मैं घटको जानता हूँ और जब स्वोन्मुख होता है तब स्वको जानता है अर्थात् ऐसी प्रतीति होती है कि 'घटमहमनुजानामि' अर्थात् घटविषयक जो ज्ञान उसका मैं ज्ञाता हूँ। वस्तुतः ज्ञान में न तो घट आता है और न घट में ज्ञान जाता है। किन्तु अनादिकाल से आत्मा के साथ पुद्गल कर्मों का एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध हो रहा है कि उनके उदयकाल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में परको निज मानता है और इसी मानने के कारण ज्ञानदर्शनस्वरूप, सर्वपदार्थ प्रकाशक स्वकीयात्मद्रव्य से च्युत हो परद्रव्य के निमित्त से जायमान राग-द्वेषमोह के साथ अभेद मानकर पुद्गलादि परद्रव्यों में आपा मान अनन्त संसार का भाजन बनता है, यही परसमय है और जब इस जीव का संसारतट समीप आने का अवसर आता है तब आप ही आप सकल पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले ज्ञान के उत्पादक भेदज्ञान का उदय होने से ज्ञानदर्शनात्मक आत्मतत्त्व के साथ एकपने की बुद्धि कर जो अपने ज्ञानदर्शन स्वरूप आत्मा में स्थिति करता है तथा उसके होते ही अनन्त सुख का पात्र होता है, इसी का नाम स्वसमय है।

यह परसमय और स्वसमय अवस्था आत्मा की दो पर्याय हैं। एक पर्याय पुद्गलों के सम्बन्ध से है और दूसरी पुद्गलों के अभाव से। जबतक शरीरसम्बन्ध है तबतक इसे संसारी कहते हैं और शरीरसम्बन्ध का अभाव होने पर सिद्ध कहते हैं। सामान्यरूप से न सिद्ध है और न संसारी है। आत्मा की जो दो अवस्थाएँ स्वामी ने कहीं हैं वे पर्यायदृष्टि से हैं। तब फिर द्रव्य दृष्टि से आत्मा कैसा है, यह प्रश्न उठता है? उसका उत्तर है कि नित्य है। यहाँ नित्य का अर्थ कूटस्थरूप नहीं है किन्तु परिणमनशील है। अतएव परिणामात्मक होने से ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस त्रिविधरूप सत्ता से अनुस्यूत है। यह सत्ता यद्यपि जीव और अजीव दोनों में साधारणरूप से अनुस्यूत है, तथापि विशिष्टरूप से जीव की सत्ता चैतन्यस्वरूप है। इस सत्ता से ही जीव में ज्ञान और दर्शन का उद्योत होता है। यही एक ऐसी सत्ता या शक्ति है जो आत्मा को इतरपदार्थों से भिन्न सिद्ध करती है। आत्मा में अनन्तगुण हैं, उन गुणों का पिण्ड होने के कारण आत्मा एकद्रव्यरूप है। आत्मा में जो गुण है वे युगपत् अक्रम से रहते हैं और सदैव परिणमनशील हैं। इसीलिये क्रम से रहनेवाली पर्याय और अक्रम से रहनेवाले गुण इन दोनों से द्रव्य तन्मय हो रहा है। आत्मा दर्पणवत् है, उसकी स्वच्छता में सर्व पदार्थ प्रतिभासित होते हैं अतएव वैश्वरूप्य होने पर भी अपने एकत्व को नहीं त्यागता। अर्थात् नानात्मक होने पर भी एकात्मक है। आत्मा, आकाशादिक जो द्रव्य हैं उनसे भिन्न है क्योंकि चेतना गुणवाला है। आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल में क्रमशः अवगाहन, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तना तथा रूपादि गुण हैं। ये ही गुण इन पदार्थों को परस्पर में भिन्न कराने में कारण रूप हैं।

संसार में यावत् पदार्थ हैं वे परिणमनशील हैं। पञ्चाध्यायी में कहा है—

वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थितिभङ्गमयं तत्सदेतदिह नियमात्।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस तरह संसार में वस्तु स्वतः सिद्ध है उसी तरह वह स्वभाव से परिणमनशील भी है इसलिए जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है वही सत् है, और जो सत् है वही नियम से द्रव्य है।

यदि वस्तु परिणमनशील न मानी जावे तो उसमें उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य की स्थिति नहीं बन सकती। इसके सिवाय असत् का उत्पाद और सत् का विनाश होने लगेगा। इससे मानना चाहिए कि वस्तु परिणमनशील है तब ही वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणामों का सद्भाव बन सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी परिणाम से वस्तु उत्पन्न होती है और किसी परिणाम से नष्ट होती है तथा किसी परिणाम से ध्रौव्यरूप रहती है। इसीलिए पञ्चाध्यायीकार ने लिखा है—

द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतदद्वयं हि वस्तुतया।।

(इसका अर्थ ऊपर आ चुका है)

यही श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने देवागम में लिखा है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्।।

अर्थात् सामान्यरूप से न तो कोई द्रव्य उत्पन्न होता है और न कोई द्रव्य नष्ट होता है क्योंकि व्यक्तरूप से अन्वय की प्रतीति होती है। जैसे एक बालक अपनी बालक अवस्था से युवावस्था को प्राप्त हो गया और युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त हो गया। एतावता मनुष्य सामान्य में कौन सा विकार हुआ? मनुष्य तो वह हर दशा में बना रहा। इसी प्रकार द्रव्य में सामान्यरूप का अन्वय रहते हुए अवस्थाओं का उत्पाद और व्यय होता रहता है। ऐसी सम्पूर्ण पदार्थों की व्यवस्था है। यही दृष्टान्त द्वारा पञ्चध्यायीकार दिखाते हैं—

इह घटरूपेण तथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितयं न मृत्तिकात्वेन।।

अर्थात् इस लोक में यह प्रत्येक का अनुभव है कि घटरूप के द्वारा वस्तु का उत्पाद होता है और पिण्डरूप के द्वारा व्यय होता है। यह दोनों युगपत् ही होते हैं, मृत्तिकापने से न तो उत्पादन होता है और न व्यय होता है किन्तु सर्वथा स्थिरता रहती है। इस तरह वस्तुमात्र एक ही काल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है।

यहाँ पर किसी वादी का कहना है कि यह सब तम्हारा बुद्धि का अजीर्ण है, उत्पादादित्रय के मानने में न तो कोई गुण है और न कोई हानि है? इसपर आचार्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का कहना है कि उत्पादादित्रय न मानने से हानि है अर्थात् न मानने से वस्तु का ही अपलाप हो जावेगा, अतः इन तीनों के मानने में ही वस्तु का अस्तित्व बन सकता है। इसके सिवाय इसके मानने में गुण ही है, वही दिखाते हैं—वस्तु परिणाम और परिणामी स्वरूप ही है। अब इन दोनों में किसे न माना जावे? यदि परिणाम को नहीं मानोगे, तो परिणाम के अभाव में वस्तु कूटस्थरूप रहेगी, तब न तो यह ही लोक बनेगा और न परलोक बनेगा। जैसे जीवद्रव्य को लीजिये—यदि उसमें पुण्य और पापरूप परिणाम न मानोगे, तो इस लोक का अभाव होगा और कारण के न होने से परलोक भी नहीं बनेगा तथा मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शनादिरूप आत्मा का परिणमन न होने से मोक्ष की व्यवस्था नहीं बनेगी, इस तरह बन्ध और बन्धाभाव के बिना न तो संसार ही बनेगा और न मोक्ष तत्त्व का ही अस्तित्व रहेगा, अतः वस्तु को परिणमनशील मानना ही सुन्दर है।

अब दूसरा पक्ष रहा अर्थात् परिणामी को नहीं मानोगे, तो परिणमन किसमें होगा? परिणामी के न मानने से वस्तु क्षणिक परिणाममात्र ठहरेगी और ऐसा होने से जो प्रत्यभिज्ञान होता है उसका अपलाप हो जावेगा। अतएव श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने देवागम में लिखा है—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः।।

वस्तु कथंचित् नित्य है क्योंकि ''यह वही है'' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है और यह जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह अकस्मात् (बिना कारण) नहीं होता है, क्योंकि अन्वयीरूप का वस्तु में निरन्तर सद्भाव रहता है और वही वस्तु काल के भेद से क्षणिक भी है, अन्यथा वस्तु में जो बुद्धिसंचार होता है वह नहीं होगा अर्थात् जैसे आत्मा में संसारी और मुक्त का जो भेद होता है वह नहीं होगा, अतः यह मानना अत्यावश्यक है कि जो आत्मा प्रागवस्था में कर्मों के सम्बन्ध से संसारी था वही आत्मा कर्मों के अभाव से मुक्त हो जाता है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा वही है परन्तु पर्याय की अपेक्षा आत्मा संसारी भी है और मुक्त भी है। इसी से श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि जो दर्शन-ज्ञान-चरित्र में स्थित है वही आत्मा स्वसमयशब्द से कहा जाता है और जो राग-द्वेष-मोह के साथ एकपन का निश्चयकर पुद्गलकर्मप्रदेशों में सिथत है वही परसमय है। सामान्यरूप से आत्मा निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प है, न संसारी है और न मुक्त है। इसका यह तात्पर्य है कि द्रव्यदृष्टि वस्तु का अभेदरूप वर्णन करती है और पर्यायदृष्टि भेदरूप। अतः दोनों का विषय सत्य है, यदि पर्यायदृष्टि का विषयभेद सर्वथा ही मिथ्या होता तो 'अनयोः मैत्री प्रमाणम्' यह लिखना मिथ्या हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि सामान्यविशेषात्मक जो वस्तु है वही प्रमाण का विषय है।।२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब यहाँ पर कुन्दकुन्द महाराज का कहना है कि आत्मा में जो द्विविधपना है वह सुन्दर नहीं। यहाँ पर द्विविधपन से तात्पर्य स्वसमय और परसमय से है अर्थात् आत्मा में जो परप्रत्यय से उत्पन्न रागादि हैं उनके साथ एकत्वबुद्धिकर आत्मा पुद्गलकर्मप्रदेशों में स्थित रहता है— आत्मा से भिन्न जो शरीरादि हैं उन्हें अपने मानकर उनके अनुकूल जो बाह्य पदार्थ हैं उनमें राग और जो उनके प्रतिकूल हैं उनमें द्वेष कल्पना कर अनन्तसंसार का पात्र बनता है— यह संकरता सुन्दर नहीं है—

एयत्त-णिच्छय-गओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंध-कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई।।३।।

अर्थ– जो समय-पदार्थ एकत्व में निश्चित हो रहा है वही सर्वलोक में सुन्दर है। इसी हेतु से एकपन में जो बन्ध की कथा है वह विसंवादरूपिणी है अर्थात् निन्द्य है।

विशेषार्थ– प्राय: लोक में भी देखा जाता है कि जबतक यह मनुष्य छात्र-जीवन में रह कर गुरुकुल में विद्याध्ययन करता है तबतक सब आपत्तियों से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मचारी हो सानन्द जीवन से अपने समय को निर्द्वंद्व बिताता है और जब घर में प्रवेश करता है तथा माता-पिता के आग्रह से विवाह-बन्धन को स्वीकृत करता है तब द्विपद् से चतुष्पद होता है। दैवयोग से बालक हो गया तो षट्पद (भौंरा) हो जाता है। और अपने बालक का जब विवाह-संस्कार हो गया तब अष्टापद (मकड़ी) हो जाता है और अपने ही जाल में आप ही मरण को प्राप्त हो जाता है। इससे यह तत्त्व निकला कि पर का सम्बन्ध ही इस संसार में आपत्तियों की खानि है।

इस गाथा में जो समयशब्द आया है उसका अर्थ यहाँ पर आत्मा नहीं है किन्तु सामान्य पदार्थ है। अतएव उसकी व्युत्पत्ति श्री अमृतचन्द्र महाराज ने इस रूप से की है—'समयते एकत्वेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति समय:' अर्थात् जो एकपन कर स्वकीय गुण-पर्यायों को प्राप्त होता है उसे समय कहते हैं। अत: समयशब्द से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव— ये छह लिये जाते हैं। इन्हीं षड्द्रव्यों का समुदाय ही लोक है। इस लोक में जो भी द्रव्य है वह अपने अनन्त धर्मों का चुम्बन करता है अर्थात् अपने अनन्त धर्मों से तन्मय है, एक द्रव्य कदापि परद्रव्य के धर्मों का चुम्बन नहीं करता। ये षड्द्रव्य अत्यन्त प्रत्यासत्ति (एकक्षेत्रावगाह) के होने पर भी स्वरूप से पतित नहीं होते—कभी भी पररूप से परिणमन नहीं करते, इसी से उनके अनन्त व्यक्तित्व का भी अभाव नहीं होता। समस्त विरुद्ध और अविरुद्ध कार्यों में कारण होकर विश्व का उपकार कर रहे हैं किन्तु निश्चय से एकत्वरूप कर ही सुन्दरता को पाते हैं। यदि इस प्रक्रिया का त्याग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर प्रकारान्तर से व्यवस्था की जावे तो सर्वसंकरादि दोषों की आपत्ति आ जावेगी। इस प्रकार यह व्यवस्था चली आ रही है। उसमें जीव नामक जो पदार्थ है उसमें बन्ध की कथा विसंवादिनी है क्योंकि बन्ध दो पदार्थों के सम्बन्ध से होता है। बन्ध का यह अर्थ नहीं कि उन दोनों की सत्ता का अभाव हो जाता है कि वे दोनों अपने-अपने स्वरूप को छोड़कर एक भिन्न ही अवस्था (विकारी दशा) को प्राप्त हो जाते हैं। पुद्गलों में तो यह ठीक है क्योंकि जैसे चूना और हल्दी मिलाने से एक लाल रंग वाली भिन्न ही वस्तु हो जाती है। कारण कि पुद्गलों में वर्णगुण सभी में रहता है, अत: वर्ण का अवान्तर पर्याय लाल रंग दोनों का होने में कोई बाधा नहीं। परन्तु जीव और पुद्गलों के बन्ध में कुछ विलक्षणता है। जीव के रागादि परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलों में ज्ञानावरणादिरूप पर्याय हो जाती है और ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल का निमित्त पाकर जीव में रागादिरूप परिणति होती है अर्थात् जीव अपने स्वरूप से च्युत होकर रागादिरूप परिणमता और कार्मण वर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूप परिणमन को प्राप्त हो जाती हैं। जीव और पुद्गलों की एक पर्याय नहीं होती। यहाँ यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्मों का विपाक पुद्गलों में होता है और जीव का रागादिक जीव में होता है तथापि दोनों ही अपने-अपने स्वरूप से च्युत होकर एकक्षेत्रावगाह से रहते हैं। यही सिद्धान्त श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने स्वयं लिखा है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ।।
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णं पि।।
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।

इन गाथाओं का विशेषार्थ यथास्थान करेंगे।

इस परिपाटी से जीव के साथ पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से यह बन्ध हो रहा है सो विसंवाद का जनक है। अतएव परद्रव्यों से भिन्न और स्वकीय गुण-पर्यायों से अभिन्न आत्मा का जो एकत्वपन है वही सुन्दर है।।३।।

आगे आत्मा का जो एकत्वपन है उसकी प्राप्ति अति कठिन है, यह कहते हैं –

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– सम्पूर्ण जीवों को कामभोगविसर्पिणी बन्ध की कथा अतिसुलभ है, क्योंकि निरन्तर सुनने में आती है, परिचित है तथा अनुभूत है। देखा जाता है कि बच्चा पैदा होते ही स्तन्यपान में प्रवृत्ति करने लग जाता है। इसी प्रकार मैथुनादि कार्यों में बिना ही शिक्षा के जीवों की प्रवृत्ति स्वयमेव हो रही है। किन्तु परपदार्थ तथा परपदार्थों के निमित्त से जायमान रागादि विभावों से भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक अभेदरत्नत्रयरूप आत्मा के एकत्व की प्राप्ति अतिदुर्लभ है।

विशेषार्थ– इस संसार में कुम्भकार के चक्रपर जो मिट्टी का घड़ा बनाया जाता है वह जिस तरह दंड के द्वारा जब भ्रमण करता है तब उस पर रखी हुई मिट्टी भी सब ओर भ्रमण करती है, इसी तरह इस संसार-चक्र के मध्य में जो जीवलोक है वह भी निरन्तर पञ्च परावर्त्तनों के रूप में मोहपिशाच के द्वारा निरन्तर भ्रमण कर रहा है। जिस तरह कोल्हू का बैल घूमता है, उसी तरह यह भ्रमण कर रहा है। भ्रमण करने से लोक भ्रान्त हो रहा है तथा नाना प्रकार के तृष्णरूप रोगों के द्वारा नाना प्रकार की चिन्ताओं से आतुर रहता है। उनके शमन करने के लिये पञ्चेन्द्रियविषयों का सेवन करता है परन्तु उससे शान्तभाव को नहीं पाता है। जैसे मृगादि मरुमरीचिका में जलबुद्धि कर तृषा की शान्ति के अर्थ दौड़ कर जाते हैं परन्तु वहाँ जल न पाकर फिर आगे दौड़ते हैं। वहाँ भी जल न पाकर परिश्रम करते-करते थक कर अन्त में प्राण गवा देते हैं। इसी तरह यह प्राणी भी अन्तरङ्ग कषायों के शमन करने के अर्थ पञ्चेन्द्रिय विषयों की निरन्तर सेवा करते हैं तथा दूसरों को भी यही उपदेश करते हैं। पाप में कौन पण्डित नहीं? ऐसा करने से शान्ति तो मिलती नहीं, निरन्तर आकुलित हुए काल पूर्ण करते हैं। इस प्रकार यह कामभोगबन्ध की कथा अनादि काल से सुनने में आई, निरन्तर विषयों के सेवन करने से वह परिचित भी है और अनुभूत भी है, अत: निमित्त मिलने पर एकदम स्मरण में आ जाती है। और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रैक्यरूप आत्मा का जो एकत्व है वह यद्यपि अन्तरंग में प्रकाशमान है तथापि अनादिकालीन कषायचक्र ने इसे संसार अवस्था में तिरोहित कर रखा है। जीव, स्वयं तो अज्ञानी हैं सो कुछ जानते नहीं और जो आत्मज्ञानी हैं उनकी उपासना करते नहीं, अत: न तो वह सुनने में आया, न परिचय में आया और न अनुभव में आया।।४।।

आगे आत्मा का जो एकत्व अतिदुर्लभ है उसी को श्रीकुन्दकुन्द महाराज दिखाने की प्रतिज्ञा कहते हैं–

तं एयत्त-विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
यदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं।।५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– वह जो पूर्वोक्त अभेदरत्नत्रयात्मक, मिथ्यात्व-रागादिरहित, परमात्म स्वरूप आत्मा का एकत्व है उसे मैं स्वकीय आगम, तर्क, परापरगुरूपदेश तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा दिखाऊँगा; यदि दिखाने में चूक जाऊँ, तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा उसे जानने का प्रयत्न करना, छल ग्रहण नहीं करना।

विशेषार्थ– आचार्य महाराज का कहना है कि मेरे पास जो कुछ विभव है उस सम्पूर्ण विभव के द्वारा मैं उस आत्मा के एकत्व को दिखाने का प्रयत्न करता हूँ। वह विभव कैसा है, इसी को दिखाते हैं—'अनेकान्तात् सिद्धिः' अर्थात् 'स्यात्' शब्द के प्रयोग बिना किसी भी अर्थ की सिद्धि नहीं होती। अर्थ अनेकान्तात्मक है अतः उसके वाचक शब्द के साथ जब तक 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं किया जावे तबतक उसकी प्रतीति नहीं होती। जैसे 'घटोऽस्ति' इसका अर्थ यह है कि 'घट है।' वास्तव में विचार किया जावे तो घटशब्द का अर्थ 'कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ' है वह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है और घटान्यपदार्थ के द्रव्यादिचतुष्टय से नहीं है। अतः जबतक 'स्यात्' पद का प्रयोग नहीं किया जावे तबतक इस अर्थ का भान नहीं होता। अतः आगममात्र में 'स्यात्' पद की आवश्यकता है। इस तरह सकल-पदार्थों का प्रकाश करने वाले 'स्यात्' पद से मुद्रित शब्द-ब्रह्म की पूर्ण उपासना स्वामी के थी और एकान्त वादियों के द्वारा निर्णीत जो पदार्थ थे उनका अत्यन्त सारभूत युक्तियों के द्वारा निराकरण कर यथार्थ पदार्थ की व्यवस्था उन्होंने की थी, ऐसा उनका विभव था। तथा जिस पदार्थ का स्वरूप स्वामी ने लिखा है वह केवल आगम और युक्ति के बल से ही नहीं लिखा है किन्तु निर्मल विज्ञान के धारी जो परापर गुरु थे उनके उपदेश से उसे सुना था। इतना ही नहीं कि आगम, युक्ति और परापरगुरुपरिपाटी से तो सुना हो परन्तु स्वानुभव न हो तब भी वह पदार्थ यथार्थ कहने में नहीं आता, उसी का निवारण करने के लिए श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने उस विभव का यह विशेष किया कि स्वामी ने आगम, तर्क और गुरुपरम्परा से जैसा श्रवण किया था वैसा ही उनके उस पदार्थ के जानने का अन्तरंग स्वसंवेदन भी था। इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मा के एकत्व का प्रदर्शन कराने की प्रतिज्ञा की। फिर भी स्वामी के ज्ञान और वीतरागभाव की महिमा देखिये, जो लिख रहे हैं कि यदि मैं इतना प्रयास करने पर भी एकत्व दिखाने में स्खलित हो जाऊँ तो छल ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं, अपने अनुभव से स्वसंवेदन करने की चेष्टा करना।

परमार्थ से देखा जावे तो जो पदार्थ है वह दुरधिगम्य है। यथार्थ पदार्थ की प्रतिपत्ति बिना सम्यग्ज्ञान के होना कठिन है परन्तु सम्यग्ज्ञान का होना ही कठिन हो रहा है, क्यो अनादिकाल से यह प्राणी मोहकर्म के वशीभूत होकर परपदार्थों में ही अपना अस्तित्व मान रहा है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो ऐसा तीव्र मोह प्राणियों के है कि मदिरा के प्रबल वेग के समान उन्हें अपना-पराया कुछ विवेक ही नहीं। अगृहीत मिथ्यात्व के द्वारा पर्याय में ही आपा मान निरन्तर संसार के ही पात्र रहते हैं। धर्म और अधर्म, आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से वञ्चित रहते हैं—मोक्षमार्ग के अनुकूल हेय और उपादेय के ज्ञान से रहित रहते हैं। आहारादि संज्ञाओं का ज्ञान होनेपर भी मोक्षमार्ग के अनुकूल आस्रवादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। मोक्षमार्ग में उपयोगी ये सात ही तत्त्व हैं। अतएव श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा है। पिपीलिका की प्रवृत्ति शर्करादि में देखकर उसके ज्ञान को मोक्षमार्गानुकूल ज्ञान नहीं कह सकते। आजकल विज्ञान का चमत्कार देख बहुत से मनुष्य प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं। एतावता वह ज्ञान मोक्षामार्ग की श्रद्धा में उपयोगी नहीं हो जाता। जिस ज्ञान के द्वारा आत्मा को संसार में रुलना पड़े वह ज्ञान मोक्ष के अनुकूल नहीं हो सकता। धनादि पदार्थों के द्वारा संसार में प्राय: आपत्तियों के अतिरिक्त क्या हो सकता है? अत: सप्ततत्त्व से भिन्न जो भी पदार्थ हैं उनका ज्ञान मोक्षमार्ग में सहकारी नहीं।

सबसे पहले हमें आत्मा और अनात्मा पदार्थों के जानने का प्रयत्न करना चाहिये। यह ज्ञान आगम के बिना नहीं हो सकता। आगमज्ञान के लिये हमें परम्परागुरुओं के उपदेश की परमावश्यकता है तथा आगम के द्वारा जो पदार्थ ज्ञात किये हैं उनमें जो सूक्ष्म नहीं है उन्हें तर्कज्ञान से भी निर्णीत करना उचित है। और यह सब होकर यदि स्वानुभव नहीं हुआ तब भी कल्याणपथ की प्राप्ति दुर्लभ है। इसीलिये कुन्दकुन्द महाराज का कहना है कि मैं अपने विभव से आत्मा के एकत्व को दिखाता हूँ। यदि कहीं स्खलित हो जाऊँ तो आप लोगों को उचित है कि स्वीय अनुभव से वस्तु स्वरूप को अवगत कर प्रमाण करें, छल ग्रहण करना सर्वथा हेय है। आजकल मनुष्य अपना समय प्राय: कुकथा आदि में लगाकर अनुपम तत्त्व के खोजने में नहीं लगाते, इसीसे प्राय: दु:ख के ही पात्र रहते हैं।।५।।

अब यहाँ शुद्ध आत्मा को विषय करने वाली द्रव्यदृष्टि से प्रश्न होता है कि आत्मद्रव्य क्या वस्तु है? इसका श्रीस्वामी उत्तर देते हैं तथा दूसरी गाथा के अवतरण में यह प्रश्न था कि समय क्या पदार्थ है? वहाँ पर स्वामी ने यह उत्तर दिया था कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है वही स्वसमय है और जो पुद्गलकर्मप्रदेश में स्थित है वह परसमय है, इन दोनों पर्यायों का जो आधार है वही तो समय है—यह बात इस गाथा से स्पष्ट हो जाती है—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ।।६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं, इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं। वह जो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, अन्य नहीं है।

विशेषार्थ– यहाँ पर आत्मा के उस सामान्यभाव का ग्रहण किया गया है जो कालत्रयव्यापी रहता है। आत्मा की यों तो अनन्त अवस्थाएँ होती हैं किन्तु वे सब प्रमत्त और अप्रमत्त में अन्तर्गत हो जाती हैं। आत्माद्रव्य अनादिकाल से पुद्गल के साथ सम्बद्ध होकर चला आया है और इसी से इसकी यह नाना पर्यायें संसार में होती हैं। आत्मा की संसार और मुक्त ये दो अवस्थाएँ मुख्य हैं। इनमें संसार अवस्था कर्मों के विपाक के निमित्त से नाना प्रकार की होती है और मुक्तावस्था कर्मों के अभाव से एक ही प्रकार की है। अत: जब सामान्य की अपेक्षा निरूपण किया जाता है तब इस प्रकार का कथन होता है कि जो आत्मा है वह अनादि और अनन्त है, नित्य ही उद्योतरूप है, एक ज्ञायकपदार्थ है। उसी आत्मा का जब पर्यायों की दृष्टि से निरूपण किया जाता है तब कथन होता है कि वह संसार दशा में अनादिकालीन बन्धपर्याय के द्वारा दुग्ध और जल की तरह कर्म पुद्गलों के साथ एक हो रहा है। यद्यपि वर्तमान में आत्मा का कर्मपुद्गलों के साथ क्षीर-नीर के समान एकक्षेत्रावगाह हो रहा है तथापि द्रव्यदृष्टि से यही बात कथन में आती है कि दु:ख ही अन्त में जिससे होता है ऐसे कषायचक्र के उदय की विचित्रता से पुण्य और पाप को उत्पन्न करनेवाले जो शुभ और अशुभ भाव हैं उन रूप स्वभाव से आत्मा नहीं है अर्थात् आत्मा में पुण्य और पाप को उत्पन्न करनेवाले जो शुभ और अशुभ भाव होते हैं वे विकारी भाव हैं, वर्तमान आत्मा में होते हैं परन्तु मन्दकषाय के उदय से होते हैं, औपाधिक हैं, कर्मनिमित्त के मिटने से मिट जाते हैं। अत: पर्यायदृष्टि में तो वे हैं, परन्तु द्रव्यदृष्टि से विचार करने पर नहीं हैं। अतएव स्वभाव से आत्मा न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। वह तो अशेष द्रव्यान्तरों से तथा उनके निमित्त से होनेवाली पर्यायों से भिन्न शुद्धद्रव्य है। यह कथन नयविवक्षा से है। सर्वथा यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं है। आत्मा प्रमत्त भी है और अप्रमत्त भी है। ये दोनों अवस्थाएँ विशेष हैं। किन्तु इनसे कथञ्चिद् भिन्न सामान्य भी एकरूप है। उसकी दृष्टि में ये दोनों अवस्थाएँ गौण हो जाती हैं। प्रमाण की दृष्टि में पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। जैसे जिस समय अग्नि इन्धन सहित होती है उस समय उसमें ज्वाला भी निकलती है और धूम भी निकलता है। यद्यपि उस समय अग्नि में ज्वाला भी है और धूम भी है किन्त सर्वकाल उनका सद्भाव न होने से वह अग्नि का स्वरूप नहीं। सामान्यरूप जो सर्वत्र पाया जावे वही अग्नि है अर्थात् अग्नित्वसामान्य ही अग्नि का सामान्य स्वरूप है। इसी तरह आत्मा न प्रमत्त है और न अप्रमत्त, किन्तु ज्ञायकसामान्यस्वरूप है क्योंकि यह रूप सब अवस्थाओं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में पाया जाता है। संसार अवस्था में आत्मा क्षीरोदकवत् कर्मपुद्गलों के साथ एकमेक हो रहा है किन्तु एक नहीं हो जाता है। जेसे दूध और जल संयुक्तावस्था में एकमेक हो रहे हैं परन्तु दूध है सो जल नहीं और जल है सो दूध नहीं। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है किन्तु मिलितावस्था में लोग कहते हैं कि पनीला दूध है, फीका दूध है। जैसे सुवर्ण और रजत दोनों का मिलाप होने से लोग मिश्रितावस्था में उस पिण्ड में खोटे सोने का व्यवहार करते हैं। चार आना भर सोना और चार आना भर चाँदी दोनों मिलकर आठ आना भर हुए। वहाँ पर विचार से देखा जावे तो सोना चार आना भर ही है। उस सोने का द्रव्यदृष्टि से कुछ भी घात नहीं हुआ है और न उसके मूल्य में कुछ हानि हुई है क्योंकि मिश्रितावस्था में उसका मूल्य बीस रुपया तोला हो गया। किन्तु शुद्ध सोना से उस खोटे सोने का चाँदी के संयोग से वजन आठ आना भर हो गया अत: उसके मूल्य के दस रुपये मिल गये। यह सब हुआ, किन्तु शुद्ध सोने में जो गुण हैं वे चाँदी के सम्बन्ध से विकृत हो गये, इसलिये शुद्ध सुवर्ण द्वारा जो लाभ होता है वह अशुद्ध सुवर्ण से नहीं होता।

यही अवस्था आत्मा की कर्मों के सम्बन्ध से हो जाती है आर्थात् आत्मा के जो ज्ञान-दर्शन गुण हैं वे विकृत हो जाते हैं। ज्ञान-दर्शन का काम जानना और देखना है परन्तु उनमें कर्मोदयजन्य विकार होने से इष्टानिष्टरूप नाना प्रकार का भाव होने लगता है। जैसे शङ्ख श्वेत है, परन्तु जिसे कमला रोग हो गया है वह शङ्ख को देखता तो है परन्तु उसमें पीतगुण का आरोप करता है, वास्तव में शङ्ख पीत नहीं। इसी प्रकार संसार में मोहादिक कर्मों के उदय में आत्मा में राग-द्वेष-मोह विकार हो जाते हैं। उनके सम्बन्ध से यह आत्मा अपने ज्ञानगुण के द्वारा जानता तो है परन्तु विकारी परिणामों के सहवास से कभी तो मिथ्याभिप्राय से परपदार्थ में आत्मसंकल्प करता है और कभी राग-द्वेष के द्वारा इष्ट-अनिष्ट का विकल्प करता है। उसका फल यह होता है कि परदार्थ में आत्मत्व की कल्पना करता है और रागादिक विभावों को अपना स्वभाव मानने लगता है। इन्हीं विभावों के द्वारा अनन्त संसार में यातायात करता हुआ चतुर्गति सम्बन्धी पर्यायों में परिभ्रमणजन्य अनेक प्रकार के अनिर्वचननीय दु:खों का पात्र होता है।

जब इस जीव के काललब्धि का उदय आता है तब यह मिथ्याभाव से मुक्त होता है और सम्यक्त्वगुण के विकास को प्राप्त होता है। क्रम से देशव्रतादि को धारण करता हुआ मोक्ष का पात्र होता है। उस समय इसको सिद्ध कहते हैं। इस प्रकार जीवों की मुख्यतया दो पर्यायें हैं—एक संसारी और दूसरी सिद्ध। संसार में मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान पर्यन्त के जीवको प्रमत्त कहते हैं और सातवें गुणस्थान से लेकर जीव की चौदहवें गुणस्थान तक जितनी भी पर्यायें होती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं उन्हें अप्रमत्त कहते हैं। उनके जबतक आयु का सम्बन्ध है तबतक गुणस्थानव्यवहार होता है, बाद में गुणस्थानातीत होने पर उन्हें सिद्ध कहते हैं।

जीव में यह जो व्यवहार होता है वह विशेष की अपेक्षा होता है, सामान्य की अपेक्षा नहीं होता। इसी से कुन्दकुन्द महाराज ने लिखा है कि जीव न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है किन्तु ज्ञायकभाव वाला है। ऐसा नहीं कि पदार्थों के जानने से ज्ञायक है किन्तु स्वभाव से ज्ञायक है। जैसे इन्धन को जलाने से अग्नि दाह्याकार होती है, वह आकार अग्नि ही का है दाह्य पदार्थ का नहीं। वैसे ही घटपटादि पदार्थों का जो आकार ज्ञान में भासमान होता है वह आकार घटपटादि से भिन्न ही है। ज्ञान की ज्ञातृता ही ऐसी है कि उसमें स्वपरावभासन हो रहा है। जैसे रूपी दर्पण में ऐसी स्वच्छता है कि उसमें वह्नि दिखती है एतावता उसमें उष्णता और ज्वाला नहीं है। इत्यादि कथन से आत्मा को निराबाध ज्ञायकस्वरूप ही मानना अबाधित प्रमाण का विषय है। अतएव जीव जिस तरह परपदार्थों के जानने के समय ज्ञायक है उसी तरह स्वरूप प्रकाशन के समय भी ज्ञायक है।।६।।

आगे ऐसा जो आत्मा है वह ज्ञान, दर्शन और चरित्र से अशुद्ध नहीं हो सकता है, यही दिखाते हैं–

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त-दंसणं णाणं ।

ण वि णाणं ण चरित्तं न दंसणं जाणगो सुद्धो ।।७।।

अर्थ– ज्ञानी जीव के व्यवहार द्वारा ज्ञान, दर्शन और चरित्र कहे जाते हैं अर्थात् आत्मा ज्ञानी है, चारित्र वाला है, दर्शन वाला है। निश्चय कर उसके न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है किन्तु एक ज्ञायक है, इसी से शुद्ध है।

विशेषार्थ– इस तरह ज्ञायकभाव से शुद्धात्मा में बन्ध के कारणों से अशुद्धता कहना दूर रहो, किन्तु दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी उसमें विद्यमान नहीं हैं। अत: इनके निमित्त से जायमान अशुद्धता भी कैसे हो सकती है? वास्तव में द्रव्यदृष्टि से देखा जावे तो कोई भी पदार्थ अशुद्ध नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि बन्ध जहाँ होता है वहाँ दो पदार्थों का होता है। यहाँ बन्ध का यह अर्थ ग्राह्य नहीं कि जिन पदार्थों का बन्ध होता है वे दोनों मिलकर अभिन्न हो जाते हैं किन्तु दोनों पदार्थ अपने-अपने स्वाभाविक परिणमन को छोड़कर विजातीय अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे दो परमाणु परस्पर में जब बँधते हैं तब उन्हें द्व्यणुकशब्द से कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों परमाणु तादात्म्य सम्बन्ध से एक हो गये। अथवा यहाँ तो दोनों पुद्गल के परमाणु हैं अत: उनमें जो पुद्गल सम्बन्धी रूप-रस-गन्ध-स्पर्श हैं उन्हीं का परिणमन विशेषरूप से हो जाता है। परन्तु जीव और पुद्गल का जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध है वह इस प्रकार का नहीं है। वहाँ केवल दोनों द्रव्य अपने-अपने परिणमन को छोड़ भिन्न-भिन्न रूप से परिणमन को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् जीव के रागादिभावों का निमित्त पाकर पुद्गल वर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूप परिणमन को प्राप्त हो जाती हैं तथा मोहादि कर्मों के उदय को पाकर जीव रागादिभाव को प्राप्त हो जाता है।

यह कथा दो द्रव्यों की है, किन्तु एक ही द्रव्य में जो गुण हैं अर्थात् जिनका द्रव्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो रहा है वे गुण भी परस्पर में एक नहीं हो जाते हैं। इसी को व्यक्त करने के लिये द्रव्यों में अनन्तानन्त अगुरुलघु गुण माने गये हैं। जैसे पुद्गल में जो स्पर्श-रस-गन्ध-रूप गुण हैं वे सब नाना हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के विषय हैं। उनमें जो एकत्वव्यवहार है वह एक सत्ता होने से है अर्थात् पुद्गलद्रव्य से उनकी पृथक् सत्ता नहीं है। इसी तरह आत्मा में जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण हैं वे अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं किन्तु आत्मा से भिन्न उनकी सत्ता अन्यत्र नहीं पाई जाती, इसीसे अभेदव्यवहार होता है। इसी अभिप्रात्र को लेकर स्वामी का कहना है कि अभेददृष्टि में ज्ञानदर्शनादि कुछ नहीं हैं। इसका यह अभिप्राय है कि वह नय, भेद को गौणकर अभेद को ही विषय करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं। केवल शिष्य के बुद्धिवैशद्य के अर्थ आचार्यों का प्रयास है।

अनन्तधर्मात्मक एक धर्मी के समझने में अपटु जो शिष्य है उसे समझाने के लिये उस अनन्त धर्मात्मक धर्मी को जाननेवाले आचार्य कितने ही प्रसिद्ध गुणों को लेकर कहते हैं कि ज्ञानी के दर्शन भी है, ज्ञान भी है, चारित्र भी है परन्तु परमार्थ से अनन्तपर्याय वाले द्रव्य के अखण्ड स्वभाव का जो अनुभव करनेवाले हैं उनकी दृष्टि से ज्ञानी के न दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है, केवल एक ज्ञायक शुद्धभाव है। जैसे लोक में किसी ने अपने भृत्य से कहा कि सुवर्ण लाओ। भृत्य बाजार में गया और सामान्य सुवर्ण की किसी पर्याय में सुवर्ण ले आया, क्योंकि सामान्य सुवर्ण में सुवर्ण की मुख्यता रहती है, पर्यायों की गौणता है। इसी तरह जब जीव का सामान्यरूप से कथन करते हैं तब उसमें ज्ञायकभाव की मुख्यता रहती है, न प्रमत्त की मुख्यता रहती है और न अप्रमत्तकी, यही आत्मा को शुद्ध कहने का तात्पर्य है।।७।।

आगे, यदि ऐसा है तो परमार्थ से उसी का कथन करना चाहिये, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि ठीक है परन्तु वे जब सामान्य से इसे नहीं समझते हैं तब विशेषरूप से कहना उचित है, इसी अभिप्राय को लेकर व्यवहारनय की उपयोगिता दिखाते हैं –

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।।८।।

अर्थ– जिस तरह अनार्य मनुष्य अनार्यभाषा के बिना अभिप्रेत वस्तुस्वरूप के ग्रहण करने को समर्थ नहीं हो सकता उसी तरह व्यवहारी जीव व्यवहारनय के बिना परमार्थ के समझने में समर्थ नहीं हो सकता।

विशेषार्थ– जिस तरह कोई ब्राह्मण किसी म्लेच्छों के नगर में चला गया। वहाँ उन लोगों ने भव्यमूर्ति ब्राह्मण को देखकर अपनी भाषा में अभिवादन कर दोनों हाथों को मस्तक से लगा कर नमस्कार किया। ब्राह्मण ने उनकी नम्रता देखकर प्रसन्नता से उन्हें कहा—'तुभ्यं स्वस्ति'। इस वाक्य को श्रवणकर वे लोग कुछ भी वाच्यार्थ को न जान सके, अतः मेढ़ा की तरह ब्राह्मण की ओर अनिमिष नेत्रों से देखने लगे। तब दुभाषिया ब्राह्मण ने म्लेच्छ भाषा को लेकर उन्हें 'स्वस्ति' शब्द का वाच्यार्थ समझाया कि इसका अर्थ 'आप लोगों का कल्याण हो' यह है। जब उनकी समझ में 'स्वस्ति' पद के अर्थ का बोध हुआ तब एकदम उनके हृदय में आनन्द का उदय होकर इतना हर्ष हुआ कि आँखों में हर्ष के आँसू छलक आये और शरीर में रोमाञ्च हो गये। इसी तरह संसारी मनुष्य से श्रीगुरु ने कहा कि आत्मा है। इसे श्रवणकर संसारी मनुष्य भी उसी अनिमिष नेत्रों से आत्मा की बात को कहनेवाले श्रीगुरु की ओर देखने लगा और आश्चर्य से चकित हो गया। तब व्यवहार और परमार्थ पथ को जाननेवाले आचार्य महाराज ने कहा कि—भाई दर्शनज्ञान-चारित्र को जो प्राप्त करता है वही तो आत्मा है अर्थात् जो देखने-जानने वाला है वही आत्मा है। इस वाक्य को श्रवण कर वह एकदम प्रसन्नता के रस में मग्न हो गया, आनन्द के आँसू उसके नेत्रों में आ गये और एक बार ही आत्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति होने से निःसंदेह हो गया। जब ऐसी वस्तुस्थिति है तब म्लेच्छ भाषा के सदृश व्यवहारी मनुष्य को बोध कराने के लिए व्यवहारनय का अवलम्बन लेना चाहिये। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ब्राह्मण को म्लेच्छ रूप हो जाना चाहिये।

लोक में भी परमार्थ पदार्थ के समझाने के लिए ऐसे अवलम्बन लिये जाते हैं। जैसे सेना में जो रंगरूट भरती होता है उसे बाण द्वारा लक्ष्यवेध सिखाया जाता है। यद्यपि वहाँ पर उस लक्ष्यवेध से किसी साध्य की सिद्धि नहीं, तथापि रणक्षेत्र में जब शत्रुओं पर बाण छोड़ने का काम पड़ता है तब वह विद्या उपयोग में आती है। अथवा जिस तरह बचपन में छोटी-छोटी लड़कियाँ मिट्टी का आटा गूनकर उसकी रोटियाँ बनाती हैं तथा मिट्टी की हण्डियाँ बनाकर उनमें छोटे-छोटे कंकड़ डाल दाल बनाने का व्यवहार करती हैं। यद्यपि यह सब उनका खेल है परन्तु बड़ी अवस्था

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में यथार्थ कार्य करने से उसकी उपयोगिता होती है। इसी तरह परमार्थ का यथार्थ बोध कराने के व्यवहारनय का आलम्बन लेना आवश्यक है। इसी तरह के और भी लौकिक उदाहरण है—जैसे किसी ने श्रीपरमगुरु से पूछा कि—भो प्रभो मेरे लिये आत्मज्ञान की शिक्षा दीजिये—आत्मा क्या है? यह बतलाने की कृपा कीजिये। श्रीगुरुने कहा कि—हमारे सामने बहने वाली गङ्गा नदी में एक मगर रहता है। उसे अच्छी तरह आत्मज्ञान करा दिया है। वह तुम्हे अच्छी तरह आत्मज्ञान का उपदेश देगा, उससे पूछ लो। श्रीगुरु के ऐसे वचन सुनकर वह सरलप्रकृति का शिष्य गुरुवाक्य को प्रमाण करता हुआ सन्निहित गङ्गा नदी के तीर गया और उस मगर से बोला—भाई! हमको गुरुमहाराज ने तुम्हारे पास आत्मज्ञान के उपदेश के अर्थ भेजा है। मगर ने उसके वाक्य सुनकर प्रसन्नता के साथ कहा—महानुभाव! मैं इस समय तृषा से अति-आतुर हूँ, आप एक लोटा पानी कूप से लाकर मुझे पहले पिला दीजिये, मैं पश्चात् निश्चिन्त होकर आपको उपदेश करूँगा। यह सुनकर शिष्य मन-ही-मन उसकी मूढ़ता पर पश्चात्ताप करता हुआ मगरसे बोला—भाई! तुम बड़े अज्ञानी हो, पानी में सर्वाङ्ग डूबे हुए भी हमसे जल माँगने की चेष्टा करते हो, तुम क्या आत्मज्ञान का उपदेश करोगे? मगर बोला—महानुभाव! आपका कहना अक्षरशः सत्य है किन्तु अपने अज्ञान को भी तो देखो। तुम स्वयं आत्मा होकर आत्मज्ञान की बात पूछते हो। यही बात तो तुम्हारे आत्मज्ञान की बाधक है। ऐसा सुनकर वह स्वयं प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। इस प्रकार अनेक दृष्टान्तों से व्यवहार के द्वारा निश्चय का उपदेश दिया जाता है।।८।।

आगे परमार्थ और व्यवहारनय से श्रुतकेवली का स्वरूप कहते हैं–

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोय-प्पईवयरा ।।९।।
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा ।।१०।।

(जुग्मं)

अर्थ– जो जीव निश्चयकर इस अनुभवगोचर केवल (ज्ञेयभिन्न) शुद्ध आत्मा को श्रुत के द्वारा सम्यक् प्रकार जानता है उसे लोक के प्रदीपक गणधरादि महाऋषि श्रुतकेवली कहते हैं, अर्थात् ऐसे जीव को परमार्थ श्रुतकेवली जानना। तथा जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है वह भी श्रुतकेवली है, ऐसा जिन भगवान् कहते हैं क्योंकि सम्पूर्ण जो ज्ञान है वह भी आत्मा ही है परन्तु वह व्यवहार श्रुतकेवली है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– परमार्थ से यहाँ पर विचार करने में उपयोग को तन्मय करने की अति आवश्यकता है। जो केवल आत्मा को जाने वह तो निश्चय से श्रुतकेवली है और जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है वह व्यवहार से श्रुतकेवली है, ऐसा भेद क्यों है? इसका यह तात्पर्य है—जो आत्मा श्रुत के द्वारा केवल (परसे भिन्न) शुद्ध स्वीय आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ है, और जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है वह व्यवहार है क्योंकि वह परकी उपाधि है। अथवा विचार करो कि जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान है वह आत्मा है या अनात्मा? यदि द्वितीय पक्ष का अवलम्बन करोगे तो सर्वथा ही असंगत है क्योंकि आत्मद्रव्य से भिन्न जो आकाश, काल, धर्म, अधर्म तथा पुद्गल ये पाँच द्रव्य अनात्मस्वरूप हैं, इनके बाद तो ज्ञान का तादात्म्य असंभव ही है, अतएव अगत्या ज्ञान आत्मा ही है यही तो आया। इसी से श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है—ऐसी वस्तु की व्यवस्था होने से जो केवल आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यही तो निष्कर्ष से आया और ऐसा जो जानना है सो परमार्थ है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी इन दोनों में भेद का कथन करनेवाला जो व्यवहारनय है उसके द्वारा भी परमार्थमात्र आत्मा ही तो कहा गया, अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा गया। अथवा 'जो जीव श्रुत के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है' इस परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य है, इसी से जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है वह व्यवहार से श्रुतकेवली है, किन्तु यह व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादन करता है अत: इस ज्ञान से आत्मा ही की तो प्रतिष्ठा हुई, अतएव इसको भी श्रुतकेवली कहना सर्वथा उपयुक्त है।

परमार्थ से तत्त्व अनिर्वचनीय है क्योंकि ऐसी व्यवस्था है जो द्रव्य, गुण व पर्यायें हैं वे सब अपने-अपने रूप में अनादिकाल से प्रवाहरूप से चले आ रहे हैं। अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में, अन्य गुण का अन्य गुण में तथा अन्य पर्याय का अन्य पर्याय में संक्रमण नहीं होता। जब यह बात है तब ज्ञानात्मक आत्मद्रव्य कालान्तर में अनात्मद्रव्य नहीं हो सकता। आत्मा का ज्ञानगुण आत्मा में ही तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है, अन्य द्रव्य और अन्य गुण में कभी भी संक्रान्त नहीं हो सकता। केवल यह व्यवहार है कि आत्मा पर को जानता है। वास्तव में जब यह नियम है कि ज्ञान ज्ञेय में नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञान में नहीं जाता, तब परको जाननेवाला ज्ञान है इसका यह अर्थ है कि जिस तरह जिस समय दर्पण के सम्मुख जो पदार्थ रहता है उस समय दर्पण उस पदार्थ के निमित्त से अपनी स्वच्छता में तदाकार परिणमता है, इसी से लोग कहते हैं कि दर्पण में घटपटादिक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, तत्त्वदृष्टि से दर्पण में दर्पण का ही परिणमन दृष्ट होता है। इसी तरह आत्मा परपदार्थों को जानता है, यह व्यवहार होता है। परन्तु परमार्थ से आत्मा आत्मपरिणाम ही को जानता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। अत: आचार्य महाराज ने जो यह कहा है कि जो श्रुत के द्वारा अपनी आत्मा को जानता है वह परमार्थ से श्रुतकेवली है सो मनन करने योग्य तत्त्व है। इसी को यथार्थ जानने से हम अनादिविभ्रम से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं।।९-१०।।

आगे कोई प्रश्न करता है कि व्यवहारनय का आश्रय क्यों नहीं करना चाहिए? इसी का निम्न गाथा द्वारा उत्तर देते हैं–

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।।११।।

अर्थ– ऋषीश्वरों ने व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है और शुद्धनय को भूतार्थ। जो जीव भूतार्थ को आश्रित करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ– सम्पूर्ण ही व्यवहारनय अभूत अर्थ को प्रकाशित करता है। यही बात दृष्टान्त द्वारा दिखाई जाती है। जैसे मेघों से बरसने वाला जल यद्यपि निर्मल रहता है परन्तु भूमि में पड़ते ही धूलि आदि विजातीय पदार्थों के सम्बन्ध से उसकी स्वाभाविक निर्मलता तिरोहित हो जाती है। उस कर्दम मिश्रित जल को पीनेवाले जो पुरुष हैं उन्हें कर्दम और जल का भेदज्ञान नहीं है। भेदज्ञान के अभाव से उस जल की निर्मलता का उन्हें अनुभव नहीं होता, वे मिश्रित जल को ही जल समझते हैं। परन्तु जिन पुरुषों ने मिश्रजल में कतकफल को घिसकर डाल दिया है तथा अपने पुरुषकार अर्थात् पुरुषार्थ से उसकी स्वच्छता को प्रकट कर लिया है वे वास्तविक जल का पान करते हैं और विवेकी कहलाते हैं। इसी तरह प्रबल कर्म के विपाक द्वारा आत्मा का जो सहज ज्ञायकभाव है वह तिरोहित हो जाता है उस समय जो जीव आत्मा और कर्म के भेदज्ञान करने में असमर्थ रहता है वह व्यवहार में ही मोहित नाना प्रकार की इष्टानिष्ट परिणति का अनुभवन करता है, यदि मन्दकषाय का उदय हुआ तो शुभ परिणामों का अनुभव करता है और तीव्र कषाय का उदय हुआ तो अशुभ परिणामों का अनुभव करता है परन्तु जो भूतार्थ को देखनेवाले हैं वे अपने प्रौढ़ विवेक से शुद्धनय के द्वारा आत्मा और कर्मों को पृथक्-पृथक् करते हुए अपने पुरुषकार अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा सहज ज्ञायकभाव को प्रकट कर उसी का अनुभव करते हैं। इसी से जो भूतार्थ का आश्रय करनेवाले हैं वे ही सम्यग्दृष्टि होते हैं और जो इनसे भिन्न हैं अर्थात् मात्र अभूतार्थ का आश्रय करते हैं वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। अत: कतकफलसम होने से शुद्धनय का आश्रय करना उपयुक्त है और असत् अर्थ को कहनेवाला जो व्यवहारनय है वह आश्रय करने योग्य नहीं है।

यह आत्मा अनादिकाल से व्यवहार में लीन हो रहा है और इसी से अपना भला-बुरा सुख-दु:ख आदि जो कुछ है उसे परपदार्थों से ही मानता है। यदि किन्हीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बाह्यपदार्थों से दु:ख हुआ तो उन्हें अनिष्ट मान उनसे दूर भागने की चेष्टा करता है, और वे ही पदार्थ यदि सुख में निमित्त पड़ गये तब उनसे चिपटने की चेष्टा करता है। यहाँ पर तत्त्वदृष्टि से देखा जावे तो सभी मिथ्या विचार प्रतीत होते हैं क्योंकि जगत् में न तो कोई पदार्थ दु:खदायी है और न सुखदायी है, हमारी अज्ञानता ही उन्हें सुखकर और दु:खकर कल्पना करा रही है। जिस काल में वे पदार्थ हमारी इच्छा या रुचि के अनुकूल होते हैं उस काल में हम उनका संग चाहते हैं। मोह के कारण नाना प्रकार के अनर्थों से भी उनकी रक्षा करते हैं। यहाँ तक देखा गया है कि अपने बच्चे के लिए दयालु-से-दयालु भी मनुष्य गाय का दूध, उसके पीते हुए बालक से छीनकर पात्र में दुह लेते हैं। यह कथा तो छोड़ो, जो वस्तु हमें इष्ट है उसे स्वयं खाते हुए त्यागकर बालक के अर्थ रख लेते हैं। लोक में यहाँ तक देखा गया है कि मृगी स्वकीय बालक की रक्षा के अर्थ सिंहिनी के सम्मुख चली जाती है। इस प्रकार यह जीव अनादि काल से इन परपदार्थों में मोहित हो रहा है। उसे सत्यभूत अर्थ का बोध कराने के लिए शुद्धनय का उपदेश है—भाई! तुम्हारी आत्मा की परिणति ज्ञायकभाव से भरी हुई है, ज्ञेय का उसमें अंश भी नहीं जाता, यह जो परके साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है उसी में तुम्हें भ्रम से विपरीत भान होता है। वास्तव में तो तुम्हारा निजस्वरूप शुद्ध-बुद्ध है, तुम ज्ञानघन के पिण्ड हो, यह सब परपदार्थ तुमसे भिन्न हैं, इनके साथ तुम्हारा केवल ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है, इससे अधिक जो तुम्हारी कल्पना है वह संसार की जननी है। अत: यदि कल्याण के अभिलाषी हो तो इस क्लेशकारिणी कल्पना के जाल में मत जाओ और जो स्वकीय ज्ञायकभाव है उसकी भावना करो, यही भावना संसारसमुद्र से संतरण के लिये नौका का काम देगी।

तब क्या व्यवहार को सर्वथा त्याग देना चाहिए? नहीं, यह हमारा तात्पर्य नहीं, जबतक यथार्थ का लाभ न हो तबतक यह भी प्रयोजनवान् है—किन्हीं जीवों के किसी काल में यह व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है।।११।।

आगे पात्रभेद से निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की उपयोगिता दिखाते हैं–

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।

अर्थ– जो परमभाव को देखनेवाले हैं उनके द्वारा तो शुद्ध तत्त्व का कथन करनेवाला शुद्ध नय जानने के योग्य है और जो अपरमभाव में स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय का उपदेश कार्यकारी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– जैसे लोक में देखा जाता है कि जिन्होंने सुवर्ण को शुद्ध करते-करते अन्त के पाक से शुद्ध सुवर्ण की प्राप्ति कर ली है उन जीवों को प्रथमादि पाक से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सुवर्ण को शुद्ध करने के लिए सोलह बार ताव देने की आवश्यकता होती है, जिन्होंने सोलह ही ताव देकर शुद्धसुवर्ण की प्राप्ति कर ली उन जीवों को एकसे लेकर सोलह तक किसी भी ताव की आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह जो जीव अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध सुवर्ण के समान परमभाव—उत्कृष्ट आत्मस्वभाव का अनुभव करते हैं उन जीवों के प्रथम, द्वितीय आदि अनेक तावों की परम्परा से पच्यमान सुवर्ण के समान अपरमभाव—अनुत्कृष्ट मध्यमादि आत्मस्वभाव के अनुभव की शून्यता रहती है। अत: शुद्धद्रव्य का ही प्ररूपक होने से, जिसने कभी स्खलित नहीं होनेवाले एक आत्मस्वभाव को ही समुद्योतित—प्रकाशित किया है, ऐसा शुद्धनय ही उनके लिये प्रयोजनवान् है, किन्तु जिस तरह जो जीव अभी प्रथम, द्वितीयादि पाक से सुवर्ण की जघन्य, मध्यमादि अवस्थाओं को ही प्राप्त हो रहे हैं उन जीवों को जबतक शुद्ध सुवर्ण का लाभ न हो तबतक अपने योग्य ताव (आँच) देने की आवश्यकता है क्योंकि उन्हें अभी पर्यन्तपाक से निष्पन्न शुद्ध सुवर्ण का लाभ नहीं हुआ है। इसी तरह जिन जीवों को जबतक अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध सुवर्ण के समान आत्मा के परमभाव का अनुभव नहीं हुआ है अर्थात् शुद्ध आत्मा का लाभ नहीं हुआ है तबतक विचित्रवर्णमालिका के तुल्य होने से अनेक अवस्थाओं का कथन करने वाला व्यवहारनय उनके लिये प्रयोजनवान् है, क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल की प्रवृत्ति इसी प्रकार होती है। जैसा कि कहा गया है—

जइ जिणमअं पवज्जइ तो मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

अर्थ—यदि जिनेन्द्र भगवान् के मत की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—दोनों ही नयों को मत त्यागो, क्योंकि यदि व्यवहार नय को त्याग दोगे, तो तीर्थ की प्रवृत्ति का लोप हो जावेगा अर्थात् धर्म का उपदेश ही नहीं हो सकेगा। फलत: धर्मतीर्थ का लोप हो जावेगा। और यदि निश्चयनय को त्याग दोगे, तो तत्त्व के स्वरूप का ही लोप हो जावेगा, क्योंकि तत्त्व को कहनेवाला तो वही है। इसी अर्थ को श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने बहुत ही सुन्दर पद्यों में कहा है—

मालिनीछन्द

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा:।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-

रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव।।४।।

अर्थ– निश्चय और व्यवहारनयों के विषय में परस्पर विरोध है क्योंकि निश्चयनय अभेद को विषय करता है और व्यवहारनय भेद को ग्रहण करता है, किन्तु इस विरोध का परिहार करनेवाला स्यात्पद से अङ्कित श्रीजिनप्रभु का वचन है। उस वचन में, जिन्होंने स्वयं मोह का वमन कर दिया है वे ही रमण करते हैं और वे ही पुरुष शीघ्र ही उस समय समयसार का अवलोकन करते हैं जो कि अतिशय से परमज्योतिस्वरूप है, नवीन नहीं अर्थात् द्रव्यदृष्टि से नित्य है, (केवल कर्म के सम्बन्ध से तिरोहित था, भेदज्ञान के बल से जब मोहादिसम्बन्ध दूर हो गया तब पर्यायरूप से व्यक्त हो गया) और अनय पक्ष—एकान्त पक्ष से जिसका खण्डन नहीं हो सकता।

मालिनीछन्द

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-

मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।

तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं

परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्।।५।।

अर्थ– यद्यपि पहली अवस्था में जिन जीवों ने अपना पद रखा है उनके लिये व्यवहारनय का सखेद हस्तावलम्बन लेना पड़ता है तथापि परसे भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र परम अर्थ का जो अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं अर्थात् ऐसे चिच्चमत्कारमात्र परमतत्त्व की जो श्रद्धा करते हैं—उसमें लीन होकर चारित्रभाव का लाभ करते हैं उन जीवों के लिये यह व्यवहारनय कुछ नहीं है अर्थात् निष्प्रयोजन है। जैसे कोई मनुष्य किसी कार्य की सिद्धि के लिये उसके अनुरूप कारणकूट-सामग्री-को एकत्र करता था, पर कार्य सम्पन्न होने के अनन्तर उस कारणकूट—सामग्री की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अथवा, तबतक मनुष्य नौका को नहीं छोड़ता तबतक तीर को प्राप्त नहीं हो जाता, तीर को प्राप्त हो जानेपर नौका की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी तरह शुद्धस्वरूप के श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र के प्राप्त होने पर उसके लिये अशुद्ध (व्यवहार) नय की आवश्यकता नहीं रह जाती।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः

पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्माऽयमेकोऽस्तु नः।।६।।

अर्थ– शुद्धनय की दृष्टि से आत्मा अपने एकपन में नियत है, स्वकीय गुणपर्यायों में व्याप्त होकर रहता है तथा पूर्णज्ञान का पिण्ड है ऐसे आत्मा का आत्मातिरिक्त द्रव्यों से जो भिन्न अवलोकन है अर्थात् संसार के समस्त द्रव्यों से उसका पृथक् अनुभवन है, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। इसी के होते ही आत्मा का जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। वास्तव में ज्ञान में जो मिथ्यापन है वह स्वतः नहीं, किन्तु जबतक आत्मा में परसे भिन्न अपनी यथार्थ—प्रतीति नहीं होती तबतक यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता। जैसे कामलारोग से पीड़ित मनुष्य शङ्ख को नहीं जानता, सो नहीं है, किन्तु कामलारोग से उसमें पीतत्व का भान करता है, रोगापहरण के अनन्तर ही उसे श्वेत शङ्ख का भान होने लगता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय में यह जीव शरीर को आत्मा मानता है, मिथ्यात्व के जाने के बाद आत्मा को आत्मा और परको पर जानता है। इस जानने में मुख्यतः मिथ्याभाव के जाने की ही महिमा है। अतः आचार्य महाराज का कहना है कि जो शुद्धनय के बल से परसे भिन्न केवल शुद्धचिद्रूप आत्मा को देखते हैं उन्हीं के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। और यह जो सम्यग्दर्शन है सो आत्मा तावन्मात्र है—सम्यग्दर्शन के प्रमाण है क्योंकि गुण और गुणी में प्रदेशभेद नहीं है। इसी से आचार्य महाराज ने कहा है कि नवतत्त्व की सन्ततिको छोड़कर हमारे केवल एक आत्मा ही हो अर्थात् पर से भिन्न शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो।

उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य है कि व्यवहारनय आत्मा को नानारूप से व्यवहार में लाता है। जैसे एक ही पुरुष स्वीय पिता की अपेक्षा पुत्रशब्द से व्यवहृत होता है तथा स्वकीय पुत्र की अपेक्षा पिताशब्द से कहा जाता है। अपने गुरु की अपेक्षा शिष्यशब्द से प्रतिबोधित होता है तथा निज शिष्य की अपेक्षा वही गुरुशब्द से पुकारा जाता है। मातुल की अपेक्षा भानजा और भानजा की अपेक्षा मातुलशब्द से घोषित होता है..........इत्यादि नाना सम्बन्धों के होने पर भी परमार्थ से पुरुष नाना नहीं है। इसी प्रकार एक ही आत्मा व्यवहारनय से अनेक पर्यायों का आलम्बन लेने के कारण नाना होकर भी द्रव्यदृष्टि से नाना नहीं है। निश्चय और व्यवहार दोनों ही नय अपने-अपने विषय में प्रमाण हैं क्योंकि श्रुतज्ञान के अंश हैं। जैसे अशुद्धनय की दृष्टि में आत्मा नाना और शुद्धनय की दृष्टि में एक तथा प्रमाणदृष्टि में एकानेक है। वस्तुतः जो है सो है क्योंकि वस्तु अनिर्वचनीय है।

केवल एक अंश का श्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि वह तो वस्तु का एकदेश है। जैसे रुपये में चौंसठ पैसे होते हैं, अब उसमें पाव आना का विचार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कीजिये। क्या वह रुपया हैं? नहीं, यदि पाव आना में रुपये का व्यवहार किया जावे तो एक रुपये के स्थान में चौसठ रुपयों का व्यवहार होने लगेगा, जो कि सर्वथा असंगत है और यदि पाव आना रुपया नहीं है तो इसी तरह दूसरा पाव आना तथा तीसरा पाव आना आदि सभी रुपया नहीं हैं तब रुपया के व्यवहार का अपलाप ही हो जावेगा, अत: पाव आना न तो रुपया है और न रुपया से भिन्न है, किन्तु एक रुपये का १/६४ अंश है। इसी तरह वस्तु, द्रव्य के भेदाभेद की अपेक्षा दो अंशरूप है, उन दोनों अंशों की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। यहाँ पर केवल शुद्धनय की मुख्यता से कथन है, इसीसे उसके द्वारा जानी हुई शुद्ध आत्मा की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। शुद्धनय से सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहने का प्रयोजन यह है कि शुद्धनय के द्वारा प्रतिपाद्य जो आत्मा की शुद्ध अवस्था है वह उपादेय है और व्यवहारनय के द्वारा प्रतिपाद्य जो अशुद्ध अवस्था है वह हेय है। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध अवस्थाओं का पिण्ड है, अत: उन सब अवस्थाओं को लक्ष्य में रखने पर आत्मद्रव्य की पूर्णता है। आत्मा सर्वथा शुद्ध ही है अथवा सर्वथा अशुद्ध ही है ऐसी श्रद्धा एक अंश की श्रद्धा है। अथवा सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प गुण है। उसके होते ही आत्मा का जो ज्ञान है वह यथार्थ हो जाता है और उसी को उपचार से सम्यग्दर्शन कहते हैं। यही कहा है—

मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम्।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्त्वं कर्महन्तृता।।

अर्थ—जब आत्मा का विपरीत अभिप्राय चला जाता है तब उसके ज्ञान को दर्शन कहते हैं और अर्थ की विज्ञप्ति को ज्ञान कहते हैं तथा कर्म के नाश करने की शक्ति का नाम ही चारित्र है।

अत: शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ।।७।।

अर्थ– अत: शुद्धनय के द्वारा परपदार्थ से भिन्न और अपने स्वरूप से अभिन्न आत्मज्योति का विकास होता है। वह आत्मज्योति यद्यपि नवतत्त्व के साथ मिल रही है तथापि अपना जो एकत्वपना है उसे नहीं त्यागती है।

आत्मा परपदार्थ के सम्बन्ध से नवतत्त्वों में सम्बद्ध होने के कारण यद्यपि नाना प्रकार दीखता है तथापि जब इसका पृथक् विचार किया जाता है तब अपने चैतन्यचमत्कारलक्षण के कारण यह भिन्न ही है। जैसे नट नानाप्रकार के स्वांग रखकर भी अपने मनुष्यपन से एक ही है।।१२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे भूतार्थनय से जीवाजीवादि पदार्थों का जानना सम्यग्दर्शन है, यह कहते हैं–

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण-पावं च।
आसव-संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।१३।।

अर्थ– भूतार्थनय के द्वारा जाने हुये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष— ये सम्यक्त्व हैं अर्थात् इन नौ तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति जिस गुण के विकास होने पर होती है उसी का नाम सम्यक्त्व है।

विशेषार्थ– जबतक आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण का विकास नही होता तबतक यह आत्मा मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी रहता है और इसी कारण परपदार्थों में अपना संकल्प करता रहता है। यद्यपि ज्ञानादि गुणों के कारण आत्मा परपदार्थों से भिन्न है, कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य रूप नहीं होता, परन्तु क्या करें? मतवाले की तरह भ्रान्त होने से मन में जो कल्पना उठ गई उसी का उपयोग करने लगता है। कभी सत्य कल्पना भी उठती है परन्तु उसका गाढ़ श्रद्धान नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकार के संकल्पों द्वारा अपने को नाना मानता है परन्तु जिसके सम्यग्दर्शन का विकास हो जाता है उसका ज्ञान आस्रवादि पदार्थों को यथार्थ जानने लगता है। यही कारण है कि वह इन नव तत्त्वों में, जो संसार के कारण हैं, वे चाहे शुभ हों, चाहे अशुभ हों, उन्हें हेय समझता है और जो संसार-बन्धन का छेदन करनेवाले हैं उनमें उपादेय बुद्धि कर अपनी प्रवृत्ति करता है। इसीसे स्वामी ने लिखा है कि ये जो जीवादिक नौ तत्त्व हैं वे भूतार्थ नय के द्वारा जाने जानेपर सम्यग्दर्शन को उत्पन्न कराते हैं।

ये जो नव तत्त्व हैं वे अभूतार्थ नय से कहे गये हैं क्योंकि आत्मा तो वास्तव में एक है, अखण्ड है, अविनाशी है और यह जीव, अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षरूप जो नव तत्त्व हैं वे भेददृष्टि से कहे गये हैं। इनमें भूतार्थ नय से देखा जावे तो जीव एक है, उसके एकपन को जानकर शुद्धनय के द्वारा निर्णीत आत्मा की जो अनुभूति है वही तो आत्मख्याति है। उसी के लिये यह नव तत्त्वों का विस्तार अभूतार्थ नय से निरूपित किया गया है।

उन नव तत्त्वों में विकार्य और विकारक पुण्य और पाप ये दोनों हैं अर्थात् पुण्य और पापरूप जो आत्मा के परिणाम हैं वे स्वयं विकारयोग्य हैं और विकार के उत्पादक भी हैं। इसी तरह आस्राव्य और आस्रावक ये दोनों ही आस्रव हैं अर्थात् आस्रवभाव, आस्राव्य है और आगामी आस्रव का कारण भी है। इसी तरह संवार्य और संवारक ये दोनों संवर हैं अर्थात् संवरभाव स्वयं निरोधरूप है और आगामी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों के निरोध का कारण भी है। इसी तरह निर्जर्य और निर्जरक ये दोनों भाव निर्जरा हैं अर्थात् निर्जरारूप जो भाव है वह स्वयं निर्जरणस्वरूप है और निर्जराका करनेवाला भी है। इसी तरह बन्ध्य और बन्धक ये दोनों ही बन्ध हैं अर्थात् जो बन्धभाव है वह स्वयं बन्धने योग्य है और बन्धन का करने वाला भी है। इसी प्रकार मोच्य और मोचक ये दोनों ही मोक्ष हैं अर्थात् जो मोक्षभाव है वह मोक्ष होने योग्य और मोक्ष का करनेवाला भी है।

एक ही पदार्थ में नवतत्त्व नहीं बन सकते। आत्मा अपने आप आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पापरूप परिणमन को प्राप्त नहीं हो सकता, अत: जीव और अजीव इन दोनों के मिलने से इन आस्रवादि पदार्थों का उत्पाद होता है ऐसा माना गया है। जीव नामक पदार्थ में अनेक शक्तियाँ हैं। उनमें एक विभावशक्ति भी है और योगशक्ति भी है। ये शक्तियाँ निमित्त पाकर जीव में प्रदेश-चञ्चलता और कलुषता को उत्पन्न करती हैं। जिसके द्वारा आत्मा में आस्रव और बन्ध होता है। तथा जब तीव्र कषाय होती है तब पाप के कारण अशुभ और जब मन्द कषाय होती है तब पुण्य के कारण शुभ परिणाम होते है जो कि आत्मा में पाप और पुण्य की परिणति करते हैं। तथा जब आत्मा बन्ध-फल का अनुभव करता है तब वह कर्म रस देकर खिर जाता है उसे निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सम्यग्दर्शन के पहले सब जीवों के होती है परन्तु उसका मोक्षमार्ग में कोई उपयोग नहीं होता। जब आत्मा में परिणामों की निर्मलता होने से विपरीत अभिप्राय निकल जाता है और सम्यग्दर्शन का लाभ हो जाता है तब संवरपूर्वक निर्जरा होने लगती है। और जब गुणस्थान-परिपाटी से क्रम-क्रम से परिणामों की निर्मलता बढ़ने लगती है तब उसी क्रम से संवर बढ़ने लगता है। इस तरह ग्यारह, बारह और तेरहवें गुणस्थान में केवल सातावेदनीय का आस्रव रह जाता है, शेष प्रकृतियों का संवर हो जाता है और अन्त में चतुर्दश गुणस्थान में उसका भी संवर हो जाता है। अघातिया कर्मों की जो पचासी प्रकृतियाँ सत्ता में रह जाती हैं उनकी भी उपान्त्य और अन्त्य समय में निर्जरा कर आत्मा मोक्ष का लाभ करता है। इस तरह ये नव तत्त्व पदार्थद्वय--- जीव-अजीव के सम्बन्ध से होते हैं। बाह्य दृष्टि से जीव और पुद्गल की जो अनादि काल से बन्धपर्याय प्रवाहरूप से चली आ रही है यदि उसकी अपेक्षा से विचार किया जावे तो एकपन से अनुभूयमान होनेवाले ये नव तत्त्व सत्यार्थ हैं और मिश्रितावस्था को छोड़कर केवल जीवद्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से विचार किया जावे तो अभूतार्थ हैं। केवल न जीवद्रव्य नवरूप हो सकता है और न केवल अजीव (पुद्गल) द्रव्य ही नवरूप हो सकता है। जैसे नमक, मिर्च, खटाई, यदि इनको मिलाया जावे तो नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई और तीनों को मिलाया जावे तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नमक-मिर्च-खटाई इस तरह अनेक स्वाद हो जाते हैं यदि तीनों को पृथक्-पृथक् रखा जावे तो मिश्र में जो स्वाद आता है वह केवल में नहीं आ सकता। इसी तरह जीव में जो आस्रवादि होते हैं वे पुद्गलसम्बन्ध से ही हैं, केवल जीव में तो एक ज्ञायकभाव ही है और अन्त में पुद्गल का सम्बन्ध विच्छेद होने पर वही रह जाता है। अतएव केवल जीव के अनुभव में ये नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। इसीलिये इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय से विचार किया जावे तो केवल एक जीव ही भूतार्थ है तथा अन्तर्दृष्टि से ज्ञायकभाव जीव है। जीव के विकार का कारण अजीव है, जब ऐसी व्यवस्था है तब जीव के विकार पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षरूप हैं और ये अजीव के विकार के कारण हैं। इसी तरह अजीवरूप भी पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष हैं और ये जीव के विकार के कारण हैं। ये जो नौ तत्त्व हैं इनका यदि जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर स्वपरनिमित्तक एकद्रव्यपर्यायरूप से अनुभव किया जावे तो ये भूतार्थ हैं और सकल काल में अपने स्वभाव के स्खलित न होनेवाले जीवद्रव्य के स्वभाव को लेकर विचार किया जावे तो अभूतार्थ हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय के द्वारा एक जीव ही प्रद्योतमान है क्योंकि वह द्रव्य है। द्रव्य स्थास्नु (नित्य) है, पर्याय अस्थास्नु (अनित्य) है अतएव नश्वर है। इस प्रकार एकपन कर द्योतमान जीव शुद्धनय के द्वारा अनुभव का विषय होता है और जो यह अनुभूति है वही आत्मख्याति है तथा आत्मख्याति ही सम्यग्दर्शन है, इस रीति से यह समस्त कथन निर्दोष है। अमृतचन्द्रस्वामी ने कहा है—

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ।।८।।

अर्थ– चिरकाल से यह आत्मज्योति नवतत्त्व के अन्तस्तल में लुप्त-सी हो रही है। जैसे वर्णमाला कलाप में अर्थात् मिश्रित अन्य द्रव्यों के वर्णसमूह में सुवर्ण मग्न रहता है, किन्तु जैसे पाकादिक्रिया द्वारा शुद्ध सुवर्ण निकाला जाता है, ऐसे ही यह आत्मज्योति भी शुद्धनय के द्वारा विकास में लायी जाती है। अतएव हे भव्यात्माओ! इसे निरन्तर अन्य द्रव्यों तथा उनके निमित्त से होनेवाले नैमित्तिक भवों से भिन्न एकरूप देखो। यह आत्मज्योति प्रत्येक पर्याय में चिच्चमत्कारमात्र से प्रकाशमान है।

इस संसार में यावत् द्रव्य हैं वे सब अपने-अपने गुण-पर्यायों द्वारा ही परिणमन करते हैं। यदि काल की विवक्षा की जावे तो सभी द्रव्यों के परिणमन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाना हैं। उनमें आकाश, काल, धर्म और अधर्म ये चार द्रव्य सदा एक (सदृशपरिणमन) रूप ही रहते हैं, किसी भी काल में उनका विसदृश परिणमन नहीं होता, क्योंकि उन द्रव्यों में विभावशक्ति का अभाव है। शेष जीव और पुद्गल द्रव्य परस्पर निमित्त पाकर नाना प्रकार के परिणमन के कर्ता होते हैं क्योंकि उनमें विदृश परिणमन कराने वाली विभावशक्ति विद्यमान है। यही कारण है कि जीव और पुद्गल में यह आस्रवादिक परिणमन होता है।

अब यहाँ विचार करने की परमावश्यकता है। यह जो (दृश्यमान) परिणमन है वह सम्यग्दृष्टि के भी होता है और मिथ्यादृष्टि के भी होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि मात्र पर्याय में अहंता-अहंभाव धारण कर संसार का पात्र होता है। सम्यग्दृष्टि भी यद्यपि पर्याय को अपनी जानता है परन्तु वह यह मानता है कि यह जो पर्याय निष्पन्न हुई है वह विजातीय द्रव्य के सम्बन्ध से हुई है अतएव स्वभावरूप और स्थिर नहीं है, कारण के अभाव में मिट जावेगी, आकुलता की उत्पादक है तथा आस्रवादि की जनक है। अत: वर्तमान में उसे अपनी मान कर भी उसे पृथक् करने की चेष्टा करता है। यदि सर्वथा अपनी न समझे तो उसे पृथक् करने का जो प्रयास है वह सब व्यर्थ हो जावे और इसी तरह रागादि विभाव या आस्रवादि सर्वथा आत्मा के नहीं हैं ऐसा समझे तो रागानुत्पत्ति को संवर और बन्धफलानुभव को निर्जरा कहा है वह सब व्यर्थ हो जावे तथा मोक्ष का जो लक्षण 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष:' कहा गया है वह सब भी असंगत हो जावे। अत: आत्मा का जो एकपना कहा गया है वह शुद्धनय की दृष्टि में है, अशुद्धनय—पर्यायदृष्टि में नहीं है। परन्तु जो जीव सर्वथा पर्याय में ही अपना अस्तित्व मान रहे हैं और द्रव्य से पराङ्मुख हैं उन्हें यथार्थ वस्तु अवगत कराने के लिये तथा पर्याय के कारण जो नानात्व बुद्धि हो रही है उसके निवारण के अर्थ आचार्यप्रभु का कहना है कि एकपन कर जाना हुआ जो शुद्धात्मा का विषय है वह नानापर्यायों में रहता हुआ भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ता। जैसे सुवर्णद्रव्य किट्टकालिकादि परद्रव्य के सम्बन्ध से अनेक अवस्थाओं को धारण करता हुआ भी द्रव्यदृष्टि से स्वकीय सुवर्णता को नहीं त्यागता, इस तरह द्रव्यदृष्टि से कोई हानि नहीं, परन्तु पर्यायदृष्टि से हानि अवश्य हुई। उस सुवर्ण की यदि बसन्तमालिनी बनाना चाहो तो वैद्य तत्काल कहेगा कि यह अशुद्ध सुवर्ण है, इसका उपयोग दवाई में नहीं होता; क्योंकि इसके वर्णादिगुण विकृत हैं, गुणकारी नहीं हैं। इसी तरह जो आत्मा परपदार्थों के सम्बन्ध से मोही हो रहा है उसके चारित्रादि गुण भी विकारी हैं, अत: यह आत्मा अनन्त सुख का पात्र नहीं हो सकता। अनन्त सुख आत्मा का एक अनुपम विकासरूप गुण है, इसी के लिये महापुरुषों ने प्रयास किया और इसके भोक्ता हुये तथा अब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी जो सम्यग्ज्ञानी पुरुषार्थ कर रहे, अतः इन परपदार्थों के सम्बन्ध से होनेवाली नानापन की बुद्धि को त्यागकर आत्मा के एकपन का अनुभव करो, जो संसार-दुख से छूटने का मूल उपाय है।

इस प्रकार एकपनकर जानी हुई जो आत्मा है उसके जानने के उपाय प्रमाण, नय और निक्षेप हैं। ये उपाय भी अभूतार्थ हैं। इनमें एक जीव ही भूतार्थ है। प्रमाण दो तरह का है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। जो प्रमाण परकी अपेक्षा न कर केवल आत्मद्रव्य के द्वारा ही उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वह प्रत्यक्ष सकल और विकल के भेद से दो तरह का है। सकलप्रत्यक्ष केवली भगवान् के होता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं और विकल प्रत्यक्ष अवधिज्ञान तथा मन:पर्ययज्ञान के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें अवधिज्ञान असंयमी और संयमी दोनों के होता है किन्तु मन:पर्ययज्ञान संयमी के ही होता है। इनमें अवधिज्ञान भी देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का होता है। अवधिज्ञान सामान्यरूप से मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के ही होता है किन्तु मन:पर्ययज्ञान ऐसा नहीं है, वह तो संयमी के ही होता है।

परोक्षज्ञान मति और श्रुत के भेद से दो प्रकार का है। इनमें मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है। असंज्ञी जीवों के इन्द्रियजन्य ही मतिज्ञान है परन्तु संज्ञी जीवों के इन्द्रिय और मन दोनों से उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान है। संज्ञी जीवों का श्रुतज्ञान भी मन तथा इन्द्रियों से उत्पन्न होता है और असंज्ञी जीवों के इन्द्रियों द्वारा ही होता है। 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' यह जो सूत्र है वह अक्षरात्म श्रुतज्ञान के अर्थ है। यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। जहाँ श्रुतज्ञान से श्रुतज्ञान होता है वहाँ परम्परा से, विचार किया जावे तो, मतिपूर्वक ही श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है।

यदि इन दोनों ज्ञानों का प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की विवक्षा से विचार किया जावे तो भूतार्थ हैं अर्थात् दोनों ही प्रमाण हैं और सम्पूर्ण भेद जिसमें गौणता को प्राप्त हो गये हैं ऐसे जीव के स्वभाव को लेकर विचार किया जावे तो अभूतार्थ हैं।

नय दो प्रकार का है—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक, क्योंकि इनका प्रतिपाद्य पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। इन दो अंशों में जो सामान्य अंश को कहने वाला है वह द्रव्यार्थिकनय है। द्रव्यार्थिकनय सामान्य को विषय करने वाला है, इसका यह तात्पर्य है कि इस नय का विषय सामान्य है, यह तात्पर्य नहीं कि विशेष कोई वस्तु ही नहीं है। हाँ, वह अवश्य है, पर यह नय उसे विषय नहीं करता किन्तु उसकी अपेक्षा रखता है, इसीसे आचार्य ने लिखा है— 'सापेक्षो हि सन्नयः'।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने भी देवागम स्तोत्र में ऐसा ही कहा है—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।।१०८।।

अर्थ–निरपेक्ष अर्थात् एक-एक धर्म का कथन करनेवाले जो नय हैं वे सब मिथ्या हैं, उनका जो समूह है वह भी मिथ्या ही है और जो नय सापेक्षता को लेकर कथन करते हैं वे सम्यग् नय हैं और वही वस्तुभूत हैं तथा वही अर्थक्रिया करने में समर्थ हैं।

इन्हीं स्वामी ने अरनाथ भगवान् की स्तुति में स्वयम्भूस्तोत्र में भी कहा है—

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च च नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादिती ह ते।।१०१।।

अर्थ– पदार्थ सत् है, एक है, नित्य है, वक्तव्य है और इनसे विपरीत असत् है, अनेक है, अनित्य है, अवक्तव्य है। इस तरह जो नय सर्वथा— निरपेक्ष होकर कथन करते हैं वे दोषयुक्त हैं और जो 'स्यात्' शब्द के सहयोग से कथंचित्— सापेक्षभाव से कथन करते हैं वे इष्ट को पुष्ट करते हैं।

इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय अपने विषय द्रव्य को कहता है। पर्यायार्थिकनय का विषय विशेष अर्थात् पर्याय है। यह नय द्रव्य को नहीं देखता, किन्तु उसकी अपेक्षा रखता है। इसीसे 'स्यात्' पद की उसके साथ योजना की जाती है।

इन दोनों नयों का जो परस्पर मैत्रीभाव है वह प्रमाण है। वस्तु न केवल द्रव्यस्वरूप है और न केवल पर्यायस्वरूप है किन्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है। अतएव श्रीकुन्दकुन्द महाराज ने लिखा है—

पज्जय-विजुदं दव्वं दव्व-विजुत्ता न पज्जया हुंति।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति।।पंचास्तिकाय १२।।

अर्थ– अर्थात् पर्याय के बिना द्रव्य का कोई सत्त्व नहीं और द्रव्य के बिना पर्यायों का अस्तित्व नहीं, किन्तु द्रव्य और पर्याय दोनों के अस्तित्व को लेकर ही वस्तु का अस्तित्व है। वही वस्तु का यथार्थ अवलोकन है, इसी को प्रमाण कहते हैं। दोनों नय द्रव्य और पर्याय का क्रम से अनुभव करते हुए प्रमाणभूत हैं—सत्यार्थ हैं और द्रव्य तथा पर्याय की विवक्षा से रहित शुद्ध वस्तुमात्र जीव स्वभाव की अनुभूति में वे अभूतार्थ हैं।

जिस प्रकार वस्तु को जानने के लिए प्रमाण और नय कारणरूप हैं उसी प्रकार निक्षेप भी कारणरूप है और वह नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव के भेद से चार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार का है। जिसमें जो गुण तो नहीं हैं, मात्र व्यवहार के लिए उन गुणों की अपेक्षा किए बिना उसका नाम रख दिया जाता है वह नामनिक्षेप है। जैसे किसी का नाम हाथीसिंह रख दिया। अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की स्थापना करना स्थापना निक्षेप है। जैसे 'यह वही आदिनाथ हैं' इस प्रकार प्रतिमा में आदिनाथ भगवान् की स्थापना करना। यह स्थापना तदाकार और अतदाकार के भेद से दो प्रकार की होती है। वर्तमान पर्याय से अन्य अतीत और अनागत पर्याय में वर्तमान पर्याय का कथन करना द्रव्यनिक्षेप है। जैसे राजपुत्र और राज्यभ्रष्ट को राजा कहना। वस्तु की वर्तमान पर्याय को भाव कहते हैं, अत: भाव अर्थात् वर्तमान पर्याय को वर्तमान रूप से ही कहना भावनिक्षेप है। ये चारों ही निक्षेप अपने-अपने लक्षणों की विलक्षणता से अनुभव में आते हैं अत: भूतार्थ है—सत्यार्थ हैं और सब लक्षणों को गौण कर केवल एक जीवस्वभाव की अनुभव दशा में अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। इस प्रकार इन नव तत्त्वों तथा प्रमाण-नय-निक्षेपों में भूतार्थ नय के द्वारा एक जीव ही प्रकाशमान है अर्थात् पदार्थान्तर का सम्बन्ध पाकर उसी की नाना पर्यायें दिख रही हैं। वास्तव में तो वह एक अखण्ड अविनाशी चैतन्य पिण्ड है। श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं—

मालिनीछन्द

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।९।।

अर्थ– समस्त भावों को नष्ट करनेवाले शुद्धनय के विषयभूत चैतन्यचमत्कार-मात्र तेज: पुञ्जस्वरूप आत्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, यह हम नहीं जानते। और अधिक क्या कहें, द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

मोह के उदय से जो रागादिभाव होते हैं वही नाना प्रकार की कल्पनाएँ कराके विविध पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि कराते हैं। जो मोह कल्पनाओं का कारण है उसके विलीन हो जानेपर उक्त कल्पनाएँ कहाँ हो सकती हैं? आगे अमृतचन्द्र स्वामी शुद्धनय की महिमा का गान करते हैं—

उपजातिछन्द

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विलीनसंकल्पविकल्पजालं

प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति।।१०।।

अर्थ– परभाव से भिन्न, सब ओर से पूर्ण, आदि-अन्त से रहित, एक और जिसमें औपाधिक संकल्प-विकल्पों का समूह विलीन हो गया है ऐसे आत्मस्वभाव को प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ– वास्तव में शुद्धनय की कोई अनिर्वचनीय ही महिमा है क्योंकि उसके होते ही पर और पर के निमित्त से जायमान रागादि विभावभावों से भिन्न आत्मा का स्वभाव भासमान होने लगता है। वह आत्मस्वभाव क्षयोपशम अवस्था में अपूर्ण रहता है, परन्तु सर्वतत्त्वावभासी केवलज्ञान के होने पर आसमन्तात् पूर्ण हो जाता है, किसीसे उत्पन्न नहीं होता और कभी नष्ट नहीं होता, इसलिये अनादि-अनन्त है, सामान्यदृष्टि से रहित है और मोह तथा राग-द्वेष से उत्पन्न होनेवाले संकल्प-विकल्पों के जाल से रहित है।।१३।।

अब उस शुद्धनय का स्वरूप कहते हैं–

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठं अणण्णयं णियदं ।

अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ।।१४।।

अर्थ– जो नय आत्मा को बन्ध और स्पर्श से रहित, अन्यपने से रहित, चलाचल भाव से रहित, विशेषता से रहित और संयुक्तपन से रहित जानता है उसे शुद्धनय जानो।

विशेषार्थ– जो नय निश्चय से अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा का अनुभव करता है वही शुद्धनय है। यहाँ पर वस्तु का विचार केवल द्रव्यस्वभाव को लेकर किया जाता है, अत: उसके निरूपण में परपदार्थ के निमित्त से जो भी अवस्था होती है वह सब अभूतार्थ कही जाती है। और यदि परपदार्थ के सम्बन्ध से उन अवस्थाओं का विचार किया जावे तो वे सब अवस्थाएँ सत्यभूत होती हैं।

आत्मा का जो स्वरूप उपर कहा गया है उसका अनुभव कैसे होता है? उसी को कहते हैं—ये जो बद्ध, स्पृष्ट आदि जीव की अवस्थाएँ हैं वे अभूतार्थ हैं क्योंकि परपदार्थ के सम्बन्ध से जायमान हैं। जैसे जिस काल में कमलिनी का पत्र जल में निमग्न रहता है उस काल में उसका विचार करिये। विचार करने पर अवगत होता है कि सलिल का कमलिनीपत्र के साथ जो सम्बन्ध है वह सत्य है— भूतार्थ है क्योंकि कमलिनीपत्र का जल के साथ संयोग हो ही रहा है। परन्तु जब केवल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कमलिनी के पत्र का विचार किया जाता है तब अवगत होता है कि कमलिनीपत्र का स्वभाव सलिल के स्पर्श से रहित है, अत: वह जलसंयुक्तपना अभूतार्थ है। इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। जब उसको लेकर विचार किया जाता है तब आत्मा में बद्ध-स्पृष्ट पर्यायें भूतार्थ ही हैं ऐसा अनुभव होता है और पुद्गल जिसका स्पर्श नहीं कर सकता ऐसे आत्मस्वभाव को लेकर जब विचार किया जाता है तब बद्ध-स्पृष्ट पर्यायें अभूतार्थ हैं ऐसा प्रतीत होता है।

इसी तरह जब मृत्तिका का घट बनाते हैं तब उसकी पहले जल के द्वारा आर्द्रावस्था की जाती है। बाद में स्थास, कोश, कुसूल और घट की निष्पत्ति होती है। जब वह घट भग्न हो जाता है तब उसके टुकड़ों को कपाल कहते हैं तथा जब और भी छोटे टुकड़े हो जाते हैं तब उन्हें कपालिका कहते हैं। इस तरह स्थास, कोश, कुसूल, घट, कपाल और कपालिका आदि अनेक पर्यायें मृत्तिका की होती हैं, वे सब पर्यायें परस्पर में भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न कार्य भी उनके देखे जाते हैं, अत: उन सबमें जो अन्यपना है वह भूतार्थ है। परन्तु जब सब पर्यायों में एकरूप से रहने वाले मृत्तिकास्वभाव की ओर दृष्टि देकर विचार किया जाता है तब वह अन्यपना अभूतार्थ हो जाता है।

इसी तरह जीव की नर-नारकादि पर्याय को लक्ष्य कर यदि विचार किया जावे तो नारकी अन्य है, मनुष्य पर्याय वाला जीव अन्य है, सुर अन्य है, पशु अन्य है। सबके निमित्तभूत कर्म अन्य अन्य हैं तथा सब पर्यायों में अभेदरूप से रहने-वाला जो जीव का स्वभाव है उसकी विवक्षा से विचार किया जावे तो वह अन्यपना अभूतार्थ है।

जैसे समुद्र में जब समीर के संचरण का निमित्त मिलता है तब नाना तरङ्गों की माला उठती है और जब समीर के संचरण का निमित्त नहीं मिलता तब तरङ्गमाला नहीं उठती। इस रूप से कभी तो समुद्र वृद्धिरूप हो जाता है और कभी हानिरूप हो जाता है अर्थात् उसकी नियतावस्था नहीं रहती। इस विवक्षा को लेकर समुद्र में अनियतपना भूतार्थ है और नित्य व्यवस्थित रहनेवाले समुद्रस्वभाव को लेकर विचार किया जावे तो वह अनियतपना अभूतार्थ है। एवं आत्मा की वृद्धि-हानिरूप पर्याय को लेकर विचार किया जावे तो उसमें अनियतपन भूतार्थ है और यदि आत्मस्वभाव को लेकर विचार किया जावे तब आत्मा तो सर्वदैव अखण्ड अविनाशी द्रव्यरूप से विद्यमान है अत: उसमें यह अनियतपन अभूतार्थ है।

जैसे सुवर्ण के स्निग्धपन, पीतपन तथा गुरुपन आदि गुणों को लेकर जब विचार करते हैं तब उसमें जो विशेषपन है वह भूतार्थ है क्योंकि अन्य धातुओं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की अपेक्षा सुवर्ण का स्निग्धपन, पीतपन तथा गुरुपन निराला ही है। परन्तु जिसमें समस्त विशेष अस्त हो गये ऐसे सामान्य सुवर्ण स्वभाव को लेकर जब अनुभव किया जाता है तब वह विशेषपना अभूतार्थ है। ऐसे ही आत्मा के जो ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं उनकी विशेषता से जब विचार किया जाता है तब आत्मा में अन्य द्रव्यों की अपेक्षा विशेषता भूतार्थ है क्योंकि अन्य द्रव्यों में यह विशेषता नहीं पाई जाती। और जिसमें सम्पूर्ण विशेषताओं का अभाव हो गया है ऐसे आत्मा के एकस्वभाव को लेकर यदि विचार करते हैं तो यह विशेषता अभूतार्थ है।

जैसे जल में अग्नि का सम्बन्ध पाकर जब उष्णता हो जाती है तब यदि विचार किया जावे तो उसमें संयुक्तपन सत्यार्थ है और यदि जल के केवल शीतस्वभाव को लेकर विचार किया जावे तो यह संयुक्तपन अभूतार्थ है क्योंकि जल स्वभाव से उष्ण नहीं है, अग्नि के सम्बन्ध से ही उष्णता का लाभ करता है। इसी तरह आत्मा का जब कर्म सहित पर्याय के सम्बन्ध से विचार करते हैं तब उसमें संयुक्तपन भूतार्थ ही है क्योंकि विजातीय द्रव्य के सम्बन्ध को पाकर ही आत्मा और कर्मों का आनादिकाल से संयोग चला आ रहा है, इस स्थिति में आत्मा में जो संयुक्तपन है वह भूतार्थ है। और जब एकान्त से केवल स्वयंबोध स्वरूप जीव के स्वभाव को लेकर विचार किया जाता है तब वह संयुक्तपन अभूतार्थ है। इसी भाव को श्रीअमृतचन्द्र स्वामी निम्न कलशा द्वारा दरशाते हैं—

मालिनीछन्द

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज् -
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्।।११।।

अर्थ– यह जगत् मोहरहित होकर अर्थात् मिथ्यात्व के आवरण को दूरकर सब ओर से प्रकाशमान उसी एक आत्मस्वभाव का अनुभव करे, जिसमें ये बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव तैरते हुए भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ– स्वामी कहते हैं कि ये जो बद्ध, स्पष्ट आदि भाव हैं वे आत्मस्वरूप के साथ मिलकर एकमेक नहीं हो जाते, ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं ऐसा सब ओर विकासरूप जो आत्मस्वभाव है उसी का अनुभव करो। आत्म-स्वभाव जगत् के ऊपर ही रहता है, अनुभव में भी यही आता है कि संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब अपनी-अपनी सत्ता लिये हुए अपने अखण्डरूप से विराजमान हो रहे हैं। एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंश भी अन्य का अन्य में नहीं जाता। यदि एक पदार्थ अन्य रूप हो जावे तो संसार का ही अभाव हो जावे।

इस आत्मा का अनुभव कब और किस जीव को होता है, यह कलश द्वारा स्वामी दिखलाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः।।१२।।

अर्थ– यदि कोई भेदविज्ञानी सुबुद्धि पुरुष भूत, वर्तमान और भविष्यत् ऐसे कालत्रय सम्बन्धी बन्ध को वेग से भेदकर तथा बलपूर्वक मोह को विध्वस्त कर अन्तरङ्ग में अवलोकन करता है तो उसे दिखाई देता है—उसके अनुभव में आता है कि यहाँ एक आत्मानुभव से ही जिसकी महिमा जानी जा सकती है, जो अत्यन्त स्पष्ट है, निरन्तर कर्मकलङ्क रूपी पङ्क से रहित है तथा शाश्वत—अविनाशी है ऐसा आत्मदेव स्थायीरूप से विराजमान हो रहा है।

भावार्थ– परमार्थ से आत्मतत्त्व तो आत्मतत्त्व में ही है, परन्तु हम उसे संसार के बाह्य पदार्थों में अवलोकन करते हैं। जैसे हरिण के अण्डकोश में कस्तूरी है, पर वह संसार में खोजता है, यही भूल है। इसी प्रकार आत्मा तो अपने आप में ही है किन्तु हमारी प्रकृति तीर्थ, मन्दिर तथा पुराण आदि में देखने की हो गई। जब तक बाह्य दृष्टि को त्यागकर आभ्यन्तर नहीं देखा जावेगा तब तक उसकी प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं, असम्भव है।

आगे वही आत्मदेव उपासना करने योग्य है, यह कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात्।।१३।।

अर्थ– शुद्धनय के द्वारा जो आत्मानुभूति होती है वही ज्ञानानुभूति है, ऐसा जानकर आत्मा में ही आत्मा को निश्चलभाव से स्थापित कर अवलोकन करना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिये। ऐसा करने से सब ओर से ज्ञानघन एक आत्मा ही निरन्तर अनुभव में आता है।

भावार्थ– अनादि काल से आत्मा का सम्बन्ध कर्मों के साथ हो रहा है और इसी से नर-नारकादि यावत् पर्याय हैं वे सब असमानजातीय दो द्रव्यों के सम्बन्ध से निष्पन्न हुई हैं, उनमें नाना प्रकार के बद्ध, स्पृष्टत्वादि भाव आत्मा के होते हैं। एक द्रव्य स्वयं बन्ध को प्राप्त नहीं होता, अत: उसमें बद्धत्वभाव मानना सर्वथा असंगत है। इसी प्रकार द्रव्य का जो नानारूप परिणमन दिखता है वह भी पर के सम्बन्ध से है। जैसे केवल परमाणु में नाना प्रकार के परिणमन नहीं हो सकते हैं और जब वही परमाणु स्कन्धरूप हो जाता है तब शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य आदि नाना भेदों को प्राप्त हो जाता है, केवल परमाणु में वे नहीं हैं। इसी तरह केवल आत्मा में नरनारकादि पर्यायें नहीं बन सकतीं, किन्तु मोहादिकर्मों के सम्बन्ध से उसी जीव की अनेक पर्यायें हो जाती हैं। केवल जीव में उन पर्यायों का अस्तित्व नहीं है, परपदार्थ के सम्बन्ध से ही इन नाना प्रकार के परिणमनों का अस्तित्व है।

इन सब परिणमनों का मूल कारण अनादि काल से आत्मा का पर अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मों से सम्बन्ध है। उनका निमित्त पाकर आत्मा में रागादिक परिणाम होते हैं और रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर कार्मणवर्गणाओं का ज्ञानावरणादिरूप परिणमन हो जाता है तथा उनके सम्बन्ध से इस आत्मा का नाना प्रकार के शरीरों के द्वारा चतुर्गति में परिभ्रमण होता रहता है। जिन जीवों को इस परिभ्रमण से बचने की इच्छा है वे इन परपदार्थों के सम्बन्ध से अपने आपको सुरक्षित रखें और स्वकीय आत्मा के उस एकत्व का अनुभव करें जहाँ इन बद्ध-स्पृष्टत्व आदि भावों का अवकाश नहीं। यही उपदेश अमृतचन्द्र स्वामी ने उपर्युक्त कलशों में दिया है—हे जगत् के प्राणिगणो! आप लोग उस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो, जहाँ पर ये बद्ध-स्पृष्टत्व आदि भाव ऊपर-ऊपर ही भासमान हो रहे हैं किन्तु उसके अन्तरङ्ग में प्रतिष्ठा नहीं पाते हैं क्योंकि द्रव्य स्वभाव सर्वदा नित्य है, सब प्रदेशों में प्रकाशमान हो रहा है। आवश्यकता इसकी है कि हम मोहभाव का त्यागकर उसकी ओर देखें। केवल वचनमात्र से साध्यसिद्धि होना असंभव है। जो कोई सम्यग्ज्ञानी कालत्रयसम्बन्धी बन्ध को भेदकर और बलपूर्वक मोह का घात कर अन्तरङ्ग में उस आत्मा को देखता है अर्थात् निरन्तर अभ्यास करता है उसे आत्मानुभव से गम्य महिमावाला, स्पष्ट, नित्य कर्मकलङ्क से विकल शाश्वत देवस्वरूप आत्मा का अवलोकन होता है। द्रव्यदृष्टि से देखा जावे तो आत्मा अपने स्वरूप से अभिन्न और परभाव से भिन्न है। परन्तु अनादिकाल से मोहादिकर्मों के साथ सम्बन्ध होने से नाना प्रकार की योनियों में परिभ्रमण करता हुआ अनेक दु:खों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का पात्र होता है। सो यदि बलपूर्वक मोह का नाशकर अतीत, अनागत और वर्तमान कालीन बन्ध का नाशकर अन्तरङ्ग में उसे देखने का अभ्यास करे तो वहाँआत्मारूपी देव स्वयं शाश्वत विद्यमान है ही। शुद्धनय का विषयभूत जो आत्मा की अनुभूति है, वही ज्ञान की अनुभूति है, इस निश्चय से जानकर आत्मा में आत्मा का निवेश कर सब ओर से एक विज्ञानघन आत्मा है, ऐसा देखना चाहिये। परमार्थ से संसार में जितने द्रव्य हैं वे सब अपने अस्तित्वगुण से भिन्न-भिन्न हैं, किसी द्रव्य का किसी द्रव्य के साथ एकीभाव नहीं होता। विजातीय द्रव्यों की कथा ही क्या करना है जो सजातीय एकलक्षण वाले पुद्गल परमाणु हैं उनका स्निग्ध-रूक्षगुणों के द्वारा बन्ध होकर भी तादात्म्य नहीं होता। वस्तु स्थिति ही ऐसी है, इस व्यवस्था का कोई भी अपलाप नहीं कर सकता, क्योंकि यह अनादि अनन्त है।।१४।।

आगे शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को जो जानता है वह समस्त जिनशासन को जानता है, यह कहते हैं–

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध-पुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
[१]अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।१५।।

अर्थ– जो जीव आत्मा को अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त देखता है वह द्रव्य-भावश्रुतरूप समस्त जिनागम के रहस्य को जानता है।

विशेषार्थ– जो अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावरूप आत्मा की अनुभूति है वह सम्पूर्ण जिनशासन की अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जो ज्ञान की अनुभूति है वही आत्मा की अनुभूति है। वस्तु की मर्यादा तो यह है फिर भी जो अज्ञानी हैं और परज्ञेयों में लुब्ध हैं वे सामान्यरूप से प्रकट तथा विशेषरूप से अप्रकट अनुभव में आनेवाले ज्ञान के स्वाद से वञ्चित रहते हैं अर्थात् ऐसा ज्ञान उन्हें रुचिकर नहीं होता, यही दिखाते हैं—

जैसा नाना प्रकार के व्यञ्जनों के साथ लवण का सम्बन्ध होने से लवण का सामान्य स्वाद तिरोहित हो जाता है। उस समय जो व्यञ्जन के लोभी पुरुष हैं वे शुद्ध लवण के स्वाद से वञ्चित रहते हैं, विशिष्ट स्वाद का अनुभव करते हैं। कोई

---

१. अपदेशसूत्रमध्यम्-अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति । ता०वृ०।

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

कहता सेव नमकीन है, कोई दालमोट को नमकीन कहता है। कहाँ तक कहा जावे, जिस-जिस वस्तु के साथ लवण का सम्बन्ध हुआ है उस-उस वस्तु को नमकीन कहते हैं, और शुद्ध लवण के स्वाद से वञ्चित रहते हैं। यद्यपि जो विशेष रूप से लवण का स्वाद आ रहा है वह स्वाद सामान्य से भिन्न नहीं है, किन्तु जो व्यञ्जनों में लुब्ध हैं वे इस सामान्य स्वाद से अपने को वञ्चित रखते हैं। इसी पद्धति से विचित्र ज्ञेयों के सम्बन्ध से सम्बन्धित जो ज्ञान है उसका घट-पट-मठादि के भेद से अनेकाकार परिणमन हो रहा है। इस काल में जो जीव ज्ञेयों में लुब्ध हैं उन्हें ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का स्वाद नहीं आता, क्योंकि वे ज्ञेयों में लुब्ध हैं। यद्यपि जो विशेषरूप से ज्ञान का अनुभव हो रहा है, उसका सामान्य अनुभव से वास्तविक भेद नहीं है। परन्तु जो ज्ञेयों में लुब्ध हैं उन्हें इसका प्रत्यय नहीं होता है।

वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि जो व्यञ्जन में लुब्ध नहीं हैं उन्हें जैसे अन्य के संयोग से रहित सैन्धव (नमक) की खिल्ली का सब ओर से एक लवणरसपन होने से केवल लवण रूप सें स्वाद आता है। अर्थात् लवण की कंकड़ी का किसी ओर से स्वाद लीजिये, केवल खारेपन का ही स्वाद आता है क्योंकि उसमें द्रव्यान्तर का सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित केवल आत्मा का जो जीव अनुभव करनेवाले हैं उन्हें केवल एक आत्मा का ही आस्वाद आता है क्योंकि उसमें सब ओर विज्ञानघन वही आत्मा है, परपदार्थ का वहाँ अवकाश नहीं। है तो वस्तु ऐसी, परन्तु अज्ञानी मनुष्यों को उसकी स्वच्छता में जो ज्ञेय आते हैं उनकी ही लुब्धता होने से ज्ञेयमिश्रित ज्ञान की अनुभूति होती है। यद्यपि ऐसा होता नहीं, क्योंकि ऐसा नियम है कि न ज्ञान ज्ञेयों में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान में आता है। जब जाता नहीं तब स्वाद कैसा? परन्तु बलिहारी अज्ञान की, जो कल्पना न करे सो थोड़ी है। परपदार्थ में निजत्व कल्पना ही दुःख का मूल कारण है, इसी को पृथक् करने के अर्थ यह सब तत्त्वज्ञान है, उसकी महिमा अपार है।

अब अमृतचन्द्र स्वामी कलश द्वारा भावना प्रकट करते हैं कि वह परम तेज हमारे प्रकट हो—

पृथ्वीछन्द

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्।।१४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जो अखण्डित है अर्थात् ज्ञेयों के आकार से खण्ड-खण्ड नहीं होता है, जिस प्रकार दर्पण में नाना प्रकार के प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी उसकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है, इसी प्रकार समस्त पदार्थों का ज्ञायक होने पर भी जिसकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है, जो अनाकुल है अर्थात् मोहादि कर्मों के विपाक से जायमान रागादि प्रयुक्त नाना प्रकार की आकुलता से रहित है, जो अनन्त है अर्थात् पर के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले क्षायोपशमिकज्ञान का जिसमें अन्त हो जाता है, अथवा पहले परिमित पदार्थों के अवबोध से सान्त व्यपदेश पाता था, अब इन दोनों (क्षयोपशम और परिमितपना) कारणों का अभाव हो जाने से जो अनन्त है, जो अन्तरङ्ग और बाह्य में जाज्वल्यमान है अर्थात् आभ्यन्तर में आत्मा को जानता है और बाह्य में बाह्य पदार्थों का प्रकाशक है, जो सहज है तथा सहज ही जिसका विलास है, जो चेतना की छलक से अतिशय भरा हुआ है, जो अतिशय सुशोभित है और लवणखिल्य की लीला का आचरण करता हुआ जो सदा एकरस का आलम्बन करता है अर्थात् सदा एक ज्ञायकभाव से भरा रहता है वह विज्ञानघन परमतेज हमारे हो।

आगे सिद्धि के अभिलाषी पुरुषों को इसी आत्मा की उपासना करना चाहिये, यह कलश द्वारा कहते हैं—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।।१५।।

अर्थ– जो पुरुष सिद्धि—मोक्ष के अभिलाषी हैं उन्हें इसी ज्ञानघन आत्मा की निरन्तर उपासना करना चाहिये। यह आत्मा यद्यपि साध्य और साधक के भेद से दो प्रकार का है तथापि परमार्थ से एक है।

भावार्थ– आत्मा वास्तव में तो द्रव्यदृष्टि से एक है, परन्तु कर्मजभावों से विशिष्ट जो आत्मा है वह संसारी है और कर्मजभावों से अतीत जो आत्मा है वह मुक्त है, ऐसा उसमें द्विविधपना है। जिन जीवों को काललब्धि आदि निमित्त मिल जाते हैं वे सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर साधनावस्था को प्राप्त हो जाते हैं और वही साधनावस्था वृद्धिंगत होते-होते एकदिन पूर्ण सामग्री को पाकर अभीष्ट साध्यसिद्धि का लाभ कराने में समर्थ हो जाती है।।१५।।

आगे दर्शन, ज्ञान और चारित्र साधक भाव हैं, अतः साध्य की सिद्धि के लिए इनकी उपासना करना चाहिये, यह कहते हैं–

दंसण-णाण-चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।१६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– साधु पुरुषों को निरन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्र सेवन करने योग्य हैं। निश्चय से दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही आत्मा हैं।

विशेषार्थ– जीव की मुक्त अवस्था साध्य है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसके साधन हैं, अतः साधु पुरुषों को इनकी निरन्तर उपासना करना चाहिये। तत्त्वदृष्टि से ये तीनों आत्मा ही हैं, आत्मा से भिन्न नहीं हैं, इसलिये अभेद दशा में आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधन है। यही आचार्य श्रीनेमिचन्द्र ने द्रव्यसंग्रह में कहा है—

सम्मद्दंसण-णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तिय-मइयो णियो अप्पा।।

अर्थ– व्यवहार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों मोक्षमार्ग हैं और निश्चय से इन तीन से तन्मय अपना आत्मा मोक्षमार्ग है, ऐसा जानो।

केवल गुण-गुणी की भेदविवक्षा से आत्मा और ज्ञानादिगुणों में भेदव्यवहार होता है। यदि गुण-गुणी की भेदविवक्षा न की जावे तो कोई भेद नहीं है। द्रव्य और गुण में प्रदेश-भेद नहीं, किन्तु लक्षणादि भेद है। यही श्री समन्तभद्र स्वामी ने देवागम में कहा है—

द्रव्य-पर्यययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ।।७१।।
संज्ञा-संख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः ।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ।।७२।।

अर्थ– अर्थात् प्रदेश भेदाभाव होने से द्रव्य और पर्याय में एकता है तथा परिणामविशेष, शक्तिमान् और शक्तिभाव, संज्ञाविशेष, संख्याविशेष, स्वलक्षण-विशेष तथा प्रयोजनादि के भेद से उनमें नानापन है, सर्वथा नानापन नहीं है।

जिस भाव से आत्मा साध्य और साधनरूप से विद्यमान है उसी भाव के द्वारा नित्य ही उपासना करने योग्य है, ऐसा जब आपको निश्चय हो जाता है तब व्यवहार से अन्य को यह जीव प्रतिपादन करता है कि साधु पुरुष के द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही नित्य उपासना करने योग्य हैं। परमार्थ से ये तीनों ही आत्मा हैं अतः इनकी उपासना से आत्मा की उपासना हो जाती है क्योंकि इनसे भिन्न आत्मा अन्य कोई वस्तु नहीं है। जैसे देवदत्त नामक किसी पुरुषा का ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र देवदत्त से भिन्न नहीं हैं, देवदत्त ही हैं, क्योंकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव हैं और देवदत्त स्वभाववान् है। तथा स्वभाव स्वभाववान् पदार्थ से पृथक्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है तो क्या वह उष्ण स्वभाव अग्नि से भिन्न है? नहीं। इसी तरह देवदत्त का ज्ञान-श्रद्धानचारित्ररूप जो स्वभाव है वह क्या देवदत्त से भिन्न है? नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का जो ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र है, वह आत्मा से पृथक् नहीं है क्योंकि जो स्वभाव हैं वह स्वभाववान् का अतिक्रमण नहीं करता। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों आत्मा के स्वभाव हैं, अत: आत्मा का अतिक्रमण कर अन्यत्र रहने को असमर्थ हैं, अतएव ये आत्मा ही हैं, भिन्न वस्तु नहीं हैं। इससे यह स्वयमेव आ गया कि आत्मा ही उपासना करने योग्य है, यही भाव अमृतचन्द्र स्वामी कलशकाव्यों के द्वारा प्रकट करते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वत: स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणत:।।१६।।

अर्थ– गुण-गुणी की भेदविवक्षा से दर्शन-ज्ञान-चारित्रगुणों के द्वारा आत्मा में तीनपन है, परन्तु स्वयं द्रव्यदृष्टि से एक है। इसीसे नयदृष्टि से यदि विचार किया जावे तो आत्मा नाना भी है और एक भी है और प्रमाणदृष्टि से विचार किया जावे तो एक ही काल में एकानेक, मेचकामेचक आदि नाना विरुद्धशक्तियों का पिण्ड है।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभि: परिणतत्वत: ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक: ।।१७।।

अर्थ– आत्मा द्रव्यदृष्टि से एक होता हुआ भी दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनरूप परिणमन के द्वारा व्यवहार से नानारूप का अवलम्बन करता है। जैसे मनुष्य एक होकर भी बाल, युवा, वृद्ध अवस्थाओं के भेद से नाना व्यवहार को प्राप्त होता है। ऐसे ही आत्मा एक होकर भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्ररूपणा से नानापन के व्यवहार का भागी होता है।

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैकक: ।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचक: ।।१८।।

अर्थ– परमार्थ दृष्टि से विचार किया जावे तो व्यक्त ज्ञातापनरूप ज्योति से आत्मा एक ही है क्योंकि उसका ज्ञातृत्वस्वभाव अन्य सभी भावों को ध्वस्त करने वाला है अर्थात् ज्ञायकभाव को छोड़कर अन्य भावों को अपने में आश्रय नहीं देता। इस तरह आत्मा अमेचक—एकरूप है।

यहाँ अन्य भावों को अपने में आश्रय नहीं देता, इसका यह तात्पर्य नहीं कि अस्तित्वादि जो भाव अन्य पदार्थों में हैं उन्हें भी आश्रय नहीं देता। यह नहीं है, क्योंकि सामान्य गुण तो सब पदार्थों में एकरूप से रहते हैं, वे पदार्थों की भिन्नता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के नियामक नहीं है। जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि। किन्तु जो असाधारण गुण हैं वही पदार्थों की भिन्नता के नियामक हैं। इसीसे आचार्यों का कहना है कि पदार्थ अपने स्वरूप से सत्स्वरूप होकर भी पदार्थान्तर की अपेक्षा से असत्स्वरूप हैं अथवा अन्यापोहरूप हैं। इसीसे पदार्थ अमेचक भी है और मेचक भी है।

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा।।१९।।

अर्थ– आत्मसम्बन्धी जो मेचक और अमेचक की चिन्ता है उसे छोड़ो। दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणों के द्वारा ही आत्मस्वरूप साध्य की सिद्धि है और कोई भी उपायान्तर आत्मा की सिद्धि में प्रयोजक नहीं है।

इसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण की जबतक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप परिणति रहती है तबतक आत्मा इस संसार में भ्रमण करता है और नाना प्रकार के दुःखों का पात्र होता है। ऐसे दुःख, जिनका निरूपण करना अशक्य है, किन्तु विचार से प्रत्येक को उन दुःखों की अप्रशस्तता का ज्ञान हो सकता है। इन दुःखों से बचने का उपाय आचार्यों ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही को बतलाया है। और जितने भी व्यापार हैं वे इसी रत्नत्रय की प्राप्ति के अर्थ हैं। यदि इस रत्नत्रयी का लाभ नहीं हुआ तो व्रत, तपश्चरण आदि का जितना प्रयास है सब जल विलोवने के सदृश है। अतः जिन्हें इन संसार-सम्बन्धी यातनाओं से भय है उन्हें सब प्रकार के पुरुषार्थ से इस रत्नत्रयी-कण्ठिका को अपने हृदय का हार बनाना चाहिये।।१६।।

आगे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि मोक्ष की सिद्धि आत्मा की उपासना से ही हो सकती है–

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।१७।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणु चरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।१८।।

(जुअलं)

अर्थ– जैसे धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करता है, तदनन्तर प्रयत्न द्वारा उसके अनुकूल आचरण करता है, ऐसे ही मोक्ष की कामना रखनेवाले पुरुष को जीवरूपी राजा को जानना चाहिये, तदन्तर उसकी श्रद्धा करना चाहिये और तत्पश्चात् उसी के अनुकूल आचरण करना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– लोक में ऐसा देखा जाता है कि जिसे धन की आकांक्षा होती है वह पुरुष जिसके यहाँ से धन का लाभ होगा उस पुरुष को जानता है, उसकी श्रद्धा करता है तथा उसके अनुकूल आचरण करता है। न तो जानने से ही धन मिलता है और न केवल श्रद्धा ही धन के लाभ में निमित्त है किन्तु श्रद्धान, ज्ञान और अनुकूल प्रवृत्ति ये तीनों ही धन के लाभ में कारण हैं। इसी तरह जिन्हें मोक्ष की कामना है उन्हें पहले ही जीव नामक पदार्थ को जानना चाहिये, उसकी श्रद्धा करनी चाहिये और फिर उसके अनुकूल आचरण करना चाहिये, यही उपाय मोक्षलाभ का है, साध्यकी सिद्धि का यही उपाय है, अन्य उपाय नहीं है। जैसे वह्नि के सत्त्व में ही धूम हो सकता है अन्यथा—वह्नि के अभाव में—धूम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा नियम है कि कारण के सद्भाव में ही कार्य हो सकता है, कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। ऐसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सद्भाव में ही मोक्ष हो सकता है, अन्यथा नहीं, यही दिखाते हैं—

जैसे आत्मा का अनुभूयमान अनेक भावों का संकर होने पर भी परमभेदज्ञान की कुशलता द्वारा 'यह मैं हूँ' ऐसी अनुभूति रूप जब ज्ञान होता है तब उस आत्मज्ञान के साथ 'ऐसा ही है' ऐसा श्रद्धान होता है, उस समय अन्य समस्त भावों से रहित होकर अपने आप में निःशङ्कभाव से स्थित रहा जा सकता है, इसलिये उसी में लीनतारूप चर्या होती है। इन तीनों की जब एकता होती है तब साध्यसिद्धि होती है और जब आबाल-गोपाल सभी को सभी काल स्वयं ही जिसका अनुभव हो रहा है ऐसे अनुभूतिस्वरूप भगवान् आत्मा के विषय में अनादिबन्ध के वश से परपदार्थों के साथ एकपन के अध्यवसाय से विमुग्ध पुरुष को 'यह मैं हूँ' ऐसी अनुभूति रूप आत्मज्ञान नहीं होता, आत्मज्ञान के अभाव में जिस प्रकार विना जाने हुए गधे के सींग की श्रद्धा नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा की श्रद्धा नहीं होती और श्रद्धा के अभाव में अन्य समस्त भावों का भेद न होने से निःशङ्क आत्मा में स्थित नहीं रहा जा सकता, इसलिये आत्मा में चर्या भी नहीं होती। इस प्रकार श्रद्धान, ज्ञान और चर्या के अभाव में आत्मा की सिद्धि होना असम्भव है, क्योंकि आत्मा के मोक्ष का साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। जब उनका अभाव है तब मोक्ष का होना कैसे संभव हो सकता है?

यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी निम्न कलश के द्वारा दरशाते हैं—

मालिनीछन्द

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं

न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः।।२०।।

अर्थ– जो तीन रूपता को प्राप्त होकर भी एक रूपता से च्युत नहीं है, जो सदा उदयरूप है, स्वच्छ है तथा अनन्त-अविनाशी चैतन्य ही जिसका लक्षण है ऐसी इस आत्मज्योति का हम सदाकाल अनुभव करते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से साध्यसिद्धि नहीं हो सकती।

भावार्थ– यद्यपि भेददृष्टि से आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणों के द्वारा त्रित्व को प्राप्त हो रहा है—तीन रूप अनुभव में आ रहा है तथापि अभेददृष्टि से वह एक रूप ही है। यह आत्मा यद्यपि अनादिकालीन उपाधि से मलिन दिख रहा है तो भी स्वभाव से मलिन नहीं है, उपाधि के पृथक् होने पर स्वच्छ ही है ऐसे अनन्त चैतन्यलक्षण से शोभित आत्मा के अनुभव से ही मोक्षरूपी साध्य की सिद्धि होती है।

यहाँ शङ्काकार का कहना है कि जब आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है तब आत्मा ज्ञान की उपासना तो नित्य करता ही है, फिर उसे ज्ञान की उपासना का उपदेश किस लिये दिया जाता है? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि ज्ञान का तादाम्य होने पर भी यह आत्मा क्षण भर के लिये भी ज्ञान की उपासना नहीं करता है। जैसे हरिण के अण्डकोष में कस्तूरी होने पर भी वह उसके लिये भटकता फिरता है। ऐसे ही हमारी आत्मा में ज्ञान का तादात्म्य होने पर भी हम एक क्षण मात्र भी उसकी उपासना नहीं करते—उसकी ओर लक्ष्य नहीं देते और मात्र निमित्तकारणों की उपासनाकर काल को पूर्ण कर देते हैं। आत्मा का ज्ञान की ओर लक्ष्य तो तब जाता है जब वह काललब्धि के मिलने पर स्वयंबुद्ध हो जावे या कोई उसे उपदेश देकर प्रबुद्ध करे। तब क्या कारण के पहले आत्मा अज्ञानी है? हाँ, नियम से अज्ञानी है क्योंकि वह निरन्तर अप्रतिबुद्ध है।

आचार्य आगे यह आत्मा अप्रतिबुद्ध कब तक रहता है, यह कहते हैं –

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।

जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।१९।।

अर्थ– जब तक ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिक भावकर्म और शरीरादिक नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और 'ये कर्म, नोकर्म मेरे हैं' ऐसी बुद्धि रहती है तब तक निश्चय से यह जीव अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– जैसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि भावों में तथा पृथुबुध्नोदरादि के आकार परिणत पुद्गलस्कन्धों में 'यह घट है' और 'घट में स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादिभाव तथा पृथुबुध्नोदरादि के आकार परिणत यह पुद्गल स्कन्ध हैं' इस प्रकार अभेदबुद्धि होती है अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि भाव तथा पृथुबुध्नोदरादि के आकार परिणत पुद्गल स्कन्ध घट से भिन्न नहीं है और इनसे भिन्न घट नहीं है, ऐसी अभेदरूप बुद्धि होती है। वैसे ही ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिरूप अन्तरङ्ग भावकर्म तथा शरीरादिक बहिरङ्ग पदार्थरूप नोकर्म, जो कि आत्मा का तिरस्कार करने वाले हैं और पुद्गल के परिणाम हैं, इनमें 'मैं आत्मा हूँ' अथवा 'आत्मा में ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, मोहादिरूप अन्तरङ्ग भावकर्म तथा शरीरादिक बहिरङ्ग पदार्थरूप नोकर्म हैं', इस प्रकार की अभेदानुभूति जब तक रहती है तब तक अप्रतिबुद्ध है— अज्ञानी है। अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की सत्ता मानना यही तो मिथ्याज्ञान है।

आत्मा तो ज्ञाता-द्रष्टा है, उसमें मोहादिद्रव्यकर्म के उदय से वैभाविकशक्ति के कारण रागादिक होते हैं, जो कि विकृतभाव हैं, आत्म के निज के भाव नहीं हैं, निमित्त से उत्पन्न होते हैं तथा विनाशी हैं, उन्हें आत्मा के निज भाव मान लेना मिथ्याज्ञान का ही कार्य है। जब ये रागादिक निज भाव नहीं है तब उनमें निमित्तभूत जो मोहादिक कर्म हैं वे आत्मा के कैसे हो सकते हैं? उनसे आत्मा सर्वथा भिन्न है, क्योंकि मोहादिककर्म पुद्गलद्रव्य के पर्याय हैं। और नोकर्म रूप शरीर से तो आत्मा भिन्न ही है, इन्हें आत्म मानना स्पष्ट मिथ्याज्ञान है। ये सब भाव आत्मा को नाना प्रकार के दुखों का पात्र बना रहे हैं। इस प्रकार जब तक पर में आत्मानुभूति है तब तक यह जीव अज्ञानी ही है।

अब आचार्य दृष्टान्त द्वारा इसके पृथक् होने की पद्धति समझाते हैं, जिससे यह प्रतिबुद्ध बन सकता है। जैसे दर्पण रूपी पदार्थ है उसमें पुद्गलों का ऐसा परिणमन है कि वह स्व और पर का अवभास कराता है, इसीसे कहते हैं कि दर्पण में ऐसी स्वच्छता है जो स्वपर के अवभासन कराने में समर्थ है। जब दर्पण में अग्नि का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब उसमें अग्नि झलकती है, इसका यह अर्थ नहीं कि दर्पण में अग्नि का प्रवेश हो गया। अन्यथा दर्पण में उष्णता और ज्वाला का भी सद्भाव होना चाहिये,सो तो है नहीं। तब दर्पण की स्वच्छता का ही विकार है जो अग्नि के सदृश प्रतीत होता है। उष्णता और ज्वाला अग्नि में ही है। उसी प्रकार नीरूप आत्मा में स्वपर का अवभासन करानेवाली ज्ञातृता है और पुद्गलद्रव्य में कर्म-नोकर्म हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञाताद्रव्य है। उसके अन्दर एक ज्ञानशक्ति ऐसी है जिसके द्वारा वह स्वरूप और पररूप को जानता है। जिस समय आत्मा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का ज्ञान पदार्थों के जानने में उपयोग लगाता है उस समय ज्ञान की ऐसी स्वच्छता रहती है कि ज्ञेय उसमें भासमान होने लगता है। यद्यपि जो ज्ञेय भासमान हो रहा है वह ज्ञान का ही परिणमन है, ज्ञेय का नहीं, परन्तु ज्ञेय के सदृश है, अत: उसे ज्ञेयाकार कहते हैं, कुछ वह ज्ञान ज्ञेयाकार नहीं है; ज्ञान तो जैसा है वैसा ही है। यह आकार-व्यवहार भी केवल रूपगुण की मुख्यता से होता है। जब रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान होता है तब कौन-सा आकार होता है? अनादिकाल से आत्मा में मोहादिभावों का उदय होने से हमारी ऐसी विपरीत बुद्धि हो रही है कि यह ज्ञेय आत्मा में प्रविष्ट हो गये। जैसे जिस समय हम दर्पण में मुख देखते हैं तब ऐसा भान होता है कि दर्पण में मुख है इत्यादि।

जब अपने आप या परके निमित्त से भेदविज्ञानमूलक अनुभूति की उत्पत्ति होती है तब यह बोध होता है कि यह कर्म और नोकर्म पुद्गल के हैं, हमारी आत्मा में ज्ञातृता है—जानने की शक्ति है। इसलिये दर्पण में अग्नि के सदृश वे आत्मा में भासमान होते हैं-कुछ आत्मा के नहीं हैं। जब ऐसी अनुभूति होती है तभी आत्मा प्रतिबोध को प्राप्त हो जाता है- प्रबुद्ध कहलाने लगता है। जब तक आत्मा यह जानता है कि मैं कर्म और नोकर्म में हूँ तथा कर्म और नोकर्म मुझमें है तब तक यह अज्ञानीशब्द से कहा जाता है। जैसे कोई सीप को चाँदी मान लेवे तो उसे लोक में मिथ्याज्ञानी कहते हैं और जिस समय यह ज्ञान हो जाय कि यह चाँदी नहीं है, सीप है, उसी समय उसका अज्ञान हट जाने से वह ज्ञानी हो जाता है—इसी तरह जिस समय कर्म-नोकर्म में आत्मा नहीं है, ऐसा ज्ञान होने लगता है उसी समय मिथ्याज्ञान के अभाव से आत्मा ज्ञानी हो जाता है। अत: हमें प्रयास करना चाहिये, जिससे कर्म-नोकर्म में अहंबुद्धि न हो।

इसी भाव को श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशा के द्वारा दर्शाते हैं—

मालिनीछन्द

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा: सन्ततं स्युस्त एव।।२१।।

अर्थ– जो पुरुष स्वयमेव अथवा अन्य के उपदेश से किसी प्रकार भेदविज्ञानमूलक निश्चल आत्मानुभूति को प्राप्त कर लेते हैं वे पुरुष अपने आत्मा में अनन्तपदार्थों के प्रतिविम्बित होने पर भी दर्पण के समान निर्विकार ही रहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ दर्पण का उल्लेख केवल 'उसमें प्रतिभासित होते हैं' इस अंश को लेकर ही है, अन्यथा वह तो जड़ है, उसमें मोह का सद्भाव ही नहीं है। किन्तु आत्मा अनादिकाल से मोही हो रहा है। परपदार्थ में जो मोह है उसका हेतु अनादि से आत्मा में लगा हुआ मिथ्याभाव है।

आगे अज्ञानी आत्मा किस प्रकार जाना जाता है, यही दिखाते हैं–

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ।।२०।।
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि ।
होहिदि पुणो वि मज्झं एयस्स अहं पि होस्सामि ।।२१।।
एयं तु असंभूदं आद-वियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ।।२२।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– 'मैं यह हूँ' अर्थात् मैं परद्रव्यरूप हूँ, 'यह मैं हूँ' अर्थात् परद्रव्य मुझरूप है, 'मैं इसका हूँ' अर्थात् परद्रव्य मेरा स्वामी है, 'यह मेरा है' अर्थात् मैं परद्रव्य का स्वामी हूँ, 'यह पहले मेरा था', 'मैं भी पहले इसका था', 'यह फिर भी मेरा होगा' और 'मैं फिर इसका होऊँगा' इन मिथ्या आत्म-विकल्पों को अज्ञानी जीव करता है और ज्ञानी जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानता हुआ उन विकल्पों को नहीं करता है।

विशेषार्थ– इस लोक में यह देखा जाता है कि जिनकी बुद्धि भ्रान्त रहती है वे ही परवस्तु को अपना मानने की चेष्टा करते हैं और जो विवेकी हैं वे कदापि परवस्तु को नहीं अपनाते। यही दृष्टान्त द्वारा बताते हैं––

जैसे अग्नि और ईंधन को एक स्थान में देख कोई पुरुष यह कल्पना करता है कि जो अग्नि है सो ईंधन है अथवा ईंधन है सो अग्नि है, अथवा अग्नि का ईंधन है या ईंधन का अग्नि है, अथवा अतीतकाल में भी अग्नि का ईंधन था अथवा ईंधन का अग्नि था। जैसा अतीतकाल में विकल्प करता है वैसा ही भविष्यकाल में भी यह विकल्प करता है कि अग्नि का ईंधन होगा, ईंधन का अग्नि होगा, इस प्रकार ईंधन में असद्भूत अग्नि की सत्ता और अग्नि में असद्भूत ईंधन की सत्ता मानने वाला अज्ञानी है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीवों के ज्ञान में नहीं देखा जाता है। इसी तरह आत्मा और पर को एक समझने वाला अज्ञानी जीव भी कल्पना करता है कि मैं यह हूँ, और यह जो परपदार्थ है सो मुझरूप है, अथवा मेरे यह पदार्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं अथवा मैं इन परपदार्थों का हूँ, यह तो वर्तमान काल का विकल्प है। इसी तरह अतीतकाल सम्बन्धी भी विकल्प करता है। अर्थात् अतीतकाल में मेरे यह परपदार्थ थे और मैं इन परपदार्थों का था। इसी तरह आगामी काल का भी विकल्प करता है अर्थात् मेरे यह सब पदार्थ होंगे अथवा मैं इन सब पदार्थों का होऊँगा, इस तरह परद्रव्य में आत्मा को माननेवाला और आत्मा में परद्रव्य को मानने वाला अज्ञानी है।

अब यहाँ वस्तुस्वरूप का विचार करते हैं—अग्नि जो है वह ईंधन नहीं है क्योंकि अग्निपर्याय अन्य है और ईंधनपर्याय अन्य है। अग्नि, अग्नि ही है और ईंधन, ईंधन ही है। इनका परस्पर में घट-पट की तरह भेद है। इसी तरह अग्नि का ईंधन नहीं है और ईंधन का अग्नि नहीं है। अग्नि का ही अग्नि है और ईंधन का ही ईंधन है। इसी तरह अतीतकाल में भी अग्नि का ईंधन नहीं था और ईंधन अग्नि का नहीं था, अग्नि का ही अग्नि था और ईंधन का ही ईंधन था। इसी प्रकार जो आनेवाला भविष्यकाल है उसमें भी अग्नि का ही अग्नि होगा तथा ईंधन का ही ईंधन होगा। इस तरह जिस प्रकार किसी ज्ञानी जीव के अग्नि में अग्नि और ईंधन में ईंधन का सद्भूत विकल्प होता है और उसके कारण वह प्रतिबुद्ध—ज्ञानी कहलाता है। इसी प्रकार किसी ज्ञानी जीव के मैं यह नहीं हूँ, यह परवस्तु मुझरूप नहीं है, ये परपदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं इन परपदार्थों का नहीं हूँ, अतीतकाल में ये परपदार्थ मेरे नहीं थे, मैं इन परपदार्थों का नहीं था और आगामी काल में भी ये परपदार्थ मेरे नहीं होंगे तथा मैं इन परपदार्थों का नहीं होऊँगा, इस प्रकार के सद्भूत विकल्प होते हैं तथा इनके कारण आत्मा को आत्मा और पर को पर जानता हुआ वह प्रतिबुद्ध—सम्यग्ज्ञानी कहलाता है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव ही संसार के बन्धनों से छूटने का पात्र होता है। परद्रव्य में आत्मा की कल्पना करना ही तो मिथ्याज्ञानी का लक्षण है। जैसे रज्जु में सर्प को मानने वाला मिथ्याज्ञानी है और उस मिथ्याज्ञानजन्य दु:खों का भोक्ता है। इसी प्रकार शरीर में आत्मा मानने वाला मिथ्याज्ञानी है और उसका फल जो अनन्त संसार है उसका यह भोक्ता होता है। पर में आत्मबुद्धि कराने वाला मोहकर्म है। उसके दो भेद हैं—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से यह जीव स्वरूप को भूलकर परको आत्मरूप और आत्मा को पररूप मानने लगता है तथा चारित्रमोह के उदय से पर को आत्मा का और आत्मा को पर का मानने लगता है। ये अहंकार और ममकार दोनों ही विकारी भाव हैं। इनके रहते हुये जीव अज्ञानी कहलाता है और इनके निकल जानेपर ज्ञानी कहा जाता है।

श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा उन विकारीभावों के जनक मोह को दूर करने का उपदेश देते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मालिनीछन्द

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्।।२२।।

अर्थ– हे जगत्! हे संसार के प्राणियों! आजन्म से व्याप्त जो मोह है उसे अब तो त्यागो और मोक्षमार्ग के रसिकजनों को रोचक तथा उदय को प्राप्त जो ज्ञान है उसका रसास्वाद करने में उद्यत होओ। इस लोक में किसी प्रकार किसी काल में आत्मा अनात्मा के साथ एक होकर तादात्म्यभाव को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ– परमार्थदृष्टि से आत्मा परद्रव्य के साथ किसी क्षेत्र व किसी काल में एकपन को प्राप्त नहीं होता है, इससे आचार्य महाराज का कहना है कि तुम्हारा इन परपदार्थों के साथ जो एकपन का मोह है, उसे त्यागों और अपना जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है उसका अनुभव करो। मोह मिथ्या है क्योंकि नश्वर है। इसी मोह के निमित्त से समस्त कर्मों का बन्ध होता है और उसी के उदय में यह जीव कर्मजन्यपर्यायों को अपनी सम्पत्ति मानता है। मोह का अभाव होनेपर यह जीव कर्मोदय से जायमान किसी भी पर्याय का स्वामी नहीं बनता, उनसे सतत उदासीन रहता है। यही कारण है कि षट्खण्ड का अधिपति इस उदयजन्य विभूति का स्वामी नहीं बनता। उदयाधीन इनका भोग करता हुआ भी अन्त में सबका त्यागकर दैगम्बरी दीक्षा का आलम्बन कर निज पद का लाभ लेता है।

आगे उसी अप्रतिबुद्धि जीव को समझाने के लिए आचार्य उपाय कहते हैं –

अण्णाण-मोहिद-मदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहु-भाव-संजुत्तो ।।२३।।
सव्वण्हु-णाण-दिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वी-भूदो जं भणसि मज्झमिणं ।।२४।।
जदि सो पुग्गलदव्वी-भूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सत्तो वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ।।२५।।

अर्थ– जिसकी बुद्धि अज्ञान से मोहित है तथा जो रागद्वेषादि बहुत भावों से सहित है, ऐसा जीव कहता है कि यह शरीरादि बद्ध और धनधान्यादिक अबद्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गलद्रव्य मेरा है, परन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान में देखा गया और निरन्तर उपयोगलक्षण से युक्त जो जीव है वह पुद्गलद्रव्य कैसे हो सकता है जिसे तू कहता है कि यह मेरा है। यदि जीव पुद्गलद्रव्य रूप हो जावे और पुद्गलद्रव्य जीवपन को प्राप्त हो जावे तो ऐसा कहा जा सकता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है (परन्तु ऐसा नहीं है)।

विशेषार्थ– संसार में जितने द्रव्य हैं सब स्वकीय-स्वकीय चतुष्टय द्वारा निरन्तर परिणमन कर रहे हैं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ तादात्म्य नहीं होता, किन्तु एकक्षेत्रावगाह होने से भ्रमवश दिखाई देता है कि एक हैं। अन्य की कथा तो दूर रही, पुद्गलद्रव्य जितनी संख्या द्वारा भगवान् के ज्ञान में आया है उनमें एक परमाणु भी अन्य परमाणु के साथ तादात्म्य से नहीं मिलता, फिर जीव और पुद्गल का मिलना तो दूर ही है।

ऐसा देखा जाता है कि स्फटिकमणि अति स्वच्छ है, परन्तु जब उसके साथ रक्त, हरित, पीत आदि नाना रंगविशिष्ट जपापुष्प, कदली, काञ्चन आदि पदार्थों का संयोग हो जाता है तब उन पदार्थों के संयोगरूप उपाधि से स्फटिकमणि की जो स्वच्छता है वह तिरोहित हो जाती है। उसके स्वाभाविक स्वच्छ भाव के तिरोहित होने से स्फटिकमणि लाल, हरा, पीले रंग का दिखता है। इसी तरह आत्मद्रव्य स्वाभाव से ज्ञायक है, स्वच्छ है, परन्तु अनादिकालीन मोहकर्म के अवान्तर भेद— मोह, राग, द्वेष के उदय होने पर मोह, राग, द्वेषरूप उपाधि के द्वारा उसकी जो स्वच्छता है वह तिरोहित हो जाती है। उसके तिरोहित हो जाने से विवेक-ज्योति के अस्तंगत होनेपर महान् अज्ञान के द्वारा विमोहित हृदयवाला जीव भेद को न कर यह जो औपाधिक मोह-राग-द्वेष भाव हैं उन्हें स्वीकृत करता हुआ ऐसा मानता है कि यह जो पुद्गलद्रव्य है वह मेरा है, ऐसा ही वह निरन्तर अनुभव करता है।

जिस व्यक्ति ने यह नहीं जाना है कि स्फटिकमणि में जपापुष्पादिक परद्रव्य के सम्बन्ध से यह रक्त, हरति, पीत रंग भासमान हो रहे हैं वह मनुष्य स्फटिक को ही लाल, हरा और पीला मानता है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। जब कामलारोग हो जाता है तब शङ्ख पीला भासमान होता है और जब दूरत्वादि दोष से रसरी में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है तब रसरी में सर्पज्ञान असंभव नहीं।

यद्यपि स्फटिकमणि स्वभाव से न तो लाल है, न पीला है, न हरा है, यह सब प्रतीति औपाधिकी है, स्वभाव से तो वह स्वच्छ ही है। इसी तरह आत्मद्रव्य में जब मोहादि कर्मों का विपाककाल आता है तब मोह-राग-द्वेष की उपाधि से वह मोही है, रागी है, द्वेषी है ऐसा प्रतीत होने लगता है। यह कथन द्रव्यदृष्टि है। यदि वर्तमान पर्याय की दृष्टि से देखा जावे तो उस काल में आत्मा रागी भी है, मोही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी है और द्वेषी भी है, क्योंकि वैसा अनुभव में आता है। प्रवचनसार में भी कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वयं कहा है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो।।८।।
जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हु परिणामसब्भावो।।९।।

अर्थ– द्रव्य जिस काल में जिसरूप परिणमन करता है उस काल में वह तन्मय हो जाता है, ऐसा कहा गया है। इसीलिये धर्मरूप परिणत आत्मा धर्म है, ऐसा मानना चाहिये। जीव जिस समय शुभ अथवा अशुभ रूप परिणमन करता है उस समय वह शुभ तथा अशुभ कहा जाता है और जिस समय शुद्धरूप परिणमता है उस समय शुद्ध होता है।

जिस काल में आत्मा के साथ औपाधिक भावों का सम्बन्ध होता है उस काल में आत्मा के जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण हैं वे मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमन करने से मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र शब्दों से कहे जाते हैं और आत्मा के अनन्त संसार के कारण होते हैं। परन्तु जब भेदज्ञान का उदय होता है तब सब स्वांग विलय हो जाता है। जब तक भेदज्ञान का उदय नहीं हुआ तभीतक जीव इस पुद्गलद्रव्य को निज ही अनुभव करता है। इसी अज्ञानी जीव को आचार्य प्रतिबोधन कराते हैं।

रे आत्मघाती! हाथी की तरह जो तुम्हारा ज्ञेयमिश्रित ज्ञान के भक्षण करने का स्वभाव है उसे तुम त्यागो। हाथी का ऐसा स्वभाव होता है कि वह सुन्दर भोजन और घासादि पदार्थों को एकमेक कर खाता है। इसी तरह यह आत्मा अनादि काल से मोह के वशीभूत होकर परपदार्थों के साथ ज्ञान का स्वाद लेता है। वास्तव में परपदार्थ ज्ञान में नहीं आता है परन्तु अज्ञानी जीव की दशा ऐसी ही हो रही है कि वह ज्ञान में ज्ञेय को संपृक्त कर ही उसका अनुभव करता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि जिसने संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को दूर हटा दिया है ऐसे सर्वज्ञ भगवान् के सर्वदर्शी ज्ञान ने जीव को नित्योपयोगरूप लक्षण वाला कहा है। वह यदि जडात्मक पुद्गलद्रव्यरूप हो जाता तो 'पुद्गलद्रव्य मेरा है' ऐसा तुम्हारा अनुभव ठीक होता। सो तो है नहीं। यदि किसी प्रकार पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जावे और जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य रूप हो जावे तो लवण के उदक की तरह 'पुद्गलद्रव्य मेरा है' ऐसा तुम्हारा अनुभव यथार्थ हो जावे, सो तो किसी क्षेत्र और काल में ऐसा होना ही असंभव है। अर्थात् यह कभी नहीं हो सकता कि जीवद्रव्य पुद्गलरूप हो जावे और पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जावे। जैसे खारापन लक्षण से युक्त लवण उदकरूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो जाता है—पानी बन जाता है और तरलरूप लक्षण से युक्त उदक लवण बन जाता है। क्योंकि खारापन और तरलपन इन दोनों के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। सांभर झील का जो जल है वह लवणरूप हो जाता है और वही लवण वर्षा का निमित्त पाकर जलरूप हो जाता है। परन्तु नित्योपयोग लक्षण वाला जीवद्रव्य कभी पुद्गलद्रव्य रूप नहीं होता और निरन्तर अनुपयोग लक्षण वाला पुद्गलद्रव्य कभी जीवद्रव्य रूप नहीं होता, क्योंकि उपयोग और अनुपयोग का प्रकाश और अन्धकार के समान एक साथ रहने में विरोध है। इसलिये जीव का पुद्गल रूप और पुद्गल का जीवरूप परिणमन नहीं हो सकता, अतएव पुद्गलद्रव्य मेरा है, यह अनुभव सर्वथा असंभव है। जब ऐसा है तब हे चेतन! जो चैतन्यद्रव्य है वही मेरा है, ऐसा अनुभव करना तुम्हें योग्य है।

अनादिकाल से मोह के द्वारा निजात्मद्रव्य का ज्ञान न होने से परको अपना मानने का जीव का अभ्यास बन रहा है। इसी अभ्यास के बल से शरीर को अपना मानता है तथा शरीर के सम्बन्धी जो-जो हैं उन्हें अपने मानकर निरन्तर उनके रखने की चेष्टा में तन्मय रहता है। आचार्य समझाते हैं—भाई! देख, श्रीसर्वज्ञ भगवान् ने जीवद्रव्य को ज्ञानस्वरूप कहा है और पुद्गलद्रव्य को जड़ कहा है। ये दोनों पूर्व-पश्चिम दिशा की तरह अत्यन्त भिन्न हैं अत: यह जो तेरा परपदार्थ को अपना मानने का अज्ञान है उसे छोड़ और अपना जो चेतनस्वरूप है उसका अनुभव कर, इसी में तेरा कल्याण है।

श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा शरीर से एकत्वभाव के छोड़ने का उपदेश देते हैं—

मालिनीछन्द

अयि! कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।।२३।।

अर्थ– हे भाई! तू किसी प्रकार महान् कष्ट से मरणपर्यन्त का भी कष्ट उठाना पड़े तो उठाकर तत्त्वों का कौतूहली होता हुआ शरीर का एक मुहूर्त पर्यन्त पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर, जिससे पृथक् विलसते हुए अपने आप का अवलोकन कर तू शीघ्र ही शरीर के साथ एकपन के मोह को छोड़ सके।

भावार्थ– यह आत्मा अनादिकाल से शरीर को अपना मानता आ रहा है। यदि दैवयोग से इसका आसन्न संस्कार रह जावे तो परसे भिन्न आत्मा को जानकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि बनता है। तदनन्तर चारित्रमोह के क्षयोपशम से मुनिव्रत अङ्गीकार कर श्रेणी के सम्मुख होता क्रम-क्रम से चारित्रमोह की प्रकृतियों का क्षय करता हुआ दशम गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का भी अन्त करता है तथा क्षीणमोह दशा को प्राप्त हो अन्तर्मुहूर्त्त में ज्ञानावरणादि कर्मों का निर्मूलन कर केवलज्ञान का पात्र हो जाता है। पश्चात् आयु के अवसान में मोक्ष का पात्र होता है।

आगे अप्रतिबुद्ध जीव फिर कहता है कि शरीर ही आत्मा है क्योंकि शरीर से भिन्न आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता, यही दिखाते हैं–

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरिय-संथुदी चेव।

सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।।२६।।

अर्थ– यदि शरीर जीव नहीं है तो तीर्थंकरों की आचार्यों द्वारा की गयी यह जो स्तुति है वह सब मिथ्या हो जावे, इससे शरीर ही आत्मा है।

विशेषार्थ– शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है, इस पक्ष का प्रतिपादन करता हुआ अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी जीव कहता है कि यदि पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर जीव नहीं है तो तीर्थंकर भगवान् की आचार्यों ने जो यह स्तुति की है वह असंगत हो जावेगी।।२६।।

स्तुति में आचार्यों ने कहा है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयो: साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वरा: सूरय:।।२४।।

अर्थ– जो कान्ति के द्वारा मानो दशों दिशाओं को स्नपन करा रहे हैं, जो अपने तेज के द्वारा उत्कट तेजस्वी सूर्य आदि के भी तेज को रोक देते हैं, जो अपने सुन्दर रूप के द्वारा निखिल प्राणियों के मन को अपहृत कर लेते हैं, जो दिव्यध्वनि के द्वारा कानों में साक्षात् अमृतवर्षा करते हुए सुख उपजाते हैं तथा जो एक हजार आठ लक्षणों के धारक हैं वे तीर्थंकर आचार्य वन्दना करने योग्य हैं।

भावार्थ– इस स्तुति में जिन कान्ति, तेज, रूप, दिव्यध्वनि तथा अष्टोत्तर सहस्र लक्षणों की महिमा गाई गई है वे सब शरीर के ही अङ्ग हैं। अत: शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है, ऐसा अप्रतिबुद्ध शिष्य ने अपना पूर्वपक्ष रखा है।।२४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे आचार्य महाराज इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं–

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ।।२७।।

अर्थ– व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं परन्तु निश्चयनय का कहना है कि जीव और शरीर कभी एक नहीं हो सकते।

विशेषार्थ– लोक में उपचार अथवा प्रयोजन देखकर व्यवहार की प्रवृत्ति होती है। जैसे लड़के को तेज:स्वभाव देखकर उसको लोक कहने लगता है— 'माणवकोऽग्नि:'— यह बच्चा अग्नि है। यहाँ क्या बालक अग्नि है? नहीं, किन्तु अग्नि के सदृश तेजस्वी देखकर यह व्यवहार होता है। अथवा यह भी व्यवहार होता है—'चन्द्रमुखी भार्या', तो क्या सचमुच ही भार्या चन्द्रमुखी है? नहीं, किन्तु आह्लादकारित्व धर्म की समानता देख यह व्यवहार जैसे होता है वैसे ही शरीर के साथ आत्मा का एकक्षेत्रावगाह होने से शरीर को आत्मा कहने का व्यवहार होता है। जिस प्रकार प्रतिदिन मन्दिर में मूर्ति के दर्शन करते समय हम यह व्यवहार करते हैं कि इस मूर्ति से तो वीतरागता टपक रही है। यद्यपि वीतरागता आत्मा की परिणति का नाम है सो वह तो हममें उत्पन्न हो रही है। पर मूर्ति उसका निमित्त है, अत: उसका मूर्ति में उपचार करते हैं। इसी प्रकार शरीर में आत्मा का व्यवहार है। व्यवहारनय का कहना है कि जीव और शरीर एक हैं। परन्तु निश्चयनय का कहना है कि ये दोनों एकार्थ नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं।

जैसे इस लोक में चाँदी और सोने को गलाने से एक पिण्ड हो जाता है और उसमें एकत्व का व्यवहार होने लगता है वैसे ही आत्मा और शरीर इन दोनों के एक क्षेत्र में स्थित होने से दोनों की जो अवस्थाएँ हैं यद्यपि वे भिन्न-भिन्न हैं तथापि उनमें एकपन का व्यवहार होने लगता है। निश्चय से ये दोनों एक नहीं हैं क्योंकि आत्मा उपयोगस्वभाव वाला है और शरीर अनुपयोग स्वभाव वाला है। इन दोनों में पीत-पाण्डुरत्व स्वभाव वाले सुवर्ण और चाँदी की तरह अत्यन्त भिन्नपन होने से एकार्थपन नहीं है, नानापन ही है, यह नयविभाग कहता है। अत: व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन द्वारा आत्मा का स्तवन उपपन्न होता है। शरीर को ही आत्मा माननेवाले अप्रतिबुद्ध शिष्य से आचार्य कहते हैं—भाई! तू इस नयविभाग से अनभिज्ञ है, नयविभाग को समझ, तो तेरी शरीर और आत्मा में एकत्वबुद्धि दूर हो जावेगी।।२७।।

यही बात आचार्य अगली गाथा में दिखाते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुग्रा वंदिदो मए केवली भयवं ।।२८।।

अर्थ– जीव से भिन्न इस पुद्गलमय शरीर की स्तुति कर मुनि मानता है कि मेरे द्वारा केवली भगवान् स्तुत किये गये हैं अर्थात् मैंने केवली भगवान् की स्तुति की है, वन्दना की है।

विशेषार्थ– जैसे रजत और सुवर्ण पृथक्-पृथक् पुद्गल हैं, रजत में पाण्डुरपन (श्वेतपन) रहता है और सुवर्ण में पीलापन। दोनों ही अपने-अपने लक्षणों से भिन्न-भिन्न सत्तावाले हैं। परन्तु जब दोनों गलकर एक पिण्ड हो जाते हैं तब ऐसा व्यवहार होता है कि सुवर्ण पाण्डुर रंग वाला है, वास्तव में सुवर्ण पाण्डुर रंगवाला नहीं है, केवल चाँदी के साथ सम्बन्ध होने से ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह शरीर के धर्म शुक्ल-लोहितादि हैं, उनके स्तवन करने से परमार्थतया शुक्ल-लोहितादि गुणों से रहित तीर्थंकर केवली भगवान् का स्तवन नहीं होता, किन्तु अनन्तज्ञानादि गुणों के द्वारा ही उनका स्तवन होता है। अत: निश्चयनय का कहना है कि शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन अनुपपन्न ही है।

अब यहाँ यदि कोई यह आशङ्का करे कि जो शरीर की स्तुति की, वह व्यर्थ है? सो नहीं, उसका यह तात्पर्य है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, निश्चय की दृष्टि से असत्यार्थ है। छद्मस्थ अल्पज्ञानी को आत्मा का साक्षात् बोध नहीं होता, अत: शरीर की सोम्यता देख वे आत्मा के वीतरागभावों का अनुमान करते हैं। जैसे हमें क्षुधारोग नहीं दिखता, परन्तु जब उदर खाली हो जाता है तब हमें भोजनविषयक इच्छा होती है और भोजन करने के अनन्तर वह इच्छा शान्त हो जाती है, अत: हमें क्षुधा-निवृत्ति का अनुमान होता है। ऐसे ही शरीर की सौम्य आकृति से शान्त भावों का-और विषम आकृति से क्रोधादि भावों का अनुमान होता है। अत: निचली अवस्था में व्यवहारनय परमार्थ का ज्ञायक होने से कार्यकारी है। वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होने के अनन्तर उसकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे कोई मनुष्य समुद्र के उस पार जाने के लिये नौका पर आरूढ़ हुआ, उसका जबतक वह तीरपर नहीं पहुँचा है तबतक नौका पर आरूढ होना कार्यकारी है, अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाने के पश्चात् उसकी आवश्यकता नहीं रहती, अत: निश्चयनय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं हो सकता।।२८।।

यही दिखाते हैं–

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ।।२९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– वह शरीर का स्तवन निश्चय से ठीक नहीं है क्योंकि जो शरीर के गुण हैं वे केवली भगवान् के गुण नहीं हैं। जो केवली भगवान के गुणों का स्तवन करता है वही पुरुष परमार्थ से केवली प्रभु का स्तवन करता है।

विशेषार्थ– जैसे चाँदी का जो पाण्डुरपन गुण है वह सुवर्ण में नहीं है, अतः चाँदी के पाण्डुरपन गुण के कथन से सुवर्ण का कथन नहीं हो सकता। सुवर्ण का जो गुण है उसी के कथन से सुवर्ण का कथन हो सकता है अर्थात् सुवर्ण पीत रंगवाला है ऐसा कथन ही सुवर्ण का जतानेवाला है। ऐसे ही शरीर के गुण शुक्ललोहितादि के कथन से तीर्थंकर केवली भगवान् का कथन नहीं हो सकता, क्योंकि यह गुण तीर्थंकर भगवान् के नहीं हैं, उनके गुण तो सर्वज्ञता तथा वीतरागता आदि हैं, उन्हीं के स्तवन से निश्चय से तीर्थंकर केवली का स्तवन होता है।।२९।।

अब यहाँ पर आशङ्का होती है कि शरीर के स्तवन करने से शरीर के अधिष्ठाता जो तीर्थंकर भगवान् हैं उनकी स्तुति क्यों नहीं होती? उसी का उत्तर देते हैं–

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ।।३०।।

अर्थ– जिस प्रकार नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन किया हुआ नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के गुणों का स्तवन करने से केवली भगवान् के गुणों का स्तवन नहीं होता है।

विशेषार्थ– नगर अन्य वस्तु है और राजा अन्य है, नगर के जो विशेषण हैं वे सब राजा में नहीं पाये जाते हैं। नगर का वर्णन इस प्रकार है—

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम्।।२५।।

अर्थ– जिसने अपने प्रकार से आकाश को कवलित कर लिया है और बाग-बगीचों के समूह से जिसने पृथिवी तल को व्याप्त कर रखा है ऐसा यह नगर परिखा के चक्र से ऐसा जान पड़ता है मानो पाताल को ही पी रहा हो।

इस प्रकार नगर का वर्णन होने पर भी नगर के अधिष्ठाता राजा का वर्णन नहीं होता, क्योंकि उसमें प्राकार, उद्यानराजी और परिखावलय का अभाव है।

अब तीर्थंकर के शरीर का स्तवन देखिए—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति।।२६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जो नित्य है अर्थात् जिसमें कभी ह्रास नहीं होता, जिसमें समस्त अङ्ग निर्विकार भाव से अच्छी तरह स्थित हैं, जिसका स्वाभाविक सौन्दर्य अपूर्व है तथा क्षोभरहित समुद्र के समान जान पड़ता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उत्कृष्ट रूप जयवंत है।।२६।।

इस प्रकार शरीर का स्तवन करने पर भी उसके अधिष्ठाता तीर्थंकर भगवान् का स्तवन नहीं होता, क्योंकि उनकी आत्मा में लावण्य आदि शरीर के गुणों का अभाव है।।३०।।

तब निश्चय से स्तुति का क्या स्वरूप है? यही दिखाते हैं–उसमें सर्वप्रथम ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करते हुए निश्चयस्तुति को बतलाते हैं–

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ।।३१।।

अर्थ– जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव से अधिक (असाधारण) आत्मा को जानता है निश्चयनय में स्थित साधु उसे जितेन्द्रिय कहते हैं।

विशेषार्थ– आत्मा यद्यपि अनादि अनन्त, चैतन्यस्वरूप, अमूर्त्तित्व आदि गुणों का पिण्ड है तथापि अनादिकाल से ही उसके साथ पौद्गलिक मूर्त्त कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है। यहाँ यह तर्क नहीं करना चाहिये कि अमूर्त्त आत्मा के साथ मूर्त्त कर्मों का सम्बन्ध कैसे हो गया? क्योंकि जिस प्रकार अमूर्त्त ज्ञान में रूपादि मूर्त्त पदार्थ भासमान होते हैं उसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप बन्ध होने में कोई बाधा नहीं है। यहाँ कोई फिर यह शङ्का करे कि अमूर्त्त ज्ञान में रूपादिक भासमान ही तो होते हैं कुछ रूपादिक का उसमें प्रवेश तो नहीं हुआ। जैसे दर्पण में मयूर का प्रतिबिम्ब दिखता है किन्तु दर्पण में मयूर नहीं चला गया? इस शङ्का का उत्तर यह है कि इसी तरह आत्मा का मूर्त्तिक पुद्गल कर्मों के साथ तादात्म्य नहीं हो जाता, किन्तु मात्र एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध रहता है और इसका कारण भी विभावनाम की शक्ति है जो कि जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्यों में है। अत: मूर्त्तिक के साथ अमूर्त्तिक आत्मा का बन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं। दूसरी बात यह है कि निश्चय से आत्मा के साथ मूर्त्त कर्मों का सम्बन्ध है ही कहाँ? क्योंकि निश्चयनय तो कहता है कि आत्मा अबद्धस्पृष्ट है उसका कर्मों के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? हाँ, व्यवहारनय से आत्मा का कर्मों के साथ निमित्तनैमित्तिक अथवा एकक्षेत्रावगाह रूप बन्ध स्वीकृत किया जाता है। सो व्यवहारनय से आत्मा भी मूर्त्तिक कहा गया है। अत: मूर्त्तिक का मूर्त्तिक के साथ सम्बन्ध होने में क्या बाधा है?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा होने से जिस प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से है उसी प्रकार नोकर्मरूप शरीर का भी सम्बन्ध अनादि से है। उसी शरीर की अवयवभूत इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—एक द्रव्येन्द्रिय, जो कि पुद्गल की रचनाविशेष हैं, और दूसरी भावेन्द्रिय, जो कि ज्ञानविशेषरूप हैं। इन्द्रियों के विषय रूपादिक हैं। इन तीनों को अर्थात् द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा इन इन्द्रियों के विषय रूपादिक पदार्थों को जो मुनि विजित कर लेता है अर्थात् इनसे भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है वह ही जितेन्द्रिय है।

उनके जीतने का प्रकार इस रीति से है—ये जो द्रव्येन्द्रियाँ हैं सो अनादि बन्धपर्याय की आधीनता द्वारा समस्त स्व और पर के विभाग को नष्ट करनेवाली हैं अर्थात् अनादिकाल से आत्मा के साथ जो पुद्गल का सम्बन्ध हो रहा है उसके वश से इनमें आत्मा और पर का विभाग ज्ञान नहीं हो पाता है तथा ये शरीरपरिणाम को प्राप्त करनेवाली हैं अर्थात् शरीर के साथ एकमेक हो रही हैं। निर्मल भेदज्ञान के अभ्यास की कुशलता से जायमान तथा अन्तरङ्ग में देदीप्यमान अति सूक्ष्म चित्स्वभाव के आलम्बन से बल से इन द्रव्येन्द्रियों से भिन्न जो निज आत्मा को जानना है यही उनका जीतना है।

यद्यपि विषय अखण्ड है और आत्मा का स्वरूप भी अखण्ड है परन्तु कर्ममलीमस आत्मा इन्हें युगपत् स्वतंत्ररूप से नहीं जान सकता है। अत: भावेन्द्रियों के द्वारा खण्डश: पदार्थों को जानता है अर्थात् भावेन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिविशिष्ट विषय को खण्डश: आकर्षण करनेवाली हैं। जैसे पुद्गल तो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण वाला है परन्तु उसे चक्षुरिन्द्रिय केवल रूपमुख से ग्रहण करती है, घ्राणेन्द्रिय गन्धमुख से ग्रहण करती है, रसनेन्द्रिय रसमुख से ग्रहण करती है और स्पर्शनेद्रिय स्पर्शमुख से ग्रहण करती है। स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप के समुदायरूप पुद्गल को समग्र रूप से एक साथ ग्रहण करने की शक्ति भावेन्द्रियों में नहीं है। इन भावेन्द्रियों से प्रतीयमान अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा अपने आत्मा का जो जानना है वही इन भावेन्द्रियों का जीतना है।

इसी प्रकार भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में आने वाले जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हैं वे ग्राह्यग्राहक लक्षण सम्बन्ध प्रत्यासत्ति के वश से ऐसे प्रतीत होते हैं मानों ये ज्ञान ही हैं अर्थात् ये स्पर्शादि ज्ञान में आने से ज्ञान के समान भासमान होते हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान भिन्न पदार्थ है और ज्ञेय भिन्न पदार्थ हैं। उन्हें चेतनाशक्ति के स्वयं अनुभव में आनेवाले असंगपन से आत्मा से पृथक् अनुभव करना चाहिए अर्थात् चेतनाशक्ति का जो विकास है उसमें चेतना का ही परिणमन भासमान हो रहा है, अपने में प्रतिफलित ज्ञेयों से चेतना सदा असंगत—निर्लिप्त ही रहती है। ऐसी चेतनाशक्ति की महिमा से स्पर्शादि से भिन्न अपने आत्मस्वरूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का जो अवबोध है, यही उनका जीतना है।

जब आत्मा इन द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा भावेन्द्रियों के विषयभूत रूपादिकों से अपने आपको भिन्न जान लेता है तब इन्द्रियजन्य ज्ञान और उनके विषयभूत रूपादिक पदार्थों में जो ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष आता है वह स्वयं दूर हो जाता है तथा उसके दूर होने से आत्मा अपने टङ्कोत्कीर्ण एकपन में स्वयं स्थित हो जाता है। जैसे टाँकी के द्वारा पत्थर में उत्कीर्ण आकार स्थित रहता है ऐसे ही आत्मा भी अपने एकपन में स्थित हो जाता है।

इस प्रकार जो समस्त विश्व को जानकर भी उसके ऊपर तैर रहा है, प्रत्यक्ष उद्योतरूप होने से जो अन्तरङ्ग में निरन्तर प्रकाशमान रहता है, अनपायी—अनश्वर है, स्वतः सिद्ध है और परमार्थसत् है ऐसे भगवान् ज्ञानस्वभाव के द्वारा जो आत्मा को अन्य समस्त द्रव्यों से पृथक् जानता है वह जितेन्द्रिय जिन है, यह एक निश्चय-स्तुति है।।३१।।

अब भाव्यभावक संकरदोष का परिहार करते हुए दूसरी निश्चय-स्तुति कहते हैं–

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ।।३२।।

अर्थ– जो मुनि मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से अधिक अपने आत्मा को जानता है उस मुनि को परमार्थ के जाननेवाले 'जितमोह' कहते हैं।

विशेषार्थ– आत्मा के साथ मोहकर्म सन्ततिरूप से अनादि से है, जब उसका उदय काल आता है तब आत्मा में मोह, राग, द्वेषभाव रूप परिणति होती है। दर्शनमोह के उदय में मिथ्यात्व और चारित्रमोह के उदय में रागादिक होते हैं और आत्मा उन्हीं परिणामों के अनुकूल उस काल में अपनी प्रवृत्ति करता है। इस तरह फल देने में समर्थ होने से मोह भावक है और तदनुरूप परिणति करने से आत्मा भाव्य है। जब जीव को तत्वविचार के द्वारा अपने स्वरूप का अवबोध होता है तब वह बलपूर्वक मोह को तिरस्कृत कर अपने आत्मा को उससे पृथक् कर लेता है। उसी समय जो भाव्यभावक संकरदोष था उसका अभाव हो जाता है। उसका अभाव होने पर आत्मा टङ्कोत्कीर्ण रूप से अपने एकत्व में स्थित हो जाता है।

इस प्रकार एकत्वस्वभाव में स्थित आत्मा को जो समस्त विश्व के ऊपर तैरने वाले, प्रत्यक्ष उद्योतरूप होने से अन्तरङ्ग में निरन्तर प्रकाशमान, अनपायी, स्वतः सिद्ध और परमार्थसत् भगवान् ज्ञानस्वभाव के द्वारा द्रव्यान्तर के स्वभाव से होने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाले समस्त अन्यभावों से परमार्थतया भिन्न अनुभव करता है वही निश्चय कर जितमोह जिन है यह द्वितीय निश्चय-स्तुति है।

इस प्रकार जो आत्मा मोह के उदय से आत्मा में होनेवाले रागादिक भावों को भेदज्ञान के बल से औपाधिक जान उनसे अपने आत्मा को पृथक् करने का अभ्यास करता है तथा इसी के लिए श्रेणी बढ़ाने की चेष्टा करता है वह दशम गुणस्थान के अन्त में मोह का क्षयकर क्षीणमोह हो जाता है।

यहाँ गाथा में जिस प्रकार मोह को लेकर व्याख्या की गयी है उसी प्रकार मोहपद को बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन इन सोलह की व्याख्या करना चाहिये।।३२।।

आगे भाव्यभावकभाव का अभाव होने पर आत्मा की जो अवस्था होती है उसका वर्णन करते हुए तृतीय निश्चयस्तुति कहते हैं–

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।३३।।

अर्थ– मोह को जीतनेवाले उस साधु का मोह जब क्षीण हो जाता है अर्थात् सत्ता से नष्ट हो जाता है तब निश्चय के जाननेवाले महापुरुषों के द्वारा वह क्षीणमोह कहा जाता है।

विशेषार्थ– यहाँ पर निश्चय से पूर्वप्रक्रिया के द्वारा जो आत्मा, अपने आत्मा के मोह को तिरस्कृतकर प्रकट हुए ज्ञानस्वभाव से युक्त आत्मा का अनुभव करता हुआ जितमोह होता है वही स्वभावभाव की भावना की कुशलता के बल से जब मोह की सन्तति का इस तरह अत्यन्त नाश करता है कि जिस तरह वह फिर उत्पन्न न हो सके, तब उसका मोह क्षीण हो चुकता है अर्थात् सत्ता से पृथक् हो जाता है और वह भाव्यभावकभाव का अभाव होने से एकत्वभाव में स्थित होता हुआ टङ्कोत्कीर्ण परमात्म अवस्था को प्राप्त होकर क्षीणमोह जिन कहलाने लगता है। इस प्रकार तृतीय निश्चयस्तुति जानना चाहिये।

इसी प्रकार मोहपद को बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह सूत्रों की व्याख्या करना चाहिये?

पहले सामान्यरूप से उद्यम था अर्थात् मोहादिप्रकृतियों के उपशम करने का प्रयास था और अब एकदम नाश कर क्षीणमोह होने का लक्ष्य है। इसी तरह और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी ज्ञान लेना चाहिये। व्यवहारनय से शरीर और आत्मा में एकपन कहा जाता है। निश्चय से आत्मा और शरीर एक नहीं हैं, अत: शरीर का स्तवन करने से ही आत्मा का स्तवन नहीं हो सकता, किन्तु निश्चय से आत्मा का स्तवन करने से ही आत्मा का स्तवन हो सकता है। अत: आत्म और शरीर भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। इस विवेचन से, जो यह शङ्का की गयी थी कि शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन होता है उसका निरास हो जाता है।।३३।।

यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा में प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुन: कायात्मनोर्निश्चया-

न्नु: स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुष: स्तुत्या न तत्तत्त्वत:।

स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-

न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयो: ।।२७।।

अर्थ– शरीर और आत्मा में एकपन व्यवहार से है, निश्चय से नहीं, अत: शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति व्यवहार से है, निश्चय से नहीं। निश्चय से तो आत्मा की स्तुति आत्मा की स्तुति से ही हो सकती है। इस तरह तीर्थंकर की स्तुति विषयक प्रश्न का जो उत्तर दिया था उसके बल से आत्मा और शरीर में एकपन सिद्ध नहीं किया जा सकता।।२७।।

मालिनीछन्द

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां

नयविभजनयुक्त्यात्यन्तपुच्छादितायाम् ।

अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य

स्वरसरभसकृष्ट: प्रस्फुटन्नेक एव।।२८।।

अर्थ– इस तरह तत्त्व के अभ्यासी मुनियों के द्वारा नयविभाग की योजना से जब आत्मा और शरीर की एकता का बिलकुल निराकरण कर दिया गया, तब स्वरस के वेग से खिंचकर एक स्वरूप प्रकट हुआ किसका ज्ञान, ज्ञान में अवतीर्ण नहीं होता? अर्थात् किसका ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं होता?

ज्ञान के साथ अनादि काल से मोहजन्य विकारों का मिश्रितपना चला आ रहा है उसी के प्रभाव से यह जीव पदार्थों को जानकर उनमें इष्टानिष्ट का विकल्प करता है, इस विकल्प के कारण उसका ज्ञान ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। परन्तु जब मोह नष्ट हो जाता है तब उसके उदय में जायमान विकल्प कहाँ रहेंगे? इस तरह विकल्प के अभाव में ज्ञान ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ निश्चय और व्यवहारनय के कथन द्वारा आत्मा और शरीर का भेद दिखाया गया है। जो पुरुष इस भेद को जानता है उसी ने स्वरसको शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और उसी का बोध वास्तविक बोध है।।२८।।

इस तरह यह जीव अनादि मोहसंतान के कारण संजात आत्मा और शरीर के एकत्व संस्कार से यद्यपि अप्रतिबुद्ध रहता है तो भी दृढ़ प्रयास के कारण इसके तत्त्वज्ञान रूपी ज्योति प्रकट हो जाने पर उस नैत्रविकारी के समान जिसके कि नेत्र का फूला दूर हो गया है, शीघ्र ही प्रतिबुद्ध हो जाता है और साक्षात् द्रष्टा अपने आपको अपने आप ही जानकर, उसी की श्रद्धा कर उसी का आचरण करना चाहता है अर्थात् उसी में लीन होना चाहता है, ऐसा जीव आचार्य महाराज से पूछता है कि हे भगवन् ! स्वात्माराम अर्थात् अपने आप में ही लीन रहनेवाले पुरुष को अन्यद्रव्यों का प्रत्याख्यान करना पड़ता है, सो वह प्रत्याख्यान क्या वस्तु है?

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य आगे प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं–

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं।।३४।।

अर्थ– जिस कारण सब भाव पर हैं, ऐसा जानकर साधु उनका त्याग करता है, इस कारण ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ऐसा नियम से जानना चाहिये।

विशेषार्थ– जिस कारण से यह भगवान् ज्ञाता आत्मद्रव्य, अन्य परद्रव्य के स्वभाव से होनेवाले सम्पूर्ण भावों को परत्वरूप से जानकर त्यागता है, क्योंकि वे सम्पूर्ण परभाव अपने स्वभाव से व्याप्त नहीं हैं। इसीलिये जो पहले जानता है वही पश्चात् उन्हें त्यागता है, क्योंकि जो ही आत्मा जाननेवाला है वही आत्मा त्याग करनेवाला है, अन्य त्याग करनेवाला नहीं है, इस प्रकार आत्मा में निश्चय करके प्रत्याख्यान के समय प्रत्याख्येय पदार्थ—त्यागने योग्य पदार्थ रूप उपाधि से प्रवृत्ति में आया जो (व्यवहार से) कर्तापने का व्यपदेश है उसके होने पर भी परमार्थ से अव्यपदेश्य ज्ञानस्वभाव से च्युत न होने के कारण ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ– वास्तव में ज्ञान ज्ञेय को जानता है, न तो उसे ग्रहण करता है और न उसे त्यागता है, त्याग ग्रहणपूर्वक होता है। किन्तु अनादिकाल से एक ऐसी मोह की उपाधि इस आत्मद्रव्य से लगी हुई है कि जिसके सम्बन्ध से यह परद्रव्य को अपना मानता है और जब तक मानता है तभी तक अनन्त संसार की यातनाओं को सहता हुआ चतुर्गति का पात्र होता है। जब काललब्धि आदि निमित्त मिलते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं तब विभ्रम के मूल मिथ्यात्व के जाने पर अपने को जानता है। उस काल में पर के ग्रहण का विकल्प ही नहीं होता, ज्ञान का परिणमन जानने मात्र रह जाता है। उसमें रागादि द्वारा जो इष्टानिष्ट कल्पनाओं का उदय होता था वह स्वयमेव शान्त हो जाता है। उस समय ज्ञाता ज्ञाता ही रह जाता है, त्याग और ग्रहण का विकल्प करानेवाला जो था वह सत्ता में ही नहीं रहा, विकल्प कहाँ से हो? अत: आचार्यों का कहना है कि परमार्थ से अपने स्वरूप से च्युत न होनेवाले ज्ञान का ही नाम प्रत्याख्यान है।।३४।।

अब ज्ञाता के प्रत्याख्यान में कौन-सा दृष्टान्त है, यही दिखाते हैं–

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ।।३५।।

अर्थ– जिस प्रकार कोई पुरुष यह परद्रव्य है, ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त परभावों को 'ये पर हैं' ऐसा जानकर छोड़ देता है।

विशेषार्थ– उक्त अर्थ को आचार्य दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। जैसे कोई मनुष्य धोबी से पराया वस्त्र लाकर तथा अपना समझ उस वस्त्र को ओढ़कर सो गया, क्योंकि उसे यह ज्ञान नहीं था कि यह पराया वस्त्र है। अब जिसका वस्त्र था वह धोबी से स्वकीय वस्त्र माँगने लगा। धोबी ने कहा- आपका वस्त्र अमुक के घर भूल से चला गया। इस बात को सुनकर वह शीघ्र ही जिसने अज्ञान से अपना मानकर व्यवहार में लिया था उसके घर आया और बलपूर्वक वस्त्र के अञ्चल को पकड़ कर ओढ़ने वाले को उघाड़ दिया और कहा कि भाई! यह वस्त्र भूल से आप बदल लाये हो, अत: शीघ्र ही हमारा वस्त्र हमको सौंप दो। इस प्रकार का वाक्य श्रवणकर उसने सम्यक् रीति से परीक्षा कर यह निश्चय कर लिया कि यथार्थ में यह पराया है, तब शीघ्र ही उस वस्त्र को लौटा दिया। ऐसे ही ज्ञाता भी सम्भ्रान्ति से परकीय भावों को ग्रहण कर तथा उन्हें आत्मीय जानकर आत्मा में उन भावों का अभ्यास कर सो जाता है। अज्ञान के वशीभूत होकर उन्हें परकीय नहीं जानता। अतएव बेसुध सोते हुए की तरह कालयापन करता है। जब भाग्योदय से श्री निर्ग्रन्थ गुरु का समागम होता है तब वे गुरु समझाते हैं—भाई! तुम तो ज्ञान-दर्शन के पिण्ड हो,एक हो, यह जो भाव हैं वे परनिमित्तक हैं, वास्तव में तुम्हारे नहीं हैं, विकारजन्य हैं तथा विकारी हैं, ऐसा शीघ्र ही प्रतिबोध कराते हैं, निश्चयकर आत्मा एक है, इस प्रकार बार-बार आगमवाक्यों को श्रवण करता हुआ आत्मा सम्पूर्ण चिह्नों से उन भावों की परीक्षा कर यह निश्चय कर लेता है कि ये जो औपाधिक भाव हैं वे पर हैं, क्योंकि परनिमित्त से जायमान हैं। इस प्रकर जानकर शीघ्र ही सम्पूर्ण विभाव-भावों को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्याग देता है। जब तक अज्ञान से यह आत्मा परवस्तु को अपनी जानता है तभी तक उसे अपनी मानता है और उसे ग्रहण किये रहता है। जिस समय यह ज्ञान हो जाता है कि यह तो परकीय वस्तु है तब त्यागने में विलम्ब नहीं करता है।

इस तरह यह आत्मा अनादि मोह के वशीभूत होकर अज्ञानी हो रहा है और उसी अज्ञान से परनिमित्त से जायमान रागादिक विभावों को स्वकीय मान रहा हैं जब श्रीगुरु के निमित्त से मोह का अभाव होने पर स्वकीय स्वरूप का ज्ञानी हो जाता है तब झटिति उन परभावों को त्याग देता है।।३५।।

यही बात अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

अवतरति न यावत् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव।।२९।।

अर्थ– अनवम—जिनसे अवम—बुरे दूसरे नहीं ऐसे—परभावों के त्याग के लिए दिये दृष्टान्त पर दृष्टि अत्यन्त वेग से जबतक प्रवृत्ति को प्राप्त नहीं होती तब तक अन्य समस्त भावों से रहित यह अनुभूति शीघ्र ही स्वयं प्रकट हो जाती है।

भावार्थ– आचार्य महाराज ने परपदार्थों के त्याग का जो दृष्टान्त दिया है उस पर दृष्टि शीघ्र ही जब तक स्थिर हो उससे पहले ही समस्त परभावों से रहित स्वानुभूति तत्काल प्रकट हो जाती है अर्थात् पर को पर जानते ही उसके त्याग में विलम्ब नहीं लगता। यहाँ परभाव के त्याग का जो दृष्टान्त है उसका यह आशय है कि जब आत्मा ने जान लिया कि ये परभाव हैं तब उनमें जो ममत्वभाव था उसका एकदम अभाव हो जाता है। यदि किसी सम्यक्त्वी के चारित्रमोह का उदय हो, तो वह उनमें उदासीन हो जाता है—आसक्त नहीं रहता। परको पर जानने से ही चक्रवर्ती ९६००० स्त्रियों और षट्खण्ड भरत क्षेत्र का आधिपत्य होते हुए भी उस विभव से जल में कमलपत्र की तरह अलिप्त रहते हैं, कर्दम में पड़ा हुआ सुवर्ण कर्दम के लेप से रहित ही रहता है। बालक का दुग्धादि द्वारा पोषण करती हुई भी धाय अन्तरङ्ग से उसे अपना नहीं समझती और माता दुग्धादि द्वारा पोषण न करती हुई भी अपना समझती है। इससे यह सिद्धान्त आया कि सम्यग्ज्ञान के होनेपर परपदार्थ में ममत्वभाव का अभाव हो जाता है।।२९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान किस प्रकार होता है, यह आशङ्काकर उसका समाधान करते हैं। भेदज्ञान के दो रूप हैं–एक तो अपने आत्मा को रागादिक से भिन्न जानना और दूसरा ज्ञेय पदार्थों से भिन्न जानना। इनमें से पहले भावकमोह के द्वारा हुए जो भाव्यभाव हैं, उनसे भिन्न होने का प्रकार दिखाते हैं–

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोह-णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ।।३६।।

अर्थ– मोह मेरा कोई भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगरूप ही हूँ, ऐसा जो जानता है, आगम के ज्ञाता उसे मोह से निर्ममत्व जानते हैं।

विशेषार्थ– मोह चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ, कोई भी मेरा नहीं है, अकेला केवल उपयोग स्वरूप हूँ, ऐसा जो जानता है समय के जाननेवाले उसे मोह से निर्मम कहते हैं। अर्थात् जो आत्मा ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप तो ज्ञानादि उपयोगरूप है, जो ये रागादिक औपाधिक भाव होते हैं वे मेरे लक्षण—स्वरूप नहीं हैं, नैमित्तिक विभाव भाव हैं, निमित्त का अभाव होने पर इनका विलय देखने में आता है, उस आत्मा को आत्मा और परके जाननेवाले तत्त्वज्ञानी जीव मोह से निर्ममता वाला कहते हैं।

मैं सत्यार्थ रूप से ऐसा जानता हूँ कि यह जो मोह है वह मेरा कुछ भी नहीं है। जब तक मोहकर्म सत्ता में रहता है तब तक तो आत्मा कुछ भी विकार भाव करने को समर्थ नहीं होता, किन्तु जब उसका विपाककाल आता है तब आत्मा में भाव्यभाव—रागादिक होते हैं और उन भावों के उत्पन्न होने में इसकी विपाक अवस्था निमित्तभूत है। इसी फलदान की समर्थता से जब यह उदय में आता है तब आत्मा में जो रागादिक उत्पन्न होते हैं वह इसी के द्वारा होते हैं। अतः उन भावों का उत्पादक यह मोहनीय पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म ही है, यही भावक कहलाता है। आत्मा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव वाला है। अतः परमार्थ से विचार किया जावे तो यह भाव आत्मा का स्वभावजन्य नहीं है। इसीलिये श्रीगुरु का कहना है कि पुद्गलद्रव्यात्मक मोहकर्म जिसका उत्पादक है ऐसा मोह मेरा कुछ भी नहीं है क्योंकि परमार्थ से परभाव के द्वारा पर नहीं हो सकता है। ज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करता है—जिसकी प्रतापरूप संपदा स्वयं ही विश्व के समस्त पदार्थों के प्रकाश करने में चतुर है तथा निरन्तर विकासरूप है, ऐसे चैतन्यशक्तिरूप स्वभाव के द्वारा भगवान् आत्मा का ही अवबोध होता है। मैं एक चैतन्यस्वभाव वाला हूँ परन्तु समस्त द्रव्यों का जो परस्पर साधारण एकक्षेत्रावगाह हो रहा है उसकी अनिवार्यता—निवारण किये जाने की असमर्थता—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से परस्परमज्जित अवस्था भी हो रही है अर्थात् आत्मा और रागादिक विकारी भाव परस्पर मिलकर एक हो रहे हैं। परन्तु जिस प्रकार दही और खांड परस्पर मिलकर यद्यपि एकरूप प्रतीत होते हैं तथापि विवेकी जनों को दही और खाड़ का स्वाद पृथक्-पृथक् अनुभव में आता है उसी प्रकार आत्मा और रागादिक की मज्जितावस्था में भी भेदज्ञानी पुरुषों को आत्मा तथा रागादिक का स्वाद पृथक्-पृथक् अनुभव में आता है। अत: मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ। जीव का चैतन्यगुण के द्वारा भिन्न ही अनुभव होता है और मोहात्मक रागादिकों का आकुलतात्मक अनुभव भिन्न रूप से होता है। अत: आत्मा सदा अपने एकत्व से तन्मय स्थिति को धारण करता हुआ स्थित है तथा मोह उससे भिन्न पृथक् ही पदार्थ है।

वास्तव में मोहकर्म पुद्गलात्मक है। इसका जब विपाककाल आता है तब आत्मा के उपयोग सम्बन्धी स्वच्छता की विकाररूप परिणति हो जाती है और उसी परिणति में ये रागादिक कलुषभाव अवतीर्ण होते हैं। मिथ्यात्व के निमित्त से यह आत्मा उन्हें अपने मानने लगता है। फलस्वरूप कभी अपने को क्रोधी, कभी मानी, कभी मायावी और कभी लोभी बनता है। इन्हीं के द्वारा अनर्थपरम्परा का पात्र होता है। परन्तु जब भेदज्ञान का अवलम्बन करता है तब इन्हें विकृत भाव जान इससे भिन्न अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव करता हुआ अनर्थपरम्परा का समूल उन्मूलन कर देता है। इस तरह भावक और भाव्य का विवेक प्रकट होता है।।३६।।

अब श्री अमृतचन्द्र स्वामी इसी भाव को कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

सर्वत: स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह: शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि।।३०।।

अर्थ– जो सब ओर से स्वरस के भार से भरा हुआ है ऐसे एक आत्मस्वरूप का ही मैं इस लोक में स्वयं अनुभव करता हूँ, कोई भी मोह मेरा नहीं है, मैं तो शुद्ध चैतन्यरूप तेज का भण्डार हूँ।

भावार्थ– मैं शुद्ध चेतना की निधि हूँ, मोह से मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, यह तो एक औपाधिक भाव है जो निमित्तवश मेरी स्वच्छता में प्रतिभासमान होता था, कुछ मेरा स्वरूप नहीं था। जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से स्वच्छ और निर्विकार है, किन्तु जपापुष्पादि के संयोग से उसकी स्वच्छता में लालिमा आदि अनेक रंग प्रतिभासमान होते हैं वे यद्यपि स्फटिकमणि में वर्तमानरूप से भासमान हो रहे हैं किन्तु तत्त्वदृष्टि से स्फटिक के अभेदरूप नहीं हो गये हैं क्योंकि जपापुष्पादि के वियोग में स्फटिकमणि स्वच्छ ही रहता है। इसी प्रकार आत्मा के स्वच्छ उपयोग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में यह रागादिक, मोहकर्म के विपाक से प्रतिभासमान होते हैं और उस समय अज्ञानी जीव उन्हें अपने स्वरूप मान लेता है। परन्तु जब भेदज्ञान का उदय होता है तब उपयोग की स्वच्छता में वे परमार्थ से आत्मा के नहीं हैं, ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीवों के अनुभव होने लगता है। इस तरह भावक-भाव्यभाव का अवबोध कर मोह पद के स्थान में राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन को रख कर सोलह पदों का पृथक्-पृथक् व्याख्यान करना चाहिये।।३०।।

अब जिस प्रकार भावक-भाव्यभाव से आत्मा को भिन्न किया उसी प्रकार ज्ञेय-ज्ञायकभाव से भी भिन्न जानना चाहिये, यह समझाने के लिये गाथा कहते हैं—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति।।३७।।

अर्थ– जो ऐसा जानता है कि ये धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं तो एक उपयोगरूप ही हूँ उसे आगम के ज्ञाता मुनीश्वर धर्मनिर्ममज्ञ कहते हैं।।

विशेषार्थ– यह जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा मेरे से भिन्न जीवद्रव्य और पुद्गल हैं वे सब पदार्थ स्वरस से उत्पन्न, अनिवार्य प्रसार से युक्त तथा समस्त पदार्थों को ग्रसित करनेवाली प्रचण्ड चैतन्य शक्ति के द्वारा ग्रासीभूत होने से यद्यपि अत्यन्त अन्तर्निमग्न के समान आत्मा में प्रकाशमान हो रहे हैं तो भी मैं टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव वाला हूँ, और ये सब पदार्थ मुझसे भिन्नस्वभाव वाले हैं तथा परमार्थ से बाह्यरूपता को छोड़ने में असमर्थ हैं। अर्थात् अपना बाह्यरूप छोड़कर चेतनरूप परिणमन त्रिकाल में नहीं कर सकते, इसलिये मेरे नहीं हैं। जैसे स्वच्छता के कारण संमुखागत पदार्थ दर्पण में प्रतिबिम्बित-से जान पड़ते हैं, परमार्थ से दर्पण भिन्न है और पदार्थ भिन्न हैं, दर्पण की स्वच्छता उन बाह्य पदार्थों के निमित्त से यद्यपि उन पदार्थों के आकार परिणमन को प्राप्त हो जाती है तथापि उन पदार्थों के साथ उसका तादात्म्य नहीं होता। जो दर्पण में भासमान हो रहे हैं वे सब दर्पण की स्वच्छता के विकार हैं। इसी तरह आत्मा में ऐसी निर्मलता है कि यदि प्रतिबन्धक कारण न हों तो ज्ञेय पदार्थ उसमें प्रतिभासमान होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे बाह्य ज्ञेय ज्ञान के आभ्यन्तर में चले जाते हैं, जो ज्ञान में भासमान हो रहे हैं वह ज्ञान का ही परिणमन है। अत: ये जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव हैं वे आत्मा के नहीं हैं, ऐसा वहाँ समझना चाहिये। चैतन्यस्वभाव के कारण नित्य ही उपयुक्त रहनेवाला यह भगवान् आत्मा ही परमार्थ से निराकुल एक आत्मस्वरूप का वेदन करता हुआ यह जानता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, इसलिये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवेद्य-संवेदक—ज्ञेय-ज्ञायकभाव से उत्पन्न परस्पर में संकलन—सम्मिश्रण के होने पर भी आत्मा तथा परपदार्थों का स्वभाव स्पष्टरूप से पृथक्-पृथक् अनुभव में आता है। अत: मैं धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य जीवरूप विजाजीय-सजातीय द्रव्यों के प्रति निर्मम हूँ। पदार्थों की ऐसी ही व्यवस्था है कि वे सदाकाल आत्मा के साथ एकपन को प्राप्त होकर भी अपने स्वरूप से भिन्न ही रहते हैं। इस तरह ज्ञेयभाव से आत्मा को भिन्न जानना चाहिये।।३७।।

यही भाव अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा दरशाते हैं—

मालिनीछन्द

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तै:
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्त:।।३१।।

अर्थ– इस प्रकार अन्य समस्त भावों के साथ भेद होने पर इस जीव का यह उपयोग स्वयं एक आत्मा को धारण करता हुआ जिनका यथार्थ स्वरूप प्रकट है ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणति कर आत्मारूप उपवन में ही प्रवृत्त होता है—उसी एक में रम जाता है।

भावार्थ– जब तक आत्मा में मोहजन्य रागादि परिणामों का उदय रहता है और यह आत्मा उन्हें निज समझता है तब तक पदार्थों में इष्ट कल्पना कर किसी पदार्थ में आसक्त होकर तन्मय हो जाता है और किसी पदार्थ में अनिष्ट कल्पना कर उसमें अनासक्त हो उसके नाश का उद्योग करता है। परन्तु जब भेदज्ञान का उदय होता है तब सब ओर से उपयोग अपने आप पर से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्वयमेव रमण करने लगता है।।३१।।

आगे दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप परिणत हुए आत्मा के स्वकीय स्वरूप का संचेतन किस तरह होता है, यह कहते हुए आचार्य इस कथन का उपसंहार करते हैं–

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाण-मइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि।।३८।।

अर्थ– निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदाकाल अरूपी हूँ, अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावचतुष्टय कर अपने-अपने अस्तित्व में लीन हैं। अन्य पदार्थों के साथ परस्परावगाह लक्षण सम्बन्ध होने पर भी एक पदार्थ का अन्य पदार्थ के साथ तादात्म्य नहीं होता। निश्चय से यह आत्मा अनादिकाल से मोह के द्वारा अत्यन्त अप्रतिबुद्ध हो रहा है और इसी अप्रतिबुद्धता के कारण अपने और परके भेद से अनभिज्ञ है। इसकी ऐसी दशा देख संसार से विरक्त परमदयालु श्रीगुरु ने इसे निरन्तर समझाया, उससे किसी तरह प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। तब जैसे कोई मनुष्य सुवर्ण को अपने हाथ में होते हुए भी अन्यत्र अन्वेषण करता है और न मिलने से दुखी होता है। उसकी यह अवस्था देख किसी मनुष्य ने कहा—क्या खोजते हो? वह कहता है—सुवर्ण खो गया है। तब उसने कहा—तुम्हारे हाथ में ही तो है। यह सुन वह एकदम आनन्द को प्राप्त हो गया। ऐसे ही आत्मा है तो आत्मा में ही, परन्तु अज्ञानी उसे शरीरादी परपदार्थों में खोजकर दु:ख का पात्र होता है। अब श्रीगुरु के उपदेश से परमेश्वर आत्मा को जानकर तथा श्रद्धाकर और उसी में चर्याकर समीचीन आत्मा में ही आत्मा का रमण करता हुआ एकदम आनन्दपुञ्ज का आस्वाद लेकर ऐसा तृप्त हो जाता है कि अनन्त संसार की यातनाएँ एकदम विलीन हो जाती हैं। वही मैं एक आत्मा हूँ। यद्यपि आत्मा में क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों के द्वारा नानापन का व्यवहार होता है तथापि चैतन्यमात्र आकार के द्वारा मुझमें कोई भेद नहीं है, अतएव मैं एक हूँ। नारकादिक जीव के विशेष तथा अजीवरूप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये जो व्यवहार से नव तत्त्व हैं उनसे मैं टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न होने से शुद्ध हूँ। मैं चेतनामात्र हूँ और सामान्यविशेषोपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शनोपयोग के साथ जो तन्मयता है उसका कभी भी अतिक्रमण नहीं कर सकता, अत: ज्ञान-दर्शनमय हूँ। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण इनका संवेदन करने वाला हूँ। अर्थात् मेरे ज्ञान में ये प्रतिभासमान होते हैं, मैं इनका जानने वाला हूँ परन्तु इनरूप नहीं परिणमता। अत: परमार्थ से सर्वदा अरूपी हूँ। इस प्रकार इनसे अपने स्वरूप को भिन्न जानता हुआ इन्हें जानता भर हूँ। यद्यपि बाह्य पदार्थ अपनी विचित्र स्वरूप-सम्पदा के द्वारा मेरे ज्ञान में स्फुरित होते हैं—झलकते हैं तो भी परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है जो भावकपन से या ज्ञेयपन से मुझमें फिर मोह उत्पन्न कर सके। जब आत्मा में भावक-भाव्यभाव और ज्ञेय-ज्ञायकभाव मोह के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते हैं तब यह स्वरस से ही, फिर उत्पन्न न हो सके, इस तरह मोह का समूल उन्मूलन करता है और उस समय इसके महान, ज्ञान का उद्योत अर्थात् संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश स्वयमेव प्रकट हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा की महिमा का गान करते हुए श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ता:।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धु:।।३२।।

अर्थ– विभ्रमरूपी परदा को शक्तिपूर्वक दूरकर यह भगवान् ज्ञानरूपी सागर प्रकट हुआ है सो लोकपर्यन्त छलकते हुए इसके शान्त रस में ये समस्त प्राणी एक साथ अतिशयरूप से निमग्न हों।

भावार्थ– इस जीव का भेदज्ञानरूपी सागर मिथ्यादर्शनरूपी परदा के भीतर छिपा है। इसीसे संसार के समस्त प्राणी बाह्य पदार्थों में अहंकार-ममकार करते हुए निरन्तर अशान्त रहते हैं। अत: उस मिथ्यादर्शनरूपी परदा को अत्यन्त दूरकर यह भगवान भेदविज्ञानरूपी सागर प्रकट है सो इसके शान्त रस में— आह्लाददायक परिणति में संसार के समस्त प्राणी एक साथ अच्छी तरह अवगाहन करें। संसार के अन्य समुद्रों का रस अर्थात् जल तो क्षाररूप होने से अवगाहन के योग्य नहीं होता, परन्तु इस भेदविज्ञानरूपी सागर का रस आर्थात् जल अत्यन्त शान्त है, आह्लाददायक है और लोकान्त तक छलक रहा है। अत: अवगाहन के योग्य है। यहाँ आचार्य महाराज ने यह कामना प्रकट की है कि संसार के साथ प्राणी विभ्रम अर्थात् मिथ्यात्व को नष्टकर भेदज्ञानी होते हुए शान्ति का अनुभव करें, क्योंकि बिना भेदज्ञान के पर से ममत्व नहीं हट सकता और पर में ममत्व के हटे बिना शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता।

आत्मख्याति-टीका के रचयिता श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने इस समयसार का वर्णन एक नाटक के रूप में किया है। नाटक के प्रारम्भ में एक पूर्वरंग[१] नाम का

---

१. यन्नाट्यवस्तुन: पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलना: प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्ग: स उच्यते।। — साहित्यदर्पण परिच्छेद ६।
सभापति: सभासभ्या गायका वादका अपि।
नटी नटश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यान् रञ्जनात्।।
अतो रङ्ग इति ज्ञेय: पूर्वं यत्स प्रकल्पते।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते।। — भावप्रकाशिका।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकण होता है, जिसे नट रंगभूमि सम्बन्धी विघ्नों की शान्ति के लिये स्तवन आदि करते हैं। यहाँ पूर्वरंग नामक प्रकरण को समाप्त करते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने भेदज्ञान का स्तवन किया है।।३२।।

अब आगे जीव और अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं। सो उन दोनों में भेद को दिखलाने वाला जो ज्ञान है उसकी प्रशंसा में कलश-काव्य लिखते हैं।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

जीवाजीव-विवेकपुष्पकलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा-
नासंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्मारामममनन्तधाममहसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ।।३३।।

अर्थ– जो जीव और अजीव के भेद को दिखलाने वाली विशाल दृष्टि से सभासदों को भिन्न द्रव्य की प्रतीति कराता है, जो अनादि संसार बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश करने से शुद्ध है, विकासरूप है, आत्मा में ही रमण करता है, अनन्त तेजःस्वरूप है, प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदित है, धीर है, उदात्त है, आकुलता से रहित है और मन को आह्लादित करने वाला है ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है।

भावार्थ– सम्यग्ज्ञान मन को आनन्दरूप करता हुआ विकाशरूप उदित होता है। अनादिकाल से आत्मा इसके बिना दुःखमय जीवन बिता रहा था और हीन मनुष्य के सदृश धन के अभाव में परम दुखी था। पश्चात् धन के प्राप्त होने से जैसे रङ्क मनुष्य सानन्द होता है, ऐसे ही सम्यग्ज्ञान के प्राप्त होने पर आत्मा आह्लादभाव को प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान जीव और अजीव का स्वरूप दिखाकर सभासदों को यथार्थ प्रतीति कराता है, अनादिकाल से लगे हुए जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनके बन्धन की विधि को ध्वस्त करने के कारण विशुद्ध है, पुष्प की कली के समान विकास को प्राप्त है, उसके रमण का स्थान आत्मा ही है अर्थात् पहले मोह के निमित्त से परपदार्थ में जाता था, अब मोह का अभाव होने से स्वीय आत्मा में ही विश्रान्त हो गया, अनन्त ज्ञेय पदार्थों को जानने वाला होकर भी आत्मतत्त्व में ही रमण करता है, अनन्त प्रकाशमय है, प्रत्यक्ष तेजकर नित्य ही उदयरूप है, धीर है, उदात्त है अर्थात् मोह के सम्बन्ध से होनेवाले विकारी भावों से पहले विकृत था, पर अब मोह का अभाव होने से शुद्ध दर्पण की तरह हो गया, केवल ज्ञेयों के बिम्ब पड़ने से ज्ञेयाकार का व्यवहार होता है। तात्त्विक दृष्टि से ज्ञान का परिणमन ज्ञानरूप ही है, आत्मा के स्वरूप को नहीं जानकर पहले नाना प्रकार की आकुलताओं से युक्त था, अब यथार्थ प्रतीति होने से निराकुल हो गया।।३३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे जीव और अजीव के एकरूप होकर प्रवेश करने से जीव का यथार्थ स्वरूप समझने में जो विभ्रम होता है उसे दिखाते हैं–

अप्पाणमयाणंता मूढा हु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ।।३९।।
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ।।४०।।
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तण-मंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ।।४१।।
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि त्रि खलु के वि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोयेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ।।४२।।
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ।।४३।।

(पंचकम्)

अर्थ– आत्मा को नहीं जानते हुए तथा पर को आत्मा कहते हुए कितने ही ऐसे मूढ़ हैं जो अध्यवसानरूप भाव को जीव मान लेते हैं। कितने ही ऐसे मूढ़ हैं जो कर्म को ही जीव मानते हैं। कितने ही ऐसे मूढ़ हैं जो अध्यवसानभावों में तीव्र-मन्द अनुभाग को जीव मान लेते हैं। बहुत से ऐसे अज्ञानी जीव हैं जो नोकर्म—शरीर को ही जीव मान कर संतोष कर लेते हैं। कोई ऐसे हैं जो कर्म के उदय को ही जीव मानते हैं। कितने ही ऐसे हैं जो तीव्र और मन्दपनरूप गुणों के द्वारा भेदरूप को प्राप्त कर्मों का अनुभाग ही जीव है ऐसा मानते हैं। बहुत वादी ऐसे हैं जो जीव और कर्म की मिली हुई अवस्था को जीव मानते हैं और कितने ही ऐसे हैं जो कर्मों के संयोग से होनेवाली परिणति को जीव मानते हैं। इस प्रकार तथा अन्य भी बहुत प्रकार से दुष्टबुद्धिवाले मिथ्यादृष्टि जीव पर को आत्मा मानते हैं। परन्तु वे परमार्थवादी नहीं हैं, ऐसा निश्चयनय के जाननेवालों ने कहा है।

विशेषार्थ– निश्चय से इस संसार में जिन्होंने उस आत्मद्रव्य का असाधारण लक्षण नहीं जाना है वे नपुंसकपन से अत्यन्त मूढ़ होते हुए पारमार्थिक आत्मा को नहीं जानकर पर को आत्मा कहते हैं। परमार्थरूप से जब तक वस्तु का यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तभी तक मिथ्याज्ञान से पदार्थ के स्वरूप में नाना प्रकार की कल्पनाएँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुआ करती हैं। जैसे—मानसरोवर का एक हंस दैवयोग से एक कूप पर पहुंच गया। कूप का मण्डूक आगन्तुक हंस को देखकर पूछता है—महाशय! कहाँ से आपका आगमन हुआ? हंस कहता है—हिमालय मध्यस्थित मानसरोवर से आया हूँ। तब वह मण्डूक पूछता है—कितना बड़ा मानसरोवर है? हंस ने उत्तर दिया—बहुत भारी है। मेण्डक ने एक पांव पसार दिया, क्या इतना बड़ा है? हंस ने कहा—नहीं भाई, बहुत भारी है। तब दूसरा पांव फैला दिया, क्या इतना बड़ा है? हंस ने कहा—नहीं, वह बहुत विस्तार से है। तब मेण्डक ने सर्वाङ्ग फैला दिया, क्या इतना विपुल है? हंस ने कहा—भाई, उसका विस्तार क्षेत्र बहुत विस्तृत है। तब मेण्डक समस्त कूप में भ्रमण कर कहने लगा, यदि अधिक-से-अधिक होगा तो इतना होगा, यदि इससे भी विपुल है जो केवल कहने की बात है, है नहीं। इसी तरह आत्मा के आभ्यन्तर स्वरूप से जो अपरिचित हैं तथा शरीरादिक को ही जिन्होंने आत्मा मान रखा है वे उसका स्वरूप जानने में असमर्थ हैं। अत: जो कुछ अपनी कल्पना में आ गया उसे ही जीव मान लेते हैं। उन्हीं मिथ्यावादियों के थोड़े से भेदों का आचार्य विवेचन करते हैं—

कितने ही वादी ऐसे हैं जिनका कहना है कि नैसर्गिक राग-द्वेष से कलुषित जो अध्यवसान भाव हैं वे ही तो जीव हैं क्योंकि रागद्वेषात्मक अध्यवसान भाव से भिन्न अंगार के कृष्णपन की तरह जीव की उपलब्धि नहीं होती है। अर्थात् जैसे अंगार से भिन्न कृष्णपन नहीं देखा जाता, ऐसे ही रागद्वेष रूप कलुषित अध्यवसानभाव से भिन्न आत्मा की उपलब्धि नहीं होती है।

कितने ही वादी ऐसे हैं जिनका कहना है कि अनादि अनन्त अथवा पूर्वापरीभूत अवयवों में एक संसरणरूप क्रिया से क्रीडा करता हुआ जो कर्म है वही जीव है क्योंकि इस कर्म से भिन्न जीव अनुभव में नहीं आता।

बहुत से वादियों का कहना है कि तीव्र और मन्द अनुभाग से जिनमें भेद है अर्थात् जिनमें कभी तो तीव्र रागादिक होते हैं और कभी मन्द रागादिक होते हैं। जब इनकी तीव्रता होती है तब यह हिंसादि कार्यों में प्रवृत्ति करता है और जब इनकी मन्दता होती है तब दया आदि कार्यों में प्रवृत्ति करता है। इस तरह तीव्र, मन्द अनुभाग से भेद को प्राप्त तथा दु:खदायक रागरस से पूरित अध्यवसानभावों की जो संतति है वही जीव है क्योंकि इनसे भिन्न जीव की उपलब्धि नहीं देखी जाती। यदि इनसे भिन्न जीव की उपलब्धि आप के अनुभव में आती है तो स्पष्टरीति से कहो, संसार में रागादिक परिणामों के सिवाय अन्य कुछ नहीं देखा जाता। अत: इन्हीं को जीव मानना उचित है, ऐसा बहुत से ऊपरी दृष्टिवाले लोगों का प्रलाप है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नवीन और पुरानी अवस्था के भेद से प्रवृत्ति में आ रहा जो शरीर है वही जीव है, क्योंकि उससे अतिरिक्त जीव देखने में नहीं आता। किसी ने कहा भी है—

न जन्मन: प्राङ् न च पञ्चताया:
परो विभिन्नेऽवयवे न चान्त:।
विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्
भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा।। —(धर्मशर्माभ्युदयमें पूर्वपक्ष)।

अर्थात् इस संसार में जन्म से पहले और मरने के बाद तथा हाथ, पैर आदि अवयव के कट जानेपर, भीतर प्रवेश करता अथवा भीतर से बाहर निकलता हुआ कोई जीव शरीर से भिन्न दिखाई नहीं देता है।

इस तरह नया और जीर्ण शरीर ही जीव है, ऐसा कितने ही वादी कहते हैं।

संसार पुण्य और पाप के विपाक से ही पूरितावस्थ हो रहा है। अत: कर्मविपाक ही जीव है क्योंकि शुभ और अशुभ भावों को छोड़कर भिन्नरूप से किसी जीवतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती, ऐसा बहुत से वादियों का मन्तव्य है।

कितने ही वादियों का यह मत है कि साता और असाता के भेद से युक्त कर्मों का अनुभाग ही संसार में देखने में आता है। जब साताकर्म का अनुभाग आता है तब सुख और जब असाता कर्म का अनुभाग आता है तब दु:ख होता है। अत: सुख और दु:ख को छोड़कर अन्य जीव की सत्ता अनुभव में नहीं आती है।

कोई कहते हैं कि जिस प्रकार मज्जितावस्था में दही और खांड मिलकर एक भासमान होते हैं उसी प्रकार आत्मा और कर्म इन दोनों की मिली अवस्था को ही जीवशब्द से व्यवहृत करते हैं, क्योंकि उस अवस्था को छोड़कर अन्य कोई जीव नहीं है, यदि होता तो अनुभव में आता।

अर्थक्रिया में समर्थ जो कर्मसंयोग है वही जीव है। जिस प्रकार आठ काठों का संयोग ही खट्वा है उसी प्रकार आठ कर्मों का संयोग ही जीव है, इनसे अतिरिक्त कोई भिन्न जीव नहीं है, ऐसा बहुत से वादियों का मत है।

इसी प्रकार और भी अनेक वादी परको आत्मा शब्द से व्यहृत करते हैं। परन्तु वे सब विपरीतबुद्धि वाले हैं, अतएव परमार्थवादी नहीं हैं, ऐसा निश्चय के जानने वाले कहते हैं।।३९,४०,४१,४२,४३।।

ये सब मिथ्यावादी क्यों हैं? इसी का आगे आचार्य उत्तर देते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ।।४४।।

अर्थ– ये पूर्व में कहे हुए अध्यवसान आदि सब भाव पुद्गलद्रव्य के परिणाम से निष्पन्न हुए हैं, ऐसा श्रीकेवली जिनेन्द्र ने कहा है, तब वे जीव कैसे कहे जा सकते हैं?

विशेषार्थ– क्योंकि अध्यवसानादिक जितने भाव हैं इन सबको सर्वज्ञ भगवान् ने पुद्गलद्रव्यमय कहा है। अतः ये सब भाव चैतन्यशून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्न चैतन्यस्वभाव वाला जो जीवद्रव्य है उसरूप नहीं हो सकते। इस तरह आगम, युक्ति और स्वानुभव से बाधित पक्ष होने के कारण अध्यवसानादिक भावों को जीव मानने वाले जो वादी हैं वे परमार्थवादी नहीं हैं।

'अध्यवसानादयो भावा न जीवाः' यही इसमें आगम हैं, क्योंकि यह वचन परम्परा से चला आया है तथ इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। परम्परा से भी जो वाक्य चला आवे, किन्तु प्रत्यक्षादिक प्रमाण से बाधित हो तो वह प्रमाणकोटि में नहीं आ सकता। यह जो अध्यवसानादिक भाव हैं वे उपयोग की तरह स्थायी नहीं हैं किन्तु मोहादि पौद्गलिक कर्म प्रकृति के विपाक से आत्मा में एक विभावपरिणति होती है उसी रूप होने से नैमित्तिक हैं, अस्थायी हैं, अतः आत्मा नहीं हैं।

स्वानुभवगर्भा युक्ति भी इसमें है, यही दिखाते हैं—निश्चय से नैसर्गिक रागद्वेष से कलुषित जो अध्यवसान भाव हैं वे जीव नहीं हैं क्योंकि जैसे कालिमा से भिन्न सुवर्ण है ऐसे ही अध्यवसान भावों से भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीव भी भेदज्ञानियों के अनुभव में प्रत्यक्ष आ रहा है। अनाद्यनन्त पर्यायों में परिभ्रमण कराने रूप क्रिया से क्रीडा करनेवाला जो कर्म है वह जीव नहीं है क्योंकि कर्म से भिन्न चैतन्यस्वभाव वाले जीव का अनुभव भेदज्ञानियों को स्वयं हो रहा है। निश्चय कर तीव्र-मन्दरूप से भिद्यमान दुःखदायक जो रागरस की संतान है वह भी जीव नहीं है क्योंकि रागादिक से भिन्न चैतन्यस्वभाववाले जीव का अनुभव भेद ज्ञानियों को होता है। इसमें संदेह को स्थान नहीं है क्योंकि सब प्रमाणों से अनुभव प्रमाण की बलवत्ता आबालगोपाल विदित है। इसी तरह यह जो कहा था कि नई पुरानी अवस्था वाला जो शरीर है वही जीव है सो निश्चय से विचार करने पर असंगत ठहरता है क्योंकि शरीर से भिन्न चैतन्य स्वभाव वाला जीव तत्त्व ज्ञानियों के ज्ञान में आ रहा है। पुण्य पापरूप संसार पर आक्रमण करनेवाला कर्म का विपाक ही जीव है, यह कहना ठीक नहीं है, शुभ-अशुभ भावों से भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीव भेदज्ञानियों के प्रत्यक्ष ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में आ रहा है। साता और असाता रूप से व्याप्त तीव्र तथा मन्दत्व गुण से भेद को प्राप्त हुआ जो कर्मों का अनुभाग है वही जीव है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सुख और दु:ख से भिन्न चैतन्यस्वभाववाला जीव स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा तत्त्वज्ञानियों के अनुभव में आ रहा है। किन्हीं महानुभावों का कहना है कि मज्जितावस्था में जैसे दो पदार्थों की एक विजातीय अवस्था भासमान होती है ऐसे ही आत्मा और कर्म इन दोनों को जो मज्जितावस्था अर्थात् मिश्र दशा है वही जीव है, सो इनका यह कहना प्रमाण से बाधित है क्योंकि चैतन्य स्वभाव के द्वारा जीव का भिन्न रूप से अनुभव होता है। इसी तरह किन्हीं वादियों का यह कहना कि जिस तरह आठ काठ के संयोग का नाम खाट है उसी तरह आठ कर्मों का संयोग ही जीव है, ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार आठ काठ के संयोग से निर्मित खाटपर शयन करनेवाले पुरुष का खाट से पृथक् अनुभव होता है उसी तरह आठ कर्मों से भिन्न चैतन्य स्वभाववाले जीव का अनुभव पृथक् होता है।

इस प्रकरण में पुद्गल से भिन्न आत्मा का अपलाप करनेवाले वादियों को साम्यभाव से समझना चाहिये, क्योंकि विवाद करने से पक्ष-पुष्टि की प्रबलता होने से, समझना तो दूर रहा, प्रत्युत दोष हो जाता है। जब सब जीव चेतनागुण वाले हैं और सभी जीव संसार सम्बन्धी दु:ख से भीरु हैं तब उन्हें वह मार्गप्रदर्शन करना उचित है जिससे उन्हें शान्ति मिले। जिसे कामलारोग है वह जीव शङ्ख को पीला कहता है। अब आप ही बताइये, कामलारोगी यदि शङ्ख को पीला कहता तो उस अवस्था में उसका वैसा कहना क्या मिथ्या है? यद्यपि विषय की अपेक्षा वह ज्ञान मिथ्या है परन्तु अन्तर्ज्ञेयाकार की अपेक्षा भी क्या मिथ्या है? अत: उसका कामलारोग जावे ऐसा उपाय करना योग्य है। केवल उसे मिथ्याज्ञानी कहने से न आपको लाभ है और न उसे। उसका रोग तो दूर करने का प्रयास न किया जावे और उस अवस्था में यह कहा जावे कि तुम्हारा ज्ञान मिथ्या है तो वह कदापि सन्मार्ग पर नहीं आ सकता। इसी प्रकार मिथ्यात्व दशा में यह जीव यदि शरीरादिक को आत्मा माने तो उस दशा में उसे बुरा-भला कहना उसके मिथ्यात्व को पुष्ट करना है। अत: जहाँ तक बने उसे साम्यभाव से पदार्थप्रणाली की अवगति कराकर समीचीन मार्ग में लाने का प्रयत्न करना तत्त्वज्ञानियों का कर्तव्य है। उससे उपेक्षा कर जीव की अवहेलना करना क्या श्रेयोमार्ग के पथिकों को उचित है? संभव है, आपके सुमधुर सत्य उपदेश से वह मिथ्यात्व से च्युत होकर सम्यग्दर्शन का पात्र हो जावे। श्रीअमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—'इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्न: साम्नैवैवमनुशास्य:' अर्थात् इस प्रकरण में पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विवाद करनेवाले पुरुष को शान्ति से ही इस प्रकार समझाना चाहिये। किस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तरह समझाना चाहिये? यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मालिनीछन्द

विरम किमपरेणाऽकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः।।३४।।

अर्थ– रुको, व्यर्थ के विभिन्न कोलाहल से क्या साध्य है? तूँ स्वयं ही निश्चल होकर छह माह तक एक आत्मतत्त्व का अवलोकन कर—उसीका अभ्यास कर। फिर देख कि पुद्गल से भिन्न तेजवाले आत्मतत्त्व की हृदयरूपी सरोवर में उपलब्धि होती है या अनुपलब्धि।

भावार्थ– अकार्य कोलाहल से साध्य की सिद्धि नहीं होती, अतः व्यर्थ के वितण्डावाद से विरक्त होओ तथा अपने आप निश्चलवृत्ति को स्वीकार कर छह मास पर्यन्त हृदयरूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेजवाले चैतन्यपुरुष का अवलोकन करो, नियम से उसकी प्राप्ति होगी, अनुपलब्धि की आशङ्का मत करो।

पुरुषार्थ ही आत्मतत्त्व की उपलब्धि में कारण हैं। आज तक हम उस तत्त्व को कठिन-कठिन सुनकर वञ्चित रहे। बतलाओ तो सही, जिसके द्वारा संसार चल रहा है और जिसके प्रभाव से ही संसार में नाना मतों की सृष्टि हुई। जिसके द्वारा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कल्पना हुई और जिसके द्वारा ही इन कल्पना जालों को असत् ठहराया गया, उसी के जानने में हमें नाना प्रकार की कठिनाई बताई जावे, यह सब हमारी दुर्बलता है। जो इन सब कल्पनाओं का स्रष्टा है वही आत्मदेव है, उसके आभ्यन्तर में जो विकृत भाव हो रहे हैं उन्हें त्यागकर हमें अपने चैतन्यमात्र स्वरूप की रक्षा करना चाहिये। शुद्ध स्वरूप के उत्पन्न करने की चेष्टा करना आवश्यक नहीं। आवश्यक यह है कि उसमें जो विकार आ गया है उसे त्याग देना चाहिये। जैसे जब वस्त्र में स्नेह का सम्बन्ध हो जाता है तब उस वस्त्र की धूलि आदि के सम्बन्ध से मलिनावस्था हो जाती है। उस समय जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं वे उस वस्त्र में परपदार्थ के सम्बन्ध से जो स्निग्धता आ गई थी उसे हटाते हैं। उसके हटने से वस्त्र की स्वच्छता का विकास स्वयमेव हो जाता है। इसी तरह आत्मा में परपदार्थ के संसर्ग से जो राग-द्वेष-मोहरूप मलिन परिणति हो रही है तथा जिसके द्वारा यह आत्मा अनन्त संसार के दुःखों का पात्र बन रहा हैं, सर्वप्रथम उसी मलिन परिणति को त्यागना चाहिये। उसके जाते ही देखोगे कि आत्मा स्वयं शान्ति का पिण्ड है,

Jain Education International	For Personal & Private Use Only	www.jainelibrary.org

शान्ति कहीं से आती नहीं है. दुग्ध में मक्खन क्या कहीं से आता है? उसके फोक भाग को निकाल दो, वह वस्तु तो उसमें स्वयं विद्यमान है। व्यर्थ दु:खी होने से कोई तत्त्व निकलने वाला नहीं है।

यहाँ आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिये छह माह तक अभ्यास करने की जो बात कही गई है वह उत्कृष्टता की अपेक्षा से है। वैसे अन्तर्मुहूर्त के अभ्यास से भी उसका विकास हो जाता है। यह आत्मा अनादि काल से परपदार्थों के सहवास से स्वकीय तत्त्व की ओर लक्ष्य नहीं देता, यही उसके आत्मतत्त्व की अनुपलब्धि का कारण है। अत: स्वकीय तत्त्व की ओर लक्ष्य देने का प्रयास करना चाहिये।।४४।।

आगे शिष्य का प्रश्न है कि ये अध्यवसानादि भाव भी तो चेतनानुयायी प्रतिभासमान होते हैं, अतः इन्हें पुद्गल कैसे माना जावे? इसका उत्तर देते हैं–

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।

जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।४५।।

अर्थ– आठों प्रकार के सभी कर्म पुद्गलमय हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। उदय में आते हुए जिन कर्मों का फल दु:ख है ऐसा कहा जाता है।।

विशेषार्थ– अध्यवसानादिक भावों का जनक जो आठ प्रकार का कर्म है वह सबका सब पुद्गलमय है, ऐसा सकलज्ञ—सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव का कथन है। जब इस कर्म के विपाक का काल आता है तब उससे जो फल प्राप्त होता है वह अनाकुलतालक्षण सुखरूप आत्मस्वभाव से विलक्षण होने के कारण दु:ख कहा जाता है। अर्थात् ये कर्म जब विपाक काल में अपना रस देते हैं तब आत्मा दु:ख हो जाता है। आकुलतारूप लक्षण से युक्त यह अध्यवसानादिक भाव भी इसी दु:ख में गर्भित हैं। इसलिये इनमें चेतना के अन्वय का विभ्रम होने पर भी ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं। परमार्थ से आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है परन्तु अनादि काल से इसके कर्मों का सम्बन्ध चल रहा है। उन कर्मों का उदय होने पर नाना प्रकार के आकुलतामय परिणाम द्वारा दु:खी हो जाता है। इसीसे ये जो अध्यवसानादिक भाव हैं वे सब दु:खमय हैं। यद्यपि इनमें चेतनपन का विभ्रम होता है तो भी तत्त्वदृष्टि से ये चेतन नहीं हैं, कर्मजन्य हैं। अतएव निमित्त की मुख्यता से पुद्गल हैं।।४५।।

अब यहाँ पर यह आशङ्का होती है, यदि ये अध्यवसानादिक भाव पुद्गल के हैं तो सर्वज्ञ के आगम में इन्हें जीव-भाव कैसे कहा? इसके उत्तर में आचार्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथासूत्र कहते हैं–

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादयो भावा।।४६।।

अर्थ– ये अध्यवसानादिक सब भाव जीव हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने जो उपदेश कहा है वह व्यवहारनय का मत है अर्थात् श्री जिनेन्द्र देव ने अध्यवसानादिक सम्पूर्ण भावों को व्यवहारनय से जीव के हैं, ऐसा कहा है।

विशेषार्थ– ये सम्पूर्ण अध्यवसानादिक भाव जीव हैं, यह जो समस्त पदार्थों के जाननेवाले सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है वह व्यवहारनय का मत है। यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छों को समझाने के लिये म्लेच्छ भाषा का अङ्गीकार करना उचित है उसी प्रकार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का प्रतिपादक होने से तीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त अपरमार्थ होने पर भी व्यवहारनय का दिखलाना न्यायसंगत है। अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्य नहीं है। अत: उसके आलम्बन से पदार्थ का प्रतिपादन करना उचित है। अन्यथा व्यवहार के बिना परमार्थनय से जीव शरीर से सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशा में जिस प्रकार भस्म का नि:शङ्क उपमर्दन करने से हिंसा नहीं होती उसी प्रकार त्रसस्थावरजीवों का नि:शङ्क उपमर्दन करने से हिंसा नहीं होगी और हिंसा के न होने से बन्ध का अभाव हो जायगा, बन्ध के अभाव से संसार का अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त रागी, द्वेषी और मोही जीव बन्ध को प्राप्त होता है उसे ऐसा उपदेश देना चाहिये कि जिससे वह राग, द्वेष मोह से छूट जावे, यह जो आचार्यों ने मोक्ष का उपाय बताया है वह व्यर्थ हो जावेगा, क्योंकि परमार्थ से जीव, राग, द्वेष, मोह से भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्ष के उपाय स्वीकार करना असंगत होगा और इस तरह मोक्ष का भी अभाव हो जायगा[1]।

---

१. व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव, तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव नि:शङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बन्धस्याभाव:। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव:।।४६।।

— अमृतचन्द्राचार्यकृतात्मख्याति-टीका।

यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यालम्बनरहित-विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ– परमार्थनय का यदि सर्वथा यह आशय लिया जाय कि जीव शरीर और रागादिक से सर्वथा भिन्न है, तो जैसे पुद्गल के घात से हिंसा नहीं होती उसी तरह एकेन्द्रिय, विकलत्रय तथा असंज्ञी-संज्ञी जीव के घात से भी हिंसा नहीं होगी और हिंसा के अभाव में बन्ध भी नहीं होगा। इसी तरह रागादि तो जीव के सर्वथा हैं ही नहीं, यह माना जाय तो रागादिक के निवारण के लिये व्रत, तपश्चरण आदि का जो उपदेश है वह सर्वथा विफल होगा। मोक्ष के कारणों का अभाव होने से मोक्ष का भी अभाव हो जायगा, अतः व्यवहारनय से आत्मा का ही शरीर है और अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक आत्मा के ही चारित्रगुण के विकार हैं। द्रव्यप्राण— पञ्च इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास तथा आयु ये यथासम्भव एकेन्द्रियादि जीवों के जानना चाहिये। अर्थात् एकेन्द्रिय के चार प्राण होते हैं— स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। द्वीन्द्रिय जीव के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, कायबल और वचन बल तथा आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं, त्रीन्द्रिय जीव के उक्त छह तथा घ्राणेन्द्रिय इस तरह सात प्राण होते हैं, चतुरिन्द्रिय जीव के उक्त सात तथा चक्षुरिन्द्रिय इस तरह आठ प्राण होते हैं, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के श्रवणेन्द्रिय और होने से नव प्राण होते हैं और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के मनोबल अधिक होने से दश प्राण होते हैं। व्यवहार में इन प्राणों के संयोग से जीव संसार में जीता है और इनका वियोग होने से मरण अवस्था को प्राप्त होता है। निश्चय से सुख, सत्ता, चैतन्य और बोध ये प्राण जीव के हैं।

अब विचार करो, जब ये दश प्राण पुद्गल से जायमान होने के कारण पुद्गल के ही हैं तब इनके घात से आत्मा का घात कैसे माना जावे? और आत्मा का घात न होने में हिंसा का मानना निरर्थक है। पर यह कहना या मानना ठीक नहीं है क्योंकि इनके घात में संक्लेश परिणाम होते हैं और वे ही संक्लेश परिणाम हिंसा के कारण हैं। यह प्राण तो अतिसान्निध्य की वस्तु है, पुत्रादिकों के वियोग में जीवों के आताप परिणाम देख जाते हैं। अथवा पुत्रादि भी दूर रहो, धनादि पदार्थों के नष्ट होने पर आत्मा दुःखी होता है। परमार्थ से हिंसा का कारण, हिंसा करनेवाले का कषायभाव है। परकी हिंसा हो या न हो, प्रमत्तयोग के सद्भाव में हिंसा होती है। अतएव श्रीगुरुओं

भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम् । तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः।।४६।। — तात्पर्यवृत्तिः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ने लिखा है[१]—जीव मरो, चाहे मत मरो, जिनकी अयत्नाचार से प्रवृत्ति होती है उनके नियम से हिंसा होती है और जहाँ पर यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति है वहाँ बाह्य में जीव का घात हो अथवा न हो, हिंसा नहीं होती। जैसे तपोधन यतीन्द्र ईर्यासमितिपूर्वक गमन कर रहे हैं, चार हाथ प्रमाण पृथिवी को सावधानतापूर्वक देख कर पैर उठाते हैं उस समय यदि काल का प्रेरा सूक्ष्म जीव उनके पगतल के नीचे दबकर मरण को भी प्राप्त हो जावे तो भी तपोधन यतीन्द्र हिंसा के भागी नहीं, क्योंकि उनके प्रमाण नहीं है।।४६।।

अब किस दृष्टान्त से इस व्यवहार की प्रवृत्ति हुई ? यही कहते हैं-

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ।।४७।।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ।।४८।।

(जुगलं)

अर्थ– जिस तरह जहाँ पर सेना का समुदाय निकलता है वहाँ पर व्यवहार से यह कथन होता है कि यह राजा निकला। निश्चय से विचार किया जाये तो सेना समुदाय से राजा भिन्न पदार्थ है परन्तु व्यवहार से ऐसा कथन होता है कि राजा निकला, परमार्थ से राजा एक है। इसी तरह अध्यवसानादिक तो अन्य भाव हैं उनको परमागम में 'जीव हैं' ऐसा व्यवहार से निरूपण किया है, निश्चय से विचार किया जावे तो जीव एक ही है।

विशेषार्थ– जैसे—'यह राजा पञ्च योजन के विस्तार को व्याप्त कर निकल रहा है' इस कथन में निश्चय से परामर्श किया जावे तो एक राजा का पञ्च योजन क्षेत्र में विस्तार होना अलीक है, तो भी व्यवहारी मनुष्यों का सेनासमूह में 'राजा' ऐसा व्यवहार होता है और इसलिए व्यवहार दृष्टि से वह अलीक भी नहीं है। परमार्थ से यद्यपि राजा एक है और उसका पञ्चयोजन विस्तार में सद्भाव होना असंभव है

---

१. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।। -प्रवचनसार गाथा २१७।

२. उच्चालयम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ।।१।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये ।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्पमाणदो दिट्ठो ।।२।। — प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथापि राजा सम्बन्धिनी सेना होने से उस स्थल में यह व्यवहार उपयुक्त ही है। इसी तरह यह जीव सम्पूर्ण रागस्थानों में व्याप्त होकर रहता है, यह कथन होता है। परन्तु निश्चय से विचारा जावे तो एक जीव का समस्त रागादि स्थानों में व्याप्त होकर रहना अलीक है क्योंकि परमार्थ से जीव एक ही है। पर्यायदृष्टि से देखा जावे तो ये अध्यवसानादिक भाव जीव के ही परिणमन विशेष हैं और जबतक जीव के मोहादिक कर्मों के सम्बन्ध से संसार है तबतक ये सब नियम से होते रहेंगे। फिर भी द्रव्यदृष्टि से आत्मा एक ही है क्योंकि सामान्यदृष्टि में विशेष कथन गौण रहता है।।४७,४८।।

अब शिष्य का यह प्रश्न है कि यदि वे अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं हैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण परमार्थ जीव का क्या स्वरूप है? आचार्य इसका उत्तर देते हैं–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

अर्थ– हे भव्य! तू आत्मा को ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गन्धरहित है, अव्यक्त है अर्थात् स्पर्शरहित है, शब्दरहित है, अलिङ्ग ग्रहण है अर्थात् किसी खास लिङ्ग से उसका ग्रहण नहीं होता तथा जिसका कोई आधार निर्दिष्ट नहीं किया गया है ऐसा है किन्तु चेतनागुण वाला है। आत्मा में यह चेतना ही ऐसा विलक्षण गुण है जो अपना और पर का प्रतिभास करा रहा है। इसी गुण की सामर्थ्य है कि वह स्वपर को बोधित करा रहा है। इसके अभाव में सर्वत्र अन्धकार ही है।

विशेषार्थ– वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन के दो अङ्ग हैं—पहला पररूपापोहन अर्थात् पर से उसकी व्यावृत्ति करना और दूसरा स्वरूपोपादान अर्थात् अपने रूप का ग्रहण करना। यहाँ जीवपदार्थ का वर्णन करते हुए आचार्य महाराज ने दोनों अङ्गों को अपनाया है। प्रथम अङ्ग में पर की व्यावृत्ति करते हुए कहा है कि जीव रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, लिङ्ग तथा आकार से रहित है क्योंकि ये सब पुद्गल के धर्म हैं और दूसरे अङ्ग में स्वरूप का ग्रहण करते हुए कहा है कि वह चेतनागुण से सहित है अर्थात् चेतना जीव का स्वगुण है और रसादिक साथ में लगे हुए पुद्गल के गुण हैं। इन्हीं अङ्गों का स्पष्ट वर्णन इस प्रकार है—

जो आत्मा है वह पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न है क्योंकि पुद्गल और जीव भिन्न-भिन्न लक्षण वाले हैं, यही दिखाते हैं—आत्मा पुद्गलद्रव्य से भिन्न है क्योंकि रसगुण उसमें नहीं है, जिसमें रसगुण नहीं वह पुद्गलद्रव्य से भिन्न है और आत्मा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं रसगुणात्मक नहीं, इससे पुद्गलद्रव्य का गुण भी नहीं है। परमार्थ से आत्मा पुद्गलदगव्य का स्वामी भी नहीं है। इसी से द्रव्येन्द्रिय के अवष्टम्भ से रसरूप नहीं है तथा भावेन्द्रिय के अवलम्बन से भी रसरूप नहीं है क्योंकि आत्मा में स्वभाव से क्षायोपशमिक भाव का अभाव है। आत्मा का जो ज्ञान है वह सकल ज्ञेय साधारण है अर्थात् सब ज्ञेयों को जानने की सामर्थ्य से युक्त है। अत: अकेले रसज्ञान के सद्भाव से भी रसरूप नहीं है। ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान है परन्तु ज्ञेयरूप नहीं हो जाता। अत: रस के ज्ञान का आश्रय होने पर भी स्वयं रसरूप परिणत नहीं है। इस तरह छह प्रकार से आत्मा रसरूप न होने से अरस है। इसी तरह रूप, गन्ध तथा स्पर्श का भी निषेध जानना चाहिये। अर्थात् आत्मा न रूपस्वरूप है, न गन्धरूप है और न स्पर्शरूप है। रूप,. रस, गन्ध और स्पर्श तो पुद्गल के गुण हैं। सो जिस प्रकार आत्मा इन पुद्गल के गुणों से रहित है उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य के पर्यायरूप भी नहीं है अर्थात् पौद्गलिक पर्यायों से रहित है। आत्मा पुद्गलद्रव्य से अन्य है अतएव शब्दपर्याय रूप नहीं है। तथा पुद्गलद्रव्य की पर्याय आत्मा नहीं है अतएव शब्दपर्यायरूप नहीं है। द्रव्यइन्द्रिय के अवष्टम्भ से भी शब्दपर्याय रूप नहीं है क्योंकि परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामी नहीं है। स्वभाव से क्षायोपशामिक भाव आत्मा में नहीं है अतएव भावेन्द्रिय के अवलम्बन से भी शब्द रूप नहीं है। आत्मा का ज्ञान सकल ज्ञेय साधारण है अत: केवल शब्दज्ञान रूप न होने से भी आत्मा शब्दरूप नहीं है, इस तरह छह प्रकार से पुद्गल पर्याय से भी आत्मा भिन्न है। अब अनिर्दिष्ट संस्थान को कहते हैं—

द्रव्यान्तर जो पुद्गल द्रव्य है उसके द्वारा रचित शरीर के संस्थान (आकार विशेष) के द्वारा आत्मा के संस्थान का निरूपण होना अशक्य है। जिनके संस्थान नियत नहीं ऐसे अनन्त शरीरों में नियत स्वभाव से रहता है अत: शरीर के संस्थानों से भी उसके संस्थान का निर्णय नहीं हो सकता है। संस्थान नामकर्म का विपाक पुद्गलों में है अत: इससे भी आत्मा के संस्थान का निर्णय नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न आकार से परिणमने वाले जो समस्त पदार्थ हैं वे ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं अर्थात् ज्ञान ज्ञेयों के निमित्त से तद्-तद् ज्ञेयों के आकार परिणमन करता है फिर भी अखिल लोक के संवलन से शून्य रहता है, केवल अपनी निर्मल अनुभूतिरूप ही रहता है अतएव आत्मा का कोई निर्दिष्ट संस्थान नहीं है। इस तरह चार हेतुओं से भी आत्मा अनिर्दिष्ट संस्थान है। अब अव्यक्त बताने का उपक्रम करते हैं—

षड्द्रव्यात्मक लोक है। वह ज्ञेय है तथा व्यक्त है, उससे जीव अन्य है अर्थात् लोक व्यक्त है जीव व्यक्त नहीं, इससे अव्यक्त है। कषाय का समूह जो भावकभाव है वह व्यक्त है उससे जीव नामक पदार्थ भिन्न है, इसलिये भी आत्मा अव्यक्त है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चित्सामान्य में चैतन्य की सब व्यक्तियाँ अन्तर्भूत हो जाती हैं इसलिये भी अव्यक्त है। क्षणिकव्यक्तिमात्र के न होने से भी अव्यक्त है। व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों भाव मिश्ररूप से यद्यपि इसमें भासमान होते हैं तो भी केवल व्यक्त भाव का स्पर्श नहीं करता है इस कारण भी अव्यक्त है। निश्चय से आत्मा स्वयमेव बाह्य और आभ्यन्तर स्पष्ट रूप से प्रतिभासमान होने पर भी व्यक्तरूप को स्पर्श नहीं करता, इससे भी अव्यक्त है। इस तरह छह हेतुओं से आत्मा को अव्यक्त कहा।

इस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान तथ व्यक्त स्वरूप के अभाव होने पर भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के बल से अपने आप प्रत्यक्ष का विषय होने से केवल अनुमान का गोचर भी नहीं, इससे आत्मा अलिङ्गग्रहण कहा जाता है अर्थात् आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय है तब उसका लिङ्ग द्वारा अनुमान करना व्यर्थ है।

इस तरह परापोहन अर्थात् परद्रव्य की व्यावृत्तिपूर्वक जीवद्रव्य का वर्णन कर अब स्वरूपोपादान अर्थात् स्वकीयगुणग्रहणपूर्वक जीवद्रव्य का वर्णन करते हैं—

वह जीवद्रव्य चेतनागुण से सदा अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है, इससे चेतनागुण वाला है। वह चेतनागुण सम्पूर्ण एकान्तवादियों की समस्त विप्रतिपत्तियों—विरोधों का निराकरण करनेवाला है, उसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानियों को सौंप दिया है, सम्पूर्ण लोकालोक को ग्रासीभूत कर अर्थात् अपने ज्ञान का विषय बनाकर बहुत भारी तृप्ति के भार से मन्थर हुए की तरह वह अपने स्वरूप से किञ्चिन्मात्र भी चलायमान नहीं होता तथा अन्य द्रव्य से असाधारण है, अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों से इसका अस्तित्व नहीं, अत: जीव का स्वभावभूत होकर स्वयं अनुभव में आ रहा है, ऐसे चेतनागुण के द्वारा ही आत्मा का अस्तित्व है। अरस-अरूपत्व आदि धर्म तो जीव के सिवाय धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य में भी विद्यमान हैं, अत: उनके द्वारा पुद्गलद्रव्य से व्यावृत्ति होने पर भी अन्य अजीव द्रव्यों से व्यावृत्ति न होने से जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। जीव का अस्तित्व तो एक चेतनागुण के द्वारा ही होता है। इस तरह चेतनागुण से युक्त, निर्मल प्रकाश का धारक, एक टङ्कोत्कीर्ण भगवान् आत्मा ज्योति:स्वरूप विराजमान है।।४९।।

यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा के द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ।।३५।।

अर्थ– हे भव्य जीवो! चैतन्यशक्ति से रहित समस्त अन्यभावों का शीघ्र ही परित्याग कर तथा चैतन्यशक्तिरूप निजस्वभाव में अच्छी तरह अवगाहन कर समस्त विश्व के ऊपर विचरण करते हुए अर्थात् सबसे पृथक् अनुभव में आते हुए परमात्मस्वरूप अविनाशी आत्मा का अपनी आत्मा में ही अनुभव करो।

भावार्थ– हे भव्यलोको! केवल एक अपने निजात्मा का निज आत्मा में अनुभव करो। उसके लिये चिच्छक्ति से भिन्न जो भाव हैं—चाहे वे द्रव्यरूप हों, चाहे गुणरूप हों अथवा चाहे कर्मनिमित्त से जायमान औदयिक आदि विभावरूप हों— उन सब का शीघ्र ही त्याग करना आवश्यक है तथा चिच्छक्तिमात्र अर्थात् रागादिक की पुष्टि से रहित मात्र ज्ञायकशक्तिरूप निजस्वरूप में अच्छी तरह अवगाहन करना—उसी का मनन करना अपेक्षित है। वह निज आत्मा स्वपरावभासक होने से समस्त लोक के ऊपर विचरण करता है अर्थात् उसकी सत्ता सबसे पृथक् अनुभूति में आती है, वह परमात्मस्वरूप है अर्थात् पर्यायार्थिकनय से यद्यपि एकेन्द्रियादि पर्यायों में परिभ्रमण करता हुआ रागी, द्वेषी और अज्ञानी हो रहा है तथापि द्रव्यदृष्टि से वह परमात्मा के समान सर्वज्ञ-वीतराग है तथा अनन्त अविनाशी है।।३५।।

अनुष्टुप्छन्द

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी।।३६।।

अर्थ– चैतन्यशक्ति से व्याप्त है सर्वस्वसार जिसका ऐसा जीव तो इतने मात्र है और इसके सिवाय जितने भी भाव हैं वे सभी पुद्गलमय हैं।

भावार्थ– आत्मा का सर्वस्वसार चेतनाशक्ति से व्याप्त है। इससे शून्य जो भी भाव हैं वे सब पुद्गलजन्य होने से पुद्गल के ही हैं उनमें आत्मा का अस्तित्व खोजना शशशृङ्ग के तुल्य है। यहाँ ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म तथा शरीर तो स्पष्ट ही पुद्गलद्रव्य के परिणमन होने से पौद्गलिक हैं परन्तु रागादिक भावकर्म को भी पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण पौद्गलिक कहा है। यह निमित्त की मुख्यता से कथन है। उपादान की मुख्यता से वे आत्मा के ही विकारी भाव हैं।।३६।।

आगे इसी का विशेष विवरण आचार्य छह गाथाओं में कहते हैं–

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ।।५०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि।।५२।।
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा।।५४।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा।।५५।।

(षट्कम्)

अर्थ– जीवके न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न संस्थान है, न संहनन हैं। जीव के न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न प्रत्यय (आस्रव) हैं, न नोकर्म हैं। जीव के न वर्ग है, न वर्गणा हैं, न स्पर्धक हैं, न अध्यात्मस्थान हैं, न अनुभागस्थान हैं। जीव के न कोई योगस्थान हैं, न बन्धस्थान हैं, न उदयस्थान हैं, न मार्गणास्थान हैं। जीव के न स्थितिबन्धस्थान है, न संक्लेशस्थान हैं, न विशुद्धिस्थान हैं, न संयमलब्धिस्थान हैं। जीव के न जीवस्थान हैं और न गुणस्थान हैं क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणमन हैं।

विशेषार्थ– जो वस्तु जिसका परिणाम होती है, वह उसी रूप होती है, यह नियम है। अत: ये वर्णादिक जब पुद्गल के परिणाम हैं तब पुद्गल के ही होंगे, इन्हें जीव मानना न्यायपथ का अनुसरण नहीं करना है।

जो काला, हरा, पीला, लाल, सफेद वर्ण है वह रूपगुण का परिणमन विशेष है। रूपगुण पुद्गल का गुण है अत: ये सब रूपगुण के पर्यायरूप से अभिन्न हैं और रूप पुद्गलद्रव्य का गुण है अत: वह पुद्गल का ही है, जीव का नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य का परिणमनमय होने से वह निज अनुभूति से भिन्न है। इस लिए आत्मा के ज्ञान में रूप भासमान होता है क्योंकि ज्ञेय है। जो ज्ञेय है वह ज्ञान नहीं होता, ज्ञेयनिमित्तिक जो ज्ञान का परिणमन होता है उस परिणमन का ज्ञान के साथ तादात्म्य है, उसी का अनुभव ज्ञान में होता है, किन्तु जो बाह्य ज्ञेय है वह ज्ञान से अत्यन्त भिन्न है उसका अनुभव ज्ञान में नहीं होता, परन्तु मोही जीवों को बाह्य ज्ञेय का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही अनुभव ज्ञान द्वारा होता है। जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है वह भी जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्य का परिणाम है, अतएव अनुभूति से भिन्न है। कटुक, कषाय, तिक्त, अम्ल, मधुररूप रस का जो परिणमन हो रहा है वह सब परिणमन जीव नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाम है। अत: अनुभूति से भिन्न है। जो स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, गुरु, लघु, मृदु, कठिन स्पर्श हैं वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, अत: जीव की अनुभूति से भिन्न हैं। जो स्पर्शादि सामान्यपरिणाम मात्र रूप है वह भी जीवद्रव्य नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य का परिणाम है अतएव अनुभूति से भिन्न है। जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर हैं ये सब जीव नहीं हैं क्योंकि इनका उत्पाद पुद्गलद्रव्य से होता है, अतएव आत्मा की अनुभूति से भिनन हैं। जो समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वाती, कुब्जक, वामन, हुण्डक संस्थान हैं वे सब जीव नहीं हैं, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, अतएव अनुभूति से भिन्न हैं। जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक और स्फाटिक संहनन हैं वे सब जीव नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामविशेष हैं, अत: अनुभूति से भिन्न हैं।

जो प्रीतिरूप परिणाम है वह राग है। वह भी जीव नहीं है क्योंकि पौद्गलिक मोहकर्म के उदय से जायमान होने से पुद्गल का परिणाम है, अतएव अनुभूति से भिन्न है। अप्रीतिरूप जो भाव है वह द्वेष है। वह भी जीव नहीं है क्योंकि द्वेषरूप मोहप्रकृति के उदय से होता है, अतएव पुद्गल है और अनुभूति से भिन्न है। तत्त्व की जो अप्रतीतिरूप जो मोह है वह भी जीव नहीं है, क्योंकि पुद्गलात्मक मिथ्यात्वकर्म के उदय से जायमान है, अत: अनुभूति से भिन्न है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगरूप जो प्रत्यय हैं वे ही कर्मबन्ध के निमित्त हैं अतएव इन्हें आस्रव कहते हैं। ये जो मिथ्यात्व आदि प्रत्यय हैं वे जीव नहीं हैं, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामविशेष हैं, अत: अनुभूति से भिन्न हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप जो आठ कर्म हैं वे भी जीव नहीं हैं क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से अनुभूति से भिन्न हैं तथा छह पर्याप्ति और तीन शरीर के योग्य वस्तुभूत जो नोकर्म हैं वे जीव नहीं हैं, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं।

अविभागप्रतिच्छेदों के धारक कर्मपरमाणुओं का नाम वर्ग है। वह वर्ग भी जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्यात्मक होने के कारण अनुभूति से भिन्न है। वर्गों के समुदायरूप जो वर्गणा है वह जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्य का परिणाम होने से अनुभूति से भिन्न है। वर्गणाओं का समुदायरूप जो स्पर्द्धक है वह भी जीव नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्य का परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न है। स्वपर में

Jain Education International　　For Personal & Private Use Only　　www.jainelibrary.org

एकत्व का अध्यास—मिथ्या आरोप होने पर विशुद्ध चैतन्य परिणाम से भिन्न जो अध्यात्म स्थान हैं वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के रसपरिणामरूप लक्षण से युक्त जो अनुभागस्थान हैं वे भी जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं।

काय, वचन और मनोवर्गणा के निमित्त से आत्मप्रदेशों में होनेवाले परिस्पन्द को योगस्थान कहते हैं। ये सब योगस्थान जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणामरूप जो बन्धस्थान हैं वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं। अपना फल प्रदान करने में समर्थ कर्मों की अवस्थारूप जो उदयस्थान हैं वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम के होने के अनुभूति से भिन्न हैं। और गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और के भेद से जो चौदह प्रकार के मार्गणास्थान हैं वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं।

भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली कर्मप्रकृतियों का कालान्तर में स्थित रह सकना जिनका लक्षण है ऐसे स्थितिबन्धान जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं। कषाय के उदय की तीव्रतारूप लक्षण से युक्त जो संक्लेशस्थान हैं वे सब जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं। कषाय के उदय की मन्दतारूप लक्षण से सहित जो विशुद्धिस्थान हैं वे सब भी जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं और चारित्रमोह के विपाक की क्रम से निवृत्ति होना ही जिनका लक्षण है ऐसे सब संयमलब्धिस्थान जीव नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं।

बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय इन सात के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चौदह जीवस्थान होते हैं। इन्हें ही जीवसमास कहते हैं, ये सब जीव नहीं हैं, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं तथा मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यक्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणोपशमक-क्षपक (उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी-वाला अपूर्वकरण), अनिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमक-क्षपक (उपशमश्रेणी और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षपकश्रेणीवाला अनिवृत्तिकरण परिणामों से युक्त बादरसाम्पराय), सूक्ष्मसाम्परायोपशमकक्षपक (उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीवाला सूक्ष्मसाम्पराय), उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये जो चौदह गुणस्थान हैं वे जीव नहीं हैं, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने के कारण अनुभूति से भिन्न हैं। ये सब वर्णादिक जीव के क्यों नहीं है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य महाराज ने कहा है क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं अर्थात् इनमें कितने ही साक्षात् पुद्गलद्रव्य के परिणमन हैं और कितने ही पुद्गलद्रव्य के निमित्त से जायमान आत्मा के विकारीभाव हैं। जिस प्रकार अग्नि के निमित्त से होनेवाली जल की उष्णता यथार्थ में अग्नि की कही जाती है उसी प्रकार पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाले रागादिक पुद्गल के कहे जाते हैं।।५०-५५।।

अब वर्णादिक का पृथक्पन अमृतचन्द्र स्वामी कलशा के द्वारा प्रकट करते हैं—

शालिनीछन्द

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावा: सर्व एवास्य पुंस:।
तेनैवान्तस्तत्त्वत: पश्यतोऽमी
नो दृष्टा: स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ।।३७।।

अर्थ– वर्णादिक अथवा रागमोहादिक सभी भाव इस आत्मा से भिन्न हैं, इसलिये परमार्थ से अन्त:करण में अवलोकन करनेवाले पुरुष को ये सब भाव नहीं दिखते, केवल एक आत्मतत्त्व ही उसे दिखाई देता है।

भावार्थ– वर्णादिक व रागमोहादिक जितने भी भाव ऊपर कहे गये हैं वे सब जीव के नहीं हैं क्योंकि जीव से भिन्न हैं। यही कारण है कि जो अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले हैं अर्थात् परमार्थ से जीव के स्वरूप को देखते हैं वे इन सब भावों को जीव में नहीं देखते। जो जीव की सब अवस्थाओं में पाये जावें, वहीं तो जीव के भाव हैं, अतएव जीव की सब अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहनेवाला केवल एक चैतन्यभाव है उसी को परमार्थ से देखते हैं।।३७।।

अब यहाँ पर यह आशङ्का होती है कि ये भाव यदि जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्तशास्त्रों में ये जीव के क्यों कहे गये हैं? इसका उत्तर स्वयं आचार्य नीचे की गाथा में देते हैं–

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।।५६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– वर्ण आदि को लेकर गुणस्थान पर्यन्त के ये भाव व्यवहारनय से जीव के हैं, परन्तु निश्चयनय से कोई भी जीव के नहीं है।

विशेषार्थ– यहाँ पर व्यवहारनय पर्याय के आश्रय है, अतएव इसकी दृष्टि में इस जीव का अनादिकाल से पुद्गलद्रव्य के साथ बन्ध होने के कारण जिस तरह कुसुम्भरङ्ग सूती वस्त्र का कहा जाता है उसी तरह औपाधिकभावों का अवलम्बन कर उपर्युक्त सब भाव जीव के कहे जाते हैं, क्योंकि व्यवहारनय परकीय भावों को पर का कहता है और निश्चयनय केवल द्रव्य के आश्रित होने से सम्पूर्ण परभावों का पर में निषेध करता है। अत: निश्चयनय की दृष्टि में वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जितने भी भाव हैं, वे सब जीव के नहीं हैं। इस तरह वर्ण आदि को लेकर गुणस्थानपर्यन्त तक के भाव व्यवहारनय से जीव के हैं, परन्तु निश्चयनय से जीव के नहीं है।

परमागम में पदार्थ को द्रव्य और पर्यायरूप कहा गया है। इसी को दर्शनशास्त्र में सामान्य विशेषात्मक कहा जाता है क्योंकि द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष है। जो नय द्रव्य की प्रधानता से वर्णन करता है वह द्रव्यार्थिकनय कहलाता है। इसी को निश्चयनय कहते हैं और जो पर्याय की प्रमुखता से वर्णन करता है वह पर्यायार्थिकनय कहलाता है। इसी को व्यवहारनय कहते हैं। पर्याय दो प्रकार की होती हैं, एक स्वनिमित्तक और दूसरी स्वपरनिमित्तक। कालादि सामान्यनिमित्तों की विवक्षा न करने पर धर्म, अधर्म, आदि सभी द्रव्यों का अनादिकाल से जो परिणमन चला आ रहा है वह स्वनिमित्तक पर्याय है और पुद्गलद्रव्य के संयोग से जीव में जो रागादिकरूप परिणमन होता है वह, तथा जीव के संयोग से पुद्गल में जो कर्मादिरूप परिणमन होता है वह स्वपरनिमित्तक पर्याय है। इनमें स्वनिमित्तक पर्याय तो द्रव्य की है ही, परन्तु व्यवहारनय परनिमित्तक (विभाव) पर्याय को भी द्रव्य की है ऐसा वर्णन करता है। जिस प्रकार कुसुम्भरङ्ग से रंगा हुआ वस्त्र लाल दिखता है, यहाँ जो लालिमा है वह वास्तव में कुसुम्भरङ्ग की है, परन्तु व्यवहार में वस्त्र को लाल कहा जाता है। अर्थात् लालिमा वस्त्र की है ऐसा निरूपण किया जाता है। इसी प्रकार रागादिक द्रव्यकर्म के उदय से आत्मा राग-द्वेषी देखा जाता है। यहाँ राग और द्वेष, द्रव्यकर्म के उदय से जायमान होने के कारण द्रव्यकर्म के हैं परन्तु व्यवहार में आत्मा को रागी-द्वेषी कहा जाता है अर्थात् रागद्वेष आत्मा के हैं ऐसा निरूपण किया जाता है। परन्तु जब द्रव्यार्थिकनय अथवा निश्चयनय की अपेक्षा विचार किया जाता है तब रागादिक जीव के स्वनिमित्तक परिणमन नहीं हैं इसलिए ये जीव के नहीं हैं, ऐसा निरूपण किया जाता है। अत: अन्य शास्त्रों में जहाँ रागादिक को जीव का कहा गया है वह व्यवहारनय का कथन जानना चाहिये।।५६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे फिर आशङ्का होती है कि ये सब भाव निश्चय से जीव के क्यों नहीं है? इसी का आचार्य नीचे लिखी गाथा से उत्तर देते हैं–

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।

ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।५७।।

अर्थ– इन वर्णादिक के साथ जीव का सम्बन्ध दूध और पानी के समान जानना चाहिये, क्योंकि जीव उपयोगगुण से अधिक है। अत: वर्णादिक जीव के नहीं हैं।

विशेषार्थ– यद्यपि क्षीर और जल का परस्परावगाह लक्षण सम्बन्ध है और उसे ही देखकर लोग क्षीर और जल को एक मानते हैं, तो भी क्षीर का कुछ ऐसा विलक्षण स्वाद है कि जो जल में नहीं पाया जाता अथवा क्षीर में क्षीरत्वनाम का एक ऐसा असाधारण धर्म हैं जैसा कि अग्नि में उष्णतागुण होता है। उसी क्षीरत्वनामक असाधारण धर्म के द्वारा क्षीर जल से भिन्न है। जिस प्रकार अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है उस प्रकार क्षीर का जल के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, अत: निश्चय से क्षीर जल नहीं है। इसी प्रकार वर्णादिमान् जो पुद्गलद्रव्य है उसी का परिणमन शरीर तथा ज्ञानावरणादि कर्म हैं और इन्हीं के निमित्त से रागादिक औपाधिक भाव होते हैं। इन सबके साथ यद्यपि जीव का परस्परावगाहलक्षण सम्बन्ध अनादिकाल से धारावाहीरूप में चला आ रहा है और इसी को देखकर अज्ञानी लोग शरीरादि परद्रव्य और जीव को एक मान लेते हैं, परन्तु जैसा उष्णगुण के साथ अग्नि का तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा शरीरादिक का जीव के साथ तादात्म्य नहीं है। जीव का स्वलक्षण उपयोगगुण है, उसी के साथ उसका तादात्म्य सम्बन्ध है, यह उपयोग गुण एक जीवद्रव्य में ही पाया जाता है, अन्य द्रव्यों में नहीं। इसलिए इस असाधारण गुण के कारण जीवद्रव्य सब द्रव्यों से अतिरिक्त पृथक् अनुभव में आता है। अत: निश्चयनय से वर्णादिक पुद्गल के परिणाम हैं, जीव के नहीं।।५७।।

आगे प्रश्न होता है कि यदि वर्णादिक जीव के नहीं हैं तो यह पुरुष काला है, यह गोरा है, यह मोटा है, यह पतला है इत्यादि व्यवहार विरोध को प्राप्त होता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य व्यवहार का अविरोध दिखलाते हैं। अथवा पूर्वोक्त व्यवहार में जो विरोध आता है उसका लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा परिहार करते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।५९।।
गंध-रस-फास-रूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।६०।।

अर्थ– जिस प्रकार मार्ग में किसी सार्थ—यात्रीसंघ को लुटता देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है परन्तु परमार्थ से कोई मार्ग नहीं लुटता, इसी प्रकार जीव में कर्म और नोकर्म के वर्ण को देखकर 'यह वर्ण जीव का है' ऐसा व्यवहार से जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। इस तरह गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर तथा संस्थान आदिक जितने हैं वे सब व्यवहार से जीव के हैं, ऐसा निश्चय के देखने वाले कहते हैं।

विशेषार्थ– जैसे मार्ग में जाने वाले वनजारों के समूह को लुटता देखकर उपचार से लोग ऐसा कह देते हैं कि यह मार्ग लुटता है। यदि निश्चय से देखा जावे तो मार्ग आकाश के विशेष प्रदेशों में स्थित पृथिवी आदि का परिणमनविशेष है उसे कोई लूटता नहीं। ऐसे ही जीव में अनादि काल से कर्म और नोकर्म का सम्बन्ध है, उस कर्म और नोकर्म के वर्ण को देखकर 'यह जीव का वर्ण है' ऐसा भगवान् ने व्यवहार से कहा है। परन्तु निश्चय से जीव अमूर्तस्वभाव वाला तथा उपयोग गुण से अधिक है, अतः उसका कोई भी वर्ण नहीं है, यही कहने में आता है। इस तरह गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान ये सब व्यवहारनय से जीव के हैं, ऐसा अर्हन्त भगवान् ने यद्यपि कहा है तो भी निश्चयनय से जीव नित्य ही अमूर्तस्वभाव-वाला तथा उपयोग गुण से अधिक है, अतः ये सभी भाव जीव के नहीं हैं, क्योंकि जीव के साथ इनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु संयोग सम्बन्ध है जो कि दो द्रव्यों में ही होता है।।५८, ५९, ६०।।

आगे जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध क्यों नहीं है ? इसी का उत्तर देते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णदी।

संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई।।६१।।

अर्थ– वर्णादिक, संसारस्थ जीवों के उस संसार में रहते हुए होते हैं। संसार से छूटे हुए जीवों के वर्णादिक कोई भी नहीं हैं।

विशेषार्थ– जब तक जीवों के शरीर का सम्बन्ध है तब तक उन जीवों के वर्णादिका सम्बन्ध कह सकते हैं। परन्तु जो संसार से मुक्त हो चुके हैं उनके वर्णादि का सम्बन्ध नहीं है। अतः जीव की वर्णादि के साथ व्याप्ति मानना सर्वथा अयुक्त है। निश्चय से जो वस्तु सब अवस्थाओं में उस रूप से व्याप्त हो और उस स्वरूप की व्याप्ति से कभी भी रहित न हो उन दोनों का परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जैसे अग्नि सब अवस्थाओं में उष्णगुण के साथ व्याप्त होकर रहती है और उष्ण स्वरूप की व्याप्ति से कभी भी शून्य नहीं होती, इसलिये अग्नि का उष्णगुण के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। ऐसे ही पुद्गलद्रव्य सब अवस्थाओं में वर्णादि स्वरूप से व्याप्त रहता है, किसी भी अवस्था में वर्णादि रहित नहीं होता, अतः पुद्गलद्रव्य का वर्णादिगुणों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। यद्यपि जीव की संसार अवस्था में वर्णादिकों के साथ व्याप्ति है और संसार अवस्था में वर्णादिकों के साथ व्याप्ति है और संसार अवस्था में वर्णादिक की व्याप्ति की कभी शून्यता भी नहीं है तो भी जीव की सब अवस्थाएँ ऐसी नहीं है जो वर्णादिक की व्याप्ति की अपेक्षा करती हों, क्योंकि मोक्ष जीव की ऐसी अवस्था है जिसमें वर्णादिक का सम्बन्ध नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध किसी भी तरह नहीं है।।६१।।

आगे, यदि जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मानने का दुराग्रह हैं, तो उसमें यह दोष आवेगा यह कहते हैं–

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि।

जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।।६२।।

अर्थ– यदि तू ऐसा मानता है कि ये वर्णादिक सब भाव जीव हैं तो तेरे मत में जीव और अजीव में कोई विशेषता नहीं रह जावेगी।

विशेषार्थ– पुद्गल के जो वर्ण, रस आदि गुण हैं उनमें क्रम से अनेक परिणतियों का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। जैसे आम का वर्ण अपक्व अवस्था में हरा रहता है और पक्व अवस्था में पीला हो जाता है, अपक्व अवस्था में उसका रस आम्ल रहता है और पक्व अवस्था में मधुर हो जाता है। इस प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्णादिक प्रकट और अप्रकट अवस्था को प्राप्त हुई अपनी उन-उन परिणतियों से पुद्गलद्रव्य का अनुगमन करते हुए जिस तरह पुद्गलद्रव्य का वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्रसिद्ध करते हैं उसी तरह वर्णादिक भाव, अपनी प्रकट और अप्रकट अवस्था को प्राप्त हुई उन-उन परिणतियों से जीव का अनुगमन करते हुए जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्रसिद्ध करते हैं ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मत में शेष द्रव्यों से असाधारण वर्णादिमत्त्व जो पुद्गलद्रव्य का लक्षण था उसे जीवद्रव्य ने स्वीकृत कर लिया, अत: जीव और पुद्गल में अविशेषता का प्रसङ्ग आ जावेगा, अर्थात् दोनों एक समान हो जावेंगे। इस स्थिति में पुद्गलद्रव्य से भिन्न जीव का अस्तित्व समाप्त हो जाने से जीव का अभाव हो जायेगा। अत: जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मानने में मूलोच्छेद दोष आता है।।६२।।

आगे संसार अवस्था में यदि जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य माना जावे तो क्या आपत्ति है? इसका भी गुरु उत्तर देते हैं–

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा।।६३।।
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुपगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो।।६४।।

(जुगलं)

अर्थ– यदि तेरे मत में संसारस्थ जीवों का वर्णादि के साथ तादात्म्य है ऐसा माना जावे, तो संसारस्थ जीव रूपीपने को प्राप्त हो जावेंगे, ऐसा मानने पर पुद्गलद्रव्य ही जीव सिद्ध हुआ और पुद्गल के समान लक्षण होने से हे मूढमते! निर्वाण को प्राप्त हुआ पुद्गल द्रव्य ही जीवपन को प्राप्त हुआ।

विशेषार्थ– संसारावस्था में जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है ऐसा जिसका आग्रह है उसके मत में उस समय वह संसारी जीव अवश्य ही रूपीपन को प्राप्त होता है और अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाने वाला रूपीपन किसी द्रव्य का लक्षण है तब उस रूपीपन से लक्ष्यमाण जो कुछ होता है वह जीव होता है। रूपीपन से लक्ष्यमाण पुद्गलद्रव्य ही होता है, इस प्रकार स्वयमेव पुद्गलद्रव्य ही जीव होता है अन्य कोई नहीं। ऐसा होने पर मोक्ष अवस्था में भी नित्य स्वीय लक्षण से लक्षित जो द्रव्य है वह अपनी समस्त अवस्थाओं में अनपायी तथा अनादिनिधन है, अत: पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव हुआ, अन्य कोई नहीं, वही पुद्गलद्रव्य मोक्ष को प्राप्त हुआ और ऐसा होने से पुद्गल से भिन्न जीवद्रव्य का अभाव ठहरता है, इस तरह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसारस्थ जीवों का भी वर्णादि के साथ तादात्म्य है ऐसा मानने पर जीव का अभाव होता है, इससे सिद्ध हुआ कि चाहे जीव संसारस्थ हो और चाहे संसारातीत, किसी का भी वर्णादि के साथ तादात्म्य नहीं है किन्तु संसारस्थ जीवों का वर्णादि के साथ क्षीर-नीर के समान परस्परावगाह रूप संयोग सम्बन्ध है।।६३, ६४।।

आगे आचार्य इसका विशेष वर्णन करते हैं–

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
वादर पज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।।६५।।
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहि कहं भण्णदे जीवो।।६६।।

अर्थ– एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त जीव ये सब नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। कारणभूत इन प्रकृतियों के द्वारा ही जीवस्थान रचे गये हैं। अत: पुद्गलमयी उन प्रकृतियों के द्वारा रचे गये जीवस्थान जीव के कैसे कहे जा सके हैं?

विशेषार्थ– निश्चयनय से कर्म और करण में अभिन्नता है। जो जिसके द्वारा रचा जाता है वह वही होता है। जैसे सुवर्ण के द्वारा रचा गया सुवर्णपत्र सुवर्ण ही होता है अन्य नहीं। जब ऐसी वस्तु की सीमा है तब बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, असंज्ञी और संज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त नामक नामकर्म की पुद्गलमय प्रकृतियों से रचे गये जीवस्थान पुद्गल ही होंगे, जीव नहीं। नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलात्मकता आगम सिद्ध है तथा इस अनुमान से भी सिद्ध है— 'नामकर्म की प्रकृतियाँ पुद्गलात्मक हैं क्योंकि उनका दिखाई देने वाला शरीरादि मूर्तिक कार्य पुद्गलात्मक हैं' इसी प्रकार गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलात्मक नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा रचे जाने से पुद्गल से अभिन्न ही हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वर्णादिक जीव नहीं हैं।।६५,६६।।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा कहते हैं—

उपजातिछन्द

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्
तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनान्यत् ।
रूक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यन्ति रुक्मं न कथञ्चनासिम् ।।३८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– इस संसार में जो वस्तु जिसके द्वारा रची जाती है वह उसी रूप होती है, अन्य रूप किसी तरह नहीं होती। जैसे सुवर्ण से बनी हुई तलवार की म्यान को लोग सुवर्ण की देखते हैं, तलवार को सुवर्ण की किसी तरह नहीं देखते।

भावार्थ– तलवार की म्यान सुवर्ण की बनी है और तलवार लोहे की, तो संसार में लोग म्यान को सुवर्ण की और तलवार को लोहे की ही देखते हैं क्योंकि ऐसा नियम है कि जो वस्तु जिससे बनती है वह उसी रूप होती है। यहां प्रकृत में वर्णादिक पुद्गलमय नामकर्म की प्रकृतियों से रचे गये हैं इसलिये वे पुद्गल के ही हैं। चैतन्य का पुञ्ज जीव पुद्गलमय प्रकृतियों से नहीं रचा गया है, इसलिये वह उनसे भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है।।३८।।

पूर्व कलश में वस्तूत्पत्ति की सीमा बनाकर उससे प्रकृत अर्थ को सिद्ध करते हुए दूसरा कलशा कहते हैं—

उपजातिछन्द

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः।।३९।।

अर्थ– वर्ण आदि को लेकर गुणस्थान पर्यन्त की यह सभी सामग्री एक पुद्गलद्रव्य की रचना है, ऐसा आप जानें। अतएव यह सब पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं, क्योंकि विज्ञानघन जीव उनसे भिन्न है।

भावार्थ– यहाँ वर्णादि परपदार्थों से शुद्ध आत्मतत्त्व को पृथक् सिद्ध करने के लिये आचार्य ने कहा है कि यह वर्णादिक सामग्री पुद्गल की है, विज्ञानघन जीव इससे भिन्न पदार्थ है, अतः दोनों को भी भिन्न-भिन्न समझकर भेदविज्ञान को पुष्ट करो।।३९।।

आगे इससे अन्य जितना भी है वह सब व्यवहार है, ऐसा कहते हैं–

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।।६७।।

अर्थ– जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा सूक्ष्म और बादर ये जो शरीर की जीवसंज्ञाएँ सूत्र में कही गई हैं वे व्यवहार से कही गई हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी, संज्ञी के भेद से दो प्रकार के पञ्चेन्द्रिय, इन सात के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो-दो भेद होते हैं, अत: सब मिलाकर चौदह जीवस्थान होते हैं। ये जीवस्थान शरीर की संज्ञाएँ हैं, परन्तु सूत्र—आगम में इन्हें जीव की संज्ञाएँ कहा है, सो यह पर की प्रसिद्धि से घी के घड़े के समान व्यवहार है। परन्तु यह व्यवहार अप्रयोजनार्थ है। यहाँ अप्रयोजनार्थ का अर्थ सर्वथा प्रयोजन नहीं, ऐसा नहीं है किन्तु अनुदरा कन्या के समान ईषद् अर्थ में 'नञ्' का प्रयोग होने से कुछ प्रयोजन से सहित, ऐसा है, यही दिखाते हैं- जैसे किसी की प्रसिद्धि में आजन्म से घी का घड़ा ही आ रहा है, उससे अतिरिक्त मिट्टी के घड़ा को वह नहीं जानता, उसके प्रबोध के लिए ऐसा कहा जाता कि जो यह घी का घड़ा है वह मिट्टी का बना हुआ है, घृतमय नहीं है, इस प्रकार उसके जानने के लिये जैसे 'घृतकुम्भ' यह व्यवहार होता है, ऐसे ही इस अज्ञानी जीव को, जिसके ज्ञान में अनादि संसार से अशुद्ध जीव ही आ रहा है तथा जो शुद्ध जीव से अनभिज्ञ है, उसके समझाने के लिये यह कहा जाता है कि यह जो वर्णादिमान् जीव है वह ज्ञानात्मक है वर्णादिमान् नहीं है, इस प्रकार उसकी प्रसिद्धि के लिए जीव में वर्णादिमान् यह व्यवहार चला आ रहा है।।६७।।

यही बात श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा में कहते हैं—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मय:।।४०।।

अर्थ– जिस प्रकार 'घृतकुम्भ' ऐसा कहने पर भी कुम्भ घृतमय नहीं हो जाता उसी प्रकार वर्णादिमान् जीव है ऐसा कहने पर भी जीव वर्णादिमय नहीं हो जाता।

भावार्थ– जिस प्रकार घी के संयोग से मिट्टी के घड़े को व्यवहार में घी का घड़ा कहा जाता है उसी प्रकार बादर, सूक्ष्म आदि शरीर के संयोग से जीव को बादर, सूक्ष्म आदि कहा जाता है। वास्तव में जैसे घड़ा मिट्टी का ही है, घी का नहीं, ऐसे ही जीव ज्ञानधन ही है, बादर, सूक्ष्ममादिरूप नहीं। अत: शास्त्र में जहाँ बादर, सूक्ष्म आदि के शरीर को जीव कहा है वहाँ व्यवहारनय से कहा है तथा अज्ञानी जीवों के प्रबोधनार्थ वह व्यवहारनय ईषत् प्रयोजनभूत है।।४९।।

आगे जिस प्रकार जीवस्थान जीव नहीं हैं उसी प्रकार गुणस्थान भी जीव नहीं है, यह दिखाते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।६८।।

अर्थ– जो ये गुणस्थान मोहकर्म के उदय से वर्णन किये गये हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं, क्योंकि ये नित्य अचेतन कहे गये हैं।

विशेषार्थ– ये जो मिथ्यात्वादि चतुर्दश गुणस्थान हैं वे सब पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृतियों के उदय से होने के कारण अचेतन हैं तथा कार्य कारण के अनुरूप ही होते हैं। जैसे 'यवधान्य से यव ही उत्पन्न होते हैं' इस न्याय से ये गुणस्थान पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। जब इन गुणस्थानों का कारण जो मोहकर्म है वह पुद्गलात्मक है तब ये गुणस्थान भी निर्विवाद पुद्गलात्मक ही हैं। गुणस्थान अचेतन हैं, इसमें आगम ही प्रमाण है तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा से ये गुणस्थान भिन्न हैं, ऐसी भेदज्ञानियों को उपलब्धि हो रही है उसमें भी इनका अचेतनपन सिद्ध होता है। स्वयं अचेतन होने तथा पौद्गलिक मोहकर्म के उदय से जायमान होने के कारण गुणस्थान पुद्गलमय हैं। इसी तरह राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान ये सभी पुद्गलकर्म पूर्वक होने से नित्य ही अचेतन हैं। अतएव पुद्गल हैं, जीव नहीं, ऐसा स्वयमेव सिद्ध हुआ। इसीलिये रागादिक भाव जीव नहीं हैं, यह निर्विवाद सिद्ध हुआ।

मोह और योग के निमित्त से आत्मा के गुणों—भावों का जो क्रमशः विकास होता है उसे गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान आत्मा की शुद्ध परिणतिरूप नहीं हैं किन्तु पर के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण अशुद्ध परिणतिरूप हैं। निश्चयनय स्व में स्व के निमित्त से जो परिणति होती है उसे ही ग्रहण करता है, अतः उसकी दृष्टि में पर के निमित्त से आत्मा में होनेवाली परिणतिरूप जो गुणस्थान हैं वे नहीं आते। निश्चयनय की दृष्टि में पौद्गलिक तथा अचेतन मोहकर्म के उदय से होनेवाले गुणस्थान पौद्गलिक तथा अचेतन कहे जाते हैं। यहाँ अचेतन का यह अर्थ नहीं कि घट-पटादि के समान सर्वथा जड़ हैं किन्तु चेतन जो आत्मद्रव्य, उसकी स्वकीय परिणति नहीं हैं, यह अर्थ ग्राह्य है। कुन्दकुन्दस्वामी ने निश्चय और व्यवहार के भेद से दो ही नय स्वीकृत किये हैं। इनमें द्रव्य की निज परिणति को विषय करने वाला निश्चयनय है और परपरिणति तथा पर के निमित्त से होनेवाली निज की परिणति को विषय करनेवाला व्यवहारनय है। ग्रन्थान्तरों में निश्चयनय के शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय ऐसे दो भेद बतलाये हैं। निज में निज के निमित्त से होनेवाली परिणति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को विषय करनेवाला शुद्ध निश्चयनय है और पर के निमित्त से जायमान निज की परिणति को विषय करनेवाला अशुद्ध निश्चयनय है। इस कथन में गुणस्थान तथा रागादिक भाव अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा के हैं ऐसा प्रतिपादन किया जाता है।।६८।।

अब यहाँ यह शङ्का स्वयमेव होती है कि यदि ये गुणस्थानादि सब भाव जीव नहीं हैं तो फिर जीव क्या है? इस शङ्का का उत्तर अमृतचन्द्र स्वामी कलशा में देते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते।।४१।।

अर्थ– जो स्वसंवेद्य है, अनादि है, अनन्त है, अचल है अर्थात् जिसका कभी विनाश नहीं होता, प्रकट है और चैतन्यस्वरूप है, ऐसा जीवनामक पदार्थ स्वयं अतिशय कर प्रदीपवत् प्रकाशमान हो रहा है।

भावार्थ– यह जीवतत्त्व द्रव्यदृष्टि से अनादि अनन्त है अर्थात् कभी नया उत्पन्न नहीं हुआ है और न कभी सत्ता का उच्छेद कर अन्त को भी प्राप्त होगा। अचल है अर्थात् चैतन्यस्वभाव से कभी चलायमान नहीं होता। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ इत्यादि रूप से इसकी प्रतीति सबको होती है, अतः स्वसंवेद्य है। सबके अनुभव में आता है, अतः स्फुट है तथा ज्ञान-दर्शन का पुञ्ज होने से चैतन्यरूप है। ऐसा यह जीव स्वयं ही अतिशयरूप से प्रकाशमान हो रहा है, इसके जानने के लिये पदार्थान्तर के साहाय्य की आवश्यकता नहीं है।।४१।।

चैतन्य ही जीव का निर्दोष लक्षण है, यह कलशा में दरशाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्त्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ।।४२।।

अर्थ– यदि जगत् अमूर्त्तत्वगुण की उपासना कर जीवतत्त्व का अवलोकन करता है तो यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है क्योंकि जीव से भिन्न जो अजीव है वह भी वर्णादि से रहित और वर्णादि से सहित इस तरह दो प्रकार का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। इसलिये विवेचन करनेवाले आचार्यों ने चैतन्य को ही जीव का लक्षण बताया है। उसे ही स्वीकृत करना चाहिये, क्योंकि यह चैतन्य समुचित है अर्थात् असंभव दोष से रहित है, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष से वर्जित है, व्यक्त है अर्थात् प्रकटरूप से अनुभव में आता है, जीवतत्त्व को प्रकट करनेवाला है और अचल-अविनाशी है।

भावार्थ– अमूर्तिकपन जीव का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि अजीव पदार्थ दो प्रकार के हैं—एक तो मूर्तिक, जैसे पुद्गल और एक अमूर्तिक, जैसे धर्म, अधर्म आकाश और काल। इसलिये अमूर्तिकपन की उपासना कर जगत् के जीव-जीवतत्त्व का अवलोकन नहीं कर सकते, क्योंकि अमूर्तिकपन आकाशादि में भी रहता है। ऐसा विचार कर विवेचक जीवों ने अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों से रहित व्यक्त रूप से जीव का लक्षण चैतन्य ही स्वीकृत किया है। लक्षण वही हो सकता है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोषों से रहित है। यदि जीव का लक्षण रागादिक माना जावे तो इसमें अव्याप्ति दोष आवेगा, क्योंकि लक्षण का फल लक्ष्य को अलक्ष्य से पृथक् कराना है। जैसे प्रकृत में यदि जीव का लक्षण रागादि माना जावे तो इस प्रकार की अनुमिति होगी कि 'जीव अजीवादि पञ्चपदार्थों से भिन्न है क्योंकि रागादिमान् है'। यहाँ पर जीव पक्ष है, अजीवादि भिन्नपन साध्य है, रागादि मत्त्व हेतु है। हेतु को अपने पक्षमात्र में रहना चाहिये, सो जब जीव की मोहिनीयादि कर्मों का अभाव होनेपर वीतराग दशा हो जाती है तब यह रागादिमत्त्व हेतु उस जीव में नहीं रहता, अत: भागासिद्ध दोष होने से जीव की अजीव से भिन्न सिद्ध करने वाली अनुमिति में साधक नहीं होता।

इसी प्रकार यदि जीव का लक्षण अमूर्त्तत्व माना जावे, तो ऐसी अनुमिति होगी कि 'जीव: अजीवाद् भिन्न: अमूर्त्तत्वात्' अर्थात् जीव अजीव से भिन्न है क्योंकि अमूर्तिक है। यहाँ जीव पक्ष है, अजीव से भिन्नपन साध्य है, और अमूर्त्तत्व हेतु है। यह हेतु पक्ष से भिन्न जो विपक्ष आकाशादिक हैं उनमें भी पाया जाता है अत: व्यभिचारी हुआ, क्योंकि जो हेतु पक्ष में भी रहे और विपक्ष में भी रहे वह व्यभिचारी होता है, और व्यभिचारी होने से स्वकीय साध्य में गमक नहीं हो सकता, यह अतिव्याप्ति दोष है।

इसी तरह यदि जीव का लक्षण जडत्व माना जावे तो असंभव दोष होगा, क्योंकि यहाँ पर अनुमान का ऐसा आकार होगा कि 'जीव अजीव से भिन्न है क्योंकि जडत्व से सहित है।' यहाँ पर जीव पक्ष है, अजीव-भिन्नता साध्य है, और जडत्व हेतु है। यह जडत्व हेतु पक्ष में सर्वथा ही नहीं रहता, इससे स्वरूपासिद्ध है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादि अनेक दोषों से रहित जीव का वास्तविक लक्षण चैतन्य है। वह जीव की सब अवस्थाओं में रहता है। अत: वही अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव दोषों से रहित है।।४२।।

इस तरह ज्ञानी के जीव और अजीव का भिन्न-भिन्न ज्ञान होने पर भी अज्ञानी का मोह पुन: अतिशय नृत्य करता है, इसपर आचार्य आश्चर्य प्रकट करते हुए कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति।।४३।।

अर्थ– इस प्रकार पूर्वकथित लक्षण से अजीव जीव से भिन्न है ऐसा ज्ञानी जन स्वयं उल्लसित होनेवाले अजीवतत्त्व का अनुभव करते हैं। परन्तु अज्ञानी जीव का निर्मर्यादितरूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ यह मोह क्यों बार-बार अतिशयरूप नृत्य कर रहा है, यह आश्चर्य और खेद की बात है।

भावार्थ– जीव और अजीव दोनों ही अपने-अपने लक्षणों से भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानी जीव स्वयं अनुभव करते हैं। परन्तु अज्ञानी जीव का मोह अर्थात् मिथ्यात्व इतना अधिक विस्तार को प्राप्त हुआ है कि वह उसे स्पष्ट सिद्ध जीव और अजीव का भेदज्ञान नहीं होने देता। इसीलिये वह शरीरादि अजीव पदार्थों में जीवबुद्धि कर चतुर्गति में भ्रमण करता है।।४३।।

आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी का वह मोह भले ही नृत्य करो, परन्तु ज्ञानी को ऐसा भेदज्ञान होता ही है—

वसन्ततिलकाछन्द

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्य:।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध—
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीव:।।४४।।

अर्थ– यह जो अनादिकाल से बहुत बड़ा अविवेक का नाट्य हो रहा है उसमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नृत्य करता है, अन्य नहीं, क्योंकि यह जीव, रागादिक पुद्गल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के विकारों से विरुद्ध, शुद्ध, चैतन्यधातुमय मूर्ति से संयुक्त है अर्थात् वीतरागविज्ञान इसका स्वरूप है।

भावार्थ– अनादिकाल से इस जीव का पुद्गल के साथ परस्परावगाह रूप सम्बन्ध हो रहा है, इसलिये अज्ञानी जीवों को इसमें एकत्व का भ्रम उत्पन्न हो रहा है। उसी भ्रम को दूर करने के लिये आचार्य ने दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण बताते हुए कहा है कि जीव तो रागादिक पुद्गल के विकारों से रहित शुद्ध चैतन्यधातु का पिण्ड है और पुद्गल वर्णादिमान् है। इस अविवेक अर्थात् अभेदज्ञानमूलक नाट्य में सारी भूमिका पुद्गल की ही है। वही राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म और नोकर्म आदि का रूप रखकर अपने नाना स्वांग दिखला रहा है, जीव तो सब अवस्थाओं में एक चैतन्य का ही पिण्ड रहता है।।४४।।

इस तरह भेदज्ञान की प्रवृत्ति से ही ज्ञायक आत्मदेव प्रकट होता है, यह कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे।।४५।।

अर्थ– इस प्रकार ज्ञानरूप करोंत (आरा) की क्रिया से विदारण का अभिनय कर अर्थात् पृथक्-पृथक् होकर जबतक जीव और अजीव स्पष्ट रूप से विघटन को प्राप्त नहीं होते तब तक अतिशयरूप से विकसित तथा प्रकट चैतन्यमात्र की शक्ति से समस्त विश्व को व्याप्त कर यह ज्ञाताद्रव्य आत्मा अपने आप बड़े चाव से अत्यधिक प्रकाशमान होने लगता है।

भावार्थ– इस संसार में अनादिकाल से जीव की पुद्गल के साथ संयोगी दशा चली आ रही है। जब तक भेदज्ञान नहीं होता तब तक यह जीव शरीरादि दृश्यमान पदार्थों को आत्मा मानता रहता है, 'ज्ञायक आत्मद्रव्य इन शरीरादिक से भिन्न द्रव्य है' ऐसी अनुभूति इस जीव को नहीं होती, परन्तु जब भेदज्ञानरूप करोंत इसके हाथ लगती है तब यह उसके चलाने के अभ्यास से जीव और पुद्गलरूप अजीव को अलग-अलग समझने लगता है। अब उसकी प्रतीति में आता है कि अहो, चैतन्यस्वभाव को लिये हुए ज्ञायक आत्मद्रव्य तो इन शरीरादिक से भिन्न पदार्थ है। अभी तो उसने जीव और अजीव को केवल श्रद्धा के द्वारा अलग-अलग समझा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

था, पर जब चारित्र रूप पुरुषार्थ के द्वारा वह जीव और अजीव को अर्थात् जीव और रागादिक विकारी परिणति को वास्तव में अलग-अलग कर देता है—वीतराग दशा को प्राप्त कर लेता है तब अन्तर्मुहूर्त में ही अपनी चैतन्य शक्ति के द्वारा समस्त विश्व को व्याप्त कर अर्थात् केवल ज्ञान का विषय बनाकर यह ज्ञायक आत्मद्रव्य स्वयं ही प्रकाशमान हो उठता है। यहाँ कार्य की शीघ्रता बतलाने के लिये आचार्य ने कहा है कि जीव और अजीव जब तक विघटन को प्राप्त नहीं हो पाते कि उसके पहले ही ज्ञायक आत्मद्रव्य प्रकट प्रकाशमान होने लगता है। वास्तव में क्रम यह है कि पहले जीव और अजीव का भेदज्ञान होता है, तदनन्तर आत्मद्रव्य भासमान होता है।।४५।।

इस तरह जीव और अजीव पृथक् होकर रङ्गभूमि से बाहर निकल गये।।६८।।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयप्राभृतके

जीवाजीवाधिकारका प्रवचन समाप्त हुआ।।१।।

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. कर्तृ-कर्माधिकार

अनन्तर जीव और अजीव ही कर्ता और कर्म का स्वांग रखकर रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं। उनके यथार्थ स्वरूप को जाननेवाली ज्ञान-ज्योति है। अत: प्रारम्भ में श्री अमृतचन्द्र स्वामी उसी ज्ञान-ज्योति की महिमा का गान करते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

एक: कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी'
इत्यज्ञानां शमयदभित: कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योति: स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ।।४६।।

अर्थ– इस संसार में मैं जो एक चेतनात्मक आत्मा हूँ सो कर्ता हूँ और ये क्रोधादिक मेरे कर्म हैं' अज्ञानी जीवों की इस कर्तृ-कर्मप्रवृत्ति का सब ओर से शमन करती हुई ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है। ज्ञानज्योति परम उदात्त है, अत्यन्त धीर है, निरुपधि है, अर्थात् परकृत उपाधि से रहित है, पृथक्-पृथक् द्रव्यों को अवभासित करनेवाली है और समस्त विश्व का साक्षात् करनेवाली है।।४६।।

आगे कहते हैं कि आत्मा और आस्रव इन दोनों के अन्तर को नहीं समझना ही बन्ध का कारण है–

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि ।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ।।६९।।
कोधादिसु वट्टंतस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ।।७०।।

अर्थ– जब तक जीव, आत्मा और आस्रव इन दोनों के विशेष अन्तर को नहीं जानता है, तब तक अज्ञानी हुआ वह क्रोधादिक में प्रवृत्ति करता है और क्रोधादिक में प्रवृत्ति करनेवाले उस जीव के कर्म का संचय होता है। इस प्रकार जीव के कर्मों का बन्ध सर्वज्ञदेव ने निश्चय से कहा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– जीव जब तक आत्मा और आस्रव के भिन्न-भिन्न स्वरूप को नहीं जानता, तब तक वह अज्ञानी है और क्रोधादिक आस्रवों में प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार क्रोधादिक आस्रवों में प्रवृत्ति करते हुए जीव के कर्म का संचय होता है। इस प्रकार भगवान् सर्वज्ञ द्वारा निश्चय से इस जीव के बन्ध कहा गया है।

जिस प्रकार यह आत्मा तादात्म्य सम्बन्ध से आत्मा और ज्ञान में विशेष न होने से भेद को नहीं देखता हुआ निःशङ्कभाव से आत्मीय ज्ञान जानकर ज्ञान में प्रवृत्ति करता है, उस ज्ञानक्रिया में प्रवर्तमान आत्मा के ज्ञानक्रिया के साथ-साथ स्वभावभूतपन अर्थात् ज्ञानक्रिया का उपादानकारण आत्मा ही है, अतएव उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता, इसीलिये आत्मा उसको जानता है। इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध के द्वारा निमित्त से जायमान जो क्रोधादिक हैं उनके साथ यद्यपि आत्मा का ज्ञान की तरह सम्बन्ध नहीं है फिर भी अपने अज्ञान से यह अज्ञानी जीव आत्मा और क्रोधादिक आस्रवों में भेद को नहीं देखता है। इसीसे निःशङ्क होकर ज्ञान के सदृश क्रोधादिक में आत्मीय बुद्धि से प्रवृत्ति करता है और जब क्रोधादिक में प्रवृत्त होता है तब यद्यपि यह क्रोधादिक क्रिया परभावभूत होने से प्रतिषेध करने योग्य है, किन्तु अज्ञानी उनमें स्वभावभूतपन का अध्यास कर क्रोध भी करता है, राग भी करता है और मोह भी करता है। सो यहाँ यह आत्मा अपने आप अज्ञानस्वरूप होकर स्वकीय ज्ञानभवन मात्र जो उदासीन भाव है उसको त्यागकर कर्ता हो जाता है और अन्तरङ्ग में ज्ञान के भवनमात्र से भिन्न जिन क्रोधादिक को करता है वे इसके कर्म हैं। इस प्रकार यह अनादि तथा अज्ञान से जायमान कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है। इस तरह इस आत्मा की अपने ही अज्ञान से कर्ता-कर्म-रूप से क्रोधादिक में प्रवृत्ति होती है और जब इसकी उनमें प्रवृत्ति होती है तब इसके क्रोधादिक प्रवृत्तिरूप परिणामों के निमित्त से परिणमनशील पुद्गलकर्म का संचय हो जाता है, एवं जीव और पुद्गल का एकक्षेत्रावगाह लक्षण सम्बन्धरूप बन्ध स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। यहाँपर इतरेतराश्रय दोष नहीं हैं क्योंकि बीज-वृक्ष की तरह इनकी संतान, जब तक संसार का नाश नहीं होता तब तक, बराबर अखण्ड प्रवाह से चली जाती है।।६९,७०।।

अब प्रश्न यह है कि इस अनादिकालीन कर्तृ-कर्मप्रवृत्ति का अभाव कब होता है? इसी प्रश्न का उत्तर कहते हैं–

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।।७१।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जब इस जीव के द्वारा आत्मा और आस्रवों का विशेष अन्तर जान लिया जाता है तब इसके बन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ– इस जगत् में जो पदार्थ हैं वे सब अपने-अपने स्वभाव में तल्लीन हैं, क्योंकि जो अपना भवन है अर्थात् अपनी परिणति है वही तो अपना निज भाव है। इस कारण ज्ञान का जो होना है वही तो निश्चय से आत्मा का स्वभाव है। अर्थात् जो ज्ञान है वही आत्मा है, क्योंकि जैसे उष्ण गुण से भिन्न अग्नि नहीं, वैसे ज्ञानगुण से भिन्न आत्मा भी नहीं है। इससे जो ज्ञान का होना है निश्चय से वही आत्मा है, और क्रोधादिकों का जो होना है वह क्रोधादिक हैं। जो ज्ञान का होना है वह क्रोधादिक का होना नहीं है, क्योंकि ज्ञान के होने में ज्ञान ही होता हुआ प्रत्यय में आता है, क्रोधादिक का होना प्रत्यय में नहीं आता, और जो क्रोधादिक का होना है वह ज्ञान का होना नहीं है, क्योंकि क्रोधादिक के होने में क्रोधादिक ही होते हुए प्रत्यय में आते हैं,—ज्ञान का होना प्रत्यय में नहीं आता। इस तरह आत्मा और क्रोधादिकों के निश्चय से एकवस्तुपन नहीं है। इस प्रकार आत्मा और आस्रव का विशेष (भेदज्ञान) होने पर जब यह आत्मा उन दोनों के भेद को जान लेता है तब इसकी अनादिकालीन अज्ञानजन्य कर्तृ-कर्म की प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है और उसके निवृत्त होने पर अज्ञान-निमित्तक पुद्गलद्रव्य कर्म का सम्बन्ध भी निवृत्त हो जाता है। जब ऐसी वस्तुस्थिति हो जाती है तब ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता।।७१।।

आगे प्रश्न होता है कि ज्ञानमात्र से बन्ध का निरोध किस तरह होता है ? इसका उत्तर देते हैं–

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।७२।।

अर्थ– आस्रवों का अशुचिपन और विपरीतपन तथा ये दुःख के कारण हैं ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्त होता है।

विशेषार्थ– जैसे जल में शेवाल हो जाने से जल मलिन हो जाता। ऐसे ही ये आस्रव भाव आत्मा को कलुषित बना देते हैं, अतः अशुचिरूप हैं। परन्तु भगवान् आत्मा नित्य ही अतिनिर्मल चिन्मात्रपन से उपलब्ध होने के कारण अत्यन्त पवित्र है। ये आस्रव जड़ हैं तथा पर के द्वारा जाने जाते हैं, इसलिये आत्मा से अन्य स्वभाव हैं और भगवान् आत्मा नित्य ही विज्ञानघनस्वभाव है। अतएव स्वयं चेतक होने से अन्य स्वभावरूप नहीं होता किन्तु निरन्तर ज्ञानस्वभावात्मक है। ये आस्रव आकुलता के उत्पादक हैं, अतः दुःख के कारण हैं और भगवान् आत्मा नित्य ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनाकुल स्वभाव वाला होने से दु:ख का कारण नहीं है। इस प्रकार आत्मा और आस्रव के विशेष के देखने से जिस काल में यह आत्मा आस्रव और आत्मा के भेद को जानता है, उसी काल में क्रोधादिक आस्रवों से पृथक् हो जाता है, क्योंकि क्रोधादिक आस्रव से निवृत्त हुए बिना पारमार्थिक भेदज्ञान की सिद्धि होना असंभव है। इसीसे क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्त होनेपर ही सम्यग्ज्ञान का होना अविनाभावी है। इस सम्यग्ज्ञान से ही अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्म का बन्ध रुक जाता है।

यहाँ पर किसी की आशङ्का है कि जो यह आत्मा और आस्रव का भेदज्ञान है, वह क्या ज्ञानस्वरूप है? या अज्ञानस्वरूप है? यदि अज्ञानस्वरूप है तो आस्रव के साथ होने वाले अभेदज्ञान से इसमें कुछ विशेष नहीं हुआ। अर्थात् अन्तर नहीं आया और यदि ज्ञानस्वरूप है तो क्या आस्रवों में प्रवृत्त है या आस्रवों से निवृत्त है? यदि आस्रवों में प्रवृत्त है तो आस्रवों के साथ अभेदज्ञान होने से कोई भी विशेष नहीं हुआ। यदि आस्रवों से निवृत्त है तब ज्ञान से ही बन्ध-निरोध सिद्ध क्यों न हुआ? इस अवस्था में क्रियानयवादी का जो यह पक्ष था कि क्रिया से ही आस्रव की निवृत्ति हुई, ज्ञान में क्या रखा है? उसका निषेध हो गया, क्योंकि जब तक सम्यग्ज्ञान न हो जावे तब तक केवल ऊपरी क्रियाकाण्ड से कुछ होनेवाला नहीं है। अब ज्ञान से ही सिद्धि मानने वालों का कहना है कि आत्मा और आस्रव का जो भेदज्ञान है वह सिद्धि का कारण है। इसपर आचार्य महाराज का कहना है कि आत्मा और आस्रव का जो भेदज्ञान है यदि वह आस्रव से निवृत्ति नहीं करता तो वह ज्ञान ही नहीं है। इससे जो ज्ञान से ही सिद्धि माननेवाले हैं उनका निराकरण हो गया। अर्थात् जिस ज्ञान के होने पर आस्रवादि की निवृत्ति नहीं होती है वह ज्ञान सिद्धि का जनक नहीं है तथा जिस चारित्र की प्रवृत्ति सम्यग्ज्ञान पूर्वक नहीं वह चारित्र भी संसार-लतिका के छेदने में समर्थ नहीं होता, अत: सम्यग्ज्ञान पूर्वक जो आचरण है वही मोक्षमार्ग में सहायी है। ऐसा जानकर मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया के द्वारा सिद्धि होने के पक्षपात को त्यागो, क्योंकि दोनों का सहयोग ही सिद्धि का प्रयोजक है— मोक्ष का साधक है।।७२।।

यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा अभिव्यक्त करते हैं—

मालिनीछन्द

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः।।४७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जो परपरिणति को छोड़ रहा है, भेदवाद का खण्डन कर रहा है, स्वयं अखण्डरूप है तथा अतिशय तेजःपूर्ण है ऐसा यह उत्कृष्ट ज्ञान उदित हुआ है। इसके उदित होने पर कर्तृ-कर्म की प्रवृत्ति को अवकाश कैसे मिल सकता है और पौद्गलिक कर्मबन्ध किस प्रकार हो सकता है।

भावार्थ– मोह के निमित्त से ज्ञान की परपदार्थों में परिणति होती थी अथवा ज्ञान में रागादि विकारी भावों की परिणति होती थी, सो जब परपरिणति का कारण जो मोह था वही निकल गया, तब ज्ञान उस परपरिणति को छोड़कर अपने स्वभाव में ही परिणति करने लगा। क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में नाना भेदों की आपत्ति होती है परन्तु अब क्षयोपशम का अभाव हो गया है। अतः भेदवादों को खण्डकर ज्ञान एक अखण्ड प्रतिभासरूप रह गया। ऐसा अतिशय तेजस्वी उत्कृष्ट ज्ञान जब प्रकट हो जाता है तब कर्तृ-कर्म की प्रवृत्ति स्वयं हट जाती है और कर्तृ-कर्म की प्रवृत्ति के हटने पर पौद्गलिक कर्मबन्ध स्वयं समाप्त हो जाता है।।४७।।

आगे वह कौन-सी विधि है जिसके द्वारा आस्रव से आत्मा की निवृत्ति हो जाती है, इस आशङ्का का उत्तर देते हैं–

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाण-दंसण-समग्गो।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि।।७३।।

अर्थ– मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ तथा उसी में स्थित और उसी में तल्लीन होता हुआ इन सब क्रोधादिक भावों को क्षय को प्राप्त कराता हूँ।

विशेषार्थ– वास्तव में तत्त्वदृष्टि से देखा जावे तो इस संसार में यावत् पदार्थ हैं वे सब अपने अपने स्वरूप में समवस्थित भिन्न-भिन्न ही हैं, मैं द्रव्यदृष्टि से एक हूँ (स्वानुभव) प्रत्यक्ष का विषय हूँ, किसी के द्वारा मुझमें कदापि किसी प्रकार की बाधा नहीं आती, इससे अक्षुण्ण हूँ तथा अनन्त चिन्मात्र ज्योतिःस्वरूप हूँ, नित्य ही विज्ञानघनस्वभाव वाला होने से एक हूँ, समस्त जो षट्कारकचक्र की प्रक्रिया है वह भेद दृष्टि में है, अभेददृष्टि में इसका अस्तित्व नहीं। अतः मैं स्वकीय निर्मल अनुभूतिमात्र के सद्भाव से सर्वदैव शुद्ध हूँ, पुद्गल जिनका स्वामी है ऐसे क्रोधादिक नानाप्रकार के भावों का मैं स्वामी नहीं हूँ, अतः तद्रूप परिणमन के अभाव में निर्ममत्व हूँ, आत्मपदार्थ चिन्मात्र तेज वाला हूँ तथा वस्तुस्वभाव के कारण सामान्यविशेषरूप भाव से परिपूर्ण हूँ, अतः मैं ज्ञान-दर्शन से समग्र हूँ, गगनादिक के सदृश मैं भी पारमार्थिक विशेष हूँ, इसी से मैं अब इसी आत्मा में सम्पूर्ण परद्रव्यों की प्रवृत्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से निवृत्ति कर निश्चलरूप से अवस्थित होता हूँ, परद्रव्यों के निमित्त से जायमान रागादिकभाव रूप चञ्चल कल्लोलमालाओं का निरोध कर इसी निजस्वरूप का अनुभव करता हूँ, स्वकीय अज्ञान से आत्मा में जो अनेक विध विकार भाव उत्पन्न होते थे उन सबका नाश करता हूँ, ऐसा जब इस जीव को आत्मा में निश्चय हो जाता है तब वह, जिसने चिरकाल से पकड़े हुए जहाज को छोड़ दिया ऐसे समुद्र के आवर्त्त के समान, शीघ्र ही समस्त विकल्पों को उगल देता है तथा अचलित और अमल आत्मस्वभाव का अवलम्बन करता हुआ विज्ञाघननस्वरूप होकर निश्चित ही आस्रवों से निवृत्त हो जाता है।

यहाँ कोई यह आशङ्का करे कि आत्मज्ञान और आस्रव की निवृत्ति एक ही काल में किस प्रकार होती है? तो उसका उत्तर यह है कि जब इस जीव को आत्मा और आस्रव का यथार्थ सम्यग्ज्ञान हो जाता है तब आस्रव की निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है। मिथ्यादर्शन के अभाव से आत्मा में जहाँ सम्यग्दर्शन होता है वहाँ मिथ्यात्वगुणस्थान में बँधनेवाली मिथ्यात्वप्रकृति, हुण्डक संस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, विकलत्रय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु ये सोलह प्रकृतियाँ आस्रव रूप नहीं रहतीं अर्थात् इनका बन्ध मिथ्यात्वगुणस्थान में ही होता है। इसी प्रकार क्रम से गुणस्थानों की परिपाटी के अनुसार जैसे-जैसे ज्ञान और चारित्र की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे इन सबका अभाव होता जाता है। यह ग्रन्थ ज्ञानगुण की विशेषता का वर्णन करता है। अत: आचार्यों का कहना है कि ज्ञान और आस्रव की निवृत्ति समकालीन है।।७३।।

यही दिखाते हैं–

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं।।७४।।

अर्थ– जीव के साथ लगे हुए ये आस्रव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दु:खरूप हैं, और दु:खरूप फल से युक्त हैं ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उनसे निवृत्त होता है।

विशेषार्थ– ये आस्रव, लाख और वृक्ष के समान वध्यघातक स्वभाव से आत्मा के साथ निबद्ध हो रहे हैं अर्थात् जिस प्रकार पीपल आदि वृक्षों का लाख के सम्बन्ध से घात होता है उसी प्रकार आत्मा के साथ आस्रवों का सम्बन्ध होने से उसके ज्ञानदर्शनादि गुणों का घात होता है। यहाँ घात का अर्थ ज्ञानादिक गुणों में नाना प्रकार की इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होकर आत्मीय स्वस्थ अवस्था का प्रलय हो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाना है। इस तरह ये आस्रव विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, अविरुद्ध स्वभाव का अभाव होने से जीवस्वरूप नहीं हैं। ये आस्रव अपस्मार (मृगी) रोग के वेग के समान कभी तो तीव्ररूप से होने लगते हैं और कभी मन्दरूप से। जब मिथ्यात्वादि कर्मों का तीव्र उदय रहता है तब यह जीव हिंसादि पापों में धर्मबुद्धि को श्रद्धाकर नाना प्रकार के कुकृत्यों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का दुरुपयोग करता हुआ भी आपको धार्मिक मानता है। इन्हीं के तीव्र उदय में देवता आदि मानसिक आहार वालों के उद्देश्य से बकरे, भैंसे आदि दीन पशुओं के वध करने में भी इस निर्दयी को दया नहीं आती और जब इनका मन्दोदय होता है तब दया आदि गुणों के पोषक परोपकारादि कार्यों में प्रवृत्ति करता हुआ यह जीव अपने समय का सदुपयोग करता है। इस तरह ये आस्रव एकरूप नहीं रहते। अत: अध्रुव स्वभाव वाले हैं परन्तु जीव ध्रुव है तथा चैतन्यचमत्कार वाला है। ये आस्रव शीत-दाहज्वर के आवेश के समान क्रम से उत्पन्न होते हैं अत: अनित्य हैं। अर्थात् कभी तो शुभास्रव होता है और कभी अशुभास्रव होता है इसलिये अनित्य हैं। नित्य यदि है तो विज्ञानघनस्वभाव वाला जीव ही है। जिस प्रकार काम-सेवन के समय वीर्य के छूटने पर काम का दारुण वेग नष्ट होने लगता है उसे कोई रोक नहीं सकता, इसी प्रकार जब अपना फल देकर ये आस्रव झड़ने लगते हैं तब इनका रक्षक कोई नहीं होता, अत: ये आस्रव अशरण हैं। इसके विपरीत यदि शरण सहित है तो स्वयं गुप्त और सहज चैतन्य शक्तिवाला जीव ही है। ये आस्रव नित्य ही आकुलता स्वभाव वाले तथा आकुलता के उत्पादक हैं, अत: दु:खस्वरूप हैं। यदि अदु:खस्वरूप है तो अनाकुलता रूप स्वभाव से युक्त जीव ही है। ये आस्रव वर्तमान में ही दु:खरूप हैं सो नहीं, उत्तरकाल में भी आकुलता के कारण हैं। अतएव आकुलता को उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणाम के उत्पादक होने से दु:खरूप फल से युक्त हैं। इसके विपरीत यदि दु:खरूप फल से रहित कोई है तो सभी प्रकार के पुद्गल परिणाम का अकारण जीव ही है।

इस प्रकार जब आत्मा और आस्रव का भेदज्ञान हो जाता है तब कर्मविपाक शिथिल हो जाता है और उसके शिथिल होने से जैसे घनसमूह के विघटने से दिशाओं का समूह अत्यन्त विस्तृत हो जाता है वैसे ही स्वभाव से ही आत्मा की चेतनाशक्ति अत्यन्त विस्तृत हो जाती है और जैसे-जेसे उसके उदय की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे ही आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है और जैसा-जैसा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है वैसा-वैसा ही विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। यह आत्मा ज्यों ही विज्ञानघनस्वभाव होता है त्यों ही आस्रवों से अच्छी तरह निवृत्त हो जाता है और ज्यों ही आस्रवों से निवृत्त होता है त्यों ही विज्ञानघनस्वभाव हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान का उदय और आस्रव की निवृत्ति दोनों ही एककाल में होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस तरह सूर्योदय और तमोनिवृत्ति इनमें कालभेद नहीं है। इसी तरह सम्यग्ज्ञान और आस्रवनिवृत्ति इनमें कालभेद नहीं है। इसका भाव यह है कि गुणस्थान परिपाटी के अनुसार जैसे-जैसे आत्मा गुणस्थानों को प्राप्त करता है वैसे-वैसे ये मिथ्यात्वादि आस्रव निवृत्त होते जाते हैं।।७४।।

अब इसी भाव को श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा में प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्।।४८।।

अर्थ– इस प्रकार यह पुराण पुरुष—अनादि सिद्ध आत्मा जब परद्रव्य से पूर्ण निवृत्ति कर अतिशय उत्कृष्ट अपने विज्ञानघनस्वभाव का निर्भयतापूर्वक आश्रय लेता है तब अज्ञान से उत्थित कर्तृकर्मभाव से उत्पन्न होनेवाले क्लेश से स्वयं छूट जाता है और तदनन्तर एक ज्ञानस्वरूप होकर जगत् का साक्षात्कार करता हुआ प्रकाशमान होता है।

भावार्थ– इस प्रकार जब आत्मा इन आस्रवों के स्वरूप को समीचीन रूप से जान लेता है तब परपदार्थों से एक ही बार में अपनी प्रवृत्ति को निवृत्त कर लेता है और विज्ञानघनस्वरूप जो अपना स्वभाव है केवल उसे ही निर्भयता से अङ्गीकृत करता है। उस समय अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले कर्तृ-कर्म के व्यवहार से जो नाना दुःख उत्पन्न होते हैं उनसे स्वयं निवृत्त हो जाता है और इससे आगामी काल में स्वयं ज्ञानस्वरूप होकर जगत् का ज्ञाता-दृष्टा बनकर प्रकाशमान रहता है।।४८।।

आगे ज्ञानीभूत आत्मा कैसे जाना जाता है, यह कहते हैं–

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।७५।।

अर्थ– जो आत्मा कर्म के परिणाम को और इसी तरह नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है किन्तु जानता है वह ज्ञानी है।

विशेषार्थ– निश्चयकर मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि रूप से अन्तरङ्ग में उत्पन्न होनेवाले कर्म के परिणाम और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध, संस्थान, स्थौल्य, सौक्ष्म्य आदि रूप से बाह्य में प्रकट होनेवाले नोकर्म के परिणाम,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये सब पुद्गलद्रव्य के ही परिणमन हैं। अतएव जैसा घट और मृत्तिका का परस्पर में व्याप्यव्यापकभाव है वैसा ही इन मोह-राग-द्वेषादि तथा रूप-रसादि परिणामों का पुद्गलद्रव्य के साथ व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध है क्योंकि इनके करने में स्वयं पुद्गलद्रव्य स्वतन्त्र रूप से कर्ता है अर्थात् पुद्गलद्रव्य व्यापक है और जो मोह-राग-द्वेषादि तथा रूप-रसादि परिणाम हैं वे स्वयं व्याप्य होने से कर्म हैं। पुद्गलपरिणाम और आत्मा में घट और कुम्भकार के सदृश व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से कर्तृ-कर्मभाव का अभाव है। अतएव आत्मा इन भावों का कर्ता नहीं है किन्तु यहाँ पर यह विशेषता है कि परमार्थ से यद्यपि पुद्गलपरिणाम का ज्ञान और पुद्गल इन दोनों में घट और कुम्भकार के समान व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नहीं होता है तो भी आत्मपरिणाम और आत्मा इन दोनों में घट और मृत्तिका के समान व्याप्य व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध होता है अर्थात् आत्मा स्वतंत्र व्यापक होने से कर्ता है और आत्मपरिणाम व्याप्य होने से कर्म है। यहाँ जो पुद्गलपरिणाम का ज्ञान है, उसे आत्मपरिणाम मानकर कर्मरूप से स्वीकृत किया गया है। इस तरह पुद्गलपरिणाम के ज्ञानरूप आत्मपरिणाम को कर्मरूप से करते हुए आत्मा को जो जानता है वही अन्य से विविक्त ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानीव्यपदेश को प्राप्त करता है। यहाँ ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये कि ज्ञाता जो आत्मा है उसका पुद्गलपरिणाम व्याप्य हो गया, क्योंकि पुद्गल और आत्मा में ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का ही व्यवहार है, व्याप्यव्यापकसम्बन्ध का व्यवहार नहीं है। किन्तु पुद्गलपरिणामनिमित्तक जो ज्ञान है वह ज्ञाता का व्याप्य है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष कर्म और नोकर्म के परिणाम का कर्ता नहीं है किन्तु ज्ञाता है।।७५।।

इसी भाव को श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा के द्वारा प्रकट करते हैं–

शार्दूलविक्रीडितछन्द

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ।।४९।।

अर्थ– व्याप्यव्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है न कि अतत्स्वरूप में भी। और व्याप्यव्यापकभाव के संभव बिना कर्ता-कर्म की स्थिति क्या है? कुछ भी नहीं, इस प्रकार के उत्कट विवेक को भक्षण करनेवाले-नष्ट करनेवाले अज्ञानतिमिर को जोर देकर भेदता हुआ यह पुरुष जब ज्ञानी होकर सुशोभित होता है, अहो, तभी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह कर्तृत्व से शून्य होता है। यहाँ 'उद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण' ऐसा यदि एक पद माना जावे तो उसका अर्थ होता है उत्कट विवेकरूपी सर्वग्रासी ज्ञानतेज के भार से अज्ञानतिमिर को भेदता हुआ।

भावार्थ– जो सब अवस्थाओं में नियमरूप से रहे वह तो व्यापक है और जो विशेष अवस्थाएँ हैं वे व्याप्य हैं, ऐसी वस्तु की व्यवस्था होने से द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य हैं। वे पर्याय द्रव्य के साथ कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध से अनुस्यूत हैं। कोई भी ऐसा समय नहीं, जिसमें पर्याय से वियुक्त द्रव्य का सत्त्व पाया जावे और न कोई ऐसा समय है, जिसमें द्रव्य से वियुक्त पर्यायों का सत्त्व पाया जावे। केवल द्रव्य अन्वय रूप से सर्वदा नित्य रहता है और पर्याय व्यतिरेकरूप हैं—एक के सद्भाव में अन्य पर्याय का स्वत्व नहीं रहता, क्योंकि पर्याय क्षणध्वंसी है और द्रव्य नित्य है। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों में अविनाभाव का नियम है। यही श्रीप्रवचनसार में स्वयं कुन्दकुन्दमहाराज ने लिखा है—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो।।

अर्थात् परिणाम के बिना अर्थ नहीं है और अर्थ के बिना परिणाम नहीं है। जो द्रव्य, गुण और पर्यायों में स्थित है वही अर्थ है, वह अर्थ अपने अस्तित्व से स्वयं सिद्ध है। परमार्थ से व्याप्यव्यापकता एकद्रव्य में बनती है, भिन्न द्रव्यों में नहीं बनती और व्याप्यव्यापकभाव के बिना कर्तृ-कर्म की व्यवस्था नहीं होती, क्योंकि जो व्यापक होता है वह कर्ता कहलाता है और जो व्याप्य होता है वह कर्म कहा जाता है। जब एकद्रव्य में ही व्याप्यव्यापकभाव बनता है तब कर्तृकर्मभाव भी एक द्रव्य में ही बनेगा। इस तरह भिन्न द्रव्य होने से आत्मा रागादिरूप कर्मपरिणाम का और रसगन्धादिरूप शरीर के परिणाम का कर्ता कैसे हो सकता है? इस प्रकार का उत्कट विवेक जब इस जीव को उत्पन्न होता है तब वह अनादिवासना से वासित मिथ्याज्ञान-तिमिर को नष्ट कर ज्ञानी होता है और तभी परद्रव्य के कर्तृत्व से मुक्त होता है।

आगे पुद्गलकर्म को जाननेवाला जीव है उसका पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव क्या है, क्या नहीं है, इसी आशंका का उत्तर देते हैं–

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं।।७६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को जानता हुआ भी परद्रव्य की पर्यायरूप न तो परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन रूप उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ– प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य के भेद से कर्म तीन प्रकार का है। जहाँ सिद्ध पदार्थ को ग्रहण करने के लिये कर्त्ता यत्न पर होता है वहाँ प्राप्य कर्म कहलाता है। जैसे देवदत्त ग्राम को जाता है। यहां जो ग्राम पदार्थ है वह सिद्ध है, इसीसे उसे प्राप्य कर्म कहते हैं। जहाँ परपदार्थ द्रव्यान्तर के सम्बन्ध से विकारभाव को प्राप्त होता है, उसे विकार्य कर्म कहते हैं। जैसे दुग्ध खटाई के योग से दधिरूपता को प्राप्त होता हैं और जो पर्यायान्तर को तो प्राप्त हो जावे परन्तु विकारभावरूप परिणत न हो उसे निर्वर्त्य कर्म कहते हैं। जैसे मृत्तिका घटरूप परिणमन को प्राप्त होती है। यहाँ मृत्तिका का घटात्मक परिणमन तो अवश्य हुआ, परन्तु विकृतावस्था रूप परिणमन नहीं हुआ। इसीसे इसे निर्वर्त्य कर्म कहते हैं। प्रकृत में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य के भेद से त्रिविध कर्मरूप जो पुद्गल के परिणामन हैं वे व्याप्य हैं, उनमें पुद्गल द्रव्य अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य, अन्त अवस्थाओं में व्याप्त होता हुआ उन्हें ग्रहण करता है, उन रूप परिणमन करता है और उनमें उत्पद्यमान होता है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य के द्वारा कर्म की उत्पत्ति होती है। उस कर्म को ज्ञानी यद्यपि जानता है तो भी आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्य में रहनेवाले परद्रव्यों के परिणाम को मृत्तिका कलश की तरह आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओं में व्याप्त होकर न तो ग्रहण करता है, न उनरूप परिणमता है और न उनमें उत्पन्न होता है। इस तरह परद्रव्य के परिणमन रूप व्याप्य लक्षण वाले कर्म को नहीं करनेवाला तथा पुद्गलकर्म को जाननेवाला जो ज्ञानी जीव है उसका पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है। तात्पर्य यह है कि जीव अपने से भिन्न जो पुद्गलद्रव्य है उस रूप कभी परिणमन नहीं करता है क्योंकि जीव चेतन हैं और पुद्गलद्रव्य अचेतन है, चेतन, अचेतनरूप परिणमन नहीं कर सकता। इसी तरह जीव पुद्गल को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि जीव अमूर्त्तिक है, और पुद्गल मूर्त्तिक है, और परमार्थ से जीव पुद्गल को उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि चेतन, अचेतन को उत्पन्न करने की सामर्थ्य से शून्य है। इस तरह पुद्गल जीव का कर्म नहीं है और जीव पुद्गल का कर्त्ता नहीं है, जीव का स्वभाव तो ज्ञाता है, अत: वह ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ पुद्गलद्रव्य को जानता भर है। इस तरह जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृ-कमभाव कैसे हो सकता है?।।७६।।

आगे स्वकीय परिणाम को जाननेवाला जो जीव है उसका क्या पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्म भाव हो सकता है या नहीं, इस आशङ्का का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर देते हैं–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं।।७७।।

अर्थ– ज्ञानी अनेक प्रकार के स्वकीय परिणाम को जानता हुआ भी परद्रव्य की पर्यायों रूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन रूप उत्पन्न ही होता है।

विशेषार्थ– प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य के भेद से भेदत्रय को प्राप्त जो आत्मपरिणामरूप कर्म है वह व्याप्य है, आत्मा अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओं में व्याप्त होता हुआ उस आत्मपरिणाम को ग्रहण करता है उस रूप परिणमन करता है और उस रूप उत्पन्न होता है। अतः आत्मा कर्त्ता है और उसके द्वारा किया हुआ आत्मपरिणाम कर्म है। ज्ञानी जीव उस आत्मपरिणाम रूप कर्म को यद्यपि जानता है तो भी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्य के परिणाम को, मृत्तिका-कलश के समान आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओं में व्याप्त होकर न ग्रहण करता है, न उस रूप परिणमन करता है और न उस रूप उत्पन्न होता है। अतएव प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य के भेद में त्रिरूपता को प्राप्त जो परद्रव्य का परिणामरूप कर्म है उसका कर्त्ता नहीं है किन्तु स्वकीय परिणाम को जानता है। इस तरह परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म को नहीं करनेवाला तथा स्वकीय परिणाम को जाननेवाला जो ज्ञानी है उसका पुद्गलद्रव्य के साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है। पहली गाथा में पुद्गल के परिणाम को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव अथवा व्याप्यव्यापक भाव नहीं है, यह बताया गया है और इस गाथा में अपने परिणाम को जानने वाले ज्ञानी के साथ पुद्गल का कर्तृ-कर्मभाव अथवा व्याप्यव्यापकभाव नहीं है, यह बताया गया है।।७७।।

आगे पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव निष्पन्न हो सकता है या नहीं, इस आशङ्का का उत्तर देते हैं–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं।।७८।।

अर्थ– ज्ञानी जीव अनन्त प्रकार के पुद्गल कर्म फल को जानता हुआ भी परद्रव्य की पर्यायोंरूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– ज्ञानी अनन्त पुद्गलकर्म के फल को जानता है तो भी परद्रव्य पर्यायों में न तो परिणमता है न उनको ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है क्योंकि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य है लक्षण जिसका ऐसा व्याप्यरूप कर्म है। यहाँ पर सुख-दु:खादि रूप से जो पुद्गलकर्म का फल है वही व्याप्यरूप कर्म से विवक्षित है। उस सुखदु:खादिरूप पुद्गलकर्म फल को, पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उसकी आदि, मध्य, अन्त अवस्थाओं में व्याप्त होता हुआ ग्रहण करता है, उसरूप परिणमता है और उसीरूप उत्पन्न होता है, इसीसे पुद्गलद्रव्य के द्वारा यह सुखदु:खादिफल रूप पुद्गलकर्म का फल किया जाता है। अत: पुद्गलद्रव्य कर्त्ता है और सुख-दु:खादिफल रूप पुद्गलकर्म फल कर्म है। ज्ञानी जीव इस पुद्गलकर्म फल को यद्यपि जानता है तो भी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर बाह्यस्थित जो परद्रव्य है उसके परिणाम को मृतिका-कलश के सदृश आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर न तो ग्रहण करता है, न उस रूप परिणमता है और न उसरूप से उत्पद्यमान होता है। इसलिये प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य के भेद से त्रिरूपता को प्राप्त, व्याप्यलक्षण वाला जो परद्रव्य का परिणामरूप कर्म है उसका कर्त्ता नहीं है किन्तु सुख-दु:खादिरूप पुद्गलकर्म फल को जानता है। इस तरह परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म को नहीं करनेवाला तथा सुखद:खादिरूप पुद्गलकर्म फल को जाननेवाला जो ज्ञानी जीव है उसका पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है। इस गाथा में यह दिखलाया गया है कि पुद्गलकर्म के फल सुखदु:ख को जाननेवाला जो जीव है उसका भी पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है।।७८।।

अब जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को नहीं जाननेवाला जो पुद्गलद्रव्य है उसका जीव के साथ कर्तृ-कर्मभाव क्या उपपन्न हो सकता है या नहीं, यह दिखाते हैं–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं।।७९।।

अर्थ– जिस प्रकार जीव परद्रव्यपर्यायों में न उत्पन्न होता है, न परिणमता है और न उन्हें ग्रहण करता है। इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यपर्यायों को न ग्रहण करता है, न उनमें उत्पन्न होता है और न तद्रूप परिणमता है, किन्तु स्वकीय पर्यायों के द्वारा परिणमन करता है।

विशेषार्थ– क्योंकि जीवपरिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को भी नहीं जाननेवाला पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर परद्रव्य के परिणाम को मृत्तिकाकलश के समान आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त कर उसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न ग्रहण करता है, न उसरूप परिणमन करता है और न उसरूप उत्पन्न होता है किन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य के भेद से त्रिरूपता को प्राप्त व्याप्यलक्षण से युक्त स्वभावरूप जो कर्म है उसे स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त में व्याप्तकर उसी को ग्रहण करता है, उसीरूप परिणमता है और उसीरूप उत्पन्न होता है। इसलिये प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य के भेद से त्रिरूपता को प्राप्त, व्याप्यलक्षण से युक्त परद्रव्य के परिणामरूप कर्म को नहीं करनेवाला तथा जीवपरिणाम और स्वपरिणामस्वरूप कर्मफल को नहीं जाननेवाला जो पुद्गलद्रव्य है उसका जीव के साथ कर्तृ-कर्मभाव नहीं है।।७९।।

यही निष्कर्ष श्रीअमृतचन्द्र स्वामी कलशा में प्रकट करते हैं—

स्रग्धराछन्द

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृ-व्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावद्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवदयं भेदमुत्पाद्य सद्यः।।५०।।

अर्थ– ज्ञानी इस निज और पर की परिणति को जानता है तो भी, और पुद्गल इस निज और पर की परिणति को नहीं जानता है तो भी, ये दोनों नित्य ही अत्यन्त भेदरूप होने से अन्तरङ्ग में व्याप्य-व्यापकभाव को प्राप्त करने में असमर्थ हैं। इनमें जो कर्तृ-कर्म की भ्रमपूर्ण बुद्धि है वह अज्ञान से भासमान है और वह तब तक भासमान होती रहती है जब तक करोत (आरा) की तरह निर्दयतापूर्वक दोनों में भेद उत्पन्न कर शीघ्र ही भेदज्ञानरूपी ज्योति प्रकाशमान नहीं होने लगती।

भावार्थ– ज्ञानी जीव अपने और पर के परिणाम को जानता है और पुद्गलद्रव्य अपने तथा परके परिणाम को नहीं जानता है। इस प्रकार दोनों में अत्यन्त भेद होने से कर्तृ-कर्मभाव का होना अत्यन्त असम्भव है। यह कर्तृ-कर्मभाव की प्रवृत्ति अज्ञान से होती है। जिस समय विज्ञानरूपी ज्योति का उदय होता है उस समय अपने आप, जैसे क्रकच के द्वारा काष्ठ के दो खण्ड हो जाते हैं वैसे ही यह प्रवृत्ति भिन्न हो जाती है—जीव और पुद्गल दोनों अलग भासमान हो जाते हैं।।५०।।

आगे यद्यपि जीव और पुद्गलपरिणाम में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तथापि उनमें कर्तृ-कर्मभाव नहीं है, यह कहते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।।८०।।
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ।।८१।।
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।।८२।।

अर्थ– पुद्गल जीव के रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर कर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं। इसी तरह जीव भी ज्ञानावरणादि कर्मों के विपाककाल रूप निमित्त को पाकर स्वीय रागादि भावरूप परिणम जाता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध होने पर भी जीवद्रव्य कर्म में किसी गुण का उत्पादक नहीं है। अर्थात् पुद्गलद्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादिभाव को प्राप्त हो जाता है। इसी तरह कर्म भी जीव में किन्हीं गुणों को नहीं करता है किन्तु मोहनीय आदि कर्म के विपाक को निमित्त कर जीव स्वयमेव रागादि रूप परिणमन करता है। इतना होने पर भी पुद्गल और जीव इन दोनों का परिणमन परस्परनिमित्तक है, ऐसा जानो। इसीसे आत्मा अपने भावों के द्वारा अपने परिणमन का कर्त्ता होता है, पुद्गलकर्म कृत जो सब भाव हैं उनका कर्ता नहीं है। अर्थात् पुद्गल के जो ज्ञानावरणादि कर्म है उनका कर्ता पुद्गल है और जीव के जो रागादिभाव हैं उनका कर्ता जीव है।

विशेषार्थ– जिस कारण से जीव के रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणम जाता है तथा पुद्गलज्ञानावरणादि कर्मों के विपाक काल को पाकर जीव स्वयमेव रागादिक भावरूप पर्याय को प्राप्त हो जाता है। इस कारण जीव और पुद्गलपर्यायों में परस्पर हेतुत्व का उपन्यास होने पर भी जीव और पुद्गल में चूँकि व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है अत: जीव के पुद्गलपरिणामों का और पुद्गलकर्मों के जीवपरिणामों का कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नहीं होता है। किन्तु मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का प्रतिषेध नहीं है। अत: परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध द्वारा दोनों का परिणमन होता है। अर्थात् पुद्गलकर्म के विपाक काल में जीव रागादिक रूप परिणमन को प्राप्त होता है और जीव के रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभाव को प्राप्त होता है।

यही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्री अमृतचन्द्रसूरिने कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन।।
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।।

अर्थात् जीवकृत रागादिपरिणाम को निमित्तमात्र प्राप्तकर अन्य— पुद्गलस्वयमेव कर्मरूप से परिणमन करते हैं और अपने चिदात्मक रागादिभावों से परिणमन करनेवाले जीव को पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र होता है।

क्योंकि जीव और पुद्गल का परस्पर में निमित्त-नैमित्तिकभाव सम्बन्ध है। इसलिये मृत्तिकाकलश के समान स्वकीय भाव के द्वारा स्वकीयभाव के करने से जीवनामक जो पदार्थ है वह अपने रागादिक भावों का कर्ता कदाचित् हो सकता है, किन्तु मृत्तिका-वसन की तरह स्वकीय भाव के द्वारा परभाव का करना असम्भव है, अतएव पुद्गलभावों का कर्ता कभी भी नहीं हो सकता, ऐसा निश्चय सिद्धान्त है। इसका तात्पर्य यह है कि मृत्तिका जिस तरह वसनरूप पर्याय का कर्ता नहीं, इसी तरह जीव भी पुद्गलपरिणामों का कर्ता कदाचित् भी नहीं हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव का अपने परिणामों के साथ ही कर्तृ-कर्मभाव और भोक्तृ-भोग्यभाव है।

कार्योत्पत्ति की प्रक्रिया में उपादानकारण और निमित्तकारण ये दो कारण होते हैं। उपादान कारण वह है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है। जैसे घट का उपादान कारण मृत्तिका। और निमित्त कारण वह है जो उपादान की कार्यानुकूल परिणति में सहायक होता है। जैसे घट की उत्पत्ति में कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवरादि। यहाँ आचार्य ने उपादानकारण का मुख्यता से कथन किया है। उपादान की मुख्यता में विवक्षा यह है कि जीव और पुद्गल दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं। अतः दोनों का परस्पर एकद्रव्यरूप परिणमन नहीं हो सकता। स्वकीय परिणमन का स्व ही उपादानकारण हो सकता है, ऐसा नियम है। अतः पुद्गलद्रव्य में जो कर्मरूप परिणमन होता है उसका उपादानकारण पुद्गल ही है। इसी तरह जीव में जो रागादिक रूप परिणमन है उसका उपादान कारण जीव ही है। जीव और पुद्गल का यह परिणमन सर्वथा परनिरपेक्ष नहीं है क्योंकि यदि सर्वथा परनिरपेक्ष माना जायगा तो अकारणवान् होने से उसमें नित्यत्व का प्रसङ्ग आ जावेगा, परन्तु जीव के रागादिक परिणाम और पुद्गल के कर्मरूप परिणमन नित्य नहीं हैं। जब अनित्य हैं तब किसी कारण से ही उनकी उत्पत्ति होना चाहिये। इस स्थिति में निमित्त कारण की अपेक्षा आवश्यक रहती है। निमित्तकारण स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता। इसलिये भिन्न द्रव्य के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निमित्त बनने में आपत्ति नहीं है। अत: पुद्गल के कर्मरूप परिणमन में जीव का रागादिभाव निमित्तकारण है और जीव के रागादिभावरूप परिणमन में पौद्गलिककर्म निमित्तकारण हैं। उपादानोपादेयभाव एकद्रव्य में बनता है और निमित्त-नैमित्तिकभाव दो द्रव्यों में बनता है। यहाँ प्रकरण कर्तृ-कर्मभाव का है। परमार्थ से कर्तृ-कर्म उन्हीं में बनता है जिनमें व्याप्यव्यापकभाव होता है और चूँकि व्याप्यव्यापकभाव एक ही द्रव्य में हो सकता है। अत: रागादि भावों का कर्ता जीव ही है, पौद्गलिक कर्म नहीं, और ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता पुद्गल ही है, जीव नहीं है।।८०,८१,८२।।

यही दिखाते हैं–

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ।।८३।।

अर्थ– निश्चयनय का यह सिद्धान्त है कि आत्मा आत्मा को ही करता है और आत्मा-आत्मा को ही भोगता है, यह तू जान।

विशेषार्थ– जैसे वायु के संचरण का निमित्त पाकर समुद्र की उत्तरङ्ग अवस्था हो जाती है अर्थात् जब वायु का वेग होता है तब समुद्र में कल्लोलें उठने लगती हैं और जब वायु का वेग मन्द हो जाता है तब समुद्र की निस्तरङ्ग अवस्था हो जाती है। अर्थात् वायु के वेग के अभाव में कल्लोलों का उठना स्वयमेव शान्त हो जाता है। इस तरह वायु के संचरण और असंचरण रूप निमित्त को पाकर यद्यपि समुद्र की सतरङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्था हो जाती है तो भी वायु और समुद्र का परस्पर में व्याप्यव्यापकभाव नहीं है और व्याप्यव्यापकभाव के अभाव से कर्तृ-कर्मभाव की भी असिद्धि है। उस असिद्धि के होने पर समुद्र स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओं में उत्तरङ्ग तथा निस्तरङ्ग अवस्थाओं को व्याप्तकर कभी उत्तरङ्गरूप आत्मा [अपने] को करता है और कभी निस्तरङ्गरूप आत्मा [अपने] को करता है। इसी तरह आत्मा केवल एक अपने आत्मा को करता हुआ प्रतिभासमान होता है, अन्य को करता हुआ नहीं।

जैसे वही समुद्र भाव्यभावकभाव के अभाव से परभाव का परके द्वारा अनुभव न होना अशक्य है, इसी से उत्तरङ्ग और निस्तरङ्गरूप अपने आत्मा का अनुभवन करता हुआ केवल स्वीय आत्मा का अनुभव करता हुआ प्रतिभासमान होता है, अन्य को आपरूप कदापि अनुभव नहीं करता है। ऐसे ही जब पुद्गलकर्म का विपाक होता है तब आत्मा की संसार अवस्था होती है और पुद्गलकर्म के विपाक के अभाव में असंसार-अवस्था होती है। ऐसा होनेपर भी पुद्गल कर्म और जीव का व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है। इसीसे इन दोनों का परस्पर में कर्तृ-कर्मभाव भी नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। इसके न होने से केवल जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक भाव से आदि, मध्य और अन्त अवस्थाओं में ससंसार और असंसार अवस्थाओं को व्याप्त कर कभी संसार अवस्थारूप आत्मा को करता है और कभी असंसार अवस्थारूप आत्मा को करता है। इस तरह इन दो अवस्थाओं को करता हुआ प्रतिभासमान होता है। इसी तरह यही आत्मा भाव्यभावकभाव के अभाव से, क्योंकि परभाव का पर के द्वारा अनुभवन होना अशक्य है अत: ससंसार और नि:संसार अवस्थारूप आत्मा का अनुभवन करता हुआ एक आत्मा का ही अनुभव करनेवाला भासमान होता है, अन्य का अनुभवन करनेवाला नहीं।।८३।।

अब आगे व्यवहार को दिखलाते हैं–

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।।८४।।

अर्थ– व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को करता है और फिर उसी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को भोगता है।

विशेषार्थ– जैसे अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव से मिट्टी के द्वारा कलश किया जाता है और भाव्यभावकभाव से मृत्तिका के द्वारा ही अनुभवन किया जाता है। ऐसी व्यवस्था होने पर भी बाह्य व्याप्यव्यापकभाव से कलश की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार को करनेवाला और कलश धृततोयोपयोग से जायमान तृप्ति को भाव्यभावकभाव से अनुभवन करनेवाला जो कुलाल है वह कलश को करता है और उसका अनुभवन भी करता है। इस प्रकार लोगों का अनादि रूढ व्यवहार चला आ रहा है। ऐसे ही अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलद्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर तथा भाव्यभावकभाव से अनुभूयमान होने पर भी बाह्य व्याप्यव्यापकभाव के द्वारा अज्ञानभाव से पुद्गलकर्म की उत्पत्ति के अनुकूल स्वकीय रागादिक परिणामों को करनेवाला और पुद्गलकर्म के विपाक से संपादित तथा विषय के सान्निध्य से होनेवाली सुख-दु:खात्मक परिणति को भाव्यभावकभाव के द्वारा अनुभवन करनेवाला जो जीव है वह पुद्गलकर्म को करता है और भोगता है, ऐसा अज्ञानी जीवों का आसंसार प्रसिद्ध व्यवहार चला आ रहा है।।८४।।

अब इस व्यवहार को दूषित करते हैं–

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो-किरियावदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमदं ।।८५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– यदि आत्मा इस पुद्गलकर्म को करता है और उसी पुद्गलकर्म को भोगता है तो वह दो क्रियाओं से अभिन्न ठहरता है सो यह जिनेन्द्रदेव को अस्वीकृत है।

विशेषार्थ– इस लोक में जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब परिणामलक्षणवाली होने के कारण परिणाम से भिन्न नहीं हैं और क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तुएँ हैं अत: परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं है। इस तरह जो भी क्रिया होती है वह सब क्रियावान् से भिन्न नहीं होती। अतएव वस्तुस्थिति के अनुसार क्रिया और कर्त्ता में अभिन्नता सिद्ध होती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जैसे व्याप्यव्यापकभाव से जीव अपने परिणाम को करता है और भाव्यभावकभाव से उसका अनुभवन करता है। यदि ऐसे ही जीव व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करने लगे और भाव्यभावकभाव से उसी का अनुभव करने लग जाय तो स्व और पर में रहनेवाली दो क्रियाओं में अभेद का प्रसङ्ग आ जावेगा और उस स्थिति में स्व तथा पर के बीच परस्पर का भेद समाप्त हो जाने से एक आत्मा अनेकरूप हो जायगा तथा एक आत्मा का अनेकरूप से अनुभव करनेवाला आत्मा मिथ्यादृष्टि हो जावेगा, सो यह सर्वज्ञ भगवान् को अभिमत नहीं है।

यहाँ चर्चा जीव और पुद्गल दो द्रव्यों की है। जीव चेतनद्रव्य है और पुद्गल जड़ द्रव्य है। दोनों द्रव्यों की क्रियाएँ वस्तुमर्यादा के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् जीव की क्रिया जीव में होती है और पुद्गल की क्रिया पुद्गल में होती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जीव जीवपरिणामों का कर्ता है और जीवपरिणामों का ही भोक्ता है। इसी तरह पुद्गल पुद्गलपरिणामों का कर्ता है और पुद्गलपरिणामों का ही भोक्ता है। इस वस्तुस्थिति का उल्लङ्घन कर व्यवहारनय जीव को पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता बतलाता है। सो इस निरूपण में जीव में दो क्रियाओं का समावेश हो जायगा—एक जीव की अपनी क्रिया का तथा दूसरी पुद्गल की क्रिया का। और क्रिया का क्रियावान् से अभेद होता है। इसलिए जीव का उपर्युक्त दोनों क्रियाओं के साथ अभेद होने से जिस प्रकार उसमें जीवत्व रहता है उसी प्रकार पुद्गलत्व भी रहने लग जायगा। इसलिये जीवद्रव्य जो पहले जीवत्व की अपेक्षा एकरूप था अब वह पुद्गल का भी कर्त्ता मान लेने पर पुद्गलरूप होने के कारण अनेकरूप हो जायगा और इस विपरीत तत्त्वव्यवस्था को माननेवाला मिथ्यादृष्टि हो जायगा। यही कारण है कि सर्वज्ञदेव ने इस सिद्धान्त को अवमत (अस्वीकृत) किया है।।८५।।

आगे दो क्रियावादी किस तरह मिथ्यादृष्टि होता है, इसी को गाथा द्वारा स्पष्ट करते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति।।८६।।

अर्थ– जिस कारण जीव आत्मभाव तथा पुद्गलभाव दोनों को करते हैं, इसलिये दो-क्रियावादी लोग मिथ्यादृष्टि होते हैं।

विशेषार्थ– क्योंकि दो-क्रियावादी अर्थात् दो क्रियाओं का कर्ता एक होता है, ऐसा कथन करने वाले लोग आत्मा को आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इन दोनों का करनेवाला मानते हैं, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं, यह सिद्धान्त है। यह कदापि नहीं हो सकता कि एकद्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम हो जावें। जैसे कुलाल जब घट बनाता है तब जिस प्रकार का घट बनना है उसके अनुकूल ही अपने व्यापार व परिणाम का कर्ता होता है और उस कुलाल का वह परिणाम कुलाल से अभिन्न होता है तथा उसकी परिणति रूप जो क्रिया है वह भी उससे भिन्न नहीं है। उस क्रिया से कुलाल घट को करता हुआ प्रतिभासित होता है, किन्तु ऐसा प्रतिभासित नहीं होता कि कुलाल घट का कर्ता है। भले ही वह कुलाल 'मैं घट बनाता हूँ' इस प्रकार के अहंकार से भरा हो और अपने व्यापार के अनुरूप मिट्टी की घटरूप परिणति को कर रहा हो, परन्तु मिट्टी में जो घटरूप परिणाम हो रहा है वह यथार्थ में मिट्टी से अभिन्न है तथा मिट्टी से अभिन्न परणितिमात्र क्रिया के द्वारा क्रियमाण है। तात्पर्य यह हुआ कि परमार्थ से घट का कर्ता कुलाल नहीं है किन्तु मिट्टी है, कुलाल तो अपने हस्तपादादिक के व्यापार का ही कर्ता है। इसी प्रकार 'आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता है' यहाँ परमार्थ से विचार किया जावे तो आत्मा आत्मपरिणाम का ही कर्ता है क्योंकि आत्मा अज्ञानवश पुद्गलपरिणाम के अनुकूल जिस व्यापार को करता है वह आत्मा से अभिन्न है और उस परिणति के होने में जो आत्मा की परिणतिमात्र क्रिया हुई उससे भी आत्मा अभिन्न है। इस प्रकार आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों के अनुकूल आत्मपरिणाम को करता हुआ प्रतिभासित होता है। किन्तु ऐसा प्रतिभासित नहीं होता कि आत्मा पुद्गलपरिणाम का कर्ता है, भले ही वह 'मैं पुद्गलपरिणाम को कर रहा हूँ' इस प्रकार के अहंकार से भरा हो तथा अपने परिणाम के अनुकूल पुद्गलपरिणाम को कर रहा हो, क्योंकि उसका वह व्यापार पुद्गल से अभिन्न है और जिस परिणतिमात्र क्रिया से वह व्यापार किया जा रहा है वह भी पुद्गल से अभिन्न है। तात्पर्य यह हुआ कि पुद्गलपरिणाम का कर्ता पुद्गल है, आत्मा नहीं, आत्मा तो केवल अपने परिणाम का कर्ता है। इस तरह जब आत्मा को आत्मपरिणाम का और पुद्गल को पुद्गलपरिणाम का ही कर्ता मान लिया तब एक द्रव्य में एक ही क्रिया हुई, दो क्रियाएँ नहीं हुई। परन्तु इसके विपरीत जब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह माना जाता है कि आत्मा, आत्मपरिणाम और पुद्गलपरिणाम इन दोनों का कर्ता है तब द्विक्रियावादियों का मिथ्या सिद्धान्त आता है।।८६।।

इसी अभिप्राय को श्रीअमृतचन्द्राचार्य निम्नलिखित कलशों में प्रकट करते हैं—

आर्याछन्द

य: परिणमति स कर्ता य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति: क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।५१।।

अर्थ– जो परिणमन करता है वही कर्ता है, जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है वह क्रिया है, ये तीनों वास्तव में भिन्न नहीं हैं, अर्थात् सामान्यदृष्टि से विचार किया जाये तब तीनों एक ही वस्तु हैं। इनमें भिन्नता नहीं, परन्तु विशेषदृष्टि से परस्पर में भिन्नता है।

एक: परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणति: स्यादनेकमप्येकमेव यत:।।५२।।

अर्थ– वस्तु सदा एकाकी परिणमन करती है, जो परिणाम होता है वह सदा एक का ही होता है, और जो परिणति है वह भी सदा एक की ही होती है क्योंकि वस्तु अनेकरूप होकर भी परमार्थ से एक ही है।।५२।।

नोभौ परिणमत: खलु परिणामो नोभयो: प्रजायेत।
उभयोर्न परिणति: स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा।।५३।।

अर्थ– निश्चय से दो द्रव्य एक रूप परिणमन नहीं करते, दो द्रव्यों का एकरूप परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति नहीं होती, क्योंकि जो अनेक हैं वे सदा अनेक ही रहते हैं।।५३।।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात्।।५४।।

अर्थ—एक कर्म के दो कर्ता नहीं होते, एक कर्ता के दो कर्म नहीं होते और एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होतीं, क्योंकि जो एक है वह अनेक नहीं हो सकता।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तम:।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः।।५५।।

अर्थ– अहो, निश्चय से इस संसार में मोही जीवों के जब से संसार है तभी से 'मैं परद्रव्य का कर्ता हूँ, ऐसा बहुत भारी दुर्निवार महान् अहंकाररूपी अन्धकार चला आ रहा है। सो वह अन्धकार वास्तविक अर्थ के ग्रहण करने से यदि एक बार भी विलय को प्राप्त हो जावे तो फिर ज्ञानघन आत्म का बन्धन क्या हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

भावार्थ– संसार में अज्ञानी जीव अनादिकाल से अपने आपको पर का कर्ता मानकर कर्मों का बन्ध कर रहा है। अपने आपको पर का कर्ता मानना ही मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व ही कर्म बन्ध का प्रमुख कारण है। यहाँ मिथ्यात्व को दुर्निवार अन्धकार का रूपक दिया गया है। वस्तु का परमार्थ स्वरूप समझने से वह मिथ्यात्वरूपी अन्धकार यदि एक बार भी नष्ट हो जाता है तो फिर यह जीव अनन्त संसार तक बन्धन का पात्र नहीं रह सकता, क्योंकि मिथ्यात्व का क्षय कर सम्यक्त्व की प्राप्ति उसी जीव को होती है जिसका संसार का काल अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गल परावर्तनमात्र रह गया हो।

अनुष्टुप्छन्द

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते।।५६।।

अर्थ– आत्मा सदा आत्मभावों को ही करता है और परद्रव्य परभावों को ही करता है, आत्मा के भाव आत्मा ही हैं और पर के भाव पर ही हैं।

भावार्थ– 'संसार का प्रत्येक द्रव्य सदा अपने-अपने भावों का कर्ता है' इस सिद्धान्त से आत्मा आत्मा के ही भावों का कर्ता है और आत्मा के अतिरिक्त जो परद्रव्य हैं वे अपने भावों के कर्ता हैं। भाव और भावान् में परमार्थ से कोई भेद नहीं है, इसलिये आत्मा के जो भाव हैं वे आत्मा ही हैं और पर के भाव हैं वे पर ही हैं।।५६।।

आगे मिथ्यात्व आदि भावों की द्विविधरूपता का वर्णन करते हैं–

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ।।८७।।

अर्थ– जो पहले मिथ्यात्व कहा गया है वह जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है, उसी प्रकार अज्ञान जो है वह भी जीव व अजीव के भेद से दो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार का है। इसी तरह अविरति, योग, मोह और क्रोधादिक जो भाव हैं वे सब जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ– मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जो भाव हैं वे सब भाव मयूर और मुकुरुन्द (दर्पण) के सदृश जीव और अजीव दोनों के द्वारा भाव्यमान होने से जीव और अजीव दोनों ही स्वरूप हैं। मयूर और दर्पण के दृष्टान्त को व्यक्तरूप से दिखलाते हैं—जैसे नील, कृष्ण, हरित, पीतादिक जो रूपगुण के विकार हैं वे मयूररूप पुद्गलद्रव्य (शरीर के) द्वारा भाव्यमान होने से मयूर हैं क्योंकि उन नील, कृष्ण, हरित, पीतादिक विकारों का अस्तित्व मयूर से अतिरिक्त नहीं पाया जाता अत: वे सब मयूर ही हैं, और जो मयूर का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है वह दर्पण की ऐसी स्वच्छता है कि जिससे वह मयूर दर्पण में भासमान हो रहा है। यहाँ पर वास्तव में दर्पण में मयूर का अस्तित्व नहीं है किन्तु एक ऐसा विलक्षण निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि यदि कोई प्रतिबन्धक न हो तो मयूर निमित्त को पाकर दर्पण की स्वच्छता में मयूर कैसा आकार प्रतिभासमान होता है। वहाँपर जो नील, कृष्ण, हरित, पीतादिभावरूप परिणमन हो रहा है वह दर्पण की स्वच्छता का विकार है। जिस प्रकार दर्पण के द्वारा भाव्यमान होने से नील, कृष्ण, हरित, पीतादिभाव दर्पण ही हैं उसी प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक जो भाव हैं वे पुद्गलद्रव्य के द्वारा भाव्यमान होने से अजीव ही हैं तथा मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जो भाव जीव में विकाररूप से होते हैं वे जीव के द्वारा भाव्यमान होने से जीव ही हैं। यहाँ पर यह जानने योग्य है कि जो मिथ्यात्व आदि मोहनीयकर्म की प्रकृतियाँ हैं वे तो अजीवरूप हैं और इनके विपाककाल में जो अतत्त्वश्रद्धादिरूप मिथ्यात्व आदि भाव होते हैं वे जीव हैं।।८७।।

आगे इन मिथ्यात्वादिक भावों में जीव कौन है? और अजीव कौन है? इसका उत्तर देते हैं–

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ।।८८।।

अर्थ– पुद्गलकर्मरूप जो मिथ्यात्व, योग, अविरति तथा अज्ञान हैं वे तो अजीव हैं और उपयोगरूप अर्थात् भावरूप जो अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व तथा योग हैं वे जीव हैं।

विशेषार्थ– जो निश्चयकर मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं वे सब अमूर्तिक चैतन्यपरिणाम से भिन्न मूर्तिकद्रव्यरूप पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव हैं वे सब मूर्तिकपुद्गलकर्म से अन्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्यपरिणाम के विकार हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वप्रकृति, मन-वचन-कायरूप द्रव्ययोग, अविरति में कारणभूत अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्र-मोह की प्रकृतियाँ तथा ज्ञान को कुज्ञान बनानेवाली मिथ्यात्व आदि प्रकृतियाँ अथवा मतिज्ञानावरणादि ज्ञानावरण की प्रकृतियाँ ये सब अजीव हैं क्योंकि पौद्गलिककर्म हैं। और इन उपर्युक्त प्रकृतियों के विपाककाल में जायमान जो विपरीताभिनिवेश अथवा अतत्त्वश्रद्धानरूप श्रद्धागुण की विपरीतपरिणति, आत्मप्रदेशों में प्रकम्पन की शक्तिरूप भावयोग, अविरतिरूप चारित्रगुण की विपरीतपरिणति तथा मतिज्ञानादिगुणों की अज्ञानरूप विरीतपरिणति है वह सब जीव हैं क्योंकि उपयोगस्वरूप होने से वे जीव की ही विशिष्ट परिणतियाँ हैं।।८८।।

अब मिथ्यादर्शनादि भाव चैतन्यपरिणाम के विकार कैसे हैं? यही दिखाते हैं–

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ।।८९।।

अर्थ– मोहयुक्त उपयोग के अनादि से तीन तरह के परिणाम होते हैं। वे परिणाम मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप जानने योग्य हैं।।

विशेषार्थ– तात्त्विकदृष्टि से देखा जावे तो सर्व ही पदार्थ—स्वकीय-स्वकीय परिणामरूप परिणमने में समर्थ हैं। यह सब पदार्थों का वास्तविक स्वभाव-सामर्थ्य है, कोई स्वकीय परिणमन में उपादानरूप से किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता है। उपयोग में स्वभाव से समस्त वस्तुओं के आकार परिणमने की सामर्थ्य है। अतएव उसके साथ अनादिकाल से वस्त्वन्तरभूत जो मोह का सम्बन्ध है उसके निमित्त से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और अविरतिरूप तीन तरह का उस उपयोग का विकार रूप परिणमन हो जाता है और यह बात अलीक नहीं, क्योंकि ऐसा होना देखा गया है— जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे स्वच्छ है किन्तु निमित्त पाकर उसकी स्वच्छता विकृतरूप हो जाती है, यही दिखाते हैं—

स्फटिक की स्वच्छता अपने स्वरूप रूप परिणमन में सर्वदा सामर्थ्यशालिनी है। किन्तु जब उसके साथ नील-हरित-पीत-तमाल-कदली-काञ्चनपात्र की उपाधि का सम्बन्ध हो जाता है तब उसके तीन तरह के नील-हरित-पीतविकार रूप परिणमन हो जाते हैं, यह सबके दृष्टिगोचर कथा है। इसी तरह उपयोग का वस्त्वन्तरभूत मोह के साथ सम्बन्ध होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतरूप तीन तरह का परिणाम विकार देखा जाता है। इसका आशय यह है कि जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से स्वच्छ है, परन्तु उस स्फटिकमणि को जिस रङ्ग की डांक लगाई जाती है उसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तरह का उसका परिणाम हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा का जो उपयोग है वह स्वच्छ है परन्तु जब उसके साथ मिथ्यादर्शनादि उपाधि का सम्बन्ध रहता है तब वह मिथ्यादर्शनादि रूप परिणाम को प्राप्त हो जाता है।।८९।।

आगे आत्मा में तीन प्रकार के परिणामों का कर्तृत्व है, यही दिखाते हैं–

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।।९०।।

अर्थ– यद्यपि उपयोग आत्मा का शुद्ध-निरञ्जन भाव है तो भी इन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति रूप निमित्तों के सद्भाव में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। वह उपयोग जिस भाव को करता है उसका वह कर्ता होता है।

विशेषार्थ– यद्यपि यह उपयोग परमार्थ से शुद्ध-निरञ्जन-अनादिनिधन-वस्तु जो आत्मा सो सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भाव के कारण एक प्रकार का है तो भी अनादि-वस्त्वन्तरभूत अर्थात् अनादिकाल से साथ में लगे हुए पृथक् वस्तुस्वरूप मोहकर्म से युक्त होने के कारण आत्मा में जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभाव रूप तीन प्रकार के परिणामविकार प्रकट हो रहे हैं उनका निमित्त पाकर अशुद्ध, साञ्जन और अनेकता को प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार का हो रहा है। यही तीन प्रकार का उपयोग स्वयं अज्ञानरूप परिणम कर कर्तृत्व को प्राप्त होता है और विकाररूप परिणम कर आत्मा के जिस-जिस भाव को करता है उस-उस भाव का कर्ता होता है।

उपयोग आत्मा का गुण है और गुण, गुणी से पृथक् नहीं रहता, अत: उपयोग को कर्ता कहने से आत्मा में कर्तृत्व आ जाता है। पहले निमित्त की मुख्यता से यह कहा गया था कि आत्मा में जो मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव हैं उनका कर्ता पुद्गलद्रव्य है। यहाँ उपादान की मुख्यता से कहा गया है कि इनका कर्ता आत्मा है क्योंकि ये मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव परनिमित्त से जायमान आत्मा की ही अशुद्ध परिणतिरूप हैं।।९०।।

इस तरह जब आत्मा मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इन तीन प्रकार के विकारी परिणामों का कर्ता होता है तब उनका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मभाव को प्राप्त हो जाता है, यही दिखाते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जं कुणइ भवमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं ।।९१।।

अर्थ– आत्म-जिस भाव को करता है उसका भाव वह कर्ता होता है और उसके होने पर पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणम जाता है।

विशेषार्थ– आत्मा स्वयं ही उस प्रकार के परिणमन से जिस भाव को करता है मन्त्रसाधक पुरुष की तरह वह उस भाव का कर्ता होता है और उस भाव के निमित्त होने पर पुद्गलद्रव्य स्वयं ही ज्ञानावरणादि रूप परिणमन को प्राप्त हो जाता है। यही दिखाते हैं— जिस प्रकार मन्त्र का साधनेवाला उस प्रकार के ध्यानभाव से स्वयं परिणमन करता हुआ ध्यान का कर्ता होता है और उस ध्यानभाव के सम्पूर्ण साध्यभाव की अनुकूलता के कारण निमित्तमात्र होने पर अन्य किसी—साधक कर्ता के बिना ही सर्पादिक के विष का प्रसार स्वयमेव दूर हो जाता है, स्त्रियाँ विडम्बना को प्राप्त हो जाती हैं तथा बन्धन ध्वस्त हो जाते हैं। उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान से मिथ्यादर्शनादि रूप स्वयं परिणमन करता हुआ मिथ्यादर्शनादिभाव का कर्ता होता है और उस मिथ्यादर्शनादिभाव के अपनी अनुकूलता के कारण निमित्तमात्र होने पर आत्मारूप कर्ता के बिना पुद्गलद्रव्य स्वयं ही मोहनीय आदि कर्मरूप परिणम जाता है।

आत्मा में वैभाविक शक्ति होने के कारण मिथ्यादर्शनादिरूप परिणमन करने की योग्यता है। अत: अन्तरङ्ग में उस योग्यता से तथा बहिरङ्ग में पूर्वबद्ध मिथ्यात्व आदि द्रव्यकर्म के विपाक से इधर आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है उधर पुद्गलद्रव्य में भी वैभाविक शक्ति होने के कारण कर्मरूप परिणमन करने की योग्यता है। अत: अन्तरङ्ग में उस योग्यता से तथा बहिरङ्ग में जीव के मिथ्यादर्शनादि विभावभाव के निमित्त से पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। यहाँ आत्मा और पुद्गल दोनों में विद्यमान वैभाविकशक्ति से जायमान योग्यता को लक्ष्य में रखकर कथन करते हुए कहा गया है कि आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन स्वयं करता है और पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन स्वयं करता है। जब आत्मा और पुद्गल की उस योग्यता को गौणकर बहिरङ्ग निमित्त की प्रधानता से कथन किया जाता है तब तहा जाता है कि पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मरूप पुद्गल के निभित्त से आत्मा मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन करता है और आत्मा के मिथ्यादर्शनादि विभावरूप परिणमन के निमित्त से पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करता है। यहाँ मन्त्रसाधक के दृष्टान्त से भी यही बात प्रकट की गई है, क्योंकि मन्त्र सिद्ध करनेवाला पुरुष ध्यानविषयक योग्यता को स्वयं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रखता है, उस योग्यता से ही वह ध्यानरूप परिणमन करता हुआ ध्यान का कर्ता कहलाता है उधर सर्पादिक के विष में दूर होने की योग्यता स्वयं है। अत: जब मन्त्रसाधक और सर्पादिक के विष, दोनों की अपनी-अपनी योग्यताओं को लक्ष्य में रखकर कथन होता है तब कहा जाता है कि मन्त्रसाधक स्वयं ध्यानरूप परिणमन करता है और सर्पादिक का विष स्वयं दूर होता है। परन्तु जब उनकी उस योग्यता को गौणकर बाह्य निमित्त की प्रधानता से कथन होता है तब कहा जाता है कि अमुक मन्त्रसाधक के ध्यान के प्रसाद से सर्प का विष दूर हो गया, अमुक व्यक्ति के वशीकरण मन्त्र से स्त्रियाँ विडम्बना को प्राप्त हो गईं तथा अमुक व्यक्ति की मन्त्रसाधना की महिमा से बन्धन खुल गये। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की और है कि बहिरङ्ग निमित्त, साध्यभाव की अनुकूलता से ही निमित्तपन को प्राप्त होता है क्योंकि साध्यभाव की अनुकूलता के बिना केवल निमित्त से साध्य की सिद्धि नहीं होती।।९१।।

अब यह बात कहते हैं कि अज्ञान से ही कर्म होते हैं–

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि।।९२।।

अर्थ– अज्ञानमय जीव पर को अपना और आप को पर करता हुआ कर्मों का कर्ता होता है।

विशेषार्थ– निश्चय से यह आत्मा अज्ञानभाव के द्वारा पर और आत्मा का भेदज्ञान नहीं कर सकता है और भेदज्ञान के अभाव में पर को तो अपना करता है और अपने को पररूप करता है, अत: स्वयं अज्ञानमय होता हुआ कर्मों का कर्ता प्रतिभासमान होता है। यहाँ 'प्रतिभाति' क्रिया देने का यह तात्पर्य है कि परमार्थ से कर्ता तो नहीं है किन्तु भासमान होता है। उसी को स्पष्ट रूप से दिखाते हैं— राग, द्वेष, सुख, दु:ख आदि पुद्गलपरिणाम की अवस्थाएँ हैं और ये अवस्थाएँ 'मैं रागी हूँ', द्वेषी हूँ, सुखी हूँ, दु:खी हूँ', इस प्रकार के अनुभव कराने में समर्थ हैं परन्तु जैसे शीत, उष्ण पुद्गलपरिणाम की अवस्थाएँ हैं और वे शीत, उष्ण के अनुभव कराने में समर्थ हैं तथा पुद्गल से अभिन्न हैं वैसे ही ये राग, द्वेष, सुख, दु:खादि अवस्थाएँ भी पुद्गल से अभिन्न हैं और इन अवस्थाओं के निमित्त से जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मा से अभिन्न तथा पुद्गल से नित्य ही भिन्न है किन्तु इस अनुभव का और रागादिरूप अवस्था का अज्ञान से परस्पर भेदज्ञान न होने पर दोनों में एकत्व का अध्यास हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा शीत, उष्णरूप परिणमन करने में असमर्थ है उसी प्रकार परमार्थ से अज्ञानमय राग, द्वेष, सुख, दु:खादिरूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी परिणमन करने में असमर्थ है। परन्तु ऊपर कहे हुए एकत्व के अध्यास से यह आत्मा राग, द्वेष, सुख, दु:खादिरूप अज्ञानमय भाव से परिणमन करता हुआ अपने ज्ञान की अज्ञानता को प्रकट करता है तथा स्वयं अज्ञानमय होता है और 'यह जो मैं हूँ सो राग करता हूँ' इत्यादि विधि से ज्ञान से विरुद्ध रागादि कर्म का कर्ता प्रतिभासमान होता है।

तत्त्वदृष्टि से देखा जावे तो पुद्गल कर्म के विपाक से आत्मा का जो चारित्रगुण है वह रागादि रूप परिणम जाता है उस काल में आत्मा का जो ज्ञानात्मक उपयोग है वह इन भावों को अपने में देखता है। ज्ञान की ऐसी स्वच्छता है कि जो वस्तु उसके समक्ष आती है उसे जानता है। यदि केवल जानना रहता तो आत्मा की कुछ हानि न थी, परन्तु उनरूप अपने को मानने लगता है। वास्तव में ज्ञान और ज्ञेय एकरूप कदापि नहीं होते, परन्तु अज्ञान में यह बात नहीं बनती। यही कारण है कि अज्ञानी जीव रज्जु में सर्पभ्रान्ति के द्वारा भयभीत होकर उस स्थान से पलायमान होने की चेष्टा करते हैं। यद्यपि वस्तुस्वरूप कभी नहीं बदलता, परन्तु अज्ञान में भासमान होता है। इसी से अज्ञानी जीव सर्वदा दु:खी और असंतुष्ट रूप रहता है। अत: सिद्ध हुआ कि अज्ञान से ही कर्मों का आविर्भाव होता है, ज्ञान से नहीं।।९२।।

आगे ज्ञान से कर्म नहीं उत्पन्न होता, यह कहते हैं–

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ।।९३।।

अर्थ– जो जीव अपनी आत्मा को पररूप नहीं करता है और परपदार्थ को अपने आत्मस्वरूप नहीं करता है वही जीव ज्ञानमय है तथा कर्मों का अकर्ता होता है।

विशेषार्थ– निश्चय से यह आत्मा ज्ञान से पर और आत्मा के भेद को जानता है। ऐसा भेदज्ञान जिस आत्मा में हो जाता है वह पर को आत्मरूप नहीं करता और आत्मा को पररूप नहीं करता। ऐसी व्यवस्था के सद्भाव में स्वयमेव ज्ञानी हुआ कर्मों का कर्ता नहीं होता है। यही दिखाते हैं—

जैसे शीतोष्ण पुद्गल की अवस्थाविशेष है और यह अवस्था शीतोष्णरूप ज्ञान के सम्पादन में समर्थ है, किन्तु इसकी अभिन्नता पुद्गल के साथ ही है। ऐसे ही राग, द्वेष, सुख, दु:ख भी पुद्गल की अवस्थाएँ हैं क्योंकि रागद्वेषात्मक जो मोहकर्म है उसके उदय से ही इनका आविर्भाव होता है। यह रागादिरूप अवस्था रागादि के ज्ञान कराने में समर्थ है फिर भी पुद्गल से अभिन्न है और आत्मा से तो नित्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही अत्यन्त भिन्न है। किन्तु इसके निमित्त से जो अनुभव होता है वह अनुभव आत्मा से अभिन्न है और पुद्गल से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है। अतएव जिनके सम्यग्ज्ञान है वे इस अनुभव और राग, द्वेषादि का पृथक्-पृथक् स्वरूप जानते हैं। इस सम्यग्ज्ञान से अनुभव और रागादिक में नानात्व का विवेक हो जाता है अर्थात् दोनों जुदे-जुदे हैं, यह ज्ञान हो जाता है। इस नानात्व के विवेक से, जिस प्रकार आत्मा शीतोष्णरूप परिणमन करने में अशक्य है उसी तरह राग, द्वेष, सुख, दु:खरूप अज्ञानमय भाव से भी परिणमन करने में अशक्य है। अत: तद्रूप किञ्चिन्मात्र का परिणमन न करता हुआ यह आत्मा अपने ज्ञान के ज्ञानपन को प्रकट करता है और स्वयं ज्ञानमय होता हुआ ऐसी श्रद्धा करता है कि 'यह जो मैं हूँ सो जानता ही हूँ रागादिरूप परिणमन तो पुद्गल करता है' इत्यादि विधि से वह आत्मा अज्ञानस्वरूप जो रागादिक कर्म हैं उन सभी का अकर्ता होता है।

रागादिरूप अवस्था और रागादिरूप अवस्था का अनुभव ये दो ज्ञान में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यद्यपि दोनों ही आत्मा में भासमान हो रही हैं फिर भी रागादिरूप अवस्था पौद्गलिक कर्म के निमित्त से उत्पद्यमान होने के कारण आत्मा की न कही जाकर पुद्गल की कही जाती है। जैसे शीतोष्णरूप अवस्था का पुद्गल के साथ अभेदभाव है। ऐसे ही रागादि अवस्था का भी निमित्त कारण की प्रधानता में पुद्गल से अभेदभाव है। परन्तु रागादिरूप अवस्था का जो अनुभव—ज्ञान होता है वह पर से जायमान नहीं है क्योंकि ज्ञान, आत्मा का गुण है, उसका आविर्भाव आत्मा से ही होता है पर से नहीं, अत: ज्ञान आत्मा से अभिन्न और पुद्गल से अत्यन्त भिन्न है। अज्ञानी जीव को इस प्रकार का भेदज्ञान नहीं होता, इसलिये वह रागादिरूप अज्ञानमय भाव से परिणमन करता हुआ अपने ज्ञान को अज्ञानरूप प्रकट करता है और उस अज्ञान की महिमा से अपने आपको रागादि कर्मों का कर्ता बताता है, परन्तु ज्ञानी जीव को उक्त भेद-ज्ञान हो जाता है। इसलिये वह रागादिरूप अज्ञानमय भाव से कुछ भी परिणमन नहीं करता हुआ अपने ज्ञान को ज्ञानरूप ही प्रकट करता है और उस ज्ञान की महिमा से वह समझता है कि मेरा काम तो केवल जानना है, रागादिरूप परिणमन करना नहीं, रागादिरूप परिणमन करना पुद्गल का काम है। इस तरह की श्रद्धा से वह रागादि कर्मों का कर्ता नहीं होता है।।९३।।

आगे अज्ञान से किस प्रकार कर्म होते हैं, यही दिखाते हैं–

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहो हं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स।।९४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– यह तीन प्रकार का उपयोग जब आत्मा में ऐसा विकल्प करता है कि 'मैं क्रोध हूँ' तब वह आत्मभावरूप उस उपयोग का कर्ता होता है।

विशेषार्थ– यह जो आत्मा का सविकार चैतन्य परिणाम है वह सामान्य से तो एक अज्ञानरूप है और विशेष से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का है। जिस काल में पर और आत्मा का न तो विशेष दर्शन होता है, न विशेषज्ञान होता है और न विशेष विरति होती है उस काल में समस्त भेदों का अपलाप कर भाव्यभावकभाव को प्राप्त चेतन-अचेतन पदार्थों का समानाधिकरण रूप से अनुभव होने लगता है। उस अनुभव के प्रभाव से आत्मा में ऐसा विकल्प उठता है कि मैं क्रोध हूँ। इस विकल्प से यह आत्मा भ्रान्ति के द्वारा 'मैं क्रोध हूँ' इस प्रकार चैतन्यपरिणाम के द्वारा परिणमन करता हुआ उस विकारी चैतन्यपरिणामरूप आत्मभाव का कर्ता होता है। इसी तरह 'क्रोध' पद को परिवर्तित कर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह सूत्रों की व्याख्या कर लेनी चाहिये। इसी प्रक्रिया से अन्य तत्त्व भी ऊहापोह करने के योग्य हैं।

उपयोग आत्मा का गुण है, और गुण गुणी से अभिन्न रहता है, अत: यहाँ उपयोगशब्द से आत्मा का बोध होता है। आत्मा का अज्ञानरूप विकारी-परिणमन सामान्य से यद्यपि एक प्रकार का है तो भी विशेष की अपेक्षा वह मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का हो रहा है। यह मिथ्यादर्शनादि रूप परिणमन आत्मा का निज का स्वभाव रूप परिणमन नहीं है, किन्तु पर के निमित्त से जायमान होने के कारण विकारी परिणमन है। इस विकारी परिणमन के प्रभाव से आत्मा को पर तथा आत्मा का भेदज्ञान नहीं हो पाता है। इस भेदज्ञान के अभाव में वह भाव्यभावकभाव को प्राप्त जो चेतन-अचेतन पदार्थ हैं उनका एकरूप से अर्थात् चेतनरूप से ही अनुभव करता है। क्रोधादिरूप परिणत आत्मा भाव्य है और उसमें कारणभूत भावक्रोध भावक है, यहाँ भाव्य अर्थात् आत्मा तो चेतन है और भावक अर्थात् भावक्रोध अचेतन के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण अचेतन है। आत्मा में जो क्रोधरूप परिणति हो रही है उसमें आत्मा तो चेतन है और क्रोध अचेतन है। इस तरह इन दोनों में स्पष्ट भेद है। परन्तु अज्ञानी आत्मा को इनमें भेद का अनुभव नहीं होता और उसके न होने से वह ऐसा विकल्प करने लगता है कि 'मैं क्रोध हूँ'। इस विकल्प की महिमा से आत्मा अपने विकारी परिणाम का कर्ता होता है और वह विकारी परिणाम उसका कर्म होता है। इस तरह सिद्ध होता है कि अज्ञान से ही कर्म का प्रादुर्भाव है।।९४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह भाव्य-भावकविषयक भेद के अज्ञान से कर्म का प्रादुभार्व दिखलाकर अब ज्ञेयज्ञायकभावविषयक भेद के अज्ञान से कर्म का प्रादुर्भाव दिखलाते हैं–

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्माई ।
कत्ता तत्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ।।९५।।

अर्थ– यह तीन प्रकार का उपयोग आत्मा में जब ऐसा विकल्प करता है कि 'मैं धर्मादिक द्रव्यरूप हूँ' तब वह आत्म-परिणामरूप उस उपयोग का कर्ता होता है।

विशेषार्थ– निश्चय से आत्मा का जो विकारसहित चैतन्यपरिणाम है वह सामान्य से एक अज्ञानरूप है और विशेष से मिथ्यादर्शन, अज्ञान तथा अविरति के भेद से तीन प्रकार का है। जब इन परिणामों का उदय रहता है तब पर और आत्मा का न तो विशेषरूप से अर्थात् पृथक्-पृथक् श्रद्धान होता है, न विशेषरूप से ज्ञान होता है और न विशेषरूप से आत्मा परपदार्थों से विरत रहता है। इसी से समस्त स्व और पर के भेद का अपलाप कर ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध से पर और आत्मा का तादात्म्य रूप से अनुभव कर कभी तो यह विकल्प करता है कि मैं धर्म हूँ, कभी अधर्म हूँ, कभी आकाश हूँ, कभी काल हूँ, कभी पुद्गल हूँ अथवा जीवान्तर हूँ अर्थात् जो वस्तु ज्ञान में आती है उसी रूप अपने को मानने लगता है और उसी तरह का विकल्प आत्मा में उत्पन्न करता है। इसीसे यह आत्मा मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, अथवा मैं अन्य जीव स्वरूप हूँ इस प्रकार भ्रान्तिज्ञान के द्वारा उपाधिसहित चैतन्य परिणाम (सविकार चैतन्य) रूप परिणमता हुआ उपाधिसहित चैतन्यपरिणामरूप आत्मभाव का कर्ता होता है। इससे यह स्थित हुआ कि कर्तृत्व का मूल कारण अज्ञान है।

आत्मा ज्ञायक है और उसके सिवाय जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य जीव द्रव्य हैं वे ज्ञेय हैं। जिस प्रकार स्वच्छता के कारण दर्पण में घटपटादि पदार्थों के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं उसी प्रकार ज्ञायक जो आत्मा उसकी स्वच्छता के कारण उसमें धर्म, अधर्म आदि ज्ञेयों का प्रतिबिम्ब पड़ता है अर्थात् आत्मा में उनका विकल्प आता है। परमार्थ से ज्ञायक (आत्मा) और उसमें पड़े हुए ज्ञेयों (धर्माधर्मादि द्रव्यों) के विकल्प भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। परन्तु अज्ञान से यह जीव दोनों में एकत्व बुद्धिकर ऐसा विकल्प करता है कि मैं धर्मद्रव्य हूँ, मैं अधर्मद्रव्य हूँ इत्यादि। इस तरह परद्रव्य रूप ज्ञेयों में आत्मबुद्धि रूप अज्ञान से यह जीव कर्मों का कर्ता होता है।।९५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब अज्ञान से आत्मा कर्ता होता है, इसका उपसंहार करते हैं–

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण।।९६।।

अर्थ– इस प्रकार मन्द बुद्धि अर्थात् अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से परद्रव्यों को आत्मरूप करता है और आत्मा को भी परद्रव्यरूप करता है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार यह आत्मा 'मैं क्रोध हूँ'[१] इत्यादि के समान और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ'[२] इत्यादि के समान परद्रव्यों को अपना करता है उसी प्रकार आत्मा को भी परद्रव्य रूप करता है। यद्यपि यह आत्मा अशेष वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित विशुद्ध चैतन्यमय धातु का पिण्ड है तो भी स्वकीय अज्ञानभाव से ही सविकार और उपाधिसहित चैतन्यपरिणाम के द्वारा उस प्रकार के आत्मभाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। इसी से आत्मा के भूताविष्ट व ध्यानाविष्ट पुरुष के सदृश कर्तृत्व का मूल कारण जो अज्ञानभाव है वह प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है अर्थात् कर्तृत्व का मूल कारण अज्ञान है यह सिद्ध होता है। यही बात दिखाते हैं—

जैसे निश्चय कर जिस समय किसी के शिर पर भूत सवार हो जाता है उस समय वह प्राणी, भूत और आत्मा को एक मानने लगता है और जो मनुष्यों के करने योग्य नहीं है ऐसे व्यापार करने लगता है। वे व्यापार अत्यन्त भयंकर और विशिष्ट व्यापार साध्य हैं, अत्यन्त गम्भीर हैं, वास्तव में मनुष्य उन व्यापारों को नहीं कर सकता है। पर भूताविष्ट मनुष्य उन व्यापारों का अपने आपको कर्ता मानता है। ऐसे ही यह आत्मा भी अज्ञान से भाव्यभावकरूप पर और आत्मा इन दोनों को एक करता हुआ अविकार अनुभूति रूप भावकभाव के अयोग्य विचित्र भाव रूप क्रोधादि विकारों से मिले हुए चैतन्य परिणाम के विकारपन से जो उस प्रकार के भाव होते हैं उनका कर्ता होता है। यह भाव्यभावकभाव की अपेक्षा दृष्टान्त है। अब ज्ञेयज्ञायकभाव की अपेक्षा दूसरा दृष्टान्त देते हैं— जैसे कोई भोला मनुष्य अपरीक्षक आचार्य के आदेश से महिष का ध्यान करने लगा और अज्ञान से ध्यान के काल में महिष तथा अपने आपको एक मानने लगा और ऐसा मानने के बाद आकाश पर्यन्त जिसके शृङ्ग हैं ऐसे महिष का आत्मा में अध्यास होने से जो कुटिया का द्वार था उसमें निकलने से रह गया, क्योंकि कुटिया का द्वार तो मनुष्य के निकलने के योग्य था और यह मनुष्य अपने आपको आकाश पर्यन्त सींगवाला महिष मानने लगा तब द्वार से बाहर किस प्रकार हो? यहाँ वह ध्यान करनेवाला पुरुष जिस तरह

१. भाव्यभावकभाव के भेदाज्ञान से।
२. ज्ञेयज्ञायकभाव के भेदाज्ञान से।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महिष और अपने आपमें एकत्व का अध्यास करता हुआ अपने आपको महिष मानने लगता है। उस समय वह उस भाव का कर्ता होता है। इसी तरह यह आत्मा अज्ञान से ज्ञेय और ज्ञायक इन दोनों को एक करता हुआ अपने आत्मा में परद्रव्य का अध्यास होने से नोइन्द्रिय के विषयीभूत धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवान्तर के द्वारा चैतन्यधातु के विरुद्ध होने (ज्ञान न होने) तथा इन्द्रियों के विषय किये हुए रूपी पदार्थों के द्वारा केवल बोध के तिरोहित होने से मृतक कलेवर की तरह मूर्च्छित परमामृत विज्ञानघनपन कर उस प्रकार के भाव का कर्ता होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा में क्रोधादिक भाव होते हैं यद्यपि वे विकारी हैं क्योंकि मोहादिक पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से जायमान हैं, आत्मा का अहित करने वाले हैं तथा इन्हीं के द्वारा आत्मा अनन्त संसार का पात्र बनता है फिर भी यह अज्ञानी जीव उन्हें निज भाव मानता है। ऐसे ही जो धर्मादिक द्रव्य हैं वे ज्ञान में प्रतिभासमान होते हैं क्योंकि ज्ञान एक ऐसी निर्मल शक्ति है कि जो पदार्थ उसके समक्ष आवे उसे अपने में प्रतिभासित करने लगता है। यद्यपि ज्ञान तद्रूप नहीं हो जाता तो भी अज्ञानी जीव उन्हें अपने समझ अनन्त संसार का पात्र बनकर चतुर्गतियों में परिभ्रमण करता है। इससे यह सिद्धान्त निकला कि ज्ञान से ही कर्तृपन का नाश होता है।।९६।।

आगे यही कहते हैं–

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं।।९७।।

अर्थ– इस पर और आत्मद्रव्य के एकत्वाध्यास से आत्मा कर्ता होता है ऐसा निश्चय के जाननेवालों ने कहा है, निश्चय से जो ऐसा जानता है वह ज्ञानी निखिल कर्तृपन को त्यागता है।

विशेषार्थ– जिस हेतु से यह आत्मा अपने आपमें पर और आत्मा के एकत्व का संकल्प करता है, उसी हेतु से यह अज्ञानी आत्मा निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है और जो आत्म इस प्रकार जानता है वह सम्पूर्ण कर्तृपन को त्याग देता है। इसीसे निश्चय कर वह आत्मा अकर्ता होता है। यही दिखाते हैं—

इस संसार में निश्चय से जब यह आत्मा अज्ञानी हो जाता है तब इसकी भेदसंवेदन की शक्ति अर्थात् समस्त पदार्थों को पृथक्-पृथक् जानने की सामर्थ्य तिरोहित हो जाती है, अत: उस काल में ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का स्वाद लेता है, अनादि से इसकी यही अवस्था हो रही है। इसीसे यह पर और आत्मा को एकरूप जानता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है और इसी मिश्रित ज्ञान से 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि विकल्प करता है। उन विकल्पों की महिमा से निर्विकल्प, अकृतक तथा एकस्वरूप जो विज्ञानघन है। उससे भ्रष्ट होकर बारम्बार अनेक विकल्पों द्वारा परिणमन करता हुआ अपने को उनका कर्ता समझता है। और जो ज्ञानी है वह ज्ञानस्वरूप अपने आप को करता हुआ ज्ञान की महिमा से सर्वप्रथम प्रकट होनेवाले ज्ञेय और ज्ञान के भिन्न-भिन्न स्वाद से अपनी भेदसंवेदन की शक्ति को प्रकट करनेवाला होता है। उस समय इसे ऐसा भान होता है कि यह आत्मा तो अनादिनिधन, निरन्तर स्वाद में आनेवाले तथा अन्य समस्त रसों से भिन्न अत्यन्त मधुर एक चैतन्यरस से परिपूर्ण है और ये कषाय भिन्न रसवाले हैं क्योंकि वे सादि-सान्त, अनित्य, आकुलता तथा अशुचि आदि स्वरूप हैं। उन कषायों के साथ जो आत्मा के एकत्व का विकल्प हो रहा है वह अज्ञान से ही हो रहा है। इस प्रकार के भान से वह आत्मा और कषायों को भिन्न-भिन्न रूप से जानता है। इसी कारण से अकृतक (स्वभावजनित) एक ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, कृतक (परनिमित्तजनित) अनेक, क्रोधादि स्वरूप मैं नहीं हूँ, इस प्रकार के भेदज्ञान के होने से 'मैं क्रोध हूँ' यह विकल्प किञ्चत् भी आत्मा के नहीं होता है। इसी से ज्ञानी आत्मा सम्पूर्ण कर्तृभाव को त्याग देता है, इसी से नित्य ही उदासीन अवस्था को धारण कर केवल जानता हुआ ही स्थित रहता है और इसीसे निर्विकल्पक, अकृतक एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासता है।

जबतक अज्ञान से परद्रव्यों को अपना मानता था तबतक उनका कर्ता बनता था, परन्तु सम्यग्ज्ञान के होने पर जब पर को पर और अपने को अपना मानने लगा तब आपसे आप अकर्ता हो गया।।९७।।

इसी भाव को श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशों के द्वारा प्रकट करते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ।।५७।।

अर्थ– जो मनुष्य स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ भी अज्ञान से तृणसहित सुन्दर आहार को खानेवाले हाथी आदि के समान राग करता है वह निश्चित ही रसाला (श्रीखण्ड को) पीकर दही और इक्षुरस के खट्टे-मीठे स्वाद की गृद्धता से दूध की तरह गाय से रसाला को दुहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ– जैसे हस्ती अज्ञान से तृणसहित सुन्दर अन्नादिक आहारों को एकमेक जानकर भक्षण करता है। ऐसी ही आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है परन्तु मोह से पर पदार्थों में रक्त हो जाता है। जैसे कोई मनुष्य शिखरिणी को पीकर उसके खट्टे-मीठे स्वाद को न जानकर उसकी इच्छा से गाय को दोहन करता है। शिखरिणी में जो स्वाद आ रहा है वह तो दधि और शर्करा के सम्बन्ध से बिजातीय रस का स्वाद है। उस स्वाद का लोभी उसे न जानकर शिखरिणी पाने के लिए गाय को दुहता है। भला, विचार कर देखो, क्या केवल दुग्ध में वह स्वाद है? नहीं, इसी तरह यह अज्ञानी निराकुलता रूप सुख की तो इच्छा करता है और उसको जानता है नहीं, अतः उसकी प्राप्ति के लिये विषयों में प्रवृत्ति करता है। विषय तो जड़ हैं, उनमें रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द ही तो हैं, सुख नहीं है। जैसे उनमें सुख नहीं है वैसे दुःख भी नहीं है, क्योंकि सुख-दुःखरूप जो परिणमन होता है वह चेतन में ही होता है। यह अज्ञानी मूढ, अन्य में आरोप कर व्यर्थ ही खेद खिन्न होता हुआ अनन्त संसाररूप फल का उपभोक्ता होता है।।५७।।

अब अज्ञान ही कर्तृपन का कारण है, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः।।५८।।

अर्थ– अज्ञान से मृगसमुदाय जलबुद्धि से मृगतृष्णा का पान करने के लिये धावन करते हैं, इसी तरह अन्धकार में जनसमुदाय रस्सी में सर्पबुद्धि का अध्यासकर डर से भागने लगते हैं, इसी तरह अज्ञान से नानाप्रकार के विकल्पों को कर हवा से लहराते हुए समुद्र की तरह शुद्ध ज्ञानमय भी जो आत्माएँ हैं वे नानाप्रकार के आकुलित परिणामों को करते हुए कर्ता हो जाते हैं।

भवार्थ– मृगतृष्णिका अर्थात् मरु देश में सूर्य की किरणों के पड़ने से बालू चमकने लगती है उसमें जल भासने लगता है, उस काल में पिपासाकुल मृगगण उसकी शान्ति के अर्थ वहाँ दौड़कर जाता है परन्तु पास पहुँचने पर जब वहाँ जल नहीं पाता तब फिर आगे दौड़ता है। जल तो वहाँ है नहीं, भ्रान्ति से भटकते-भटकते अन्त दशा को प्राप्त हो जाता है। तथा इसीतरह अन्धकार में जहाँ टेड़ी-मेड़ी रस्सी पड़ी है वहाँ भ्रान्ति से मनुष्य को सर्प का भान होने लगता है और उससे वह भयभीत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होकर भागने लगता है। इसी तरह यह आत्मा यद्यपि निराकुल है, ज्ञानधन है, परन्तु अज्ञान से परपदार्थ में अपने आनन्दगुण को खोजता है, इसीके लिए अनेकविध परिश्रम से विषयों का संग्रह करता है और उन्हें पञ्चेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा कर सुखी बनना चाहता है। वास्तव में तो उनमें सुख है नहीं, मात्र मनोराज्यवत् कल्पना कर व्यर्थ ही अपना समय बिताता हुआ अनन्त संसार का पात्र बनता है और आकुलित होता हुआ कर्ता बनता है।।५८।।

आगे ज्ञानी जानता है, करता कुछ नहीं है, यह कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वा: पयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि।।५९।।

अर्थ– जिस प्रकार हंस, पानी और दूध की विशेषता को जानता है, इसी प्रकार जो ज्ञान से अपनी विवेचक बुद्धि—भेदज्ञान कला के द्वारा पर और आत्मा के विशेष को जानता है वह सदा अविनाशी चैतन्यधातु का आश्रय लेता हुआ जानता ही है, करता कुछ भी नहीं है।

भावार्थ– जो जीव ज्ञानी हैं वे ज्ञान से पर और आत्मा को विवेक के द्वारा जैसे हंस, दूध और जल को भिन्न-भिन्न जानता है ऐसे ही जानते हैं, वे महामना सदा अचल चैतन्यधातु विज्ञानघन आत्मा का आश्रय करते हुए जाननेवाले होते हैं, करते कुछ भी नहीं हैं। जैसे हंस का स्वभाव है कि वह दुग्ध और जल को पृथक्-पृथक् कर देता है तथा ग्राह्य दूध का आश्रय लेता है, जल को त्याग देता है। ऐसे ही सम्यग्ज्ञानी जीव का यह स्वभाव है कि वह पर और आत्मा को पृथक्-पृथक् जानता है। इसीसे परपदार्थ में ममत्व त्यागकर अपने आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है, कुछ अन्य को करता नहीं है।।५९।।

अब ज्ञान की महिमा बताते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदास:।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो:
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्।।६०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– ज्ञान से ही अग्नि और पानी में क्रम से उष्णता और शीतलता की व्यवस्था होती है, ज्ञान से ही लवण के स्वादभेद का निराकरण होता है और ज्ञान से ही स्वकीय रस—आत्मस्वभाव से सुशोभित चैतन्यधातु—आत्मा और क्रोधादिक में भेद सिद्ध होता है, ऐसा भेद जो कि कर्तृत्वभाव को नष्ट करने वाला है।

भावार्थ– ज्ञान में ही ऐसी सामर्थ्य है कि वह अग्नि में उष्णता और जल में शीतता की व्यवस्था करता है। ज्ञान ही इस बात का बोध कराता है कि यह लवण का स्वाद है और यह व्यञ्जन का स्वाद है। और ज्ञान ही स्वरस के विकास से सुशोधित चैतन्यपिण्ड और क्रोधादिक के भेद को ज्ञात कराता है तथा कर्तृभाव के भेद का भेदन करता हुआ आत्मा के अकर्तापन का ज्ञान कराता है।

अग्नि के सम्बन्ध से जल जब गरम हो जाता है तब ज्ञान की ही यह महिमा है कि वह इसका बोध करता है कि जल में जो यह उष्णता की प्रतीति हो रही है वह नैमित्तिक है परमार्थ से जल की नहीं, किन्तु अग्नि के निमित्त से ऐसा परिणमन है, परमार्थ से जल शीत है। इसी तरह भोजन में लवण के सम्बन्ध से क्षारपन का स्वाद आता है। तत्त्वरीति से विचार किया जावे तो क्षारपन भोजन का नहीं, लवण का है, लवण के निमित्त से भोजन में क्षारपन का स्वाद आ रहा है। इसी प्रकार चैतन्यरूप आत्मा में जो क्रोधादिक की प्रतीति हो रही है वह वास्तव में मोहनीय नामक पुद्गलकर्म के निमित्त से है, आत्मा का चैतन्यगुण तो स्वभाव से स्वच्छ है।।६०।।

आगे आत्मा आत्मभाव का करता है, पर का नहीं, यह कहते हैं—

अनुष्टुप्

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्।।६१।।

अर्थ– परमार्थ से ज्ञानरूप आत्मा को मोहादिक कर्म के निमित्त से अज्ञानरूप करता हुआ आत्मा, आत्मभाव का ही कर्ता हो सकता है, परभाव का कर्ता कहीं नहीं हो सकता।

भावार्थ– तत्त्वदृष्टि से आत्मा ज्ञानरूप ही है परन्तु मोहकर्म के विपाककाल में वह रागादिरूप परिणति होने के कारण अज्ञानरूप जान पड़ता है। उसी अज्ञानदशा में आत्मा कर्ता होता है परन्तु वहाँ भी आत्मभाव का ही कर्ता होता है, परभाव का कर्ता नहीं होता।।६१।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे आत्मा परभाव का कर्ता क्यों नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—

अनुष्टुप्

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।६२।।

अर्थ– आत्मा ज्ञान है, जब आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है तब ज्ञान से भिन्न अन्य किसको करे? आत्मा परभाव का कर्ता है, यह कहना व्यवहारी जनों का मोह है— अज्ञान है।

भावार्थ– गुण और गुणी का अभेददृष्टि से जब कथन होता है तब जो गुण है वही गुणी है और जो गुणी है वही गुण है। इस तरह आत्मा और ज्ञान दोनों एक ही हैं। जब आत्मा स्वयं ज्ञान हो गया तब वह ज्ञान के सिवाय अन्य किसको करे? यद्यपि आत्मा में रागादिक भाव प्रतिभासमान होते हैं, पर भेदज्ञान ने उन्हें मोहजन्य होने के कारण आत्मा से पृथक् कर दिया। अब आत्मा के पास ज्ञान के सिवाय रहा ही क्या, जिसका वह कर्ता हो सके? इस स्थिति में आत्मा को परभाव का कर्ता कहना, यह व्यवहारी जीवों का मोह ही है—अज्ञान ही है।।६२।।

आगे यही दिखाते हैं–

ववहारेण दु आदा करेदि घड-पड-रथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि।।९८।।

अर्थ– आत्म व्यवहारनय से घट, पट, रथ आदि कार्यों को करता है, स्पर्शनादि पञ्चइन्द्रियों को करता है, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों तथा क्रोधादिक भावकर्मों को करता है और शरीरादिक नानाप्रकार के नोकर्मों को करता है।

विशेषार्थ– क्योंकि व्यवहारी जीवों को जिस प्रकार यह प्रतिभास होता है कि यह आत्मा अपने विकल्प और प्रयत्न के द्वारा घटादिक परद्रव्यरूप बाह्य कर्म को करता है उसी प्रकार क्रोधादिक परद्रव्य रूप समस्त अन्त:कर्म को भी करता है क्योंकि दोनों में कुछ विशेषता नहीं है, ऐसा व्यामोह अनादिकाल से है, सो यह समीचीन नहीं है।।९८।।

आगे वह व्यामोह समीचीन क्यों नहीं है, यह दिखाते हैं–

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता।।९९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– यदि यह आत्मा परद्रव्यों को करे तो नियम से तन्मय हो जावे, किन्तु यह आत्मा तन्मय नहीं होता, इसलिये परद्रव्यों का कर्ता नहीं होता।

विशेषार्थ– यदि निश्चयकर यह आत्मा परद्रव्यात्मक कर्म को करने वाला हो जावे तो परिणाम-परिणामिभाव की अन्यथा अनुपपत्ति होने से नियम से तद्रूप हो जावे, किन्तु ऐसा बन नहीं सकता, क्योंकि भिन्नद्रव्य रूप होने से स्वीयद्रव्य का उच्छेद हो जावे। अतः यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध हुआ कि एकद्रव्य अन्यद्रव्यरूप नहीं हो सकता। इसलिये व्याप्यव्यापकभाव के द्वारा आत्मा परद्रव्य का कर्ता नहीं है।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव है, अतः वह अन्य द्रव्यरूप नहीं हो सकता और अन्यरूप हुए बिना कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं हो सकता। निश्चयदृष्टि से जिसमें व्याप्यव्यापकभाव होता है उसी में कर्तृ-कर्मभाव बनता है, जैसे घट व्याप्य है और मिट्टी व्यापक है, तो यहाँ घट का कर्ता मिट्टी हो सकती है क्योंकि मिट्टी घटाकार परिणत हो जाती है। परन्तु आत्मा घटपटादिरूप परिणमन त्रिकाल में भी नहीं कर सकता, इसलिये आत्मा को घटपटादिक का कर्ता मानना समीचीन नहीं है। यह उपादानदृष्टि से कथन है। इसमें उपादानोपादेयभाव की प्रधानता रहती है और निमित्त-नैमित्तिकभाव की गौणता होती है।।९९।।

आगे निमित्तनैमित्तिकभाव से भी आत्मा घटपटादिक का कर्त्ता नहीं है, यह दिखाते हैं–

जीवो ण करेदि घडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता।।१००।।

अर्थ– जीवद्रव्य न तो घट को करता है, न पट को करता है और न बाकी के अन्य द्रव्यों को करता है, किन्तु आत्म के योग और उपयोग उन सब कार्यों के कर्ता होते हैं।

विशेषार्थ– जो घटादिक और क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म हैं यदि इन्हें आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से करे तो तद्रूपता का प्रसङ्ग आ जावे और निमित्त-नैमित्तिक-भाव से करे तो नित्य कर्तृपन का प्रसङ्ग आ जावे, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि न तो आत्मा उनसे-तन्मय ही है और न नित्यकर्ता ही है। अतः न तो व्याप्य-व्यापकभाव से कर्ता है और न निमित्त नैमित्तिकभाव से कर्ता है किन्तु अनित्य जो योग और उपयोग हैं वे ही घटपटादिद्रव्यों के निमित्त कर्ता हैं। उपयोग और योग आत्मा के विकल्प और व्यापार हैं अर्थात् जब आत्म ऐसा विकल्प करता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि मैं घट को बनाऊँ तब काययोग के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में चञ्चलता आती है और उस चञ्चलता की निमित्तता पाकर हस्तादिक के व्यापार द्वारा दण्डनिमित्तक चक्रभ्रमि होती है तब घटादिक की निष्पत्ति होती है। यह विकल्प और योग अनित्य हैं, कदाचित् अज्ञान के द्वारा करने से आत्मा इनका कर्ता हो भी सकता है परन्तु परद्रव्यात्मक कर्मों का कर्ता नहीं हो सकता है।

यहाँ निमित्तकारण को दो भागों में विभाजित किया गया है— एक साक्षात् निमित्त और दूसरा परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोग का कर्ता है, यह साक्षात् निमित्त की अपेक्षा कथन है क्योंकि इनके साथ कुम्भकार का साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकार के योग तथा उपयोग से दण्ड तथा चक्रादिक में जो व्यापार होता है तथा उससे जो घटादिक की निष्पत्ति होती है वह परम्परानिमित्त की अपेक्षा कथन है। यहाँ परम्परानिमित्त से होनेवाले निमित्त-नैमित्तिकभाव को गौणकर कथन किया गया है। लोक में जो यह व्यवहार प्रचलित है कि कुम्भकार घट का कर्ता है और कुविन्द पट का कर्ता है, यह परम्परानिमित्त से जायमान निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा कथन है[1]।।१००।।

आगे ज्ञानी जीव ज्ञान का ही कर्ता है, यह कहते हैं–

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।१०१।।

अर्थ– जो ज्ञानावरणरूप पुद्गलद्रव्यों के परिणाम होते हैं उन परिणामों को आत्मा नहीं करता है, ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी होता है।

विशेषार्थ– जैसे गोरस के दधि और दुग्ध परिणाम होते हैं, उन परिणामों में दधि खट्टा और दुग्ध मधुर होता है। तटस्थ गोपाल उन परिणामों का कर्ता नहीं है, किन्तु देखने-जाननेवाला है क्योंकि उनके निमत्त से जो ज्ञान होता है वह आत्मा से व्याप्य है अर्थात् आत्मा व्यापक है और दधि दुग्ध का ज्ञान व्याप्य है। ऐसे ही पुद्गलद्रव्य के जो ज्ञानावरणरूप परिणाम हैं उनका करनेवाला आत्मा नहीं है क्योंकि उन परिणामों की पुद्गलद्रव्य के साथ ही व्याप्ति है, ज्ञानावरण कर्म व्याप्य है और पुद्गलद्रव्य व्यापक है। ज्ञानावरणरूप परिणामों के निमित्त से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आत्मद्रव्य से व्याप्त है अत: उन परिणामों का जाननेवाला आत्मा है। इस

---

१. इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात् । यदि पुन: मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसङ्गात् मोक्षाभाव:। (तात्पर्यवृत्ति:)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तरह आत्मा अपने ज्ञान का ही कर्ता है। इसी पद्धति से ज्ञानावरण पद को परिवर्तित कर कर्मसूत्र के विभागोपन्यास द्वारा दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन सात सूत्रों के साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन–– ये सोलह सूत्र व्याख्यान करने के योग्य हैं। इसी रीति से अन्य का भी ऊहापोह कर लेना चाहिये।।१०१।।

आगे ज्ञानी की तो कथा दूर रही, अज्ञानी भी परभाव का कर्ता नहीं होता है, यही दिखाते हैं–

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।१०२।।

अर्थ– आत्मा जिस शुभ-अशुभ भाव को करता है निश्चय से वह उसका कर्ता होता है और वह भाव उस आत्मा का कर्म होता है तथा वही आत्मा उस भाव का भोक्ता होता है।

भावार्थ– निश्चय से इस संसार में यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञान के प्रभाव से पर और आत्मा में एकत्व का अध्यास कर रहा है। उस एकत्वाध्यास के कारण मन्द और तीव्र स्वादवाली पौद्गलिक कर्मों की विपाकदशा से यद्यपि स्वयं कभी चलायमान न होनेवाले एक विज्ञानघन स्वाद से युक्त है तो भी उसके स्वाद में भेद डालता हुआ अज्ञानरूप जिस शुभ-अशुभ को करता है उस भाव से उस काल में तन्मयीभाव होने से व्यापक होने के कारण आत्मा उस भाव का कर्ता होता है और वह भाव तन्मयीभाव होने से व्याप्य होने के कारण आत्मा का कर्म होता है तथा वहीं आत्मा उस काल में तन्मयीभाव से भावक होने के कारण उस भाव का भावक अर्थात् अनुभव करनेवाला होता है और वह भाव भी तन्मयीभाव से भाव्य होने के कारण आत्मा का अनुभाव्य अर्थात् अनुभव करने योग्य होता है। तात्पर्य यह हुआ कि अज्ञानी आत्मा उस शुभादिक भाव का अनुभव करनेवाला होता है और वह भाव उस आत्मा के अनुभव में आने से अनुभाव्य कहलाता है। इस पद्धति से अज्ञानी जीव भी परभाव का कर्ता नहीं होता है।

यद्यपि आत्मा परमार्थ से अपने एक विज्ञानघन स्वाद से कभी विचलित नहीं होता तो भी पुद्गलमय कर्म के मन्दोदय में शुभरूप और तीव्रोदय में अशुभ रूप परिणाम करता हुआ उसके साहजिक स्वभाव में भेद डाल देता है। यह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के भाव आत्मा के अज्ञानमय भाव हैं और वे वास्तव में आत्मस्वभाव से भिन्न हैं, परन्तु अनादिकालीन अज्ञान के कारण यह जीव उन्हें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वकीय मान रहा है। इस अज्ञानदशा की अपेक्षा भी जब जीव के कर्तृ-कर्म और भोक्तृ-भोग्यभाव का विचार करते हैं तब यही निष्कर्ष निकलता है कि जीव अपने शुभ-अशुभ भावों का ही कर्ता और भोक्ता हो सकता है, परद्रव्य का कर्ता और भोक्ता नहीं हो सकता। यद्यपि परमार्थ से जीव शुभ-अशुभ भावों का भी कर्ता और भोक्ता नहीं है तो भी यहाँ अशुद्ध उपादान की अपेक्षा उसे उनका कथंचित् कर्ता और भोक्ता कहा गया है। तथापि परभाव का कर्त्ता तो वह कदापि नहीं है।।१०२।।

आगे परभाव पर के द्वारा हो भी नहीं सकता, यही दिखाते हैं–

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ।।१०३।।

अर्थ– जो वस्तु जिस द्रव्य और गुण में वर्तता है वह वस्तु अन्य द्रव्य व गुण में संक्रमणरूप नहीं होता अर्थात् अन्यरूप पलटकर नहीं होता। वह वस्तु जब अन्य में संक्रमण नहीं करता है तब अन्य द्रव्य को कैसे परिणमा सकता है?

विशेषार्थ– इस लोक में जितने कुछ वस्तु-विशेष हैं वे सब अपने चेतनस्वरूप अथवा अचेतनस्वरूप द्रव्य और गुण में सहज स्वभाव से अनादि से ही वर्त रहे हैं, वस्तुस्थिति की इस अचलित सीमा का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणरूप अनादि से है वह उसी द्रव्य और गुणरूप सदा रहती है, अन्य द्रव्य और अन्य गुण में उसका संक्रमण नहीं हो सकता, अर्थात् पलटकर अन्यरूप नहीं हो सकता। जब अन्य द्रव्य और अन्य गुण में उसका संक्रमण नहीं तब वह उन्हें अन्यरूप कैसे परिणमा सकता है? इससे यह निश्चय हुआ कि परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता।।१०३।।

अतः निश्चित हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्त्ता नहीं है, यही दिखाते हैं–

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ।।१०४।।

अर्थ– आत्मा पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्म में न तो अपने द्रव्य को करता है और न गुण को करता है। जब वह उसमें द्रव्य-गुण-दोनों को नहीं करता तब वह उसका कर्ता कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ– जैसे निश्चय से मृत्तिकामय कलश कर्म, मृत्तिका द्रव्य और मृत्तिका के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरूप, गुणों में स्वभाव से विद्यमान रहता है, क्योंकि वस्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की मर्यादा से, भिन्न द्रव्य और भिन्न गुण का भिन्न द्रव्य और भिन्न गुण में प्रवेश निषिद्ध है। अत: कलशकार उस कलश में न तो अपने आपको प्रविष्ट कराता है और न अपने गुणों को ही प्रविष्ट कराता है। अन्य द्रव्य में प्रवेश किये बिना अन्य वस्तु को परिणमाना अशक्य है। इसलिये जब कलशकार कलश में अपने द्रव्य और अपने गुणों को धारण नहीं कर सकता तब तत्त्वदृष्टि से वह उसका कर्ता प्रतिभासमान नहीं होता। ऐसे ही पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म, पुद्गलद्रव्य और उसके गुणों में स्वभाव से ही रह रहा है। क्योंकि अन्यद्रव्य का अन्यद्रव्य में और अन्य गुण का अन्य गुण में प्रवेश नहीं कराया जा सकता, इसलिये आत्मा उस ज्ञानावरणादिकर्म में न तो अपने आत्मा को धारण करता है और न अपने गुणों को धारण करता है। अन्य द्रव्य में प्रवेश किये बिना अन्यवस्तु का परिणमाना शक्य है। इसलिये जब आत्मा ज्ञानावरणादिकर्म में अपने द्रव्य और गुणों को धारण नहीं कर सकता तब तत्त्वदृष्टि से वह उनका कर्ता कैसे प्रतिभासित हो सकता है। अत: परमार्थ से यही सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता नहीं है।।१०४।।

आगे इससे अन्य जो कथन है वह उपचार है, यह कहते हैं–

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ।।१०५।।

अर्थ– यह जीव जब रागादिभावरूप परिणमन करता है तब जीव के निमित्त को पाकर पुद्गलद्रव्य का ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन हो जाता है उसे देखकर उपचारमात्र से यह कहा जाता है कि जीव ने ज्ञानावरणादि कर्म किये।

विशेषार्थ– निश्चय से इस लोक में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों का निमित्त नहीं है, यह वस्तु की मर्यादा है परन्तु अनादिकालीन मोह का सम्बन्ध होने से आत्मा में अनेक प्रकार के अज्ञानभाव होते हैं उनका निमित्त पाकर पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वयमेव आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप बन्ध हो जाता। उसे देखकर 'आत्मा ने कर्म किये' ऐसा निर्विकल्प ज्ञान से भ्रष्ट और विकल्पों से तन्मय जीवों का विकल्प होता है परन्तु वह उपचार ही है, परमार्थ नहीं है।

वास्तव में आत्मा और पुद्गल में जो वैभाविक शक्ति है उसके कारण आत्मा में रागादिरूप और पुद्गलद्रव्य में ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन स्वयं होता है, ऐसा उपादान की प्रमुखता में कथन होता है और जीव के रागादिभावों का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य में कर्मरूप परिणमन होता है ऐसा निमित्त की प्रधानता में कथन होता है। निमित्त की प्रधानता में द्रव्य के स्वकीय परिणमन को गौणकर परद्रव्यजनित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिणमन को प्रमुखता दी जाती है, इसलिये वह उपचार कथन कहलाता है।।१०५।।

आगे इस उपचार कथन को दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित करते हैं-

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।

तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण।।१०६।।

अर्थ- जैसे रणभूमि में योद्धा लोग जाकर युद्ध करते हैं अर्थात् युद्ध के करनेवाले शूरवीर योद्ध ही हैं परन्तु लौकिक मनुष्यों का यह व्यवहार है कि राजा ने युद्ध किया। ऐसे ही लौकिक मनुष्यों का यह व्यवहार है कि ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किये।

भावार्थ- जिस प्रकार युद्धरूप परिणाम से स्वयं परिणमन करनेवाले योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर स्वयं युद्धरूप परिणमन न करनेवाले राजा के विषय में लोग ऐसा कथन करते हैं कि यह युद्ध राजा ने किया है, परन्तु ऐसा कथन उपचार है, परमार्थ नहीं। इसी प्रकार ज्ञानावरणादिकर्म रूप परिणाम से स्वयं परिणमन करनेवाले पुद्गलद्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादिकर्मों के किये जाने पर ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वयं परिणमन न करनेवाले आत्मा के विषय में व्यवहार से ऐसा कथन होता है कि जीव ने ज्ञानावरणादि कर्म किये, परन्तु यह कथन उपचार है, परमार्थ नहीं।

जिस प्रकार युद्धरूप परिणमन होता तो योद्धाओं में है परन्तु उसके कर्तृत्व का आरोप राजा में किया जाता है उसी प्रकार कर्मरूप परिणमन होता तो पुद्गलद्रव्य में है परन्तु उसके कर्तृत्व आरोप जीव में किया जाता है। अन्य द्रव्य के परिणमन का अन्य द्रव्य में आरोपकर कथन करना उपचार कथन है। व्यवहारनय से ऐसा कथन होता है, निश्चय से नहीं।।१०६।।

आगे इसी व्यवहारनय के कथन को दिखलाते हैं-

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।

आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं।।१०७।।

अर्थ- आत्मा पुद्गलद्रव्य को उत्पन्न करता है, कराता है, बाँधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है यह व्यवहारनय का कथन है। वास्तव में न तो उत्पन्न करता है, न कराता है, न बाँधता है, न परिणमाता है और न ग्रहण करता है, केवल व्यवहार की यह महिमा है।

Jain Education International　　For Personal & Private Use Only　　www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य के भेद से पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म के तीन भेद हैं। व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से यह आत्मा तीनों प्रकार के पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को न ग्रहण करता है, न परिणमाता है, न उपजाता है, न करता है और न बाँधता है परन्तु व्याप्यव्यापकभाव के अभाव में भी जो ऐसा कथन किया जाता है कि आत्मा उपर्युक्त तीन प्रकार के पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को ग्रहण करता है, परिणमाता है, उपजाता है, करता है और बाँधता है, यह उपचार कथन है। यह उपचारकथन व्यवहारनय का विषय है।।१०७।।

आगे इसी उपचार को दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं–

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ।।१०८।।

अर्थ– जिस प्रकार व्यवहार से राजा, प्रजा में दोष और गुणों का उत्पादक है, ऐसा कहा गया है उसी प्रकार व्यवहार से जीव, पुद्गलद्रव्य के गुणों का उत्पादक है, ऐसा कहा गया है। ऐसी पुरानी श्रुति भी है—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा।।

अर्थात् राजा के धर्मात्मा बनने पर लोग धर्मात्मा होते हैं, पापी होनेपर पापी होते हैं और सम होनेपर सम होते हैं। लोग राजा का ही अनुसरण करते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार लोगों के गुण और दोष व्याप्यव्यापकभाव होने से स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, राजा के साथ उनका कोई व्याप्यव्यापकभाव नहीं रहता, तो भी राजा उन गुणों और दोषों का उत्पादक है, ऐसा उपचार होता है, उसी प्रकार व्याप्यव्यापकभाव होने से पुद्गलद्रव्य के गुण और दोष स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, जीव के साथ उनका व्याप्यव्यापकभाव नहीं रहता तो भी जीव उनका उत्पादक है, ऐसा उपचार होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे लोक के व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध के द्वारा स्वभाव से ही गुणों और दोषों की उत्पत्ति होती है, उनके होने में राजा के व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध का अभाव है तो भी उन गुणों और दोषों को उत्पन्न करनेवाला राजा है, ऐसा उपचार है। ऐसे ही व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध के द्वारा पुद्गलद्रव्य के गुण और दोष स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, उनके होने में जीव का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध नहीं है तो भी जीव उनका उत्पादक है, ऐसा उपचार होता है।।१०८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब आगे यदि जीव पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं है तो फिर कौन है? यह आशङ्का उठा कर कलशा द्वारा आगामी कथन की भूमिका दिखाते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ।।६३।।

अर्थ– यदि जीव पुद्गलकर्म को नहीं करता है तो फिर कौन करता है? इस आशङ्का से ही इस समय तीव्र वेगशाली मोह को दूर करने के लिये पुद्गलकर्म के कर्ता का निरूपण किया जाता है, हे भव्यजनों! सुनो।

भावार्थ– ऊपरी गाथाओं में यह कथन किया गया है कि पुद्गलकर्म का कर्ता जीव नहीं है। इस स्थिति में इस आशङ्का का उठना स्वाभाविक है कि यदि इन्हें जीव नहीं करता है तो कौन करता है? क्योंकि व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से जिस प्रकार जीव इनका कर्ता नहीं है उसी प्रकार निर्बुद्धि होने से पुद्गल भी इनका कर्ता नहीं हो सकता। इस प्रकार पुद्गलकर्म के कर्तापन के विषय में जो अत्यन्त तीव्र अज्ञान फैला हुआ है उसका निराकरण करने के लिये पुद्गलकर्म के कर्ता का वर्णन किया जाता है। हे भव्यजनों! उसे श्रवण करो।।६३।।

आगे कर्मबन्ध के कारण बतलाते हैं–

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य बोद्धव्वा।।१०९।।
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस-वियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव स जोगिस्स चरमंतं।।११०।।
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा।
ते जदि करंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा।।१११।।
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा।
तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि।।११२।।

(चतुष्कम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– निश्चय से बन्ध के करनेवाले सामान्यरूप से चार कारण कहे हैं। उनके नाम मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानना चाहिये।

इन्हीं के मिथ्यादृष्टि आदि को लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त तेरह भेद कहे गये हैं, क्योंकि ये गुणस्थान पुद्गल कर्म के उदय से होते हैं, अत: अचेतन हैं। यदि ये गुणस्थान कर्मों को करते हैं तो आत्मा उनका भोक्ता नहीं होता है।

ये प्रत्यय (कारण) गुणस्थान नामवाले हैं तथा क्योंकि ये ही कर्मों को करते हैं, इसलिये जीव अकर्ता है। ये गुणस्थान इन कर्मों को करते हैं।

विशेषार्थ– निश्चय से पुद्गलकर्म का कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है। उसीके विशेष मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं, जो सामान्यरूप से बन्ध के चार हेतु कहे गये हैं। ये चार हेतु ही भेद करने पर मिथ्यादृष्टि आदि को लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह प्रकार के हैं। ये तेरह गुणस्थान पुद्गलकर्म के उदय के विकल्पस्वरूप होने से अत्यन्त अचेतन हैं, अत: अचेतन पुद्गल कर्मों के साथ इनका व्याप्यव्यापकभाव बन जाता है। इस स्थिति में यदि ये किसी पुद्गलकर्म को करें तो करें, इसमें जीव का क्या आया? अर्थात् अचेतन गुणस्थान अचेतन पुद्गलकर्मों के कर्ता यदि होते हैं तो हों, उनके कर्तृत्व से जीव में कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यह तर्क किया जावे कि पुद्गलात्मक मिथ्यात्वादि भावों को वेदन करता हुआ जीव स्वयमेव मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है तो निश्चय से यह अज्ञान है क्योंकि आत्मा का उन पुद्गलमय भावों के साथ भाव्यभावकभाव का अभाव है। इस स्थिति में जब आत्मा पुद्गलमय मिथ्यात्व आदि भावों का वेदक ही नहीं है तब पुद्गलमय मिथ्यात्वादि कर्मों का कर्ता किस प्रकार हो सकता है? इससे यह सिद्धान्त आया कि पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य प्रत्ययों के विकल्पस्वरूप तथा गुणस्थान के नाम से व्यवहृत होनेवाले जो तेरह प्रकार के विशेष प्रत्यय हैं वे अकेले ही अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप से निरपेक्ष रहकर ही कर्मों को करते हैं। इस तरह जीव पुद्गलकर्मों का अकर्ता है, उक्त तेरह गुणस्थान ही पुद्गलकर्मों के कर्ता हैं और वे गुणस्थान पुद्गलद्रव्य के विपाक से जायमान होने के कारण पुद्गलद्रव्य ही हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पुद्गल कर्मों का कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के निमित्त से आत्मा के गुणों में जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान यद्यपि आगम में चौदह बतलाये गये हैं, परन्तु चौदहवें गुणस्थान में मोह और योग दोनों का अभाव हो जाने से कर्मबन्ध का कुछ भी कारण नहीं है, इसलिये यहाँ बन्ध के विशेष प्रत्ययों में मिथ्यादृष्टि आदि को लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त तेरह गुणस्थान ही बतलाये हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये गुणस्थान आत्मा की शुद्ध परिणतिरूप नहीं है तथा पुद्गलमय अचेतन कर्मों के उदय से उत्पद्यमान होने के कारण निमित्तप्रधानदृष्टि के कथन में अचेतन हैं। यहाँ अचेतनशब्द से घटपटादिक के समान सर्वथा जडरूप हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये, किन्तु आत्मा की शुद्ध चैतन्य परिणति से भिन्न हैं, ऐसा आशय समझना चाहिये। ये गुणस्थान ही कर्मों के कर्ता हैं, गुणस्थान क्योंकि पुद्गलात्मक हैं इसलिये पुद्गल ही पुद्गलकर्मों का कर्ता है, जीव नहीं है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस तरह 'जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव' इस कलशा में जो यह आशंका उठाई गई थी कि यदि जीव पुद्गल कर्म का कर्ता नहीं है तो फिर उसका कर्ता कौन है? इस आशंका का उत्तर देते हुए कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान ही कर्मों के कर्ता हैं तथा वे गुणस्थान पुद्गलकर्म के विपाक से होने के कारण पुद्गलरूप हैं।।१०९-११२।।

आगे जीव और प्रत्ययों में एकपन नहीं बन सकता, यह दिखाते हैं–

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ।।११३।।
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चय-णोकम्म-कम्माणं ।।११४।।
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ।।११५।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– जिस प्रकार उपयोग जीव से अभिन्न है उसी प्रकार यदि क्रोध भी जीव से अभिन्न माना जावे तो ऐसा मानने से जीव और अजीव दोनों में एकत्व आता है।

इस तरह जीव और अजीव में एकत्व मानने से संसार में जो जीव है वही नियम से अजीव हो जायेगा। जीव और क्रोध के एकत्व में जो दोष आता है वही दोष प्रत्यय, कर्म और नोकर्मों के एकत्व में भी आता है।

इस दोष से बचने के लिए यदि तेरे मन में क्रोध अन्य है और उपयोगात्मक आत्मा अन्य है तो जिस प्रकार क्रोध अन्य है उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्म भी अन्य हैं, ऐसा मानना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– जैसे जीव का तन्मयभाव होने से उपयोग जीव से अभिन्न है, वैसे ही जड़ क्रोध भी यदि जीव से अभिन्न माना जावे तो चिद्रूप और जड़ का अभेद होने से जीव के उपयोगमयत्व के सदृश जड़ क्रोध के साथ भी तन्मयता की आपत्ति आ जावेगी और उसके आनेपर जो जीव है वही अजीव हो जावेगा, तब एक द्रव्य का लोप नियम से मानना पड़ेगा। इसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्मों की जीव के साथ अभिन्नता मानने से यही दोष आवेगा। इसलिये इस दोष के भय से उपयोगस्वरूप आत्मा अन्य है और जड़स्वभाव क्रोध अन्य है, ऐसा स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है। तब जैसे उपयोगस्वरूप जीव से जड़स्वभाव क्रोध अन्य है, ऐसे ही प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी अन्य हैं क्योंकि जड़स्वभाव वाले ये तीनों ही हैं, और इसलिए जड़स्वभावता की अपेक्षा क्रोध और इन तीनों में कोई विशेषता नहीं है। इस तरह जीव और प्रत्यय आदि में एकता की अनुपपत्ति है[१]।।११३-११५।।

---

१. किञ्च शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यते एव। कस्मात् ? निश्चय-व्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत्? यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्त इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तं सिद्धमिति। ये तु पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते सांख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभावः। कर्मबन्धाभावे संसाराभावः, संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति। स च प्रत्यक्षविरोधः, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति। (तात्पर्यवृत्तिः)।

यहाँ शुद्धनिश्चयनय से जीव अकर्ता है, अभोक्ता है तथा क्रोधादिक से भिन्न है ऐसा व्याख्यान किये जाने पर दूसरे पक्ष में व्यवहारनय से जीव कर्ता है और भोक्ता है तथा क्रोधादिक से अभिन्न हैं, यह बात स्वयं प्राप्त होती है क्योंकि निश्चय और व्यवहारनय परस्पर में सापेक्ष हैं। जिस प्रकार देवदत्त दाहिने नेत्र से देखता है, यह कहने पर बायें नेत्र से नहीं देखता, यह बात बिना कहे ही आ जाती है उसी प्रकार निश्चय के कहने पर व्यवहार का पक्ष बिना कहे ही आ जाता है। किन्तु जो लोग परस्पर में सापेक्षनयविभाग को नहीं मानते हैं वे सांख्य अथवा सदाशिव मत के अनुयायी है। उनके मत में जिस प्रकार जीव शुद्धनिश्चयनय से कर्ता नहीं होता तथा क्रोधादिक से भिन्न रहता है उसी प्रकार व्यवहार से भी है। तब ऐसा मानने पर क्रोधादिरूप परिणमन का अभाव होने पर सिद्धों के समान कर्मबन्ध का अभाव हो जावेगा, कर्मबंध का अभाव होने पर संसार का अभाव हो जायगा, संसार का अभाव होने पर सर्वदा मुक्तपन का प्रसङ्ग आ जावेगा और वह प्रत्यक्ष का विरोध कहलावेगा, क्योंकि संसार प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब पुद्गलद्रव्य परिणमनशील है, यह सांख्यमत के अनुयायी शिष्य के प्रति कहते हैं—

जीवे ण सयं बद्धं ण परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि।।११६।।
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संख-समओ वा।।११७।।
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा।।११८।।
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।।११९।।
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव।।१२०।।

(पञ्चकम्)

अर्थ– यह पुद्गलद्रव्य जीव के साथ न तो स्वयं बँधा है और न स्वयं कर्मभाव से परिणमन करता है। यदि ऐसा माना जाय तो वह अपरिणामी हो जावेगा तथा जब कार्मण वर्गणाएँ कर्मरूप से परिणमन नहीं करेंगी तब संसार का अभाव हो जायगा अथवा सांख्यमत का प्रसङ्ग आ जावेगा। इस दोष का निवारण करने के लिये यदि ऐसा माना जावे कि जीव पुद्गलद्रव्यों को कर्मरूप से परिणमाता है तो यहाँ पर दो प्रश्न उठते हैं—पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन करनेवाले को कर्मरूप परिणमाता है? या स्वयं कर्मरूप नहीं परिणमन करनेवालों को परिणमाता है? यदि वे स्वयं नहीं परिणमन करनेवाले हैं तो आत्मा उन्हें कैसे परिणमन करा सकेगा? और यदि वे स्वयं परिणमते हैं तो जीव उन्हें कर्मभावरूप परिणमाता है, यह कहना अलीक है। अतः सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही कर्मरूप परिणत होता हुआ नियम से कर्मरूप होता है तथा वही ज्ञानावरणादिरूप परिणत होता है, ऐसा जानो।

विशेषार्थ– पुद्गलद्रव्य जीव के साथ अपने आप बन्ध-अवस्थारूप नहीं है, यदि ऐसा माना जावे तो ऐसा मानने में वह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी हो जावेगा और अपरिणामी होने पर संसार का अभाव हो जावेगा। यदि ऐसा माना जावे कि जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमन कराता है क्योंकि ऐसा मानने से न तो संसार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का अभाव होगा और न सांख्यमत की आपत्ति आवेगी, ऐसा तर्क किया जावे तो ऐसी आशङ्का होती है कि अपने आप नहीं परिणमन करनेवाले पुद्गलद्रव्य को जीव कर्मभावरूप परिणमाता है? अथवा अपने आप परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमाता है? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि अपने आप परिणमन न करनेवाले को अन्य तद्रूप परिणमन कराने में सर्वथा असमर्थ है, ''जो शक्ति स्वयं नहीं है वह दूसरे के द्वारा नहीं की जा सकती।'' यदि दूसरा पक्ष अंगीकृत किया जावे अर्थात् स्वयं परिणमनशील हैं ऐसा माना जावे तो पर ने क्या किया? ''अपने आप परिणमता हुआ पदार्थ अन्य परिणमन करानेवाले की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा कभी नहीं करती है।'' इससे यह बात सिद्ध हुई कि पुद्गलद्रव्य अपने आप परिणामस्वभाववाला है। ऐसा होने पर जैसे कलशरूप परिणत मिट्टी स्वयमेव कलश है वैसे ही जड़स्वभाव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत जो पुद्गलद्रव्य है वही स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म है। इस तरह पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभाव सिद्ध हो जाता है।।११६-१२०।।

इसी के समर्थन में श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा लिखते हैं—

उपजातिछन्द

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता।।६४।।

अर्थ– इस पद्धति से पुद्गलद्रव्य की परिणमन शक्ति निर्विघ्न स्वभावभूत सिद्ध है। उस शक्ति के रहते हुए पुद्गलद्रव्य अपनें जिस भाव को करता है उस भाव का वही पुद्गलद्रव्य कर्ता होता है।

भावार्थ– यहाँ उपादान की प्रधानता से पुद्गलद्रव्य को ही कर्म का कर्ता बताया गया है।

इस प्रकार पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वभाव को सिद्ध कर अब जीव के परिणामस्वभाव को सिद्ध करते हैं–

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी।।१२१।।
अपरिणमंतह्मि सयं जीवे कोहादिएह्मिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संख-समओ वा।।१२२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ।।१२३।।
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।।१२४।।
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ।।१२५।।

(पञ्चकम्)

अर्थ– यदि तुम्हारा यह मत हो कि यह जीव न तो अपने आप कर्म के साथ बँधा है और न स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है तो वह अपरिणामी हो जावेगा और जब जीव क्रोधादिक भावरूप स्वयं परिणमन नहीं करेगा तब संसार का अभाव हो जावेगा अथवा सांख्यसिद्धान्त की आपत्ति उपस्थित होगी। उसका वारण करने के लिए यदि ऐसा माना जावे कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक (द्रव्यकर्म) जीव को क्रोधादिरूप (भावकर्मरूप) परिणमाते हैं तो सहज ही यह आशङ्का होती है कि पुद्गलकर्म क्रोध, अपने आप क्रोधादिरूप परिणमन करनेवाले जीव को क्रोधादिरूप परिणमाता है? या नहीं परिणमन करनेवाले जीव को क्रोधादिरूप परिणमाता है? प्रथम पक्ष में स्वयं क्रोधादिरूप न परिणमते हुए जीव को पुद्गलकर्म क्रोधादिक तद्रूप कैसे परिणमा सकता है? द्वितीय पक्ष में जीव स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है, ऐसी यदि तुम्हारी बुद्धि है तो फिर पुद्गलकर्म क्रोधादिक जीव को क्रोधादिरूप परिणमाता है, यह कहना नितान्त मिथ्या हो जावेगा। अत: यह सिद्ध हुआ कि जब आत्मा क्रोध से उपयुक्त होता है तब स्वयं क्रोध है, जब मान से उपयुक्त होता है तब स्वयं मान है, जब माया से उपयुक्त होता है तब स्वयं माया है और जब लोभ से उपयुक्त होता है तब स्वयं लोभ है।

विशेषार्थ– जीव कर्म के साथ न तो स्वयं बँधा है और न स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है, यदि ऐसा माना जावे तो जीव अपरिणामी ही ठहरता है और ऐसा होने पर संसार के अभाव का प्रसङ्ग आता है। इसके निवारण के लिए यदि यह तर्क उपस्थित किया जावे कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक, जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमाता है, इससे संसार का अभाव नहीं होगा, तो यहाँ यह आशङ्का होती है कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक, अपने आप न परिणमते हुए जीव को क्रोधारिरूप परिणमाता है? या अपने आप क्रोधादिरूप परिणमते हुए जीव को क्रोधादिरूप परिणमाता है? प्रथम पक्ष में स्वयं क्रोधादिरूप नहीं परिणमता हुआ जीव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्य-पुद्गलकर्म के द्वारा तद्रूप कैसे परिणमाया जा सकता है? क्योंकि जो शक्ति पदार्थ में स्वयं नहीं है वह अन्य के द्वारा नहीं की जा सकती। द्वितीय पक्ष में यदि स्वयं परिणमनशील जीव को पुद्गलद्रव्य क्रोधादि, क्रोधादिभावरूप परिणमाते हैं, ऐसा माना जावे, तो ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं परिणमनशील पदार्थ अन्य परिणमन करानेवाले की अपेक्षा कभी नहीं करता। जो वस्तु की शक्तियाँ हैं वे दूसरी की अपेक्षा कभी नहीं करती हैं, अत: यह सिद्ध हुआ कि जीवद्रव्य स्वयमेव परिणामस्वभाव वाला है। ऐसा होने पर जिस प्रकार मन्त्र का साधक जब गरुड का ध्यान करता है तब वह गरुड के ध्यानरूप परिणत होने से स्वयं गरुड हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानस्वभाव क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमन हो रहा है, ऐसा जीव स्वयं क्रोधादिरूप हो जाता है। इस तरह जीवद्रव्य परिणामस्वभाव वाला है, यह सिद्ध हुआ।।१२१-१२५।।

यही भाव श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा में प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्ति:।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता।।६५।।

अर्थ– इस पद्धति से जीव की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध होती है उस शक्ति के रहते हुए जीव अपने जिस भाव को करता है उसी भाव का वह कर्ता होता है।

भावार्थ– वैभाविकी शक्ति के कारण जीव में क्रोधादिरूप परिणमन करने की योग्यता स्वयं विद्यमान है। इस योग्यता के रहते हुए पुद्गलमय द्रव्यकर्म क्रोधादिक की विपाकदशा का निमित्त पाकर जीव स्वयं क्रोधादिरूप परिणमन करता है। अपनी इस परिणमन-सम्बन्धी योग्यता से जीव जिस भाव को करता है। उसी भाव का कर्ता कहलाता है।।६५।।

आगे इसी को दिखाते हैं–

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स।।१२६।।

अर्थ– आत्मा जिस भाव को करता है वह उसी भावरूप कर्म का कर्ता होता है। ज्ञानी के वह भाव ज्ञानमय होता है और अज्ञानी के अज्ञानमय।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– इस प्रकार यह आत्मा अपने आप परिणामस्वभाव वाला है। अत: जब जिस भाव को करता है वही भाव इसका कर्म कहलाता है और आत्मा उस भाव का कर्ता होता है। ज्ञानी जीव के समीचीनरूप से स्वपर का भेदज्ञान है। उसके बल से इसके आत्मख्याति (आत्मानुभूति) का अत्यन्त उदय रहता है। उस आत्मख्याति के उदय से इसका वह भाव ज्ञानमय ही होता है और जो अज्ञानी जीव है उसके स्वपरभेदज्ञान का अभाव है। अतएव उसके शुद्ध आत्मख्याति का अत्यन्त अस्तपन है। अर्थात् आत्मख्याति का उसके अभाव है, इसी से अज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव होता है।

परमार्थ से संसार के प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमन के कर्ता होते हैं, वस्तुस्वभाव की यही मर्यादा है। इस मर्यादा से जीव भी अपने ही परिणमन का कर्ता होता है और उसका वह परिणमन ही उसका कर्म कहलाता है। अनादिकाल से जीव का परिणमन रागादि विकारों से संवलित हो रहा है। इस संवलन के कारण शुद्ध आत्मा की परिणति तिरोहित हो रही है, परन्तु ज्ञानी जीव को स्व और पर का यथार्थ भेदज्ञान हो चुकता है, इसलिये उसे शुद्ध आत्मा की परिणति का अनुभव होने लगता है। आत्मा की शुद्ध परिणति ज्ञानमय परिणति है क्योंकि उसी के साथ इसका त्रैकालिक व्याप्यव्यापकभाव रहता है। इस दशा में ज्ञानी जीव का परिणमन ज्ञानरूप होता है। उसी परिणमन का ज्ञानी जीव कर्ता होता है और वही परिणमन ज्ञानी जीव का कर्म होता है। परन्तु अज्ञानी जीव को समीचीन रूप से स्व और पर का भेदज्ञान नहीं होता, इसलिये वह मोहकर्म के उदय से जायमान रागादिरूप परिणति से भिन्न शुद्ध आत्मपरिणति का अनुभव करने में असमर्थ रहता है। रागादिरूप परिणति आत्मा की निज की परिणति नहीं है क्योंकि उसके साथ आत्मा का त्रैकालिक व्याप्यव्यापक भाव नहीं है। इस रागादिरूप परिणति को अज्ञानमय भाव कहते हैं। अज्ञानी जीव इसी अज्ञानमय भाव को करता है, इसलिये वह इसी का कर्ता होता है और वही अज्ञानी जीव का कर्म होता है।।१२६।।

आगे ज्ञानमयभाव से क्या होता है? और अज्ञानमयभाव से क्या होता है, यह कहते हैं–

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।

णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि।।१२७।।

अर्थ– अज्ञानी जीव के अज्ञानमयभाव होता है, इसी से वह कर्मों को करता है और ज्ञानी जीव के ज्ञानमय भाव होता है, इसी से वह कर्मों को नहीं करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– अज्ञानी जीव के स्व और पर का सम्यक् भेदज्ञान नहीं है। इसीसे उसके आत्मज्ञान का अत्यन्त अभाव है, और उसका अभाव होने के उसके अज्ञानमय ही भाव होता है, उस अज्ञानमय भाव के होने पर स्व और पर में एकत्व का अध्यास होता है, उस एकत्वाध्यास के कारण ज्ञानमात्र निजस्वरूप से भ्रष्ट होता हुआ यह जीव पररूप रागद्वेष के साथ एकरूप होकर अहंकार में प्रवृत्ति करता है अर्थात् परद्रव्य को आत्मरूप मानने लगता है और फिर यह मानता है कि मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ। तथा उस अज्ञानमयभाव से अज्ञानी होकर पर रूप रागद्वेष को अपनाकर कर्मों को करता हैं। किन्तु ज्ञानी जीव के स्व तथा पर का समीचीन भेदज्ञान होने से परपदार्थ से भिन्न शुद्ध आत्मा की अनुभूति का अत्यन्त उदय हो जाता है, इसलिये उसके ज्ञानमय ही भाव होता है। उस ज्ञानमय भाव के होने पर स्व-पर में नानात्वरूप भेदज्ञान होने से वह ज्ञानमात्र स्व-स्वरूप में अच्छी तरह स्थिर हो जाता है, पररूप रागद्वेष से पृथक्भूत होने के कारण इसका अहंकार अर्थात् परपदार्थों में आत्मभाव स्वयं निवृत्त हो जाता है, अतः वह स्वयं पदार्थों को मात्र जानता ही है, उनमें न राग करता है और न द्वेष। इसीसे ज्ञानी जीव ज्ञानमयभाव से पर जो रागद्वेष हैं उनरूप अपने को नहीं करता हुआ कर्मों को नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव भेदज्ञान के अभाव में उदयागत मोह तथा रागद्वेष में अहंकार और ममकार करता हुआ कर्मों का कर्ता होता है और ज्ञानी जीव भेदज्ञान की महिमा से उदयागत मोह तथा रागद्वेष में अहंकार और ममकार न करता हुआ कर्मों का कर्ता नहीं होता है। इस तरह अज्ञानी जीव का अज्ञानमय भाव ही कर्मों का कारण है और ज्ञानी जीव का ज्ञानमय भाव कर्मों का कारण नहीं है।।१२७।।

अब आगे की गाथाओं की भूमिका के लिये प्रश्नरूप कलशा कहते हैं—

आर्याछन्द

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः।।६६।।

अर्थ– ज्ञानी जीव के ज्ञानमय ही भाव क्यों होता है अन्य भाव क्यों नहीं होता और अज्ञानी जीव का सब भाव अज्ञानमय ही क्यों होता है अन्य भाव क्यों नहीं होता?।।६६।।

इसी का आचार्य आगे समाधान करते हैं–

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जह्मा तह्मा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया।।१२८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।

जह्मा तह्मा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स।।१२९।।

(युग्मम्)

अर्थ– जिस कारण ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है, इसलिए ज्ञानी के निश्चयकर सकल भाव ज्ञानमय ही होते हैं और जिस कारण अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है, इसलिए अज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव ही होते हैं।

विशेषार्थ– जिस कारण निश्चयकर अज्ञानमय भाव से जो कोई भी भाव होता है वह सम्पूर्ण भाव अज्ञानरूपता का अतिक्रमण न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है, इस कारण अज्ञानी जीव के जितने भाव हैं वे सब अज्ञानमय ही होते हैं और जिस कारण ज्ञानमय भाव से जो कुछ भी भाव होता है वह सम्पूर्ण भाव ज्ञानरूपता का अतिक्रमण न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इस कारण ज्ञानी जीव के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं।।१२८-१२९।।

इसी भाव को कलशा में दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते।।६७।।

अर्थ– ज्ञानी जीव के सब भाव ज्ञान से ही निष्पन्न होते हैं और अज्ञानी जीव के सब भाव अज्ञान से ही रचे जाते हैं।।६७।।

आगे इसी सिद्धान्त का दृष्टान्त से समर्थन करते हैं–

कणयमया भावादा जायंते कुंडलादयो भावा।

अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी।।१३०।।

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।

णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति।।१३१।।

अर्थ– जैसे सुवर्णमय भाव से सुवर्णात्मक ही कुण्डलादिक होते हैं और लोहमय भाव से लोहरूप ही कड़े आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही अज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव से सम्पूर्ण अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी जीव के ज्ञानमय भाव से सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही उत्पन्न होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– जैसे निश्चय से यद्यपि पुद्गल स्वयं परिणामस्वभाव वाला है तो भी 'कार्यों की उत्पत्ति कारणों के अनुसार ही होती है' इस सिद्धान्त से सुवर्णमय भाव से सुवर्ण जाति का अतिक्रमण नहीं करनेवाले सुवर्णमय कुण्डलादिक पर्याय ही उत्पन्न होते हैं, लोहनिर्मित कड़े आदि नहीं और लोहरूप भाव से लोहजाति का अतिक्रमण नहीं करनेवाले लोहमय कड़े आदिक पर्याय ही उत्पन्न होते हैं, सुवर्ण निर्मित कुण्डलादिक नहीं। ऐसे ही जीवपदार्थ यद्यपि स्वयं परिणामस्वभाव वाला है तो भी 'कार्यों की उत्पत्ति कारणों के अनुसार ही होती है' इस सिद्धान्त से अज्ञानी जीव के स्वयं अज्ञानमय भाव से अज्ञानजाति का अतिक्रमण नहीं करने वाले नानाप्रकार के अज्ञानमय भाव ही होते हैं, ज्ञानमय नहीं और ज्ञानी जीव के स्वयं ज्ञानमय भाव से ज्ञानजाति का अतिक्रमण नहीं करने वाले सब ज्ञानमय ही भाव होते हैं, अज्ञानमय नहीं।।१३०-१३१।।

यही भाव कलशा में प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्।।६८।।

अर्थ– अज्ञानी जीव अज्ञानमय भावों की भूमिका को व्यापकर द्रव्यकर्म के निमित्त जो अज्ञानमय भाव हैं उनके हेतुपन को प्राप्त होता है।

भावार्थ– अज्ञानी जीव के मोह, राग तथा द्वेषरूप अज्ञानमय भावों के निमित्त से आगामी द्रव्यकर्मों का बन्ध होता है।।६८।।

आगे अज्ञानमय भाव द्रव्यकर्म के हेतु किस प्रकार हैं? यही दिखाते हैं–

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्च-उवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ।।१३२।।
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ।।१३३।।
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ।।१३४।।
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ।।१३५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि जीवो परिणामभावाणं ।।१३६।।

(पञ्चकम्)

अर्थ– जीवों के जो अतत्त्वोपलब्धि (अन्यथा पदार्थ का जानना) है वह अज्ञान का उदय है अर्थात् जीवों के जब अज्ञान का उदय होता है तब उन्हें यथार्थ पदार्थ का भान नहीं होता है, इसी को विपर्ययज्ञान कहते हैं। जब जीवों के मिथ्यात्व का उदय होता है तब तत्त्वों का श्रद्धान नहीं होता है। जब असंयम का उदय होता है, उस काल में अंशमात्र भी त्याग नहीं होता, इसी का नाम अविरमण है। जब जीवों के कषायों का उदय होता है तब उपयोग कलुषित हो जाता है। जो जीवों का शुभ अथवा अशुभ, करने योग्य अथवा न करने योग्य चेष्टा का उत्साह है उसे योगों का उदय जानो। हेतुभूत, इस सब भावों के रहते हुए अर्थात् इन उक्त भावों का निमित्त पाकर कार्मणवर्गणारूप से आया हुआ जो द्रव्य है वह ज्ञानावरणादि भावों से आठ प्रकार का परिणमता है। कार्मणवर्गणारूप से आया हुआ द्रव्य जब जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होता है तब जीव अपने अज्ञानादि भावों का कारण होता है।

विशेषार्थ– अतत्त्वोपलब्धिरूप से जीव में जो स्वाद आता है वह अज्ञान का उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के जो उदय हैं वे ही कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्वादि अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्त्व का श्रद्धान न होने से ज्ञान में जो अतत्त्वश्रद्धानरूप स्वाद आता है यही, मिथ्यात्व का उदय है, अविरमणभाव से जो ज्ञान में स्वाद आता है, यही असंयम का उदय है, कलुषित उपयोग रूप से ज्ञान में जो स्वाद आता है, यही कषाय का उदय है और शुभाशुभ प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यापार से ज्ञान में जो स्वाद आता है, यही योग का उदय है। ये मिथ्यात्वादिक के उदयरूप चारों भाव पुद्गल के हैं तथा आगामी कर्मबन्ध के कारण हैं। इनके रहते हुए कार्मणवर्गणा के रूप में जो पुद्गलद्रव्य आता है वह ज्ञानावरणादि आठ प्रकार-रूप स्वयं परिणम जाता है। वही कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव के साथ निबद्ध होता है अर्थात् बन्धरूपता को प्राप्त होता है तब यह जीव स्वयं अज्ञान के कारण पर और आत्मा में एकत्व का अध्यासकर अपने मिथ्यात्वादिक अज्ञानमय परिणामों का हेतु होता है।।१३२-१३६।।

आगे जीव का परिणाम पुद्गलद्रव्य से पृथक् ही है, यह दिखाते हैं–

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा।।१३७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागामादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो।।१३८।।

(युग्मम्)

अर्थ– यदि जीव के रागादिक परिणाम कर्म के साथ ही होते हैं ऐसा माना जावे, तो ऐसा मानने से जीव और कर्म दोनों ही रागादिक भावों को प्राप्त हो जावेंगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिरूप से एक जीव का ही परिणाम होता है अर्थात् केवल एक जीव ही रागादिक परिणामों के द्वारा परिणमन करता है और वह परिणाम कर्मोदयरूप हेतु के बिना केवल जीव का ही परिणाम है।

विशेषार्थ– रागादिक अज्ञान भावों के होने में विपच्यमान (उदयागत) मोहादिकर्म ही कारण हैं, इसलिए उनके साथ ही जीव का रागादिक परिणाम होता है अर्थात् मोहादिक कर्म और जीव की मिश्रितावस्था ही रागादिरूप परिणत हो जाती है, यदि ऐसा माना जावे तो जैसे चूना और हल्दी के मिलाप से दोनों का एक लाल रङ्गरूप परिणमन हो जाता है, ऐसे ही मोहादिक कर्म और जीव के मिलाप से दोनों का रागादिरूप परिणाम होता है ऐसा मानना पड़ेगा, यह एक दुर्निवार आपत्ति होगी। अत: उस आपत्ति के वारण के लिए केवल जीव का ही रागादिक परिणाम होता है, ऐसा मानना ही श्रेयस्कर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव का रागादिरूप परिणाम अपने हेतुभूत पुद्गलकर्म के विपाक से पृथक् ही है।

पहले निमित्त की प्रधानता से कहा था कि जीव के रागादिकभाव पुद्गलकर्म के उदय से होने के कारण पुद्गलरूप हैं। यहाँ उपादान की प्रधानता से कहा गया है कि रागादिकभाव जीव के ही परिणाम हैं, परन्तु पुद्गलकर्म के उदय से जायमान होने के कारण जीव के स्वभाव नहीं हैं किन्तु विभावरूप हैं।।१३७-१३८।।

आगे पुद्गलद्रव्य का परिणाम भी जीव से पृथक् ही है, यह कहते हैं–

जह जीवेण सह च्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गल जीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा।।१३९।।
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो।।१४०।।

(युग्मम्)

अर्थ– यदि पुद्गलद्रव्य का कर्मरूप परिणाम जीव के साथ ही होता है, ऐसा माना जावे तो ऐसा मानने से पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मभाव को प्राप्त हुए,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा मानना पड़ेगा, सो यह बात इष्ट नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य का ही कर्मभावरूप परिणाम होता है और वह जो कर्मरूप परिणमन है वह जीव के रागादिकभावों के बिना केवल पुद्गल का ही परिणाम है अर्थात् जो ज्ञानावरणादि रूप परिणाम है वह केवल पुद्गल का ही है।

विशेषार्थ– पुद्गलद्रव्य का जो कर्मरूप परिणमन हो रहा है वह उस परिणमन में निमित्तभूत रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत जीव के साथ ही होता है, यदि ऐसा माना जावे तो जिस प्रकार लालरङ्ग रूप परिणमन परस्पर मिले हुए हलदी और चूना दोनों का ही है उसी प्रकार कर्मरूप परिणमन पुद्गलद्रव्य और जीव दोनों का ही है, ऐसा मानना पड़ेगा और यह इष्ट नहीं, क्योंकि चूना और हलदी दोनों ही एक पुद्गलद्रव्य हैं, अत: उन दोनों का एकरूप परिणमन हो जाता है, इसमें कोई बाधा नहीं, परन्तु यहाँ तो जीव और पुद्गल दो विजातीय द्रव्य हैं, इनका एकरूप परिणमन होना असंभव है। अत: ज्ञानावरणादिरूप केवल पुद्गलद्रव्य का ही परिणाम है और वह रागादिरूप परिणत जीव से भिन्न केवल पुद्गलद्रव्य का ही परिणाम है।।१३९,१४०।।

आगे शिष्य का प्रश्न है कि आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट हैं या अबद्धस्पृष्ट हैं ? इसका उत्तर नयविभाग से देते हैं–

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं।।१४१।।

अर्थ– कर्म, जीव में बँधा हुआ भी है और उसे स्पर्शता भी है, ऐसा व्यवहारनय का कथन है। परन्तु शुद्धनय का वचन है कि कर्म जीव में न बँधा हुआ है और न उसे स्पर्शता ही है।

विशेषार्थ– जीव और पुद्गलकर्म इन दोनों में एक बन्धपर्याय की दृष्टि से यदि परामर्श किया जावे, तो अत्यन्त भेद का अभाव है। अर्थात् भेद तो है परन्तु बन्ध होने से वर्तमान में भेद का अभाव है, इससे जीव के साथ कर्मों का बन्ध भी है और स्पर्श भी है, ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है। निश्चयदृष्टि से देखा जावे तो जीव और पुद्गलकर्म भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, अतएव उनमें परस्पर अत्यन्त भिन्नपन हैं, इसीसे जीव के साथ पुद्गलकर्म का न तो बन्ध है और न स्पर्श।।१४१।।

आगे इससे क्या सिद्ध हुआ, यह दिखाते हैं–

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जीव के साथ कर्मों का बन्ध भी है और अबन्ध भी है, इस प्रकार नयपक्ष जानो और जो इस नयपक्ष का अतिक्रमण करनेवाला है वह समयसार कहा जाता है।

विशेषार्थ– जीव के साथ कर्मों का बन्ध है और जीव के साथ कर्मों का अबन्ध है, यह दो विकल्प हैं ये दोनों ही नयपक्ष हैं। जो पुरुष इन दोनों ही नयों का अतिक्रमण करता है वही पुरुष सकल विकल्पों का अतिक्रमण करता हुआ स्वयं निर्विकल्प तथा एक विज्ञानघनस्वभाव होकर साक्षात् सम्यक् रीति से समयसार होता है। यहाँ पर जो प्रथम ही यह विकल्प करता है कि जीव में कर्म बँधे हैं वह, "जीव में कर्म नहीं बँधे हैं" इस पक्ष का अतिक्रमण करता हुआ भी, विकल्प का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। और जो जीव में कर्म नहीं बँधे हैं, ऐसा विकल्प करता है वह "जीव में कर्म बँधे हैं" इस पक्ष का अतिक्रमण करता हुआ भी उक्त विकल्प का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। और जो जीव में कर्मबद्ध भी हैं और अबद्ध भी हैं ऐसे दो विकल्प करता है वह, दोनों पक्षों का अतिक्रमण करता हुआ भी उक्त दोनों विकल्पों का अतिक्रमण नहीं कर पाता है। इससे जो समस्त नयपक्षों का अतिक्रमण करता है वही पुरुष समस्त विकल्पों का अतिक्रमण करता है और जो समस्त विकल्पों का अतिक्रमण करता है वही वास्तव में समयसार को प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि साधक अवस्था में ही नाना प्रकार के विकल्पजाल हैं, मोह का अभाव होने पर जब यह आत्मा स्वकीय स्वरूप में लय को प्राप्त हो जाता है तब इन नयों के द्वारा होनेवाले नाना विकल्प अपने आप अभावरूप हो जाते हैं। यदि ऐसा है तो कौन पुरुष इन नयपक्षों के त्याग की भावना नहीं करेगा? अर्थात् सभी करेंगे।।१३२।।

यही अभिप्राय श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलश काव्यों में प्रकट करते हैं—

उपेन्द्रवज्राछन्द

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।६९।।

अर्थ– जो महापुरुष नयपक्ष को छोड़कर स्वरूप में लीन होते हुए निरन्तर अपने आप में निवास करते हैं वे ही विकल्पजाल से च्युत होकर शान्त चित्त होते हुए साक्षात् अमृत का पान करते हैं।।६९।।

उपजातिछन्द

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– चेतन—आत्मा के विषय में एक नय का कहना है कि वह कर्मों से बद्ध है और दूसरे नय का कहना है कि वह कर्मों से बद्ध नहीं है। इस तरह दो नयों के ये दो पक्ष हैं। जो इस पद्धति का अनुसरण करते हैं अर्थात् इन दोनों नयों में अन्यतर नय के पक्षपाती हैं वे तत्त्वज्ञानी नहीं हैं, जो तत्त्ववेदी हैं वे उक्त पक्षपात से शून्य हैं। उनके सिद्धान्त में तो चेतन—आत्मा चिन्मात्र ही है।।७०।।

एकस्य मूढो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७१।।

अर्थ– एक नय का तो यह पक्ष है कि आत्मा मोही है और दूसरे नय का कहना है कि आत्मा मोही नहीं है। इस तरह एक ही आत्मा में मोही और अमोही ये दो नयों के दो पक्षपात हैं। जिसके पक्षपात नहीं, वह तत्त्वज्ञानी है तथा उसके सिद्धान्त में चैतन्यस्वरूप आत्मा नित्य ही निश्चय से चिन्मात्र ही है।।७१।।

एकस्य रक्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७२।।

अर्थ– एक नय का पक्ष है कि आत्मा रागी है और दूसरे नय का कहना है कि आत्मा रागी नहीं है। इस तरह एक ही आत्मा के विषय में दो नयों के दो पक्षपात हैं। परन्तु जो पक्षपात से रहित है वह तत्त्वज्ञानी है, उसके सिद्धान्त में चैतन्यस्वरूप आत्मा निश्चय से नित्य ही चिन्मात्र ही है।।७२।।

एकस्य द्विष्टो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात—
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७३।।

अर्थ– एक पक्ष का कहना है कि आत्मा द्वेषी है और इसके विपरीत पक्ष का कहना है कि आत्मा द्वेषी नहीं है। इस तरह एक ही आत्मा में दो के दो पक्षपात हैं। और जिसका नयपक्षपात मिट गया वह तत्त्ववेदी—तत्त्वज्ञानी है, उसके सिद्धान्त में आत्मा नित्य ही चिन्मात्र ही है।।७३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकस्य कर्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात—
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७४।।

अर्थ– एक पक्ष का कहना है कि आत्मा कर्ता है और इससे विरुद्ध पक्षवाले का कहना है कि आत्मा अकर्ता है। इस तरह एक चेतना में दो नयवालों के दो पक्ष हैं। और जो पक्षपात के जाल से च्युत तत्त्वज्ञानी हैं उनका कहना है कि इन औपाधिक भावों को त्यागकर देखा जावे तो आत्मा नित्य ही चिन्मात्र है।।७४।।

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७५।।

अर्थ– एक नयवाले का कहना है कि आत्मा भोक्ता है और इससे इतर पक्षवाले का यह कहना है कि आत्मा भोक्ता नहीं है। इस पद्धति से एक ही चेतना में दो नय माननेवालों के भिन्न-भिन्न तरह के दो पक्षपात हैं। परन्तु जो इन नयविकल्पों के जाल से मुक्त है वह तत्त्वज्ञानी है। उसका यह सिद्धान्त है कि चेतना तो नित्य चेतना ही है।।७५।।

एकस्य जीवो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात—
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७६।।

अर्थ– एक नय का यह मत है कि जीव है और अन्य नय का कहना है कि जीव नहीं है। इस तरह एक ही आत्मा में दो तरह के विकल्प हैं। परन्तु जिसका पक्षपात चला गया है और तत्त्वज्ञान जिसके हो गया है उसके सिद्धान्त के अनुकूल यह दोनों ही विकल्प निचली अवस्था में हैं। परमार्थ से आत्मा तो नित्य ही चिन्मात्र है, उसका कोई काल में विघात नहीं होता।।७६।।

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात—
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– एक नय का कहना है कि आत्मा सूक्ष्म है तथा अपर नय का कहना है कि सूक्ष्म नहीं है। इस तरह एक ही आत्मा में उभयनयों के दो पक्ष हैं। परन्तु जो विकल्पजाल के पक्षपात से मुक्त तत्त्वज्ञानी हैं। उनके सिद्धान्त में नित्य ही चेतना, चेतनामात्र ही है।।७७।।

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात—
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७८।।

अर्थ– एक नय का कहना है कि आत्मा कारणस्वरूप है और इससे भिन्न पक्ष का कहना है कि आत्मा कारणस्वरूप नहीं है। इस तरह एक ही आत्मा में दोनों नयों के द्वारा दो तरह के धर्मों का कथन किया जाता है, किन्तु जिसका चित्त विकल्पजाल के अभाव से शान्त हो गया है और इसीसे जिसे तत्त्वज्ञान की उपलब्धि हो गई है उसका यह कहना है कि आत्मा निश्चय से नित्य ही चेतनामात्र है।।७८।।

एकस्य कार्यं न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७९।।

अर्थ– एक पक्ष का कहना है कि आत्मा कार्यभूत है और अन्य का कहना है कि आत्मा कार्यरूप नहीं है। इस तरह एक ही आत्मा में दोनों नयों द्वारा दो तरह के धर्मों का आरोप किया जाता है। परन्तु जो तत्त्वज्ञानी विकल्पजाल के चक्र के बाह्य हैं उनका कहना है कि चेतना तो नित्य निश्चय से चेतना ही है।।७९।।

एकस्य भावो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात—
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८०।।

अर्थ– एक नयवाला कहता है कि आत्मा तो भावस्वरूप है तब ठीक इसके विरुद्ध पक्षवाला भिन्न नय का अवलम्बन कर 'आत्मा भावरूप नहीं है' ऐसा कथन करता है और जिसने समस्त विकल्पजालों को दूर कर शान्तताका अनुभव किया है, उसके तत्त्वज्ञान में न भावरूप है और न अभावरूप है, वह तो नित्य ही निश्चयकर चेतनात्मक ही है।।८०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकस्य चैको न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात—
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८१।।

अर्थ– एक नय का कहना है कि आत्मा एकरूप है और एक नय का कहना है कि आत्मा एकरूप नहीं है। ऐसे एक ही आत्मा में उभयनय एक-अनेकरूप से निरूपण करते हैं। परन्तु जिसका पक्षपात चला गया है तथा जो तत्त्व का जानने वाला है उसके सिद्धान्त में निश्चय से चेतना चेतनारूप ही है।।८१।।

एकस्य शान्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८२।।

अर्थ– एक नय का कहना है कि आत्मा शान्त है, इससे भिन्न नय का कहना है कि आत्मा अशान्त है, ऐसे उभयनय एक ही आत्मा का शान्त[1] और अशान्त[2] रूप से कथन करते हैं। परन्तु जो पक्षपात के जाल से दूर है और तत्त्वज्ञानवाला है उसका कहना है कि चित् तो चित्रूप ही है।।८२।।

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८३।।

अर्थ– एक नय का कहना है कि आत्मा सर्वदैव नित्य है और इससे विरुद्ध आदेश करनेवाले नय का कथन है कि आत्मा अनित्य है। इस तरह एक ही आत्मा में दोनों नय नित्य और अनित्यरूप से निरूपण करते हैं। परन्तु जिसके तत्त्वज्ञान हो गया है और जो नयों के विकल्पजाल से दूर है उसका कहना है कि आत्म तो आत्मा ही है, ये सब विकल्प नयदृष्टि से हैं, परमार्थ से वस्तु सर्वविकल्पातीत है।।८३।।

---

१. सान्त और असान्त भी पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ अन्तसहित और अन्तरहित होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८४।।

अर्थ– एक नय का कहना है कि आत्मा वाच्य है क्योंकि वाचक द्वारा इसका कथन होता है और अन्य नय का आदेश है कि आत्मा अवाच्य है, क्योंकि परमार्थ से आत्मा का वास्तविक कथन शब्द के अगोचर है। इस तरह एक ही आत्म वाच्य और अवाच्य दो रूप से दोनों नयों द्वारा कहा जाता है, परन्तु जो विकल्पजाल से परे है तथा तत्त्वज्ञान का आस्वादी है उसका कहना है चित् आत्मा तो चिद्रूप ही है, यह विकल्प केवल शिष्य-सम्बोधन के अर्थ है।।८४।।

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८५।।

अर्थ– एक नय का इस प्रकार कथन है कि आत्मा नाना है क्योंकि अनेक प्रकार से उसमें नाना प्रकार के धर्मों का कथन होता है। इससे भिन्न नय का कथन है कि आत्मा नाना नहीं है क्योंकि अनेक प्रकार से कथन होनेपर भी वह एकरूपता को नहीं छोड़ता। इस तरह एक ही आत्मा में अनेक और एक धर्मों का दो नयों द्वारा निरूपण किया जाता है। परन्तु जो विकल्पजाल से च्युत हैं तथा तत्त्वज्ञानी हैं उनका कहना है कि आत्मा तो चिद्रूप ही है।।८५।।

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८६।।

अर्थ– एक नय का कहना है कि आत्मा चेत्य है—जानने के योग्य है और अपर नय का कहना है कि आत्मा इससे भिन्न रूप है, ऐसा उभयनयों का चेत्य और अचेत्य रूप से कथन होता है। परन्तु जो विकल्पजाल के फन्दे से निकल गया है तथा तत्त्व को जानता है वह कहता है कि इन विकल्पों को छोड़ो। वह चेतनात्मक आत्मा तो चिद्रूप ही है।।८६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८७।।

अर्थ– एक नय का कहना है कि आत्मा दृश्य है क्योंकि अन्तर्मुखाकारतया प्रतिभासमान हो रहा है और अन्य नय का कहना है कि आत्मा दृश्य नहीं है क्योंकि बहि:पदार्थ को विषय करनेवाले ज्ञान का विषय नहीं है। इस रीति से एक ही आत्मा में दृश्य और अदृश्य दो तरह के धर्मों का प्रतिपादन करनेवाले दो नय हैं। किन्तु जिसकी तत्त्वज्ञानदृष्टि से यह विकल्पजाल छिन्न-भिन्न हो गया है उसका कहना है कि आत्मा तो आत्मा ही है।।८७।।

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८८।।

अर्थ– एक नय का कहना है कि आत्मा वेद्य है, क्योंकि स्वसंवेदन का विषय है। इससे भिन्न नय का कहना है कि आत्मा वेद्य नहीं है। ऐसे एक ही आत्मा को वेद्य और अवेद्यरूप से निरूपित करनेवाले दो नय हैं। परन्तु जो विकल्पजाल से पृथक् है और तत्त्वज्ञान के मधुर स्वाद का अनुभवी है वह कहता है कि इन विकल्पों को छोड़ो, आत्मा तो आत्मा ही है।।८८।।

एकस्य भातो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८९।।

अर्थ– एक नय कहना है कि आत्मा भात है अर्थात् प्रत्यक्षभासमान है और अन्य नय का कहना है कि आत्मा भात नहीं है अर्थात् प्रत्यक्षभासमान नहीं है। ऐसे दो नयों द्वारा दो तरह का भात-अभात कथन होता है। परन्तु जो महान् पुरुष इस विकल्पजाल के चक्र से छूट गया है और तात्त्विक ज्ञानवाला है उसका यह कहना है कि चिद् चिद्रूप ही है।।८९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वसन्ततिलकाछन्द

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ।।९०।।

अर्थ– तत्त्वज्ञानी पुरुष, जिसमें स्वेच्छा से समन्तात् नाना प्रकार के विकल्पजाल उदित हो रहे हैं, ऐसी विशाल नयपक्षरूपी अटवी को लाँघकर भीतर और बाहर एक वीतराग परिणति ही जिसका स्वभाव है, ऐसे अनुभूतिमात्र अद्वितीय निजभाव को प्राप्त होता है।।९०।।

रथोद्धताछन्द

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः।।९१।।

अर्थ– तत्त्वज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करता है कि मैं चिन्मात्र वह तेज हूँ कि जिसकी चमक उठते हुए बहुत भारी विकल्पों की परम्परा से सुशोभित इस प्रकार के इस समस्त इन्द्रजाल को तत्काल नष्ट कर देती है।

भावार्थ– स्वार्थ और परार्थ के भेद से ज्ञान के दो भेद हैं। इनमें मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये चार ज्ञान स्वार्थ ही हैं। अर्थात् इनका प्रयोजन स्वकीय अज्ञान का अपहरण करना ही है और श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है तथा परार्थ भी। परार्थ का अर्थ अन्य के अज्ञान-तिमिर को दूर करना है। नय इसी परार्थ श्रुतज्ञान के विकल्प हैं। आचार्यों ने परकीय अज्ञान को दूर करने के लिए नाना प्रकार से वस्तुधर्मों का प्रतिपादन किया है। वस्तुधर्म के प्रतिपादन की इसी पद्धति में आचार्य ने बद्ध-अबद्ध, मूढ-अमूढ, रागी-विरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-असान्त, नित्य-अन्त्यि, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य और भात-अभात ये नयपक्ष दिखलाये हैं। नय, वस्तुस्वरूप को समझने और समझाने का एक साधन मात्र है, वस्तु नहीं है, वस्तु तो नयपक्षों के विकल्प से दूर है। इसलिये तत्त्वज्ञानी मनुष्य इन नयपक्षों को, जो कि एक बड़ी अटवी के समान हैं, उलङ्घ कर शुद्ध स्वभाव की ही शरण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को प्राप्त होता है। उस शुद्ध स्वभाव की शरण को प्राप्त करने के लिए ज्ञानी जीव निरन्तर ऐसा चिन्तन करता है कि मैं तो चिन्मात्र तेज का वह पुञ्ज हूँ जिसकी एक ही कौंद नयपक्षों के आश्रय से उठने वाले नाना विकल्पों के इन्द्रजाल को तत्काल नष्ट कर देती है। इस प्रकार के चिन्तन से ज्ञानी जीव स्वीय स्वभाव को प्राप्त होता।।९१।।

आगे पक्षातिक्रान्त पुरुष का क्या स्वरूप है? यही दिखाते हैं–

दोह्णं वि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिह्णदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो।।१४३।।

अर्थ– शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन रहनेवाला जो पुरुष दोनों नयों के कथन को जानता तो है, किन्तु किसी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता है वही नयपक्ष से रहित है अर्थात् पक्षातिक्रान्त है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार केवली भगवान् विश्व के साक्षीभूत अर्थात् समस्त पदार्थों के ज्ञाता होने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहारनय और निश्चयनय के पक्ष का केवल स्वरूप जानते हैं परन्तु किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, क्योंकि केवली भगवान् निरन्तर उदयरूप स्वाभाविक निर्मल सकल केवलज्ञान स्वभाववाले हैं, इसीलिये नित्य ही अपने आप विज्ञानघनस्वभाव हैं और इसी से श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्त होने के कारण समस्त नयपक्षों के ग्रहण करने से दूर हैं। इसी प्रकार जो श्रुतज्ञानी हैं वे भी श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार और निश्चयनय के पक्ष को केवल जानते हैं, किसी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते। यद्यपि उनके श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से जायमान श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उठते हैं परन्तु परपदार्थों के ग्रहण-विषयक उत्सुकता के दूर हो जाने से वे उन विकल्पों की ओर लक्ष्य नहीं देते। श्रुतज्ञानी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसका कारण यह है कि वे अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टि से गृहीत-निरुपाधि, नित्योदित एवं चैतन्यमय शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रतिबद्ध होने के कारण उस काल में अपने आप विज्ञानघनस्तरूप हो रहे हैं तथा श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्प और बहिर्जल्परूप समस्त विकल्पों की भूमिका से परे होने के कारण समस्त नयपक्ष के परिग्रह से दूरीभूत हैं। निश्चय से ऐसा श्रुतज्ञानी समस्त विकल्पों से अत्यन्त परे है, वही परमात्मा है, वही ज्ञानात्मा है, प्रत्यग्ज्योतिस्वरूप भी वही है, आत्मख्यातिस्वरूप भी वही है और वही अनुभूतिमात्र समयसार है। यहाँ कहने का यह तात्पर्य है कि जैसे केवली भगवान् सब नयों के ज्ञाता-द्रष्टा हैं, परन्तु मोह का अभाव होने से किसी भी पक्ष को ग्रहण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करते, केवल उनके दिव्य ज्ञान में सम्पूर्ण पदार्थ अनायास प्रकाशित हो रहे हैं। ऐसी श्रुतज्ञानी भी जब वस्तुस्वरूप को सर्वनयपक्ष का त्याग कर शुद्ध रूप से अनुभवता है तब नयपक्ष का ज्ञाता ही है। सम्यग्दृष्टि जीव सविकल्पदशा में भी एक नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता है। यदि सर्वथा एक पक्ष का ग्रहण करे तो मिथ्यादृष्टि हो जावे, क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है किन्तु नित्यानित्यात्मक है, जो कि प्रमाण का विषय है। अत: शुतज्ञानी भी यथार्थ वस्तु का अवगमन करने से नयपक्षरहित ही है।।१४३।।

आगे श्रुतज्ञानी जैसा अनुभव करता है वह कलशा के द्वारा दिखलाते हैं—

स्वागताछन्द

चित्स्वभावभरभावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकम्।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारपमारम् ।।९२।।

अर्थ– श्रुतज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मैं समस्त बन्धपद्धति को त्यागकर उस अपार समयसार का अनुभव करता हूँ जो चैतन्यस्वभाव के समूह ही में होनेवाले भाव—उत्पाद, अभाव—व्यय और भाव—ध्रोव्य की परमार्थता से एक है।

भावार्थ– यद्यपि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के कारण समयसार में त्रिरूपता आती है, परन्तु वह उत्पादादिक का चित्र एक चैतन्यस्वभाव में होता है, इसलिए समयसार की एकरूपता खण्डित नहीं होती।।९२।।

आगे पक्षातिक्रान्त ही समयसार है, यह स्थित हुआ, यही दिखाते हैं–

सम्मद्दंसण-णाणं एदं लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।।१४४।।

अर्थ– जो सम्पूर्ण नयपक्ष से रहित है वही समयसार कहा गया है। विशेषता यह है कि यह समयसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इस नाम को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ– समस्त नयपक्षों द्वारा अक्षुण्ण होने के कारण जिसमें समस्त विकल्पों का व्यापार विश्रान्त हो चुका है, ऐसा जो आत्मा का परिमाण है वही समयसार है। यह समयसार एक होकर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इस संज्ञा को प्राप्त होता है, क्योंकि प्रथम ही श्रुतज्ञान के बल से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय कर तदन्तर शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के लिए परख्याति—परद्रव्याभूति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के कारणभूत समस्त इन्द्रिय और मन सम्बन्धी बुद्धि को तिरस्कृत कर जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मा के सम्मुख किया है तथा नानाप्रकार के नयपक्षों के आलम्बन द्वारा अनेक विकल्पों से आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानरूप बुद्धि को भी गौणकर जो श्रुतज्ञान के तत्त्व को भी आत्माभिमुख करता हुआ जो अत्यन्त निर्विकल्प हो गया है, ऐसा आत्मा ही स्वभाव से शीघ्र प्रकट होनेवाले आदि, मध्य और अन्त से विमुक्त, आकुलतारहित, एक होने पर भी समस्त विश्व के ऊपर तैरते हुए के समान स्थित, अखण्ड प्रतिभास से सहित, विज्ञान-ज्ञान तथा परमात्मस्वरूप समयसार को प्राप्त करता हुआ सम्यक् प्रकार से देखा जाता है— श्रद्धान किया जाता है तथा जाना जाता है। इसलिये जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है वह समयसार ही है।।१४४।।

अब इसी भाव को कलशकाव्यों के द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ।।९३।।

अर्थ– नयों के पक्ष के बिना अविनाशी, अविकल्पभाव को प्राप्त, निश्चल, मनुष्यों के द्वारा स्वयं अनुभव में आनेवाला तथा विज्ञानस्वरूप एकरस से युक्त जो यह समयसार सुशोभित हो रहा है वही यह भगवान् है, वही सनातन पुण्यपुरुष है, उसे चाहे ज्ञान कहो, चाहे दर्शन कहो अथवा जो चाहो सो कहो, वह एक ही इन शब्दों से व्यपदेश को प्राप्त होता है।

भावार्थ– यहाँ आत्मा की शुद्धपरिणतिरूप उस समयसार की महिमा गाई गई है जिसमें नयों का पक्ष छूट जाने से स्थायी अविकल्पदशा की प्राप्ति हो जाती है, विकल्प जाल से रहित, निश्चल, मनुष्यों को जिसका अनुभव स्वयं होने लगता है तथा जिसमें रागादिविकारी भावों की पुट निकल जाने से एक ज्ञानरूप रस ही शेष रह जाता है। इसी समयसार को भगवान् कहते हैं, यही पुण्य पुराणपुरुष अर्थात् परमात्मा कहलाता है, गुण और गुणी में अभेद दृष्टि होने से इसे ही ज्ञान कहते हैं, दर्शन कहते हैं अथवा सुख तथा वीर्य आदि की प्रधानता से जिस गुणरूप कहना चाहें, कह सकते हैं। इस तरह नामों की विभिन्नता होने पर भी यह प्रतिपाद्यरूप से एक ही है।।९३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शार्दूलविक्रीडितछन्द

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहर-
न्नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत्।।९४।।

अर्थ-- यह आत्मा अपने गुणों के समूह से च्युत हो बहुत भारी विकल्पों के जालरूपी वन में दूरतक भ्रमण कर रहा था--- भटक रहा था, सो विवेकरूपी निचले मार्ग में गमन करने से बलपूर्वक बड़ी दूर से लाकर पुनः अपने गुणों के समूह में मिला दिया गया है, इसमें एकविज्ञानरस ही शेष रह गया है, यह एक विज्ञानरूपी रस के रसिक मनुष्यों की आत्मा को हरण करता है तथा जल के समान सदा आत्मा में ही लीनता को प्राप्त होता है।

भावार्थ-- जब यह आत्मा मोह के वशीभूत हो अपने चित्पिण्ड से च्युत होकर बहुत प्रकार विकल्पजाल के वन में भ्रमण करने लगा तब उस विज्ञानरस के जो रसिक थे उन्होंने विवेकरूप निम्नमार्ग से लाकर बलपूर्वक अपने चित्पिण्ड में ही मिला दिया। जैसे समुद्र का जो जल वाष्पादि द्वारा मेघ बनकर इतस्ततः बरसता है। पश्चात् वही जल निम्नगामिनी नदियों के द्वारा अन्त में समुद्र का समुद्र में मिल जाता है। ऐसे ही आत्मा की परिणति मोहकर्म के विपाक से रागद्वेष द्वारा निखिल परपदार्थों में फैल जाती है और जब मोह का अन्त हो जाता है तब भेदज्ञान के बल से पर से विरक्त हो अपने ही चित्पिण्ड में मिल जाती है।९४।।

अनुष्टुप्छन्द

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति।।९५।।

अर्थ-- विकल्प करनेवाला केवल कर्ता है और विकल्प केवल कर्म है। विकल्पसहित मनुष्य का कर्तृकर्मभाव कभी नष्ट नहीं होता।

भावार्थ-- स्वभाव से आत्मा ज्ञायक है, मोही या रागी, द्वेषी नहीं है। परन्तु अनादिकाल से इसके ज्ञान के साथ जो मोह की पुट लग रही है उसके प्रभाव से यह नानाप्रकार के विकल्प उठाकर उनका कर्ता बन रहा है तथा वे ही विकल्प इसके कर्म हो रहे हैं। जब ज्ञान से मोह की पुट दूर हो तब इसका कर्तृ-कर्मभाव नष्ट हो। इसलिये कहा गया है कि मोह के उदय से जिसकी आत्मा में नाना विकल्प उठ रहे हैं उसका कर्तृ-कर्मभाव कभी नष्ट नहीं होता।।९५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रथोद्धताछन्द

य: करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
य: करोति न हि वेत्ति स क्वचिद् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्।।९६।।

अर्थ– जो करता है वह केवल करता ही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है। जो करता है वह कहीं जानता नहीं है और जो जानता है वह कहीं करता नहीं है।

भावार्थ– यहाँ आत्मा की शुद्ध दशा तथा मोहमिश्रित अशुद्ध दशा का युगपत् वर्णन किया गया है। आत्मा की शुद्ध दशा वह है जिससे मोह का प्रभाव बहिर्भूत हो गया है और अशुद्ध दशा वह है जिसमें मोह का प्रभाव संवलित है। आत्मा स्वभाव से ज्ञायक ही है कर्ता नहीं, उसमें जो कर्तृत्व का भाव आता है वह मोहनिमित्तक ही है। इसीलिये यहाँ पर कहा गया है कि जो करता है वह करता ही है, जानता नहीं है अर्थात् मोहमिश्रित दशा कर्तृत्व का अहंकार ही लाती है, पदार्थ को जानती नहीं है। जो जानता है वह जानता ही है, करता नहीं है अर्थात् शुद्ध दशा में कर्तृत्व का भाव निकल जाता है, केवल ज्ञायकभाव शेष रह जाता है।।९६।।

इन्द्रवज्राछन्द

ज्ञप्ति: करोतौ नहि भासतेऽन्तर्ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्त:।
ज्ञप्ति: करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति तत: स्थितं च।।९७।।

अर्थ– जाननेरूप जो क्रिया है वह करने रूप क्रिया के अन्त: में भासमान नहीं होती है और जो करनेरूप क्रिया है वह जाननेरूप क्रिया के मध्य में प्रतिभासमान नहीं होती है, क्योंकि करोति और ज्ञप्ति क्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। इससे यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है।

भावार्थ– यह जीव अनादिकाल से मोहमिश्रितदशा का अनुभव कर रहा है अर्थात् इस जीव की ज्ञानधारा अनादिकाल से मोहधारा से मिश्रित हो रही है। ज्ञानधारा का कार्य पदार्थ को जानना है और मोहधारा का कार्य आत्मा को परका कर्ता-धर्ता बनाकर उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि उत्पन्न करना है। यहाँ इन दोनों धाराओं का पृथक्-पृथक् कार्य बताया गया है अर्थात् ज्ञानधारा का कार्य जो जानना है उसमें मोहधारा का कार्य जो कर्तृत्व का भाव है वह नहीं है और मोहधारा के कार्य में ज्ञानधारा का कार्य नहीं है। सम्यग्ज्ञानी जीव इन दोनों धाराओं के अन्तर को समझता है, इसलिये वह पदार्थ का ज्ञाता तो होता है परन्तु कर्ता नहीं होता।।९७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नैपथ्ये बत नानटीति रभसान्मोहस्तथाप्येष किम्।।९८।।

अर्थ– निश्चय से कर्ता कर्म में नहीं है और कर्म भी कर्ता में नहीं है। जब कर्ता और कर्म इस द्वैत का ही निषेध किया जाता है तब कर्ता और कर्म की क्या स्थिति रह जाती है? ज्ञाता ज्ञाता में रहता है और कर्म कर्म में रहता है, यह सदा से वस्तु की मर्यादा स्पष्ट है। फिर भी यह मोह परदा के भीतर वेग से क्यों अतिशय नृत्य कर रहा है, यह खेद का विषय है।

भावार्थ– 'ज्ञाता ज्ञेय को जानता है' यहाँ ज्ञाता कर्ता है और ज्ञेय कर्म है। जब वस्तुस्वरूप की अपेक्षा विचार किया जाता है तब ज्ञाता ज्ञाता ही रहता है, ज्ञेयरूप नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है, ज्ञातारूप नहीं हो जाता, मात्र ज्ञाता के ज्ञानगुण की स्वच्छता से ज्ञेय उसमें प्रतिभासमान होता है, तद्रूप नहीं हो जाता। यह ज्ञाता और ज्ञेय अथवा कर्ता और कर्म की व्यवस्था है। इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने का विकल्प तभी तक बनता है जब तक इच्छा के जनक मोहकर्म का विपाक विद्यमान रहता है। मोह की विपाकदशा समाप्त होने पर 'कौन ज्ञाता है कौन ज्ञेय है' यह विकल्प अपने आप शान्त हो जाता है। जब यह विकल्प ही मिट गया तब कर्ता और कर्म की स्थिति भी स्वयं मिट गई। इस तरह वस्तुस्वरूप की यह मर्यादा अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्ञाता ज्ञाता में ही रहता है और कर्म कर्म में ही रहता है अर्थात् ज्ञेय ज्ञेय में ही रहता है। परन्तु यह अनादिकालीन मोह परदा के भीतर अपना नाट्य दिखलाकर लोगों को मुग्ध कर रहा है, यह खेद की बात है। अत्यन्त स्पष्ट वस्तुस्वरूप को लोग मोह के वश न समझ सकें, यह खेद का विषय है ही।।९८।।

अथवा मोह भले ही नृत्य करता रहे तो भी वस्तु का स्वरूप यथावस्थ रहता है, यही कलशा द्वारा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत्।।९९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जिसके अन्तस्तल में चैतन्यशक्तियों के समूह के भार से देदीप्यमान, अविनाशी, उत्कृष्ट तथा अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति प्रकट हो चुकी है कि जिसके प्रभाव से कर्ता कर्ता नहीं रहता, कर्म कर्म नहीं रहता, ज्ञान ज्ञान ही हो जाता है और पुद्गल पुद्गल ही हो जाता है।

भावार्थ– आचार्य कहते हैं कि मोह भले ही परदा के अन्दर अपना नाट्य दिखलाता रहे तो भी हमारे हृदय में वह उत्कृष्ट ज्ञानज्योति प्रकट हो गई है जो अतिशय देदीप्यमान है, अविनाशी है तथा अत्यन्त गम्भीर है। यह ज्ञानज्योति कहीं बाहर से नहीं आई है, किन्तु हमारी ही चैतन्यशक्तियों के भार से अपने आप प्रकट हुई है। इस ज्ञानज्योति के प्रकाश में कर्ता कर्ता नहीं रह गया है और कर्म कर्म नहीं रह गया है अर्थात् कर्तृकर्म का भाव समाप्त हो गया है—ज्ञाता-ज्ञेय का विकल्प विलीन हो गया है, अब ज्ञान ज्ञानरूप ही रह गया है और पुद्गल पुद्गलरूप ही।।९९।।

इस प्रकार जीव और अजीव कर्ता और कर्म का वेष छोड़कर बाहर निकल गये।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयप्राभृतके

कर्तृकर्माधिकार प्रवचन समाप्त हुआ।।२।।

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. पुण्यपापाधिकार

अब एक ही कर्म दो पात्र बनकर पुण्य और पाप के रूप से प्रवेश करते हैं—

द्रुतविलम्बितछन्द

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो
द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजः अयं
स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः।।१००।।

अर्थ– तदनन्तर कर्तृ-कर्म का सम्यक् प्रकार से निर्णय होने पर जो शुभ-अशुभ के भेद से द्विरूपता को प्राप्त हुए कर्म को एकत्व प्राप्त करा रहा है तथा जिसने बहुत भारी मोहरूपी धूलि को नष्ट कर दिया है, ऐसा सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत का प्रवाह अपने आप प्रकट होता है।

भावार्थ– कर्तृकर्माधिकार में निरूपित पद्धति के अनुसार जब इस जीव को सम्यक् प्रकार से कर्ता और कर्म का निर्णय हो चुकता है तब इसके हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत का झरना स्वयमेव फूट पड़ता है। वह अमृत का झरना शुभाशुभ के भेद से द्विरूपता को प्राप्त हुए कर्म को एकत्व प्राप्त कराता है अर्थात् बतलाता है कि कर्म दो नहीं हैं किन्तु एक ही है तथा मोहरूपी जो बहुत भारी धूलि उठ रही थी उसे शान्त कर देता है।।१००।।

आगे दृष्टान्त के द्वारा पुण्य और पाप की एकरूपता सिद्ध करते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण।।१०१।।

अर्थ– एक शूद्रा के उदर से एकसाथ दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से एक पुत्र का पोषण ब्राह्मणी ने किया और एक पुत्र शूद्रा के घर ही पुष्ट हुआ। जिसका पोषण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मणी ने किया था वह अपने आपको ब्राह्मण मानकर मदिरा को दूर से ही छोड़ता है अर्थात् उसका स्पर्श भी नहीं करता और दूसरा पुत्र 'मैं तो शूद्र हूँ' ऐसा मानकर उस मदिरा से ही नित्य स्नान करता है अर्थात् उसके सेवन में उसे किसी प्रकार का संकोच नहीं है। परमार्थदृष्टि से देखा जावे तो दोनों पुत्र शूद्रा के उदर से एक साथ निकले हैं, इसलिये साक्षात् शूद्र ही हैं, जातिभेद के भ्रम से वे उस प्रकार का आचरण करते हैं।

भावार्थ– विभावपरिणति से जो कर्म आता है वह दो प्रकार का दृष्टिगोचर होने लगता है—एक पुण्यरूप और दूसरा पापरूप। पुण्यकर्म प्रशस्त है और पाप कर्म अप्रशस्त है। एक सांसारिक सुख का कारण है और दूसरा सांसारिक दु:ख का कारण है। परन्तु परमार्थ दृष्टि से विचार करने पर दोनों विभावपरिणति के कार्य होने से संसारबन्धन के ही कारण हैं। इसीलिये विवेकी जीव दोनों को एक समझता है।।१०१।।

आगे शुभाशुभकर्म के स्वभाव का वर्णन करते हैं–

कम्मसुहं कुसीलं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।।१४५।।

अर्थ– कितने ही लोग कहते हैं कि अशुभकर्म को कुत्सित स्वभाववाला और शुभकर्म को उत्तम स्वभाववाला जानों। परन्तु जो प्राणी को संसार में प्रविष्ट करता है वह सुशील कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ– कितने ही महानुभावों का कहना है कि यद्यपि कर्म एक है तो भी शुभ और अशुभ के भेद से वह दो प्रकार का है क्योंकि दोनों में कारणभेद, स्वभावभेद, अनुभवभेद और आश्रयभेद देखा जाता है। जो इस प्रकार है— शुभकर्म की उत्पत्ति में जीव के शुभ परिणाम निमित्त हैं और अशुभकर्म में जीव के अशुभ परिणाम निमित्त हैं। इस तरह दोनों में कारणभेद है। शुभकर्म शुभ पुद्गलपरिणाममय है और अशुभकर्म अशुभपुद्गलपरिणाममय है। इस तरह दोनों में स्वभाव भेद है। शुभकर्म का पाक शुभरूप होता है—सुखदायक होता है और अशुभकर्म का फल अशुभरूप होता है—दु:खदायक होता है। इस तरह दोनों में अनुभवभेद है और शुभकर्म मोक्षमार्ग के आश्रित है तथा अशुभकर्म बन्धमार्ग के आश्रित है। इसलिये दोनों में आश्रयभेद है।

परन्तु उन महानुभावों का यह पक्ष प्रतिपक्ष से सहित है—विरोधयुक्त है। यही दिखाते हैं—जीवपरिणाम चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनों ही केवल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानमय होने से एक हैं। इस तरह दोनों में एकपन होने से शुभ-अशुभकर्मों के कारणों में भेद नहीं रहा, अत: कर्म एक है। पुद्गलपरिणाम चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनों ही केवल पुद्गलमय हैं। इस तरह दोनों में एकपन होने से स्वभाव में भेद नहीं रहा, अत: कर्म एक है। कर्म का पाक चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनों ही केवल पुद्गलमय हैं। इस तरह दोनों में एकपन होने से अनुभव में भेद नहीं रहा, अत: कर्म एक है। मोक्षमार्ग शुभ है और बन्धमार्ग अशुभ है। तथा मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और बन्ध मार्ग केवल पुद्गलमय है, इसलिये दोनों अनेक हैं-- पृथक्-पृथक् हैं, इस तरह दोनों में अनेकपन होनेपर भी शुभकर्म और अशुभकर्म दोनों कर्म केवल पुद्गलमय बन्धमार्ग के आश्रित है। इसलिये शुभाशुभ कर्म का एक ही आश्रय होने से कर्म एक है।

इसी बात को कलशा में स्पष्ट करते हैं--

उपजातिछन्द

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां
सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेद:।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं
स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतु:।।१०२।।

अर्थ– हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों की अभिन्नता से कर्म में भिन्नता नहीं है। बन्धमार्ग के आश्रय से वह कर्म एक ही प्रकार का माना गया है, क्योंकि चाहे शुभ कर्म हो, चाहे अशुभकर्म हो, सब प्रकार का कर्म निश्चय से स्वयं ही बन्ध का कारण है।

भावार्थ– शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय में भेद नहीं है, इसलिये कर्मों में शुभाशुभ का भेंद नहीं है। किन्तु दोनों ही कर्म बन्धमार्ग के आश्रित होने से एक ही हैं।।१०२।।

अब दोनों प्रकार के कर्म समानरूप से बन्ध के कारण हैं, यह सिद्ध करते हैं–

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।१४६।।

अर्थ– जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है वैसे ही सुवर्ण की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है। इसी पद्धति से चाहे शुभकर्म किया हो, चाहे अशुभ कर्म किया हो, दोनों ही कर्म पुरुष को बाँधते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– चाहे शुभकर्म हो, चाहे अशुभकर्म हो, विना किसी भेद के बन्धपन की अविशेषता से पुरुष को बाँधते हैं। जैसे सुवर्ण और लोहे की बेड़ी।।१४६।।

अब दोनों प्रकार के कर्मों का प्रतिषेध करते हैं–

तह्मा दु कुसीलेहिं य रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण।।१४७।।

अर्थ– इसलिये उन दोनों कुशीलों से न राग करो और न संसर्ग करो, क्योंकि कुशील के संसर्ग और राग से विनाश स्वाधीन है, अर्थात् विनाश होना निश्चित है।

विशेषार्थ– कुशील जो शुभ-अशुभ कर्म हैं उनके साथ न तो राग करो और न उनका संसर्ग करो, क्योंकि कुशील के साथ राग और संसर्ग करने से विनाश निश्चित होता है। जिस प्रकार कुशीलहस्तिनीरूपी कुट्टिनी चाहे मनोरमा हो, चाहे अमनोरमा, दोनों प्रकार की कुट्टिनियों का राग और संसर्ग हाथी के बन्ध का कारण है उसी प्रकार कुशील कर्म चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, दोनों प्रकार के कर्मों का राग और संसर्ग पुरुष के बन्ध का कारण है, इसलिये मोक्षमार्ग में दोनों ही निषिद्ध हैं।।१४७।।

आगे दोनों कर्म प्रतिषेध्य हैं, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं–

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च।।१४८।।
एमेव कम्मपयडि-सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया।।१४९।।

अर्थ– जिस तरह कोई पुरुष जब यह जान लेता है कि यह मनुष्य खोटे स्वभाव वाला है तब उसके साथ संसर्ग और राग करना छोड़ देता है। इसीतरह स्वभाव में रत रहनेवाले ज्ञानी जीव कर्मप्रकृति के शील—स्वभाव को कुत्सित जानकर उसके साथ संसर्ग और राग को छोड़ देते हैं।

विशेषार्थ– जैसे कोई अत्यन्त चतुर वन का हाथी अपने बाँधने के लिये समीप आनेवाली चञ्चलमुखी हस्तिनीरूपी कुट्टिनी को चाहे वह सुन्दरी हो और चाहे असुन्दरी, कुत्सित स्वभाववाली जानकर उसके साथ न तो राग ही करता है और न संसर्ग ही करता है। वैसे ही रागरहित ज्ञानी पुरुष स्वकीय बन्धन के लिये उद्यत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मप्रकृति को, चाहे वह शुभरूप हो और चाहे अशुभरूप हो, कुत्सित स्वभाववाली जानकर उसके साथ राग और संसर्ग दोनों ही त्याग देता है।।१४८-१४९।।

अब दोनों कर्म बन्ध के कारण हैं तथा प्रतिषेध करने योग्य हैं, यह आगम के द्वारा सिद्ध करते हैं–

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तह्या कम्मेसु मा रज्ज।।१५०।।

अर्थ– रागी जीव कर्मों को बाँधता है और विराग को प्राप्त हुआ जीव कर्मों को छोड़ता है, यह श्री जिनेश्वर का उपदेश है, इससे कर्मों में राग नहीं करो।

विशेषार्थ–निश्चय से जो रागी है वह अवश्य ही कर्म को बाँधता है और जो विरक्त है वही कर्मो से छूटता है, यह आगम का उपदेश है। यह आगमोपदेश सामान्यरूप से रागीपन का निमित्त होने से शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्म को बन्ध का हेतु सिद्ध करता है तथा दोनों प्रकार के कर्मों का प्रतिषेध करता है। यहाँ राग को बन्ध का कारण बताया गया है। जो राग है वही कषाय है। जब कषाय का मन्दोदय होता है तब शुभकर्म का बन्ध होता है और जब कषाय का तीव्रोदय होता है तब अशुभकर्म का बन्ध होता है। इस तरह शुभ व दोनों कर्म, बन्ध के कारण होने से निषेध करने योग्य हैं।।१५०।।

श्री अमृतचन्द्र स्वामी इसी भाव को कलशा में प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः।।१०३।।

अर्थ– सर्वज्ञ भगवान् सभी कर्मों को अविशेषरूप से बन्ध का कारण कहते हैं, इससे सभी कर्मों का निषेध किया गया है और एक ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा गया है।।१०३।।

शिखरिणीछन्द

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणम्
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः।।१०४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– यहाँ पर शंकाकार का कहना है कि जब सभी प्रकार के कर्म का, चाहे वह शुभ हो या अशुभ हो, निषेध बताया है तब निष्कर्म अवस्था की ही प्रवृत्ति होगी और ऐसा होने पर मुनि अशरण हो जावेंगे, क्योंकि उन्हें करने योग्य कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रहा? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि नहीं भाई मुनि अशरण नहीं होते, क्योंकि उस समय जो ज्ञान में ही ज्ञान का आचरण होता है, वही मुनियों के शरण है, उसमें लीन हुए मुनि स्वयं ही परम अमृत को प्राप्त होते हैं–– परमह्लाद को प्राप्त होते हैं अथवा उत्कृष्ठ मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ– शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का निषेध किये जाने पर निष्कर्मा मुनि क्या करेंगे? वे तो अशरण हो जावेंगे? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस समय कषाय की अत्यन्त मन्दता अथवा उसका सर्वथा अभाव हो जानेपर मुनियों का ज्ञान ज्ञान में ही लीन हो जाता है अर्थात् ज्ञान में चंचलता उत्पन्न करने वाले जो क्रोधादिक भाव थे उनका अभाव हो जाने से ज्ञान अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। ऐसा ज्ञान ही मुनियों के लिये शरणभूत है। इसमें लीन रहने वाले मुनि जिस अकथनीय आनन्द को प्राप्त होते हैं वह इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र वा अहमिन्द्र को भी दुर्लभ होता है।।१०४।।

अनन्तर ज्ञानस्वभाव में स्थित मुनि मोक्ष को प्राप्त करते हैं, यह सिद्ध करते हैं–

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।१५१।।

अर्थ– निश्चय से जो परमार्थ है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है और ज्ञानी है अर्थात् इन शब्दों के द्वारा जिसका कथन होता है उस स्वभाव में स्थित मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ– आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और ज्ञान ही मोक्ष का कारण है क्योंकि ज्ञान शुभ अशुभ कर्मों के बन्ध का कारण नहीं है। अत: वहीं मोक्ष का कारण हो सकता है। जो बन्ध का कारण है वह मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। वह ज्ञान कर्म, नोकर्म आदि समस्त विजातीय द्रव्यों से पृथक् चैतन्यजातिमात्र होने से परमार्थ अर्थात् आत्मा कहलाता है। यहाँ गुण-गुणी में अभेददृष्टि को अङ्गीकार कर, गुण जो ज्ञान है उसे ही गुणी, परमार्थ या आत्मा कहा गया है। वह आत्मा समय[१] भी

१. सम्यगयते गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समय:, अथवा सम्यगय: संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समय:, अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समय:। (ता०वृ०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहलाता है क्योंकि 'समय' शब्द में जो 'सम्' उपसर्ग है उसका अर्थ एक ही काल में प्रवर्तना है और अयधातु है उसका अर्थ ज्ञान और गमन दोनों हैं, इस तरह जो एक काल में जानता भी है और परिणमनशील भी है अर्थात् जो युगपत् एकीभाव होकर ज्ञानक्रिया और परिणमनक्रिया कर रहा है वह समय कहलाता है। वह आत्मा सम्पूर्ण नयपक्षों से असंकीर्ण केवल एकज्ञानरूप हो रहा है इसलिये शुद्ध कहलाता है। केवल चैतन्यमात्र वस्तु होने से केवली कहा जाता है। केवल मननभावमात्र होने से मुनि कहलाता है। स्वयमेव ज्ञानपन कर ज्ञानी कहा जाता है। स्वकीय ज्ञान के भावमात्र से स्वभाव कहलाता है और सत् अर्थात् चित् के भावमात्र होने से सद्भाव भी कहा जाता है। इस प्रकार शब्दों में भेद होने पर भी वस्तु में भेद नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव में जो मुनि स्थित हैं अर्थात् रागादि विकारी भावों से रहित हैं वे अवश्य ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं तथा जो इसके विपरीत शुभ-अशुभ भावों में उलझते हैं वे यथायोग्य संसार के ही पात्र होते हैं।।१५१।।

आगे परमार्थ में स्थित हुए बिना तप और व्रत बालतप और बालव्रत है, यह कहते हैं–

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू।।१५२।।

अर्थ– जो आत्मा ज्ञानस्वरूप परमार्थ में तो निश्चल नहीं है किन्तु तप करता है और व्रत को धारण करता है सर्वज्ञ भगवान् उन सर्व प्रकार के तप और व्रत को बालतप और बालव्रत कहते हैं।

विशेषार्थ– श्रीभगवान् ने ज्ञान ही को मोक्ष का कारण कहा है क्योंकि परमार्थभूत ज्ञान से रिक्त मनुष्य के अज्ञान द्वारा किये हुए तप और व्रत बन्ध के कारण होने से बालतप और बालव्रत कहे जाते हैं तथा इसीसे मोक्षमार्ग में उनका निषेध है और ज्ञान ही को मोक्ष का हेतु कहा गया है।।१५२।।

अब ज्ञान मोक्ष का हेतु है और अज्ञान बन्ध का कारण है, ऐसा नियम करते हैं—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ।।१५३।।

अर्थ– जो व्रत और नियमों को धारण करते हैं तथा शील और तप को करते हैं किन्तु परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा से बाह्य हैं अर्थात् उसके दृढ़ श्रद्धान और ज्ञान से शून्य हैं वे निर्वाण को नहीं पाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ–ज्ञान ही मोक्ष का कारण है क्योंकि उसके अभाव में स्वयं अज्ञानस्वरूप अज्ञानी जीवों के अन्तरङ्ग में व्रत, नियम शील, तप आदिक शुभकर्मों का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव रहता है। इसी तरह अज्ञान ही बन्ध का कारण है क्योंकि उसके अभाव में स्वयं ज्ञानभूत ज्ञानी जीवों के बाह्य में व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मों का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।

यहाँ यह जो कहा है कि अज्ञान का अभाव होनेपर स्वयं ज्ञानभूत ज्ञानी जीवों के बाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्मों के अभाव में भी मोक्ष होता है, उसका यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि ये मोक्षमार्ग में अनुपयोगी हैं। यहाँ आचार्य का तात्पर्य यह है कि ये व्रत-नियमादिक शुभकार्य आत्मज्ञान के रहते हुए ही मोक्ष की परम्परा से कारण होते हैं उसके बिना वे बन्ध के कारण हैं। जिसके हृदय से अज्ञान निकल जाता है, व्रत-नियमादिरूप प्रवृत्ति तो उसकी स्वत: हो जाती है। जिस प्रकार[1] चावल के भीतर का तुष निकल जानेपर बाह्य तुष निकल गया, यह बात अनायास सिद्ध है, उसी प्रकार अन्तरङ्ग का रागभाव नष्ट हो जानेपर बहिरङ्ग विषयों का व्यापार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, यह अनायास सिद्ध है। परन्तु बाह्य तुष निकल जानेपर अन्तरङ्ग का तुष निकल ही जावे, यह व्याप्ति नहीं, निकल भी जावे और न भी निकले। उसी प्रकार केवल बाह्य शुभाचरण होने पर अन्तरङ्ग का अज्ञान निवृत्त हो ही जावे, यह व्याप्ति नहीं, निवृत्त हो भी जावे और न भी होवे।।१५३।।

अब ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मोक्ष का कारण है और उससे भिन्न परिणति बन्ध का कारण है, यह कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

शिखरिणीछन्द

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतु: स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद् बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्।।१०५।।

अर्थ– जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब अपने स्वरूप में निश्चल हुआ शोभायमान होता है तभी यह मोक्ष का हेतु है क्योंकि वह ज्ञान स्वयं शिवस्वरूप है। तथा इसके सिवाय अन्य जो रागादिक भाव हैं वे सब बन्ध के जनक हैं क्योंकि

---

१. न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरङ्गविषयव्यापारो दृश्यते। तन्दुलस्याभ्यन्तरे तुषे गते सति बहिरंगतुष इव। (ता०वृ०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं बन्धस्वरूप हैं। इसलिये ज्ञानस्वरूप अपना होना ही अनुभूति है। इस पद्धति से बन्ध और मोक्ष का विधान कहा गया है।।१०५।।

अब फिर भी पुण्यकर्म के पक्षपाती को समझाने के लिये कहते हैं–

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता।।१५४।।

अर्थ– जो परमार्थ से बाह्य हैं अर्थात् ज्ञानात्मक आत्मा के अनुभवन से शून्य हैं वे अज्ञान से संसारगमन का कारण होने पर भी पुण्य की इच्छा करते हैं तथा मोक्ष के कारण को जानते भी नहीं हैं।

विशेषार्थ– इस संसार में कितने ही जीव हैं जो समस्त कर्मसमूह के नष्ट होनेपर प्रकट होनेवाले मोक्ष की इच्छा रखते हुए भी मोक्ष के हेतु को नहीं जानते हैं। यद्यपि वे मोक्ष के हेतुभूत, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाव परमार्थभूत ज्ञान के होने मात्र, तथा एकाग्रतारूप लक्षण से युक्त, समयसारभूत, सामायिकचारित्र की प्रतिज्ञा करते हैं तो भी दुरन्तकर्मसमूह के पार करने की असमर्थता से जिसमें परमार्थभूत ज्ञान का अनुभवन ही शेष रह गया है, ऐसे आत्मस्वभावरूप वास्तविक सामयिकचारित्र को प्राप्त नहीं हो पाते। ऐसे जीव यद्यपि अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्म से निवृत्त हो जाते हैं तो भी अत्यन्त स्थूल शुभपरिणामरूप कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं अर्थात् अशुभ कार्यों को तो छोड़ देते हैं, परन्तु शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करते रहते हैं। वे कर्मानुभव की गुरुता और लघुता की प्राप्ति मात्र से संतुष्टचित्त रहते हैं अर्थात् कर्म के तीव्रोदय के बाद जब मन्द उदय आता है तब उसी में संतुष्ट होकर रह जाते हैं, उस मन्दोदय को भी दूर करने का प्रयास नहीं करते हैं। तथा स्थूल लक्ष्य होने से समस्त क्रियाकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते अर्थात् बुद्धिगोचर संक्लेशरूप क्रियाकाण्ड को तो छोड़ देते हैं, परन्तु अबुद्धिगोचर मन्दकषाय के उदय में जायमान शुभ क्रियाकाण्ड को छोड़ने में असमर्थ रहते हैं। वे स्वयं अज्ञानरूप होने से केवल अशुभ कर्म को तो बन्ध का कारण जानते हैं, परन्तु व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्म को बन्ध का कारण नहीं जानते, किन्तु उसे मोक्ष का कारण मानकर स्वीकार करते हैं।

यहाँ आचार्य महाराज ने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थ ज्ञान से रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्ष का साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नहीं हैं और पुण्य को मोक्ष का कारण समझकर उसकी उपासना करते हैं जब कि वह पुण्य संसार की प्राप्ति का कारण है। कषाय के मन्दोदय में होनेवाली जीव की जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुभोपयोगरूप परिणति है उसे पुण्य कहते हैं, ऐसा पुण्य शुभकर्म के बन्ध का कारण है, कर्मक्षय रूप मोक्ष का कारण नहीं है, परन्तु अज्ञानी जीव इस अन्तर को नहीं समझ पाता है। यहाँ पुण्यरूप आचरण का निषेध नहीं है, किन्तु पुण्याचरण को मोक्ष का मार्ग मानने का निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है, परन्तु श्रद्धा में यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा स्वपद नहीं है। यहाँ इतनी बात ध्यान में रखने के योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धिपूर्वक छोड़ा जाता है उस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नहीं छोड़ा जाता वह तो शुद्धोपयोग की भूमिका में प्रविष्ट होने पर स्वयं छूट जाता है।।१५४।।

अब ऐसे जीवों को मोक्ष का परमार्थ वास्तविक कारण दिखाते हैं-

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो।।१५५।।

अर्थ–जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्हीं का जानना ज्ञान है और रागादिक का त्याग करना चारित्र है, और यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है।

विशेषार्थ–निश्चय से मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उनमें जीवादिपदार्थ श्रद्धान स्वभावरूप ज्ञान का होना सम्यग्दर्शन है। जीवादिज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना सम्यग्ज्ञान है और रागादि परिहरणस्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र है। इस तरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—तीनों ही एक ज्ञान के परिणमन सिद्ध हुए, इसलिये यही सिद्धान्त निर्णीत हुआ कि ज्ञान ही परमार्थ से मोक्ष का कारण है।

यही श्रीविद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक में कहा है—

मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम्।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्महन्तृता।।

अर्थात् ज्ञान का मिथ्याभिप्राय छूट जाना सम्यग्दर्शन है, पदार्थ का जानना ज्ञान है और कर्मों को नष्ट करने की सामर्थ्य होना चारित्र है।

यहाँ पर ज्ञानगुण की प्रधानता से कथन है, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ज्ञान की ही परिणति सिद्ध कर एक ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। ज्ञानगुण का स्वपरज्ञायकपन ही उसकी प्रधानता का कारण है।।१५५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे मोक्ष का परमार्थ कारण जो ज्ञान है उससे अन्य कर्म के मोक्षमार्ग-पन का प्रतिषेध करते हैं—

मोत्तूण णिच्चयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ विहियो ।।१५६।।

अर्थ– मात्र द्रव्यश्रुत के पाठी निश्चयनय के विषय का त्यागकर व्यवहार से प्रवृत्ति करते हैं, परन्तु कर्मों का क्षय परमार्थ का आश्रय करने वाले यति महाराजों के कहा गया है।[१]

विशेषार्थ– मोक्ष के परमार्थ कारण से भिन्न जो व्रत, तप आदि शुभ कर्म हैं, वही मोक्ष का कारण हैं, ऐसा किन्हीं का पक्ष है। परन्तु यह सब निषिद्ध है क्योंकि यह सब द्रव्यान्तर का स्वभाव है अर्थात् पुद्गलद्रव्य का परिणमन है, इस स्वभावरूप ज्ञान का परिणमन नहीं होता। मोक्ष का जो परमार्थ कारण है वह एकमात्र जीवद्रव्य का स्वभाव है। उस स्वभाव से ही ज्ञान का परिणमन होता है।।१५६।।

मात्र द्रव्यश्रुत के ज्ञाता विद्वान् लोग निश्चयनय के पक्ष को छोड़कर केवल व्यवहारनय से प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् व्यवहार में जो शुभाचरण बताया गया है उसका पालन करते हैं और उसके फलस्वरूप मोक्ष की इच्छा रखते हैं। परन्तु उससे कर्मों का क्षय नहीं होता, उससे तो कषाय की मन्दता में होनेवाला देवायु आदि पुण्यप्रकृतियों का बन्ध ही होता है। कर्मों का क्षय उन्हीं मुनियों के होता है जो परमार्थ मोक्षमार्ग का आश्रय प्राप्त कर चुके हैं।

यही अभिप्राय कलशा में प्रकट करते हैं—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव हि।।१०६।।

अर्थ– सदा ज्ञानस्वभाव से वर्तना ही ज्ञान का होना है और एक आत्मद्रव्य का स्वभाव होने से वह ज्ञान ही मोक्ष हेतु है।

भावार्थ– मोक्ष आत्मा का होता है, इसलिये आत्मा का स्वभाव ही मोक्ष का कारण हो सकता है और ज्ञान आत्मा का स्वभाव है इसलिये वही मोक्ष का कारण है। इसके विपरीत मन, वचन, काय के व्यापार रूप जो शुभकर्म है वह पुद्गलद्रव्य का स्वभाव होने से मोक्ष का कारण नहीं हो सकता।।१०६।।

---

१. इस गाथा के पूर्वार्ध का अर्थ जयसेन स्वामी ने इस प्रकार किया है कि ज्ञानी जीव परमार्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते। इन्होंने 'ववहारे' का सप्तम्यन्त मानकर 'ण' को अलग किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत्।।१०७।।

अर्थ– कर्मस्वभावरूप होना ज्ञान का होना नहीं है क्योंकि वह द्रव्यान्तर का स्वभाव है अतः शुभाशुभकर्म मोक्ष का हेतु नहीं है।।१०७।।

मोक्षहेतुतिरोधानात् बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिद्ध्यते।।१०८।।

अर्थ– वह कर्म, मोक्ष का हेतु जो ज्ञान है, उसका आच्छादन करने वाला है तथा स्वयं बन्ध रूप है और मोक्ष के हेतु-ज्ञान का आच्छादन करनेवाले पुद्गलद्रव्यरूप उसका परिणमन होता है। अतः मोक्षमार्ग में उसका निषेध किया गया है।

यहाँ पर व्रत तपश्चरण आदि शुभकर्म मोक्ष के हेतु नहीं हैं, यह कहा गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने वाला मुनि इन सब कार्यों को करता नहीं है, करता है। किन्तु मात्र इन्हें मोक्ष का कारण नहीं मानता, उसकी श्रद्धा में ज्ञान की ज्ञानरूप परिणति हो जाना ही मोक्ष का कारण है। इस अन्तरङ्ग कारण के रहते हुए ज्ञानी जीव के अपने पदानुसार जो मन, वचन, काय के शुभ व्यापार होते हैं उनके निषेध का तात्पर्य नहीं है।

अब कर्म मोक्ष के हेतु का तिरोधान करनेवाला है, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं–

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं।।१५७।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं।।१५८।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं।।१५९।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– जिस प्रकार वस्त्र की श्वेतता (शुक्लता) मल के मेलन होने पर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्वमल से व्याप्त होने पर सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है अर्थात् आच्छादित हो जाता है, ऐसा निश्चय से जानना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे वस्त्र की सफेदी मल के सम्बन्धविशेष से नष्ट हो जाती है वैसे ही अज्ञानरूपी मल के साथ सम्बन्ध होने पर जीव का वास्तविक ज्ञान नष्ट हो जाता है अर्थात् आच्छादित हो जाता है, यह निश्चय से जानना चाहिये।

और जिस तरह वस्त्र की शुक्लता मल के सम्बन्धविशेष से नाशभाव को प्राप्त हो जाती है उसी तरह कषायरूपी मल के साथ सम्बन्ध होने से चारित्रगुण भी नष्ट हो जाता है अर्थात् प्रकट नहीं होता है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ– ज्ञान का जो सम्यक्त्व है वह मोक्षकारणरूप स्वभाव है। वह, जैसे परभावभूत मैल के साथ सम्बद्ध होने से वस्त्र का श्वेतभाव आच्छादित हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्वरूप मैल से आच्छादित होने के कारण तिरोभूत रहता है। इसी तरह ज्ञान का जो ज्ञान है अर्थात् उसमें अज्ञानभाव नहीं है वह मोक्ष का कारण है। किन्तु मैल के सम्बन्ध से जैसे वस्त्र की शुक्लता आच्छादित रहती है वैसे ही अज्ञानमल के साथ सम्बन्ध होने से उसकी मोक्षकारणता व्यक्त नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञान के रागादिनिवृत्तिरूप जो चारित्र है वह मोक्ष का कारण है। परन्तु जैसे मलिनता का सम्बन्ध होने से वस्त्र की शुक्लता का वर्तमान में अभाव है वैसे ही ज्ञान में जो चरित्र है वह कषायमल के द्वारा आच्छादित होने से तिरोभूत हो रहा है। इसीलिये मोक्ष के कारणों का तिरोधान करने से कर्म का प्रतिषेध किया गया है।

निश्चयनय से तो गुण-गुणी में भेद नहीं होता, पर व्यवहारनय गुण-गुणी में भेदकल्पना करता है, अतः व्यवहारनय की दृष्टि में आत्मा गुणी है और श्रद्धा ज्ञान तथा चारित्र ये तीन उसके गुण हैं। श्रद्धागुण का जो स्वभावरूप परिणमन है वह सम्यग्दर्शन है और विभावरूप परिणमन मिथ्यादर्शन है। ज्ञानगुण का जो स्वभावरूप अर्थात् ज्ञानरूप परिणमन है वह सम्यग्ज्ञान है और विभाव रूप परिणमन अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। इसी तरह चारित्रगुण का जो स्वभावरूप अर्थात् वीतरागतारूप परिणमन है वह सम्यक्चारित्र है और रागादिरूप विभाव परिणमन अचारित्र अथवा मिथ्याचारित्र है। यहाँ इन गुणों के विभावरूप परिणमन करने का कारण निमित्त की प्रधानता से कर्म को बतलाया है। जिस प्रकार मैल के सम्बन्ध से वस्त्र की सफेदी आच्छादित रहती है और मैल के दूर हो जाने पर प्रकट हो जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायरूपी मैल के सम्बन्ध से श्रद्धागुण का सम्यक्त्वरूप परिणमन, ज्ञानगुण का ज्ञानरूप परिणमन और चारित्रगुण का चारित्ररूप परिणमन आच्छादित रहता है और उन मिथ्यात्व आदि मैलों का सम्बन्ध दूर हो जाने पर उनका यथार्थ परिणमन प्रकट हो जाता है। जिस तरह वस्त्र की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सफेदी वस्त्र में ही रहती है उसी तरह आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण में आत्मा रहते हैं। जिस प्रकार मैल का सम्बन्ध दूर हो जाने पर वस्त्र की सफेदी स्वयं प्रकट हो जाती है, कहीं बाहर से नहीं आती, उसी प्रकार आच्छादक अथवा विकार उत्पन्न करनेवाले कर्मों का सम्बन्ध दूर होने पर सम्यक्त्वादि गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं, कहीं बाहर से नहीं आते।।१५७।।१५८।।१५९।।

अब कर्म स्वयं बन्धरूप है, यह सिद्ध करते हैं-

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो।

संसारसमावण्णो ण विजाणादि सव्वदो सव्वं।।१६०।।

अर्थ- वह आत्मा स्वभाव से सबको जानने वाला और देखने वाला है तो भी अपने शुभाशुभ कर्मरूपी रज से आच्छादित हो रहा है, अतएव संसार अवस्था को प्राप्त हुआ सबको सब रूप से नहीं जानता है।

विशेषार्थ- यद्यपि आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि वह समस्त पदार्थों को सामान्य और विशेषरूप से देख-जान सकता है तथापि अनादिकाल से स्वकीय आत्मा के अपराध अर्थात् रागादि परिणति से प्रवर्तमान कर्मरूपी मल से आच्छादित होता हुआ बन्धदशा का अनुभव कर रहा है और उस बन्धदशा में सबरूप से अपने सम्पूर्णरूप को नहीं जानता हुआ निरन्तर अज्ञानी होकर ही रहता है, इससे निश्चय हुआ कि शुभाशुभ कर्म ही स्वयं बन्धरूप हैं, अत: त्यागने योग्य हैं।

यहाँ कोई यह आशंका करे कि जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर नहीं सकता तब कर्मरूपी रज ने सर्वदर्शी आत्मा को अज्ञानी कैसे बना दिया? तो उसका उत्तर यह है कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर नहीं सकता' इसका इतना ही अर्थ है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन नहीं कर सकता, निमित्त-नैमित्तिकभाव की दृष्टि में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के विभावपरिणमन में निमित्त अवश्य होता है, इसका निषेध नहीं है।

अब कर्म मोक्ष के हेतु सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र का आच्छादन करने वाले हैं, यह दिखाते हैं-

सम्मत्त-पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।

तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो।।१६१।।

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।

तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो।।१६२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्त-पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ।।१६३।।

(त्रिकलम्)

अर्थ-- सम्यक्त्व को रोकनेवाला मिथ्यात्वकर्म है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है, उस मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा जानना चाहिये।

ज्ञान को रोकनेवाला अज्ञान है, ऐसा श्री जिनवर के द्वारा कहा गया है, उस अज्ञान के उदय से यह जीव अज्ञानी नाम पाता है, यह जानना चाहिये।

चारित्र को घातनेवाला कषाय है, ऐसा भगवान् का आदेश है, उस कषाय के उदय से यह जीव अचारित्र होता है, यह जानना चाहिये।

विशेषार्थ-- आत्मा का जो सम्यग्दर्शन है वह मोक्ष का कारण है तथा आत्मा का स्वभावभूत है उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है वह स्वयं कर्म ही है। जब उसका उदयकाल आता है तब ज्ञान के मिथ्यादृष्टिपन रहता है। इसी तरह आत्मा का जो ज्ञान है वह मोक्ष का कारण है तथा आत्मा का स्वभाव है, उसका प्रतिबन्धक अज्ञान है वह स्वयं कर्म है, उसके उदय से ज्ञान के अज्ञानपन होता है। इसी तरह आत्मा का जो चारित्रगुण है, वह मोक्ष का कारण है तथा आत्मा का स्वभाव है, उसको रोकनेवाला कषाय है, वह कषाय स्वयं कर्म है, उसके उदय से ज्ञान का अचारित्र भाव होता है। इसीलिये मोक्ष के कारणों का तिरोधायक-आच्छादक होने से कर्म का प्रतिषेध किया गया है।

आत्मा अनाद्यनन्त चैतन्यगुण विशिष्ट एक द्रव्य है। परन्तु अनादिकाल से कर्मों के साथ एकमेव जैसा हो रहा है। इसमें जिस तरह चेतना असाधारण गुण है उसी तरह सम्यक्त्व, चारित्र, सुख और वीर्य भी असाधारण गुण हैं। किन्तु उन गुणों के विकास को रोकने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म अनादि से ही इसके साथ लग रहे हैं। उन कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं जो कि आत्मा के असाधारण अनुजीवी गुणों को घातते हैं। अघातिया कर्म आत्मगुण घातक नहीं हैं, केवल उनके अभाव में प्रतिजीवी गुणों का ही उदय होता है। घातियाकर्मों में ज्ञानावरण और दर्शनावरण चेतनागुण के विकास में बाधक हैं अर्थात् जब ज्ञानावरण कर्म का उदय होता है तब आत्मा का ज्ञान नहीं प्रकट होता है और दर्शनावरण के उदय में दर्शन नहीं होता, अन्तराय के उदय में वीर्य (शक्ति का) विकास नहीं होता है। इनके क्षयोपशम में आंशिक ज्ञान, दर्शन तथा वीर्य प्रकट होते हैं, क्षय में पूर्णरूप से ज्ञानादिक गुणों का विकास हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीयकर्म की तरह इनका सर्वथा उदय नहीं रहता, अन्यथा आत्मा के ज्ञानगुण का सर्वथा अभाव होने से उसके अस्तित्त्व का ही लोप हो जाता, सो हो नहीं सकता। मोहनीयकर्म आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को घातता है। यहाँ पर घात का यह आशय है कि गुण के विकास को रोकता तो नहीं है, किन्तु उसका विरुद्ध परिणमन करा देता है। जैसे कामलारोगी देखता तो है, परन्तु श्वेतशङ्ख को पीतरूप देखता है। अत: परमार्थ से देखा जावे तो यही घात आत्मा का अहित करनेवाला है। इन्हीं ज्ञानावरणादि कर्मों में पापकर्म और पुण्यकर्म का विभाग है, घातिया कर्मों की जितनी प्रकृतियाँ है वे सब पापरूप ही हैं। परन्तु अघातिया कर्मों में कुछ पाप-प्रकृतियाँ हैं और कुछ पुण्य प्रकृतियाँ हैं। कषाय के मन्दोदय में पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है और कषाय के तीव्रोदय में पापप्रकृतियों का बन्ध होता हे। पुण्य प्रकृतियों के विपाक काल में सांसारिक सुख की प्राप्ति होती है और पाप प्रकृतियों के उदयकाल में सांसारिक दु:ख की ही प्राप्ति होती है। कषाय के मन्दोदय में होनेवाला जो शुभाचरण है वह भी पुण्यकर्म के बन्ध में साधक होने से पुण्यकर्म कहलाता है और कषाय के तीव्रोदय में होने वाला जो अशुभाचरण है वह भी पापकर्म के बन्ध में साधक होने से पापकर्म कहलाता है। इनमें पापकर्म तो मोक्ष का बाधक है ही, परन्तु पुण्यकर्म भी मोक्ष का बाधक है। इसलिये मोक्षार्थी मनुष्य को इन दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग करना चाहिये।।१६१-१६३।

यही कलशा में कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य च।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबुद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति।।१०९।।

अर्थ– 'मोक्ष के अभिलाषी मनुष्य के द्वारा ये सभी कर्म छोड़ देने के योग्य हैं' इस आदेश से जब सब कर्म छोड़ दिये, तब पुण्य और पाप की क्या चर्चा रह गई? पुण्य और पाप तो कर्म की विशिष्ट अवस्थाएँ हैं। जब सामान्यरूप से कर्म का त्याग हो गया तब पुण्य-पाप का त्याग तो उसी त्याग में अनायास गर्भित हो गया। इस प्रकार पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों के छूट जाने से जब इस जीव की निष्कर्मा अवस्था हो जाती है तब इसके सम्यक्त्वादि गुणों का निज स्वभावरूप परिणमन होने लगता है और तभी उससे सम्बन्ध रखनेवाला शक्तिशाली ज्ञान मोक्ष का हेतु होता हुआ स्वयं दौड़कर आता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ–जब पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म छूट जाते हैं तब एक ज्ञान हीं मोक्ष का हेतु होता है तथा सम्यक्त्वादि गुणों का स्वभावरूप परिणमन होने लगता है। उस समय का यह ज्ञान इतना उद्धतरस—शक्तिशाली होता है कि इसकी गति को कोई रोक नहीं सकता। शुद्धोपयोग की भूमिका में क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर जब यह जीव पुण्य-पाप कर्मों के जनक समस्त रागादिक विकल्पों को दशमगुणस्थान के अन्त में क्षय कर देता है तब उसका ज्ञान नियम से अन्तर्मूहूर्त में केवल ज्ञानरूप हो जाता है।।१०९।।

अब यह आशंका होती है कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में जब तक कर्म का उदय है और ज्ञान रागादिजन्य विकल्पपरिणति से रहित नहीं हुआ है तब तक ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग कैसे हो सकता है? तथा कर्म और ज्ञान साथ-साथ किस तरह रह सकते हैं?

इसके समाधान के लिये कलशा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यावत्पाकमुपैति कर्म विरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः।।११०।।

अर्थ– जबतक कर्म उदय को प्राप्त हो रहा है तथा ज्ञान की, रागादिक के अभाव में जैसी निर्विकल्प परिणति होती है वैसी परिणति नहीं हो जाती है, तबतक कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय भी कहा गया है, इसमें कोई हानि नहीं है, किन्तु इस समुच्चय की दशा में भी कर्मोदय की परतन्त्रता से जो कर्म होता है अर्थात् जो शुभाशुभ प्रवृत्ति होती है वह बन्ध के लिये ही होती है— उसका फल बन्ध ही है, मोक्ष के लिये तो स्वतः—स्वभाव से पर से शून्य अतएव ज्ञायकमात्र एक उत्कृष्ट ज्ञान ही हेतुरूप से स्थित है।

भावार्थ– चतुर्थगुणस्थान से लेकर दशमगुणस्थान तक कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय रहता है क्योंकि यथासंभव चारित्रमोह का उदय विद्यमान रहने से रागादिरूप परिणति रहती है और उसके रहते हुए शुभ-अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति अवश्यंभावी है तथा दर्शनमोह का अनुदय हो जाने से ज्ञान का सद्भाव है। इस समुच्चय की दशा में इन गुणस्थानों में रहनेवाले जीवों को मोक्षमार्गी माना जावे या बन्धमार्गी, यह आशंका उठ सकती है? उसका उत्तर यह है कि इस दशा में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मोदय की बलवत्ता से जीवों की जो कर्म में प्रवृत्ति होती है उससे तो बन्ध ही होता है और स्वभावरूप परिणत जो उनका सम्यग्ज्ञान है वह मोक्ष का कारण है क्योंकि ज्ञान बन्ध का कारण नहीं हो सकता। यही कारण है कि इन गुणस्थानों में गुणश्रेणीनिर्जरा भी होती है और देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों का बन्ध भी होता है। इस वास्तविक अन्तर को गौण कर कितने ही लोग शुभ प्रवृत्ति को मोक्ष का कारण कहने लगते हैं और रत्नत्रय को तीर्थंकर प्रकृति, आहारकशरीर तथा देवायु आदि पुण्यप्रकृतियों के बन्ध का कारण बताते हैं।।११०।।

आगे कर्मनय और ज्ञाननय के एकान्ती संसार-सागर में निमग्न रहते हैं, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।।१११।।

अर्थ– जो ज्ञान को नहीं जानते हैं तथा केवल कर्मनय के अवलम्बन में तत्पर रहते हैं वे डूबते हैं। इसी प्रकार जो ज्ञाननय के इच्छुक होकर भी धर्माचरण के विषय में अत्यन्त स्वच्छन्द और मन्दोद्यम रहते हैं वे भी डूबते हैं। किन्तु जो निरन्तर स्वयं ज्ञानरूप होते हुए न तो कर्म करते हैं और न कभी प्रमाद के वशीभूत होते हैं वे ही समस्त संसार के ऊपर तैरते हैं अर्थात् संसार से पार होते हैं।

भावार्थ– यहाँ कर्मनय और ज्ञाननय के एकान्तियों का निरूपण करते हुए अनेकान्त से दोनों नयों का पालन करनेवाले पुरुषों का वर्णन किया गया है। जो मनुष्य संसार-सागर के संतरण का मूलभूत उपाय जो ज्ञान हैं उसे तो समझते नहीं हैं केवल बाह्य क्रियाकाण्ड के आडम्बर में निमग्न रहते हैं वे संसार-सागर में ही डूबते हैं और जो ज्ञाननय को तो चाहते हैं परन्तु बाह्य शुभाचरण में स्वच्छन्द तथा अत्यन्त मन्दोत्साह हैं वे भी संसार-सागर में ही डूबते हैं। और जो न तो कर्म करते हैं और न कभी प्रमाद के वशीभूत हो शुभाचरण से च्युत होते हैं वे स्वयं ज्ञानरूप होते हुए विश्व के ऊपर तैरते हैं।।१११।।

आगे सब प्रकार के कर्मों को नष्ट करने पर ज्ञानज्योति प्रकट होती है, यह कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मन्दाक्रान्ताछन्द

भेदोन्मादंभ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण।।११२।।

अर्थ– जो मोहरूपी मदिरा को पीकर उन्मत्त हुए मनुष्य को भेद के उन्माद से उत्पन्न भ्रमरस के भार से नृत्य करा रहा है ऐसे सभी प्रकार के कर्म को बलपूर्वक जड़सहित उखाड़ कर वह ज्ञानज्योति जोर से प्रकट होती है जो अनायास प्रकट होते हुए केवलज्ञानरूपी परम कला के साथ क्रीड़ा प्रारंभ करती है तथा सब अन्धकार दूर कर देती है।

भावार्थ– यह जीव अनादिकाल से मोहरूपी मदिरा को पीकर उसके मद में मत्त हो रहा है तथा उसके फलस्वरूप परपदार्थों में इष्टानिष्टबुद्धि कर रहा है, ऊपर से कर्म—पुण्य-पाप का भेद प्रकट कर तज्जन्य उन्माद से उत्पन्न भ्रमरूपी रस के भार से उसे चतुर्गतिरूप संसार में नचा रहा है, ऐसे समस्त कर्मों को जब यह जीव बलपूर्वक जड़ से उखाड़कर नष्ट कर देता है तब अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाली वीतराग-विज्ञानतारूपी वह ज्ञानज्योति इसके प्रकट होती है जो अन्तर्मुहूर्त के भीतर अनायास प्रकट होनेवाली केवलज्ञानरूपी परमकला के साथ क्रीड़ा करती है। अर्थात् स्वयं केवलज्ञान रूप हो जाती है।।११२।।

इस प्रकार जो कर्म पुण्य और पाप के रूप में दो पात्र बनकर नृत्य कर रहा था, अब वह एक पात्र होकर रंगभूमि से बाहर निकल गया।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृत में पुण्य-पाप का वर्णन करनेवाले तृतीयाधिकार का प्रवचन समाप्त हुआ।।३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. आस्रवाधिकार

अब आस्रव का प्रवेश होता है–

वास्तव में जीव और पुद्गल भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। अनादिकाल से इनकी विजातीय अवस्थारूप बन्धावस्था हो रही है। इसीसे यह आत्मा नाना योनियों में परिभ्रमण करता हुआ पर का कर्ता बनकर अनन्त संसारी हो रहा है। बन्धावस्था के जनक जिस आस्रव से संसार होता है वह कैसा है, यह दिखाते हैं—

द्रुतविलम्बितछन्द

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररंगपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः।।११३।।

अर्थ–वह आस्रव महामद के अतिशय से भरा हुआ है। अतएव मन्थर चाल चल रहा है तथा समररूपी रंगभूमि में आ पहुँचा है, ऐसे आस्रव को यह दुर्जय बोधरूपी धनुर्धर सहज ही जीत लेता है, जो उदार, गम्भीर और महान् उदय से सहित है।।११३।।

अब उस आस्रव का स्वरूप कहते हैं–

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य [१]सण्णासण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा।।१६४।।
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो।।१६५।।

(जुगलम्)

अर्थ– मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये जो चार आस्रव हैं वे भावास्रव और द्रव्यास्रव के भेद से चेतन के भी विकार हैं और अचेतन—पुद्गल के भी। इनमें जो चेतन के विकार हैं, वे जीव में बहुत अवान्तर भेदों को लिये हुए हैं तथा जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। वे मिथ्यात्वादिक जीव के अनन्य परिणाम, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मों के कारण हैं और उन मिथ्यात्वादिक जीव के अनन्य परिणामों का कारण रागद्वेषादि भावों को करनेवाला जीव ही है।

---

१. भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण संज्ञाऽसंज्ञाश्चेतनाचेतनाः। (ता०वृ०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– इस जीव में राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं तथा उनके होने में स्वपरिणाम ही निमित्त हैं, क्योंकि उन रागद्वेषादि परिणामों में अजडपन है, अतएव वे चिदाभास हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये पुद्गल के परिणाम हैं तथा ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मों के आस्रव में निमित्त होने से आस्रव कहलाते हैं। उन मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप पुद्गल के परिणामों में जो ज्ञानावरणादिक कर्मों के आस्रवण का निमित्तपन है, उसका भी निमित्तकारण रागद्वेषमोहरूप जीव के अज्ञानमय भाव हैं, इसलिये आस्रवण में निमित्तपने का निमित्त होने से राग-द्वेष-मोह ही परमार्थ से आस्रव हैं और ये भाव अज्ञानी जीव के ही होते हैं, यह बात अपने आप सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि इस जीव के अनादिकाल से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यप्रत्यय साथ में लगे हुए हैं। ये द्रव्यप्रत्यय पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं तथा अचेतन हैं। जब इनका विपाककाल आता है तब इनके उदय में ज्ञानावरणादिक पुद्गलकर्मों का आस्रव होता है। इस तरह ज्ञानावरणादिक कर्मों के आस्रव में निमित्त पड़ने से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप जो पुद्गल के परिणाम हैं वे आस्रव कहलाते हैं।[1] अब यहाँ यह विचार आता है कि यदि मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामों का उदय ही ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव का कारण है, तो सामान्यतया उनका उदय सदा विद्यमान रहता है, इसलिये सदा ही आस्रव होता रहेगा, तब संसार का अभाव किस तरह होगा? इसपर आचार्य कहते हैं कि उन पुद्गलपरिणामों के विपाककाल में जो जीव के राग-द्वेष-मोहरूप अज्ञानमय भाव होते हैं वे ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव में निमित्त हैं। इसतरह उदय की अपेक्षा पुद्गल परिणाम ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव में कारण हैं और उन पुद्गलपरिणामों के निमित्त जीव के राग-द्वेष-मोहरूप अज्ञानमय भाव हैं। फलस्वरूप यह बात सिद्ध हो गई कि परमार्थ से राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं तथा वे अज्ञानी जीव के ही होते हैं। यहाँ अज्ञानी से तात्पर्य मिथ्यादृष्टि का है। तब क्या सम्यग्दृष्टि के रागादिक नहीं होते? होते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि का उनमें स्वामित्व नहीं रहता अर्थात् वह उन्हें आत्मा का स्वभाव नहीं मानता।।१६४-१६५।।

---

१. अयमत्र भावार्थः— द्रव्यप्रत्ययोदये सति शुद्धात्मस्वरूपभावनां त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा बन्धो भवति, नैवोदयमात्रेण। यदि उदयमात्रेण बन्धो भवति, तदा सर्वदा संसार एव। कस्मादिति चेत्? संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। तर्हि कर्मोदयो बन्धकारणं न भवतीति चेत्, तन्न, निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्तं भवति। निश्चयेन पुनः अशुद्धोपादानकारणं स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति। (ता०वृ०)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब ज्ञानी जीव के उन आस्रवों का अभाव दिखाते हैं–

णत्थि दु आसव-बंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ।।१६६।।

अर्थ– सम्यग्दृष्टि के आस्रव और बन्ध नहीं हैं, किन्तु आस्रव का निरोध है अर्थात् संवर है और जो पहले के बँधे हुए कर्म सत्ता में विद्यमान हैं, उन्हें वह नवीन बन्ध न करता हुआ जानता है।

विशेषार्थ–अज्ञानमय भावों के द्वारा ही अज्ञानमय भाव होते हैं, ज्ञानी जीव के अज्ञानभावों की अनुत्पत्ति है। अतएव उसके अज्ञानमय भावों का निरोध हो जाता है। इसीसे आस्रवभूत रागद्वेषमोहरूप अज्ञानमय भावों का अभाव होने के कारण ज्ञानी जीव के आस्रव का निरोध स्वतः सिद्ध है, अतएव ज्ञानी जीव आस्रव के कारणभूत पुद्गलकर्मों को नहीं बाँधता है, किन्तु नित्य ही अकर्ता होने से नवीन कर्मों को नहीं बाँधता हुआ पूर्वबद्ध सदवस्थारूप जो कर्म हैं, उन्हें ज्ञानस्वभाव होने से केवल जानता ही है।

यहाँ जो सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव और बन्ध का अभाव बताया है, वह वीतरागसम्यक्त्व की अपेक्षा बताया है। सरागसम्यग्दृष्टि जीव के चतुर्थादि गुणस्थानों में आगमप्रतिपादित पद्धति के अनुसार बन्ध होता ही है, उसका निषेध नहीं है। अथवा चतुर्थादि गुणस्थानों में जो बन्ध होता है, वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी का उदय निकल जाने से अनन्त संसार का कारण नहीं होता, अप्रत्याख्यानावरणादि के उदय में जो बन्ध होता है उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है।।१६६।।

अब रागद्वेषमोहभाव ही आस्रव हैं, ऐसा नियम करते हैं–

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ।।१६७।।

अर्थ– जीव के द्वारा किया हुआ जो रागादियुक्त भाव है वह बन्ध का ही करनेवाला कहा गया है और रागादि से विमुक्त जो ज्ञायकभाव है, वह अबन्धक कहा गया है अर्थात् जहाँ रागादिक से कलुषित आत्मा का परिणाम है, वही बन्ध होता और जहाँ अन्तरंग में रागादिक की मलिनता से रहित ज्ञायकभाव है वहाँ बन्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ– इस आत्मा में निश्चय से रागद्वेषमोह के संपर्क से जायमान जो भाव हैं वे अज्ञानमय ही हैं। जिस प्रकार चुम्बक पाषाण के संपर्क से उत्पन्न भाव,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोह की सूची को हलन-चलन आदिरूप कार्य करने के लिये प्रेरित करता है, उसी प्रकार वह अज्ञानमय भाव आत्मा को कर्मबन्ध करने के लिये प्रेरित करता है, अर्थात् वह आत्मा में ऐसी विभावता उत्पन्न कर देता है कि जिसका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभावरूप परिणमन को प्राप्त हो जाता है। परन्तु रागादिक के भेदज्ञान से जो भाव होता है, वह ज्ञायकभाव है, जिस प्रकार चुम्बक पाषाण के असंपर्क में होनेवाला भाव लोहे की सूची को हलन-चलन आदि क्रिया से रहित रखता है, उसी प्रकार वह ज्ञायकभाव स्वभाव से ही आत्मा को कर्मबन्ध करने में अनुत्साहरूप रखता है अर्थात् रागादिरूप विभावता के अभाव में आत्मा स्वभावस्थ रहता है, जिससे ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध नहीं हो पाता है। इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ कि रागादि से मिला हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्म के कतृत्व में प्रेरक होने से बन्ध का करनेवाला है और रागादि से न मिला हुआ ज्ञायकभाव केवल स्वभाव का प्रकट करनेवाला होने के कारण किञ्चिन्मात्र भी बन्ध का करने वाला नहीं है।।१६७।।

अब आत्मा के रागादिक से असंकीर्ण ज्ञायकभाव का होना संभव है, यह दिखाते हैं–

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई।।१६८।।

अर्थ–जिस प्रकार पका हुआ फल एक बार डण्ठल से पतित होने पर फिर डण्ठल के साथ बन्ध को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जीव का कर्मभाव अर्थात् कर्मोदय से जायमान रागादिभाव एक बार नष्ट होनेपर फिर उदय को प्राप्त नहीं होता।

विशेषार्थ–जिस प्रकार पका हुआ फल डण्ठल से एक बार जुदा होनेपर डण्ठल के साथ फिर सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्मोदय से होने-वाला भाव एक बार जीव के भाव से जुदा होने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इस तरह रागादिक से असंकीर्ण ज्ञानमय भाव संभव है।

अनादि काल से जीव की रागादिरूप परिणति हो रही है। उस परिणति से असंकीर्ण शुद्ध ज्ञायकभावरूप परिणति कभी हुई ही नहीं। इसलिये साधारण जीवों को ऐसा प्रतिभास होता है कि रागादिक से असंकीर्ण शुद्ध ज्ञायकभाव का होना संभव नहीं है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। रागादिकरूप जो परिणति है, वह जीव की स्वभाव परिणति नहीं है, किन्तु मिथ्यात्वादिक द्रव्यकर्म के उदय में होनेवाली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विभाव परिणति है। द्रव्यकर्म अपना फल देकर अवश्य निर्जरा को प्राप्त होते हैं। साता-असाता आदि द्रव्यकर्म जब अपना फल देते हैं तब सुख-दुःख का अनुभव होता है, अज्ञानी जीव उसमें हर्ष-विषाद करता हुआ नवीन कर्मबन्ध को प्राप्त होता है, परन्तु ज्ञानी जीव उस कर्मफल में हर्ष-विषाद नहीं करता। इसलिये उसके पूर्वबद्ध कर्म फल देकर निजीर्ण हो जाते हैं, नवीन कर्मबन्ध नहीं होता है इस तरह ज्ञानी जीव के पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा होते-होते दशम गुणस्थान के अन्त में रागादिकभावों को उत्पन्न करने में निमित्तभूत मोहनीयकर्म का अत्यन्त क्षय हो जाता है, और यह नियम है कि जिस प्रकार एक बार डंठलसे टूटा फल फिर से डण्ठल के साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार एक बार क्षय को प्राप्त हुआ कर्म जीव के साथ फिर से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता। इस नियमानुसार जिस जीव के मोहनीय कर्म का अत्यन्त क्षय हो गया है उसके फिर मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं हो सकता और जब मोहनीयकर्म नहीं रहा तब उसके उदय में जायमान रागादि विकारीभाव कैसे रह सकेंगे? इस तरह बारहवें गुणस्थान की प्राप्तिकाल के बाद अनन्त काल तक इस भव्यात्मा की एक ज्ञायकभावरूप ही परिणति रहती है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक इस जीव का ज्ञायकभाव यद्यपि रागादिक से संकीर्ण रहता है, तो भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के निकल जाने से जीव को रागादिक परिणति और ज्ञायकभावरूप परिणति इन दोनों परिणतियों का अन्तर अनुभव में आ जाता है। अपने-अपने पदानुसार चारित्रमोह का उदय होने से उसके रागद्वेष उत्पन्न होते हैं और उन रागद्वेषों के सद्भाव में जो कार्य होते हैं, उन्हें भी वह करता है, तो भी ये रागादिकभाव मेरे हैं, ऐसी उसकी श्रद्धा नहीं होती, वह उस संकीर्ण दशा में भी शुद्ध ज्ञायकभाव का ही अनुभव करता है।।१६८।।

अब अमृतचन्द्र स्वामी कलशा द्वारा जीव के ज्ञानमयभाव का वर्णन करते हैं––

शालिनीतछन्द

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौधा-
नेषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ।।११४।।

अर्थ– रागद्वेषमोह के बिना जीव का जो भाव है, वह ज्ञान से रचा गया है अर्थात् वह ज्ञानमय ही भाव है। वह भाव सम्पूर्ण द्रव्यकर्म के आस्रव के समुदाय को रोकनेवाला है और यही भाव सम्पूर्ण भावास्रवों के अभावरूप है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ– आत्मा में जो राग-द्वेष मोहरूप भाव हैं, वे भावास्रव कहलाते हैं और उनके निमित्त से कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य का जो ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है, वह द्रव्यास्रव हैं, दशम गुणस्थान के ऊपर जीव का जो भाव होता है, वह रागद्वेषमोह से रहित होता है, उसका वह भाव ज्ञान से रचा जाता है, इसलिये ज्ञायकभाव कहलाता है। यह ज्ञायकभाव सर्व प्रकार के भावास्रवों के अभावस्वरूप है तथा द्रव्यकर्म के आस्रवों के समूह को रोकनेवाला है। ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक योग के निमित्त से एक सातावेदनीय का आस्रव होता है। पर स्थिति और अनुभागबन्ध से रहित होने के कारण उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है।।११४।।

आगे ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है, यह दिखाते हैं–

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।

कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स।।१६९।।

अर्थ–उस ज्ञानी जीव के पहले की अज्ञानावस्था में बँधे हुए जो प्रत्यय-कर्म हैं, वे पृथिवी के पिण्ड के समान हैं। ज्ञानी जीव के वे सभी प्रत्यय कार्मणशरीर के साथ बँधे हुए हैं, जीव के साथ नहीं।

भावार्थ–निश्चय से जो पहले एक अज्ञानभाव के ही द्वारा बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नामक द्रव्यास्रव स्वरूप प्रत्यय हैं, वे ज्ञानी जीव के लिये पृथक् द्रव्यस्वरूप, अचेतन पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से पृथिवी के पिण्ड के समान हैं तथा वे सभी प्रत्यय स्वभाव से ही कार्मणशरीर के साथ बँधे हुए हैं, जीव के साथ नहीं। अत: ज्ञानी जीव के द्रव्यास्रव का अभाव है, यह स्वभाव से ही सिद्ध है।।१६९।।

इसी अभिप्राय को कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत: एव भिन्न:।

ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव।।११५।।

अर्थ– यह ज्ञानी जीव भावास्रव के अभाव को प्राप्त हुआ है। इसलिये द्रव्यास्रवों से स्वयमेव भिन्न है। क्योंकि ज्ञानी सदा एक ज्ञानमय भाव से ही युक्त रहता है। अत: वह निरास्रव है और एक ज्ञायक ही है।

भावार्थ– ज्ञानी जीव, रागादिक का अभाव होने से भावास्रव के अभाव को प्राप्त हुआ है और पुद्गलद्रव्य के परिणमनरूप होने के कारण द्रव्यास्रवों से अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आप भिन्न है ही, इस तरह ज्ञानी जीव दोनों प्रकार के आस्रवों से रहित होता हुआ एक ज्ञायक ही रहता है तथा सदा एक ज्ञानमयभाव का ही धारक होता है। ज्ञानी जीव की यह निरास्रवदशा दशमगुणस्थान के बाद तो पूर्णरूप से बनती है और चतुर्थादि गुणस्थानों में अपने-अपने पदानुसार यथा कथंचित् संभवती है।।११५।।

अब ज्ञानी निरास्रव कैसे हैं? यह दिखाते हैं–

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समये समये जह्मा तेण अबंधो त्ति णाणी दु।।१७०।।

अर्थ– जिस कारण पूर्व में निरूपण किये गये जो मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योगरूप चार द्रव्यास्रव हैं, वे ज्ञानदर्शन गुणों के द्वारा समय-समय में अनेक भेदों को लिये हुए कर्मों को बाँधते हैं। इसलिये ज्ञानी अबन्ध है, ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ–ज्ञानी के पहले से ही आस्रव-भावना का अभिप्राय नहीं है। इसलिये वह निरास्रव ही है। फिर भी उसके द्रव्यप्रत्यय जो प्रत्येक समय अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को बाँधते हैं, उसमें ज्ञानगुण का परिणाम ही कारण है।[1] तात्पर्य यह है कि जब द्रव्यप्रत्यय उदय में आते हैं तब वे जीव के ज्ञानदर्शनगुणों को रागादिक अज्ञानभावरूप परिणमा देते हैं, उस समय रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत ज्ञानदर्शनगुण बन्ध के कारण होते हैं, वास्तव में रागादिक-अज्ञानभावरूप परिणत ज्ञानदर्शनगुण अज्ञान ही कहलाते हैं। इस तरह पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय ही ज्ञानदर्शनगुण को रागादिक अज्ञानभावरूप परिणत करके नवीन कर्मों को बाँधते हैं। इसलिये परमार्थ से ज्ञानी अबन्धक ही है।।१७०।।

आगे ज्ञानगुण का परिणाम बन्ध का कारण किस तरह है, यह दिखाते हैं–

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।।१७१।।

अर्थ– जिस कारण ज्ञानगुण, जघन्यज्ञानगुण से फिर भी अन्यरूप परिणमता है। इस कारण वह ज्ञानगुण कर्मबन्ध का करनेवाला कहा गया है।

---

१. दर्शनज्ञानगुणौ कथं बन्धकारणभूतौ भवतः? इति चेत्, अयमत्र भावः— द्रव्यप्रत्यया उदयमागताः सन्तो जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयन्ति। तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं बन्धकारणं भवति। वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावेन परिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं अज्ञानमेव भण्यते। (ता०वृ०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ–जब तक ज्ञानगुण का जघन्यभाव है तब तक अन्तर्मुहूर्त में परिणमनशील होने से उसका बार-बार अन्य भावरूप परिणमन होता रहता है और वह अन्यभावरूप परिणमन यथाख्यातचारित्र की अवस्था के नीचे अवश्यंभावी राग का सद्भाव होने से बन्ध का हेतु ही होता है।

क्षयोपशमज्ञान एक ज्ञेय पर अन्तर्मुहूर्त ही स्थिर रहता है, पश्चात् ज्ञेयान्तर का अवलम्बन करता है। इसका मूल कारण मोहोदय है, जो एक ज्ञेय से ज्ञेयान्तर में भ्रमण कराता है। अतएव यथाख्यातचारित्र के पहले रागादिक का सद्भाव होने से उस ज्ञान के परिणमन को जघन्य कहा गया है तथा बन्ध का कारण भी कहा है। परमार्थदृष्टि से क्षयोपशमज्ञान न तो बन्ध का कारण है और न अबन्ध का कारण है। रागादिभावों का सद्भाव ही बन्ध का कारण है। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में क्षयोपशमज्ञान भी मोह का अभाव होने से बन्ध का कारण नहीं है।।१७१।।

यदि ऐसा है तो ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार हुआ? इसका उत्तर स्वयं आचार्य देते हैं—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण।।१७२।।

अर्थ– जिस कारण दर्शनज्ञान और चारित्र जघन्यभाव से परिणमन करते हैं, उस कारण ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है।

विशेषार्थ–वास्तव में जो ज्ञानी है, उसके अभिप्रायपूर्वक रागद्वेषमोहरूप आस्रव भावों का अभाव हो जाता है। इसलिये वह निरास्रव ही है। किन्तु वह ज्ञानी भी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्टरूप से देखने, जानने और अनुचरण करने में अशक्त होता हुआ जघन्यभाव से ही ज्ञान को देखता, जानता और अनुचरता है तबतक उसके भी जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति के कारण अनुमान किये गये अबुद्धिपूर्वक रागादिक भावों का सद्भाव होने से पुद्गलकर्म का बन्ध होता रहता है। अतएव तबतक ज्ञान देखने, जानने और अनुचरण करने के योग्य है जबतक कि उसका जितना पूर्णभाव है उतना अच्छी तरह देख लिया जाता है, जान लिया जाता है और अनुचरित कर लिया जाता है। तदनन्तर साक्षात् ज्ञानी हुआ सब प्रकार से निरास्रव ही होता है। उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यथाख्यातचारित्र की दशा में जब दर्शनज्ञानचारित्र का उत्कृष्ट परिणमन होता है तब ज्ञानी सब प्रकार से निरास्रव ही है और यथाख्यातचारित्र से नीचे की अवस्था में जब दर्शनज्ञान चारित्रगुण का जघन्य परिणाम होता है तब उससे अल्प आस्रव होता है। परन्तु वह आस्रव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वभावकृत न होकर रागादिविभावकृत होता हैं इसलिये उस समय भी स्वभाव की अपेक्षा ज्ञानी निरास्रव ही कहा जाता है।।१७२।।

आगे इसी अभिप्राय को कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिन्दन् परिवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा।।११६।।

अर्थ– जब ज्ञानी आत्मा निजबुद्धिपूर्वक आनेवाले समस्त राग को अपने आप निरन्तर दूर करता है और अबुद्धिपूर्वक आनेवाले राग को भी जीतने के लिये बार-बार अपनी शक्ति का स्पर्श करता है तथा ज्ञान की समस्त विकल्परूप परिणति का उच्छेद करता हुआ पूर्ण होता है अर्थात् दर्शनज्ञानचारित्र की उत्कृष्ट दशा को प्राप्त होता है तब सदा के लिये निरास्रव हो जाता है।११६।।

अब आगे की गाथाओं की भूमिका के लिये प्रश्नरूप कलशा कहते हैं—

सर्वस्यामेव जीवत्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः।।११७।।

अर्थ– अब यहाँ आशंका होती है कि ज्ञानी जीव के जब सम्पूर्ण द्रव्य प्रत्ययों की सन्तति विद्यमान है तब वह नित्य ही निरास्रव कैसे हो सकता है।।११७।।

आगे इस आशंका का उत्तर कहते हैं–

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवभोगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ।।१७३।।
संति दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ।१७४।।
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ।।१७५।।
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ।।१७६।।

(चतुष्कम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व में बाँधे हुए सभी मिथ्यात्व आदि प्रत्यय विद्यमान हैं तथापि विपाकावस्था द्वारा उपभोग में आने पर ही वे रागादि भावों से नवीन कर्मों को बाँधते हैं। जिस प्रकार बाला स्त्री जबतक निरुपभोग्य रहती है तबतक वह पुरुष को स्नेहपाश से नहीं बाँधती, परन्तु वही स्त्री तरुणी होकर जब उपभोग के योग्य हो जाती है तब पुरुष को स्नेहपाश से बाँध लेती है। इसी प्रकार मिथ्यात्वादि प्रत्यय जबतक निरुपभोग्य रहते हैं अर्थात् विपाकावस्था को प्राप्त नहीं होते हैं तबतक वे बन्ध नहीं करते, परन्तु जब निरुपभोग्य रहकर पीछे विपाकावस्था में आने से उपभोग्य हो जाते हैं तब वे रागादिभावों के द्वारा सात या आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधने लगते हैं अर्थात् जब आयु कर्म के बंध का अवसर होता है तब आठ कर्मों को और उसके अनवसार में सात कर्मों को बाँधने लगते हैं। इसी कारण से सम्यग्दृष्टि जीव अबन्धक होता है, क्योंकि रागादिरूप जो आस्रवभाव हैं उनके अभाव में प्रत्यय बन्धक नहीं कहे गये हैं।

विशेषार्थ–जैसे तत्काल की विवाही बालस्त्री पहले तो उपभोग योग्य नहीं होती परन्तु वही स्त्री जब तरुणावस्था को प्राप्त हो जाती है तब उपभोग योग्य होने से पुरुष को अपने प्रेमपाश में बाँधकर नाना प्रकार के बन्धन में डाल देती है। इसी प्रकार पहले बाँधे हुए कर्म जबतक सत्ता में विद्यमान रहते हैं तबतक भोगने योग्य न होने से नवीन बन्ध के कारण नहीं होते। परन्तु पीछे चलकर आबाधा काल पूर्ण होने पर जब उदयावली में आने से उपभोग के योग्य हो जाते हैं तब वे उपभोग के अनुरूप नवीन पुद्गलकर्म का बन्ध करने लगते हैं। इस तरह सत्ता में विद्यमान जो प्रत्यय हैं वे कर्मोदय के कार्यस्वरूप जीव के रागादि भावों के सद्भाव से ही नवीन बन्ध करते हैं। इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ कि यदि ज्ञानी जीव के पहले के बँधे हुए द्रव्य प्रत्यय हैं, तो रहें, फिर भी वह निरास्रव ही है क्योंकि कर्मोदय के कार्यभूत रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव के अभाव में द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं हैं।।१७३।१७४।१७५।१७६।।

यही भाव कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः।।११८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– यद्यपि पहले के बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय समय का अनुसरण करते हुए अर्थात् उदयावली में आने के काल की प्रतीक्षा करते हुए सत्ता को नहीं छोड़ते हैं तथापि समस्त रागद्वेषमोह का अभाव हो जाने से अथवा उनके स्वामित्व का अभिप्राय निकल जाने से ज्ञानी जीव के कभी कर्मबन्ध नहीं होता।।११८।।

अनुष्टुप्छन्द

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम्।।११९।।

अर्थ–क्योंकि ज्ञानी जीव के राग, द्वेष और मोह का अभाव रहता है, इसीलिये उसके बन्ध नहीं होता। वास्तव में बन्ध के कारण राग, द्वेष और मोह ही हैं।।११९।।

आगे यही भाव गाथाओं में प्रकट करते हैं–

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि दम्मदिट्ठिस्स।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।।१७७।।
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति।।१७८।।

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीव के रागद्वेषमोह रूप आस्रव नहीं हैं, इसलिये आस्रवभाव के अभाव में द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं हैं। वे मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय आठ प्रकार के कर्मों के कारण कहे गये है और उन प्रत्ययों के भी कारण रागादिक कहे गये हैं। सम्यग्दृष्टि के रागादि परिणामों के अभाव में कर्मबन्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ–सम्यग्दृष्टि जीव के रागद्वेषमोहभाव नहीं होते हैं। अन्यथा सम्यग्दृष्टिपन ही नही हो सकता। उन रागद्वेषमोह के अभाव में द्रव्य प्रत्यय पुद्गलकर्म की हेतुता को नहीं धारण करते हैं क्योंकि द्रव्यप्रत्यययों में जो पुद्गलकर्म की हेतुता है वह रागादिभाव हेतुक है अर्थात् रागादिक भावों के रहते हुए ही द्रव्यप्रत्यय नवीन पुद्गलकर्मो का बन्ध करते हैं। क्योंकि हेतु के अभाव में कार्य नहीं होता, ऐसी प्रतीति आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है। अतः ज्ञानी जीव के बन्ध नहीं है।

यहाँ चर्चा यह चल रही है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव के सत्ता में द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तब वह बन्धरहित कैसे होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि द्रव्यप्रत्यय सत्ता में रहने मात्र से बन्ध के कारण नहीं होते, किन्तु उदयावली में आनेपर जब रागादिक भाव होते हैं तब उनके द्वारा वे बन्ध के कारण होते हैं। इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तरह द्रव्य प्रत्ययों में पुद्गलकर्म के प्रति जो कारणपन है उसमें रागादिकभाव कारण पड़ते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव के इन रागादिक भावों का अभाव है, इसलिये उसके बन्ध का अभाव कहा गया है।।१७७।१७८।।

अब बन्ध से रहित शुद्ध आत्मतत्त्व का अवलोकन कौन करते हैं? यह बताते हुए शुद्धनय की महिमा का गान कलशा द्वारा करते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम्।।१२०।।

अर्थ–जो महानुभाव उद्धत ज्ञानरूपी चिह्न से युक्त शुद्धनय को अंगीकार कर निरन्तर एकाग्रता का ही अभ्यास करते हैं वे रागादि निर्मुक्त चित्तवाले होते हुए सदा बन्ध से रहित समयसार—शुद्धात्मस्वरूप का अवलोकन करते हैं।।१२०।।

आगे शुद्धनय से च्युत होनेवाले पुरुषों की अवस्था का वर्णन करते हैं—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्।।१२१।।

अर्थ–जो पुरुष शुद्धनय से च्युत होकर अज्ञानी होते हुए फिर से रागादि के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वे पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवों के द्वारा नाना प्रकार के विकल्पजाल को उत्पन्न करने वाले कर्मबन्ध को धारण करते हैं।।१२१।।

आगे दृष्टान्त द्वारा यही दिखाते हैं–

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं।
मंस-वसा-रुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो।।१७९।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा उ ते जीवा।।१८०।।

(जुगलम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–जिस प्रकार पुरुष के द्वारा ग्रहण किया गया आहार जठराग्नि से संयुक्त होता हुआ अनेक प्रकार माँस, वसा तथा रुधिर आदि भावोंरूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव के पूर्वबद्ध प्रत्यय अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधते हैं, परन्तु उस समय वे जीव शुद्धनय से च्युत होते हैं।

विशेषार्थ–जिस समय ज्ञानी जीव शुद्धनय से च्युत हो जाता है उस समय उसके रागादिक विकृत परिणामों का सद्भाव होने से पूर्व के बँधे हुए द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्म के बन्ध को ज्ञानावरणादिरूप परिणमाने लगते हैं अर्थात् बन्ध के कारण हो जाते हैं, क्योंकि कारण के रहते हुए कार्य की उत्पत्ति अनिवार्य रूप से होती है और यह बात अप्रसिद्ध भी नहीं है, क्योंकि पुरुष के द्वारा गृहीत आहार का जठराग्नि के द्वारा रस, रुधिर, माँस और वसा (चर्बी) रूप परिणमन देखा जाता है।।१७९-१८०।।

अब फिर भी शुद्धनय की महिमा दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागादबन्ध एव हि।।१२२।।

अर्थ– यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय छोड़ने योग्य नहीं है क्योंकि उसके न छोड़ने से बन्ध नहीं होता और उसके छोड़ने से बन्ध नियम से होता है।।१२२।।

अब उसी शुद्धनय का प्रभाव दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद् बहिः
पूर्णज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः।।१२३।।

अर्थ–धीर और उदार महिमा वाले अनादिनिधन ज्ञान में जो धीरता को धारण करानेवाला है तथा कर्मों को सर्वतोभावेन निर्मूल करने वाला है ऐसा शुद्धनय पुण्यपुरुषों के द्वारा कदापि त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें स्थिर रहनेवाले ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों में जानेवाले अपनी किरणों के समूह को शीघ्र ही समेटकर पूर्णज्ञानघन, अद्वितीय, अचल तथा शान्त तेज का अवलोकन करते हैं।।१२३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे परमतत्त्व का अन्तरङ्ग में अवलोकन करनेवाले पुरुष के पूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत्।।१२४।।

अर्थ–सब ओर से रागादिक आस्रवों का शीघ्र ही विलय हो जाने के कारण जो निरन्तर प्रकाशमान किसी अनिर्वचनीय परम तत्त्व का अन्तरङ्ग में अवलोकन करता है ऐसे ज्ञानी जीव के अनन्तानन्त स्वकीय रस के समूह से लोकपर्यन्त समस्त पदार्थों को अन्तर्निमग्न करता हुआ अचल और अतुल्य ज्ञान प्रकट होता है।।१२४।।

इस प्रकार आस्रवतत्त्व रङ्गभूमि से बाहर निकल गया।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृत में आस्रव का निरूपण करनेवाले चतुर्थ अधिकार का प्रवचन पूर्ण हुआ।।४।।

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५ संवराधिकार

मोक्षमार्ग का प्रथम उपयोगी अंग संवरतत्त्व है, निर्जरा तो प्रत्येक प्राणी के प्रत्येक समय होती रहती है क्योंकि 'कर्मफलानुभवनं हि निर्जरा' अर्थात् कर्म का फल भोगना ही निर्जरा है। परन्तु ऐसी निर्जरा कार्यकारिणी नहीं, संवरतत्त्व के बिना निर्जरा का कोई उत्कर्ष नहीं। अत: मोक्षमार्गोपयोगी संवरतत्त्व को कहते हैं।

अब संवरतत्त्व का रंगभूमि में प्रवेश होता है—

आगे श्री अमृतचन्द्र स्वामी संवरतत्त्व की प्राप्ति में परम सहायक भेदविज्ञानरूप चैतन्यज्योति का वर्णन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम्।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते।।१२५।।

अर्थ– अनादिसंसार से अपने विरोधी संवर को विजय कर एकान्त से मदोन्मत्त आस्रव का तिरस्कार कर जिसने नित्य विजय प्राप्त की है ऐसे संवर को प्राप्त कराने वाला, परद्रव्य तथा परद्रव्य के निमित्त से होने वाले भावों से भिन्न, अपने स्वरूप में स्थिर, सातिशय उज्ज्वल, स्फुरायमान तथा निजरस के भार से पूरित चैतन्यमय ज्ञानज्योति उदय को प्राप्त होती हुई विस्तार को प्राप्त होती है।

भावार्थ– संवर अनादिकालीन नहीं है किन्तु आस्रव अनादिकालीन है, यह आस्रव संवर का विरोधी है उसे उत्पन्न ही नहीं होने दिया। अतएव उसे जीतकर विजय के उल्लास में मदावलिप्त हो रहा है। परन्तु जब भेदज्ञानरूपी चिन्मय ज्योति का प्रकाश होता है तब उत्पन्न हुआ संवर आस्रव का तिरस्कार कर स्थायी विजय को प्राप्त करता है। वह भेदज्ञानरूपी चिन्मय ज्योति, कर्म-नोकर्म रूप पुद्गलद्रव्य से तथा उनके निमित्त से जायमान रागादिक चिदाभासों से आत्मा को पृथक् करती है, अत्यन्त उज्ज्वल है और आत्मिक रस से परिपूर्ण है। जब इस ज्योति का उदय हो जाता है तभी संवर की प्राप्ति होती है। इसलिये सर्वप्रथम उसी की महिमा का गान किया गया है।।१२५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब प्रथम ही समस्त कर्मों के संवर का परम उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं–

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।।१८१।।
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि।।१८२
एयं तु अविवरीदं णाणं जइया उ होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा।।१८३।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– उपयोग में उपयोग है, क्रोधादिक में कोई भी उपयोग नहीं है, निश्चय से क्रोध में ही क्रोध है, उपयोग में क्रोध नहीं है, आठ प्रकार के कर्म में तथा शरीररूप नोकर्म में उपयोग नहीं है और उपयोग में कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं। इस प्रकार का सम्यग्ज्ञान जब जीव को हो जाता है तब उपयोग से शुद्ध आत्मावाला अर्थात् शुद्धोपयोगरूप होता हुआ यह जीव कुछ भी भाव—क्रोधादि विकृतभाव नहीं करता है।

विशेषार्थ–निश्चय से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का नहीं होता, क्योंकि दोनों द्रव्यों के भिन्न-भिन्न प्रदेश होने से एक सता नहीं हो सकती। अत: एकद्रव्य का अन्य के साथ आधाराधेय सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण द्रव्य का स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही उसका आधाराधेय सम्बन्ध है। इसलिये ज्ञान, जाननरूप क्रिया में प्रतिष्ठित है क्योंकि जाननरूप क्रिया, ज्ञान से अभिन्न होने के कारण ज्ञान में ही रह सकती है तथा क्रोधादिक क्रोधनरूप क्रिया में प्रतिष्ठित हैं क्योंकि क्रोधनरूप क्रिया क्रोधादिकों से अभिन्न होने के कारण क्रोधादिकों में ही हो सकती है। क्रोधादिक भावों में, ज्ञानावरणादिक कर्मों में तथा शरीरादिक कर्मों में ज्ञान नहीं है और न ज्ञान में क्रोधादिकभाव, ज्ञानावरणादिक कर्म तथा शरीरादिक नोकर्म ही हैं क्योंकि इनका स्वरूप परस्पर में अत्यन्त भिन्न है इसीसे इनके परस्पर में परमार्थ से आधाराधेयभाव नहीं है। जैसे ज्ञान का जाननपन स्वरूप है वैसे क्रुद्धता स्वरूप नहीं है, इसी तरह क्रोध का जैसे क्रुद्धता स्वरूप है वैसे जाननपन स्वरूप नहीं है, ऐसी ही व्यवस्था है। इससे विपरीत व्यवस्था करने को कोई भी समर्थ नहीं, क्योंकि जानपनरूप और क्रोधपनरूप क्रिया, भावभेद से भिन्न-भिन्न हैं, तथा इन क्रियाओं में स्वरूप भेद भी है, इससे यह भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। इसी से ज्ञान और अज्ञान का परस्पर में आधाराधेयभाव नहीं है। यही बात दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं—जैसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकाश नामक एकद्रव्य है, उसके आधाराधेयभाव पर विचार कीजिये। आकाश से भिन्न कोई महान् पदार्थ नहीं है जिसके आश्रय यह रहे, अत: आकाश ही आधार और आकाश ही आधेय है। इसी तरह ज्ञान ही आधार और ज्ञान ही आधेय है। इसी प्रकार क्रोधादिक में भी यह नियम है। इस तरह साधु रीति से भेदज्ञान की सिद्धि निर्विवाद है। इस पद्धति से जब इस भेदज्ञान में विपरीतज्ञान की कणिका भी नहीं रहती तब यह अविचल रूप से स्थिर हो जाता है। उस काल में यह ज्ञान शुद्धोपयोगमय आत्मरूप होता हुआ राग-द्वेष-मोहभाव को नहीं करता है। अतएव इसी भेदज्ञान के बल से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है और शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष-मोह के अभावरूप संवर होता है।।१८१-१८३।।

अब अमृतचन्द्रस्वामी कलशा के द्वारा इसी भेदज्ञान का वर्णन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतो: कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिता:
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युता:।।१२६।।

अर्थ– ज्ञान चैतन्यरूपता को धारण करता है और राग पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण जड़रूपता को धारण करता है। इस प्रकार इन दोनों के बीच में तीक्ष्ण छेनी के द्वारा विभाग करके निर्मल भेदज्ञान उत्पन्न होता है। सो हे सत्पुरुषों! रागादि से च्युत होकर इस समय शुद्धज्ञानघनस्वरूप इस एक भेदज्ञान का आश्रय कर आनन्द का अनुभव करो।।१२६।।

अब भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि किस तरह होती है, यह कहते हैं–

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं।।१८४।।
एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो।।१८५।।

(युग्मम्)

अर्थ– जिस प्रकार अग्नि से तपाया हुआ भी सुवर्ण अपने सुवर्णपन को नहीं छोड़ता है उसी प्रकार कर्मोदय से तपाया हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानीपन को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं छोड़ता है, ऐसा ज्ञानी जानता है। परन्तु अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित हुआ अज्ञानी आत्मस्वभाव को नहीं जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है।

विशेषार्थ--क्योंकि जिस जीव के पूर्वोक्त रीति से भेदविज्ञान हो गया है वही जीव भेदविज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ इस प्रकार जानता है कि जिस प्रकार सुवर्ण प्रचण्ड अग्नि से तपाये जाने पर भी अपने सुवर्णस्वभाव को नहीं त्यागता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव तीव्र कर्मविपाक से युक्त होने पर भी अपने ज्ञानस्वरूप को नहीं त्यागता है, क्योंकि "हजारों कारणों के द्वारा भी किसीका स्वभाव छुड़ाया नहीं जा सकता।" यदि छुड़ाया जाने लगे तो उस स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जावेगा, सो होता नहीं, क्योंकि सत् पदार्थ का नाश होना असंभव है। इसी प्रकार ऐसा जानता हुआ ज्ञानी मनुष्य कर्म से आक्रान्त होनेपर भी न राग करता है, न द्वेष करता है और न मोह करता है किन्तु केवल आत्मा को ही प्राप्त होता है और जिस जीव के पूर्व कथित भेदविज्ञान नहीं है वह उसके अभाव से अज्ञानी होता हुआ अज्ञानान्धकार से आच्छादित होने के कारण चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानकर राग करता है, द्वेष करता है तथा मोह करता है तथा शुद्ध आत्मा को नहीं प्राप्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है।।१८४-१८५।।

अब शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर किस प्रकार होता है, यह कहते हैं–

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ।।१८६।।

अर्थ– शुद्ध आत्मा को जाननेवाला जीव शुद्ध ही आत्मा को प्राप्त होता है और अशुद्ध आत्मा को जाननेवाला जीव अशुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ–निश्चय से जो जीव नित्य ही अखण्ड धारावाही ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा की उपलब्धि करता रहता है वह 'ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव होता है' ऐसा नियम होने से नवीन कर्मों के आस्रव में निमित्तभूत रागद्वेषमोह की संतान का निरोध हो जाने से शुद्ध ही आत्मा को प्राप्त होता है और जो नित्य ही अज्ञान के द्वारा अशुद्ध आत्मा की उपलब्धि करता रहता है वह, 'अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय ही भाव होता है' ऐसा नियम होने से नवीन कर्मों के आस्रव में निमित्तभूत रागद्वेषमोह की सन्तान का निरोध न होने के कारण अशुद्ध ही आत्मा को प्राप्त होता है। अतः शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर होता है।।१८६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यही भाव कलशा के द्वारा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति।।१२७।।

अर्थ– यदि यह आत्मा किसी तरह धारावाहीज्ञान के द्वारा निरन्तर शुद्ध आत्मा की उपलब्धि करता हुआ स्थित रहता है तो यह जो आत्मा में ही सब ओर से रमण कर रहा है तथा परपरिणति के रुक जाने के सो अत्यन्त शुद्ध है ऐसी आत्मा को ही प्राप्त होता है।

भावार्थ– यदि यह जीव बीच में ज्ञेयान्तर का व्यवधान न देकर निरन्तर शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करता रहता है तो उसकी रागादिरूप परिणति नियम से छूट जाती है और उसके छूट जाने पर वह निश्चल शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।।१२७।।

अब किस प्रकार संवर होता है? यह कहते हैं–

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि।।१८७।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं।।१८८।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।१८९।।

(त्रिकलम्)

अर्थ–जो आत्मा आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा को पुण्य और पापरूप दो योगों से रोक कर दर्शन-ज्ञान में स्थिर भाव को प्राप्त हो जाता है, अन्य पदार्थों में इच्छा का त्याग कर देता है, सब परिग्रह से मुक्त होकर आत्मा के द्वारा स्वीय आत्मा का ध्यान करता है, कर्म और नोकर्म को नहीं चिन्तता है, चेतयिता होकर गुण-गुणी के विभाग से रहित एक-अखण्ड आत्मा का ही चिन्तन करता है और आत्मा का ध्यान करता हुआ जो दर्शन-ज्ञान से तन्मय तथा रागादिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्यभावों से अतन्मय हो जाता है वह शीघ्र ही कर्मों से विमुक्त आत्मा को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ– निश्चय से जो आत्मा राग-द्वेष-मोहमूलक शुभ-अशुभ योगों में प्रवृत्ति करनेवाले अपने आत्मा को आत्मा के ही द्वारा दृढतर भेदविज्ञान के बल से अत्यन्त रोक कर शुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वरूप आत्मद्रव्य में प्रतिष्ठित करता है, समस्त परद्रव्यों की इच्छा का परित्याग कर समस्त परिग्रह से विमुक्त होता हुआ नित्य ही अत्यन्त निष्कम्प रहता है, कर्म-नोकर्म का किञ्चिन्मात्र भी स्पर्श न करता हुआ आत्मा के द्वारा स्वकीय आत्मा का ही ध्यान करता है और स्वयं सहज चेतक-ज्ञायक स्वभाव होने से एकत्व का ही चिन्तन करता है वह एकत्व के चिन्तन से अत्यन्त विविक्त चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा का ध्यान करता हुआ शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता है तथा शुद्धात्मा की प्राप्ति होने पर समस्त परद्रव्यों के साथ तन्मयपन का उल्लङ्घन करता हुआ शीघ्र ही सम्पूर्ण कर्मों से विमुक्त आत्मा को प्राप्त होता है, यही संवर का प्रकार है।।१८७।१८८।१८९।।

यही भाव कलशा में दिखाते हैं—

मालिनीछन्द

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः।।१२८।।

अर्थ–जो भेदविज्ञान की शक्ति से अपने आत्मस्वरूप की महिमा में रत हैं ऐसे ही पुरुषों को शुद्ध आत्मा का लाभ होता है तथा शुद्धात्मा के लाभ के अनन्तर जो अन्यद्रव्य से सर्वदा निस्पृह रहते हैं उन्हीं के कर्म का अक्षय मोक्ष होता है।।१२८।।

आगे किस क्रम से संवर होता है? यह कहते हैं–

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य।।१९०।।
हेउ अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो।।१९१।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कम्मसाभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ।।१९२।।

(त्रिकलम्)

अर्थ–सर्वज्ञ भगवान् ने उन पूर्व कथित राग-द्वेष-मोहभावों के कारण मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग— ये चार अध्यवसान कहे हैं। ज्ञानी जीव के इन हेतुओं के अभाव में नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है, आस्रवभाव के बिना कर्म का भी निरोध हो जाता है, कर्म के निरोध से नोकर्मों का भी निरोध हो जाता है और नोकर्मों के निरोध से संसार का निरोध अनायास हो जाता है।

विशेषार्थ–जीव के जब तक आत्मा और कर्म में एकत्व का अभिप्राय है तब तक उसके मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग इन चार अध्यवसान भावों की सत्ता है। ये अध्यवसानभाव ही रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव के कारण हैं, आस्रवभाव कर्म का कारण है, कर्म नोकर्म का मूल है और नोकर्म संसार का आदि कारण है। इस प्रकार यह आत्मा निरन्तर आत्मा और कर्म में अभिन्नता के निश्चय से मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग से तन्मय आत्मा का अध्यवसाय करता है, उस अध्यवसाय से रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव की भावना करता है और रागद्वेषमोहभावों को अपने मानने से इनके द्वारा कर्म का आस्रव होता है, कर्म से नोकर्म होता है, और नोकर्म से ससांर होता है। परन्तु जब आत्मा के आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान हो जाता है तब उसके बल से शुद्ध चैतन्य चमत्कारमय आत्मा की प्राप्ति होती है, आत्मा की प्राप्ति से मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगरूप, आस्रव के हेतुभूत अध्यवसानों का अभाव होता है, इनके अभाव से रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव का अभाव हो जाता है, इन आस्रवभावों के अभाव से कर्म का अभाव हो जाता है, कर्म का अभाव होने पर नोकर्म का अभाव होता है और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव हो जाता है। इस प्रकार यह संवर का क्रम है।।१९०।१९१।१९२।।

आगे कलशा द्वारा भेदविज्ञान की महिमा प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद् भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्।।१२९।।

अर्थ– निश्चय कर शुद्धात्मतत्त्व के उपलम्भ से साक्षात् संवर होता है और शुद्धात्मा का उपलम्भ भेदविज्ञान से होता है। इसलिये वह भेदविज्ञान निरन्तर भावना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करने योग्य है।।१२९।।

अब भेदविज्ञान कब तक भावने योग्य है? यह कहते हैं—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते।।१३०।।

अर्थ–यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न रूप से तब तक भावना करने योग्य है जब तक ज्ञान पर से च्युत होकर ज्ञान में स्थिर नहीं हो जाता।।१३०।।

अब भेदविज्ञान ही सिद्धपद की प्राप्ति का कारण है, यह कहते हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

अर्थ–जो कोई सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जो कोई इस संसार में बँधे हैं वे सब इसी भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं।।१३१।।

आगे संवर से कैसा ज्ञान प्राप्त होता है? यह कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भाद्
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत्।।१३२।।

अर्थ–भेदज्ञान की प्राप्ति से शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि हुई, शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से रागसमूह का प्रलय हुआ और रागसमूह के प्रलय से कर्मों का संवर हुआ तथा कर्मों के संवर से यह ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ जो कि परम संतोष को धारण कर रहा है, निर्मल प्रकाश से सहित है, कभी म्लान नहीं होता है, एक है, ज्ञान में स्थिर रहता है और नित्य ही उद्योतरूप रहता है।

भावार्थ–अनादिकाल से यह जीव अज्ञानवश नानाप्रकार के दुःखों से आकीर्ण संसार में भ्रमता हुआ आकुलता का पात्र रहता है। परन्तु जब इस जीव का संसार अल्प रह जाता है तब पहले इसे अज्ञान का अभाव होने से स्वपर का भेदज्ञान होता है, तदनन्तर उसी का निरन्तर अभ्यास करता है, पश्चात् उस दृढ़ अभ्यास की सामर्थ्य से शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है, अनन्तर उस शुद्ध आत्मा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के बल से रागादिक रूप विभावभावों के समुदाय का नाश हो जाता है और रागादिकों के नाश से कर्मों का बन्ध न होकर संवर होता है। तदनन्तर परम संतोष को धारण करने वाले ऐसे ज्ञान का उदय होता है जिसका प्रकाश अत्यन्त निर्मल है, जो अम्लान है, एक है, ज्ञान में ही स्थिर है, और नित्य उद्योत से सहित है। अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान में यह सब विशेषताएँ नहीं थीं, जो अब केवलज्ञान में प्रकट हुई हैं।।१३२।।

इस तरह संवर रंगभूमि से बाहर निकल गया।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृत में संवरतत्त्व का वर्णन करनेवाले पञ्चम अधिकार का प्रवचन पूर्ण हुआ।।५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६. निर्जराधिकार

अनन्तर निर्जरा का प्रवेश होता है–

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति।।१३३।।

अर्थ–उधर रागादिक आस्रवों के रुकने से निजधुरा को धारण कर उत्कृष्ट संवर, आगामी सभी कर्मों को अपने अतिशय से दूर से ही रोकता हुआ स्थित था, इधर अब पहले के बँधे हुए कर्मों को जलाने के लिये निर्जरारूप अग्नि विस्तार को प्राप्त हो रही है। इस तरह संवर और निर्जरा के द्वारा ज्ञानज्योति इस प्रकार प्रकट होती है कि जिससे वह रागादिक के द्वारा फिर से मूर्च्छित नहीं होती।

भावार्थ–राग-द्वेष आदिक आस्रव को रोककर जब संवर अपनी पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट होता है तब वह अपनी सामर्थ्य से आगामी कर्मों को दूर से रोक देता है अर्थात् संवर के होने पर आगामी कर्मों का आगमन रुक जाता है और पहले के बँधे हुए जो कर्म सत्ता में रहते हैं उन्हें नष्ट करने के लिये निर्जरा आगे आती है। इस तरह संवरपूर्वक निर्जरा के होने पर इस जीव के वह ज्ञानज्योति—वह वीतराग विज्ञानता प्रकट होती है कि जो फिर से रागादिक से मूर्च्छित नहीं होती।।१३३।।

आगे सम्यग्दृष्टि की सभी प्रवृत्तियाँ निर्जरा का निमित्त हैं, कहते हैं–

उपभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।१९३।।

अर्थ– सम्यग्दृष्टि चेतन और अचेतन पदार्थों का इन्द्रियों के द्वारा जो उपभोग करता है वह सब निर्जरा का ही कारण होता है।

विशेषार्थ– रागरहित मनुष्य का उपभोग निर्जरा के लिये ही होता है, और रागादिकभावों के सद्भाव से मिथ्यादृष्टि जीव के जो चेतन-अचेतन द्रव्यों का उपभोग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है वह बन्ध का ही निमित्त है। वही उपभोग रागादिकभावों का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा का ही निमित्त होता है। इस कथन से यहाँ द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा गया है।

सम्यग्दर्शन की महिमा बचन के अगम्य है, सम्यग्दर्शन होते ही गुणश्रेणी निर्जरा का प्रारम्भ हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा जो चेतन-अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है उसमें उसकी अन्तरंग से विरक्ति रहती है। चारित्रमोह के उदय की बलबत्ता से वह विषयों के उपभोग में प्रवृत्त होता है। पर अन्तरंग उसका उस ओर से विरक्त ही होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिजीव के कर्म, विपाकावस्था आने पर अपना फल देकर खिर तो जाते हैं, पर नवीन बन्ध के कारण नहीं बनते।।१९३।।

अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं–

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं वा दुक्खं वा।
तं सुह-दुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि।।१९४।।

अर्थ–परद्रव्य के उपभुक्त होने पर नियम से सुख और दुःख उत्पन्न होता है, उदय में आये हुए उस सुख और दुःख को यह जीव अनुभवता है, फिर आस्वाद देकर वह कर्मद्रव्यनिर्जरा को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ–जिस काल में परद्रव्य का उपभोग होता है उस काल में उसके निमित्त से साता अथवा असाता का अतिक्रमण न कर जीव के या तो सुखरूप वेदन होता है अथवा दुःखरूप वेदन होता है यह नियम है। जिस समय उसका वेदन होता है उस समय मिथ्यादृष्टि जीव के रागादिभावों का सद्भाव होने से बन्ध का निमित्त होकर निर्जीर्यमाण होकर भी अनिर्जीर्यमाण होता हुआ बन्ध ही होता है और वही वेदन सम्यग्दृष्टि जीव के रागादिक भावों का अभाव होने से बन्ध का निमित्त न होकर निर्जीर्यमाण होता हुआ निर्जरा को प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि परद्रव्य के उपभोग के समय सुख अथवा दुःख का होना अवश्यंभावी है। मिथ्यादृष्टि जीव रागादिक विकारीभावों के कारण उस सुख अथवा दुःखरूप परिणमन को आत्मा का स्वभाव जानकर आगामी नवीन बन्ध करता है। इसलिये उसका कर्म निर्जीर्यमाण होनेपर भी अनिर्जीर्यमाण जैसा रहता है। परन्तु सम्यग्दृष्टिजीव अनन्त संसार के कारणभूत रागादिक विकारीभावों का अभाव होने से उस सुख अथवा दुःखरूप परिणमन को आत्मा का स्वभाव नहीं समझता है, इसलिये उसका कर्म निर्जीर्यमाण होकर निर्जरा को ही प्राप्त होता है, आगामी बन्ध का कारण नहीं होता है। ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की इस महिमा का वर्णन कलशा द्वारा करते हैं—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ।।१३४।।

अर्थ–यह ज्ञान की ही सामर्थ्य है अथवा निश्चयकर वीतरागभाव की महिमा है कि कोई जीव (सम्यग्दृष्टिजीव) कर्म का उपभोग करता हुआ भी कर्मों के द्वारा नहीं बँधता है।।१३४।।

इसके अनन्तर ज्ञान का सामर्थ्य दिखाते हैं–

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ।।१९५।।

अर्थ–जिस प्रकार वैद्य विष का उपभोग करता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा पुद्गलकर्म के उदय को भोगता है तो भी कर्म से नहीं बँधता है।

विशेषार्थ–जैसे कोई विष-वैद्य, परके मरण का कारण जो विष है उसे खाता हुआ भी अमोघ विद्या के बल से विष की मारकत्व शक्ति के रोक देने से मरण को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार अज्ञानी जीवों के रागादिक भावों का सद्भाव होने से जो पुद्गलकर्म का उदय बन्ध का कारण है उसी का उपभोग करता हुआ ज्ञानी जीव, अमोघ ज्ञान के सामर्थ्य से रागादिक भावों का अभाव हो जाने पर बन्ध का सामर्थ्य रुक जाने से बन्ध को प्राप्त नहीं होता। केवल क्रिया बन्ध का कारण नहीं, जबतक रागादिक परिणाम न हों, तबतक वह स्थिति और अनुभाग बन्ध में निमित्त नहीं। जैसे बिच्छू का डंक निकल जाने के बाद उसका काटना विष का कारण नहीं होता।।१९५।।

अब वैराग्य का सामर्थ्य दिखाते हैं–

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव।।१९६।।

अर्थ– जैसे कोई पुरुष बिना रागभाव के मदिरा को पीता हुआ भी मतवाला नहीं होता। ऐसे ही ज्ञानी जीव अरतिभाव से द्रव्यों का उपभोग करता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता है।

विशेषार्थ–जिस प्रकार कोई पुरुष मदिरा के प्रति अत्यन्त अरत है अर्थात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मदिरापान में रुचि नहीं रखता है, कदाचित् किसी कारणवश वह मदिरा का पान भी करले, तो भी उसके मदिरापान की तीव्र अरुचि होने से वह मदिरा उसे मतवाला बनाने में असमर्थ रहती है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव परपदार्थ को किञ्चिन्मात्र भी नहीं भोगना चाहता, किन्तु संयमभाव का अभाव होने से सातादि पुण्य प्रकृतियों के उदय से प्राप्त उपभोग-सामग्री का भोग भी करता है, तो भी रागादिक भावों का अभाव होने से बँधता नहीं है—कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता है।।१९६।।

आगे कलशा द्वारा ज्ञानी विषयों का सेवक होने पर भी असेवक है, यह दिखाते हैं—

रथोद्धताछन्द

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवक:।।१३५।।

अर्थ– जिस कारण ज्ञानी पुरुष विषयों का सेवन होने पर भी विषय सेवन के अपने फल को नहीं प्राप्त होता है उस कारण ज्ञान के वैभव और वैराग्य के बल से वह विषयों का सेवन करनेवाला होकर भी सेवन करनेवाला नहीं कहा जाता।

भावार्थ–ज्ञानी मनुष्य विषयों का सेवन करने पर भी उसके फल को प्राप्त नहीं होता है। सो यह उसके ज्ञानवैभव और विरागता की ही अद्भुत सामर्थ्य है। इसी सामर्थ्य से वह विषयों का सेवक होकर भी असेवक ही कहा जाता है।

अब यही दिखाते हैं–

सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होई ।।१९७।।

अर्थ–कोई विषयों का सेवन करता हुआ भी नहीं सेवन करता है और कोई नहीं सेवन करता हुआ भी सेवन करता है। जैसे किसी मनुष्य के प्रकरण की चेष्टा तो है अर्थात् कार्य का व्यापार तो है परन्तु वह प्राकरणिक नहीं है—उस कार्य का कराने वाला स्वामी नहीं है।

विशेषार्थ–जिस प्रकार कोई पुरुष किसी विवाह आदि कार्यों में काम आदि तो करता है, परन्तु उसका स्वामी न होने से उसके फल का भोक्ता नहीं होता है और जो उस कार्य का स्वामी है वह उस कार्य के करने में अव्यापृत है, तो भी उसका स्वामी होने से फलभोक्ता है। उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव पूर्वकर्मोदय से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पन्न भोगों को भोगता हुआ भी रागादिक भावों के अभाव से विषयसेवन के फल का स्वामित्व न होने के कारण नहीं भोगनेवाला है और मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करता हुआ भी रागादिक भावों के सद्भाव से विषय सेवन के फल का स्वामित्व होने से सेवन करनेवाला है।।१९७।।

यही भाव कलशा में दरखाते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्।।१३६।।

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है। अतएव यह स्वकीय वस्तुस्वरूप का अभ्यास करने के लिए स्वीय रूप की प्राप्ति और पररूप के त्याग द्वारा वास्तव में यह मेरा स्व है और यह पर है, इस वृत्त को अच्छी तरह जानकर अपने स्वरूप में ठहरता है और परद्रव्यस्वरूप सब प्रकार के रागयोग से विरत होता है।

भावार्थ–सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य का होना अवश्यंभावी है, इसलिए ज्ञान के द्वारा वह सर्वप्रथम स्व और पर के भेदज्ञान को प्राप्त होता है अर्थात् उसे इस बात का अच्छी तरह निर्णय हो जाता है कि यह तो मेरा आत्मद्रव्य है और यह मुझमें परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुआ विकारी परिणमन है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही परद्रव्य हैं। परन्तु कर्म की विपाकदशा में जायमान जो रागादिक विकारी भाव हैं वे भी परद्रव्य ही हैं। मेरा स्वभाव तो शुद्ध चैतन्य है वही मेरा स्वद्रव्य है। भेदविज्ञान के द्वारा जब उसे इस प्रकार का निर्णय हो जाता है तब वैराग्यशक्ति की महिमा से वह शुभ-अशुभ सभी प्रकार के रागयोग से निवृत्त होकर अपना उपयोग अपने आपमें ही स्थिर कर लेता है।।१३६।।

सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य से स्व और पर को इस प्रकार जानता है–

उदयविवागो विवहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को।।१९८।।

अर्थ–कर्मों का उदयविपाक (उदयरस) जिनेश्वरदेव ने नाना प्रकार का कहा है। परन्तु वे कर्मविपाक मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायकस्वभावरूप हूँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– कर्मोदय के रस से जायमान जो ये नानाप्रकार के भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। मै तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाववाला हूँ।

सम्यग्दृष्टि जीव को ऐसी श्रद्धा होती है कि यह जो ज्ञायकभाव है वह तो मेरा स्व है और उसके साथ मिल रहे रागादिकभाव पर हैं।।१९८।।

सम्यग्दृष्टि जीव विशेषरूप से स्व और पर को इस प्रकार जानता है–

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को।।१९९।।

अर्थ–राग नाम का पुद्गलकर्म है। उसके विपाकोदय में यह रागपरिणाम आत्मा का होता है, सो यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो केवल ज्ञायकभाव रूप हूँ।

विशेषार्थ–निश्चय से रागनामक पुद्गलकर्म की प्रकृति है। उसका जब उदयकाल आता है तब आत्मा में रागभाव की उत्पत्ति होती है। किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है क्योंकि मैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव वाला हूँ। इसी प्रकार रागपद का परिवर्तन कर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, नेत्र, नासिका, जिह्वा और स्पर्शन इन सोलह सूत्रों की व्याख्या करनी चाहिये। इसी पद्धति से और भी ऊहापोह करना चाहिये। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता हुआ और पर को त्यागता हुआ नियम से ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है।।१९९।।

आगे यही भाव गाथा में प्रकट करते हैं–

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो।।२००।।

अर्थ– इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा को ज्ञायकस्वभाव जानता है और तत्त्व को जानता हुआ उदय को कर्मविपाक जानकर छोड़ता है।

विशेषार्थ–इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य और विशेषरूप के द्वारा परस्वभावरूप समस्तभावों से पृथक् टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव को ही आत्मा का तत्त्व जानता है और उस तरह तत्त्व को जानता हुआ स्वभाव के उपादान और परभाव के अपोहन (त्याग) से उत्पन्न हुए अपने वस्तुत्व का प्रसार करता हुआ कर्मोदय के विपाक से जायमान सभी भावों को छोड़ता है। इसलिए यह नियम से ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञायकस्वभाव को तो आत्मा का परिणमन जान ग्रहण करता है अर्थात् उसे उपादेय मानता है और कर्मों के उदय से जो रागादिक भाव होते हैं उन्हें पर जानकर उनका परित्याग करता है। पर वस्तु का परित्याग तब तक नहीं होता जब तक उसमें परत्व का निश्चय न हो जावे। सम्यग्दृष्टि जीव भेदविज्ञान के द्वारा स्व को स्व और पर को पर जानने लगता है। इसलिए वह स्व को ग्रहण करता है और पर का परित्याग करता है।।२००।।

अब जिन्हें आत्मा और अनात्मा का ज्ञान नहीं है वे सम्यग्दर्शन से शून्य हैं, यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः।।१३७।।

अर्थ– कोई जीव ऐसा विचार करे कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी बन्ध नहीं होता। इस तरह रागी होने पर भी अहंकार से प्रफुल्लित मुख को ऊपर उठाते हुए आचरण करें तथा समितियों के पालन में तत्परता का आश्रय लेवें तो आज भी वे पापी हैं, क्योंकि आत्मा और अनात्मा का ज्ञान न होने से वे सम्यक्त्व से शून्य हैं।

भावार्थ– कोई मनुष्य इस कथनी को सुनकर ऐसा विचार करे कि हम तो सम्यग्दृष्टि हैं, हमको बन्ध तो होना ही नहीं। अतः जो नाना प्रकार के स्वेच्छाचार में प्रवृत्ति कर आनन्द से जीवन बितावें, उसे आचार्य भगवान् कहते हैं कि तुम्हारी तो कथा ही दूर रही, जो महाव्रत तथा समितियों में सावधनी से प्रवृत्ति करते हैं, किन्तु निज-पर के ज्ञान से शून्य हैं, तो वे भी अभी पापजीव ही हैं।

शास्त्रों में सम्यग्दर्शन का मूल कारण स्व-पर का भेदविज्ञान बतलाया है। जब तक यह नहीं हो जाता है, तब तक यह जीव सम्यक्त्व से शून्य ही रहता है और सम्यक्त्व की शून्यता में महाव्रतों का आचरण और समितियों का पालन करता हुआ भी यह जीव पापजीव कहलाता है क्योंकि मिथ्यात्व ही सबसे महान् पाप है। जो जीव कर्मोदय से जायमान राग को आत्मद्रव्य मानता है उसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है और उसके न होने से वह सम्यक्तव से शून्य ही कहलाता है।।१३७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब रागी सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता है, यह दिखाते हैं–

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।।२०१।।
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।।२०२।।

(युग्मम्)

अर्थ–निश्चय से जिस जीव के रागादिक भावों का लेशमात्र भी अभिप्राय है अर्थात् अणुमात्र भी रागादिक में जिसके उपादेय बुद्धि है वह सम्पूर्ण आगम का ज्ञानी होकर भी आत्मा को नहीं जानता है और जो आत्मा को भी नहीं जानता है, वह अनात्मा को भी नहीं जानता है, इस तरह जो जीव और अजीव को नहीं जानता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ–जिसके रागादिक अज्ञानभावों का लेशमात्र भी सद्भाव विद्यमान है वह श्रुतकेवली के सदृश होकर भी ज्ञानमय भावों के अभाव से आत्मा को नहीं जानता है और जो आत्मा को नहीं जानता है वह अनात्मा को भी नहीं जानता है क्योंकि जीवादिक किसी भी द्रव्य का निश्चय स्वरूप की सत्ता और पररूप की असत्ता से होता है। अत: आत्मा की स्वरूप सत्ता का अज्ञानी अनात्मा का भी अज्ञानी है। इससे जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता है वह जीव-अजीव को भी नहीं जानता है और जो जीव-अजीव के भेदज्ञान से शून्य है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। इस तरह रागी जीव भेदज्ञान के अभाव से सम्यग्दृष्टि नहीं है।

यहाँ जो फलितरूप से सम्यग्दृष्टि जीव के परमाणुमात्र भी राग का अभाव बताया है सो उसका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि लेशमात्र राग को भी आत्मा का स्वभाव नहीं समझता और न उसे उपादेय मानता है। अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोह की प्रकृतियों के उदय से होनेवाला राग अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक के जीवों के यथासंभव विद्यमान रहता है, तो भी उन गुणस्थानों में रहनेवाले जीवों के सम्यक्त्व में बाधा नहीं है क्योंकि राग के रहते हुए भी वे राग को आत्मा का स्वभाव नहीं मानते हैं। रागी होते हुए राग को आत्मा का मानना जुदी बात है और रागी होते हुए भी राग को आत्मा का न मानना जुदी बात है। मिथ्यादृष्टि जीव रागी होता हुआ उस राग को आत्मा का ही परिणमन मानता है और सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोह के उदय की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बलवत्ता से रागी होता हुआ भी उस राग को आत्मा का परिणमन नहीं मानता।।२०१।२०२।।

अब कलशा द्वारा यह प्रकट करते हैं कि राग इस जीव का पद नहीं है किन्तु चैतन्य ही इसका पद है—

मन्द्राक्रान्ताछन्द

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति।।१३८।।

अर्थ–अनादि संसार से पद-पद पर नित्य मत्त हुए ये रागी प्राणी जिस पद में सो रहे है अर्थात् रमण कर रहे हैं वह आत्मा का पद नहीं है, पद नहीं है (दो बार कहने से आचार्य महाराज की अतिकरुणा सूचित होती है)। अरे अन्धे प्राणियों! जागो, यहाँ आओ, यहाँ आओ, यह तुम्हारा पद है, यह तुम्हारा पद है, जहाँ पर चैतन्यधातु शुद्ध है, शुद्ध है तथा स्वरस के भार से स्थायिभाव को प्राप्त हो रही है।

भावार्थ–यह प्राणी अनादिकाल से रागादिकों को अपना निजभाव मान रहा है। इसीसे उनकी सिद्धि के अर्थ परपदार्थों के संयोग-संग्रह और वियोग में अपना सर्वस्व लगा देता है और निरन्तर उन्हीं की रक्षा के लिये प्रयत्न करता है। उसे श्रीगुरु समझाते हैं—रे अन्ध! जिन वस्तुओं में तुम अपने स्वरूप को भूलकर मोहित हो रहे हो, यह तुम्हारा अज्ञानभाव है, अब अपने निजस्वरूप को जानो, जहाँ पर चेतना का पिण्ड, सर्व विकल्पजालों में रहित सुख और शान्ति से स्थायीपन को प्राप्त करता है वही तुम्हारा पद है।।१३८।।

आगे वह पद कौन है, यह कहते हैं–

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उपलब्भंतं सहावेण ।।२०३।।

अर्थ– आत्मा में परनिमित्त से जायमान अपदरूप जो द्रव्य कर्म और भावकर्म हैं, उन्हें त्यागकर स्वभाव से उपलभ्यमान, स्थिर तथा एकरूप इस चैतन्यभाव को, जिसतरह यह नियत है, उसी तरह ग्रहण करो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– निश्चय से इस भगवान् आत्मा में उपलब्ध बहुत से द्रव्यरूप तथा भावरूप भावों के मध्य में जो अतत्स्वभाव से उपलभ्यमान, अनियत अवस्था वाले, अनेक, क्षणिक तथा व्यभिचारी भाव हैं वे सभी स्वयं अस्थायी होने के कारण स्थाता, जो आत्मा है, उसके स्थान होने के लिये असमर्थ होने से अपदभूत हैं और जो तत्स्वभाव से उपलभ्यमान, नियत अवस्थावाला, एक नित्य तथा अव्यभिचारी भाव है वह एक ही स्वयं स्थायी होने के कारण स्थाता, जो आत्मा है, उसका स्थान होने के लिये समर्थ होने से पदभूत है। इसलिये सम्पूर्ण अस्थायी भावों को छोड़कर स्थायी भावभूत तथा परमार्थ रसरूप से आस्वाद में आता हुआ यह एक ज्ञान ही आस्वाद करने के योग्य है।।२०३।।

यही भाव कलशों में कहते हैं—

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः।। १३९।।

अर्थ–जो विपत्तियों का अपद है—अस्थान है, और जिसके आगे अन्य सब भाव अपद ही भासमान होते हैं वही एक पद आस्वाद करने के योग्य है।

भावार्थ–निश्चय से वह एक ज्ञानरूप पद आस्वाद करने के योग्य है क्योंकि वह सम्पूर्ण आपदाओं का अपद है तथा उसका आस्वाद आनेपर अन्य निखिल भाव अपद भासने लगते हैं। ऐसा नियम है कि नकली रूप रात्रि में ही चमत्कारजनक होता है किन्तु जहाँ सूर्य का उदय हुआ वहाँ ऊपरी चमक की सब आभा जाती रहती है।।१३९।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्।।१४०।।

अर्थ–जो एक ज्ञायकभाव से पूरित महास्वाद को प्राप्त हो रहा है, जो रागादिक से मिश्रित द्वन्द्वमय स्वाद का आस्वादन करने में असमर्थ है, जो अपनी वस्तुपरिणति को जानता है, तथा जो आत्मानुभव की महिमा से विवश हो रहा है, ऐसा यह आत्मा विशेष के उदय से रहित सामान्यभाव को प्राप्त समस्त ज्ञान की एकरूपता को प्राप्त कराता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ–जब यह आत्मा, आत्मद्रव्य की परिणति को जानने लगता है अर्थात् उसे जब ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है कि आत्मा की परिणति सदा आत्मरूप ही रहती है, अन्यरूप नहीं होती, तब वह रागादि से मिश्रित द्वन्द्वमय स्वाद को छोड़ देता है अर्थात् रागादिक को आत्मा से पृथक् समझता है, 'मैं एक ज्ञायक ही हूँ अर्थात् पदार्थों का जानना ही मेरा स्वभाव है, उनमें इष्टानिष्ट का विकल्प करना मेरा स्वभाव नहीं है' इस प्रकार एक ज्ञायकभाव का ही जब आस्वाद लेता है तथा आत्मानुभव की महिमा से विवश होकर अन्य पदार्थों के अनुभव की ओर जब इसका लक्ष्य नहीं जाता तब विशेषोदय से रहित सामान्यरूपता को प्राप्त जो ज्ञान है उसे एकरूप ही कर देता है अर्थात् ज्ञान के नानाविकल्पों को गौण कर देता है।।१४०।।

आगे ज्ञान की एकरूपता का ही समर्थन करते हैं–

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।

सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।।२०४।।

अर्थ–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब ज्ञान के भेद एक ही पदरूप होते हैं अर्थात् सामान्यरूप से एक ज्ञान ही है। यह सामान्य ज्ञान ही परमार्थ है, जिसे प्राप्त कर जीव निर्वाण को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ–निश्चय से आत्मा परमार्थ है और वह ज्ञानस्वरूप ही है। आत्मा एक ही पदार्थ है, इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है और जो ज्ञाननामा एक पद है वही परमार्थ है और वही मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसके जो मतिज्ञानादिक पाँच भेद हैं वे इस लोक में ज्ञानरूपी एकपद का भेद न करने में समर्थ नहीं हैं किन्तु उसी एक पद का समर्थन करते हैं। जिस प्रकार इस संसार में मेघपटल से आच्छादित सूर्य, उस मेघपटल का क्रम-क्रम से विघटन होने पर जब प्रकटरूपता को प्राप्त होता है और उस समय उसके जो हीनाधिक प्रकाश के भेद प्रकट होते हैं वे सूर्य के प्रकाशस्वभाव का भेदन नहीं करते। तात्पर्य यह है कि जब मेघपटल से सूर्य आच्छादित हो जाता है तब उसका प्रकाश मेघपटलों से व्यक्त नहीं होता और जैसे-जैसे मेघपटल दूर हो जाते हैं वैसे-वैसे उसका प्रकाश व्यक्त होता जाता है। उन प्रकाशों के द्वारा सूर्य के प्रकाशस्वभाव की वृद्धि ही होती है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वभाव वाला है। परन्तु अनादिकाल से ही कर्मपटल से आच्छिन्न होने के कारण उसका वह स्वभाव व्यक्त नहीं होता। जैसे-जैसे कर्मपटल का अभाव होता जाता है वैसे-वैसे आत्मा के ज्ञान-दर्शनगुणों का विकास होता जाता है, वे विकासरूप ज्ञान-दर्शन, आत्मा के ज्ञानस्वभाव का भेदन नहीं करते, किन्तु उसी का अभिनन्दन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं। इसलिये समस्त अवान्तर भेदों से रहित आत्मा का स्वभावभूत जो एक ज्ञान है उसी का आलम्बन लेना चाहिये। उसी के आलम्बन से पद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति नष्ट होती है, आत्मलाभ होता है और अनात्मा का परिहार होता है, उसके होने पर कर्म वृद्धि को प्राप्त नहीं होते, राग-द्वेष मोह उपद्रव नहीं करते, फिर कर्म का आस्रव नहीं होता, आस्रव के अभाव में कर्मबन्ध नहीं होता, पूर्व का बँधा हुआ कर्म अपना रस देकर निर्जीर्ण हो जाता है और इस रीति से सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष हो जाता है।।२०४।।

आगे इसी भाव को कलशा में प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयः
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः।।१४१।।

अर्थ—जिसकी ये अतिशय निर्मल, संवेदन-व्यक्तियाँ-ज्ञान की अवान्तर विशेषताएँ अपने आप उछल रही हैं और इस तरह उछल रही हैं मानो अतिशयरूप से पिये हुए समस्त पदार्थों के समूहरूप रस के बहुत भारी बोझ से मतवाली ही हो रही हों, जो एक अभिन्न रस का धारक है, तथा अनेक आश्चर्यों की निधि है, ऐसा यह भगवान् चैतन्यरूपी रत्नाकर—आत्मारूपी समुद्र, एक होकर भी अनेक रूप होता हुआ ज्ञान के विकल्परूप तरंगों से चञ्चल हो रहा है।

भावार्थ—यहाँ आत्मा को रत्नाकर अर्थात् समुद्र की उपमा दी है। सो जिस प्रकार समुद्र में अत्यन्त निर्मल लहरें स्वयमेव उछलती हैं उसी प्रकार इस आत्मा में भी ज्ञान के विकल्परूप अनेक लहरें स्वयमेव उठ रही हैं। ज्ञान के ये विकल्प अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अनेक पदार्थों के समूह को जानते हैं। जिसप्रकार समुद्र अभिन्नरस अर्थात् जल से तन्मय होता है उसीप्रकार यह आत्मा अभिन्नरस अर्थात् ज्ञान से तन्मय है। जिसप्रकार समुद्र अनेक आश्चर्यों का भाण्डार है उसी प्रकार यह आत्मा भी अनेक आश्चर्यों का भण्डार है और जिसप्रकार समुद्र सामान्यरूप से एक होकर भी तरंगों के कारण अनेकरूप दिखाई देता है उसीप्रकार यह ज्ञानरूप आत्मा भी सामान्यरूप से एक होकर भी अनेकरूप जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानरूप आत्मा परमार्थ से एक है। परन्तु मतिज्ञानादि के विकल्प से अनेकरूप भासमान होता है।।१४१।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे कलशा द्वारा कहते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति ज्ञानगुण के बिना दुर्लभ है—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः-
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि।।१४२।।

अर्थ– मोक्ष के उद्देश्य से किये हुए अत्यन्त कठिन कार्यों के द्वारा कोई स्वयं ही क्लेश उठावे, तो भले ही उठावे, अथवा महाव्रत और तप के भार से पीड़ित हुए अन्य लोग चिरकाल तक क्लेश सहन करें, तो भले ही करें। परन्तु साक्षात् मोक्षरूप निरामयपद-निरुपद्रव स्थान तो यह ज्ञान ही है, इसका स्वयं स्वसंवेदन हो रहा है, यह स्वयं अनुभव में आ रहा है। ऐसे इस ज्ञानरूप पद को ज्ञानगुण के बिना प्राप्त करने के लिये कोई किसी भी तरह समर्थ नहीं है।

यहाँ पर ज्ञानगुण को प्रधानता देकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा गया है। इसका यह तात्पर्य ग्राह्य नहीं है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मोक्ष के लिये आवश्यक नहीं हैं। भेदविवक्षा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मोक्ष-प्राप्ति के अंग है। परन्तु यहाँ पर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को ज्ञान में गतार्थ कर दिया है। ज्ञान की जो दृढ़ता है वही सम्यग्दर्शन है और ज्ञान में कषायोदय के कारण जो चंचलता आती थी उसका अभाव हो जाना सम्यक्चारित्र है।।१४२।।

आगे यही भाव गाथा में दिखाते हैं–

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहू वि ण लहंति ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ।।२०५।।

अर्थ–हे भव्य! यदि तुम सब ओर से कर्मों से छुटकारा चाहते हो, तो उस निश्चित ज्ञान को ग्रहण करो, क्योंकि ज्ञानगुण से रहित अनेकों प्राणी इस पद को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

विशेषार्थ–यत: कर्म में ज्ञान का प्रकाश नहीं है, अत: निखिल कर्म के द्वारा ज्ञान की उपलब्धि असंभव है। ज्ञान में ज्ञान का प्रकाश है, अत: केवल ज्ञान के द्वारा ही ज्ञान का लाभ होता है। इसी कारण से अनेक पुरुष ज्ञानशून्य होकर अनेक प्रकार के कर्मों द्वारा इस ज्ञानरूप निरामय पद को नहीं पा सकते हैं और इसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अलाभ में वे मनुष्य कर्मों से नहीं छूट सकते हैं। इसलिये जो मनुष्य कर्मों से छूटने की इच्छा करते हैं उन्हें मात्र ज्ञान के आलम्बन से इस निश्चित पद को प्राप्त करना चाहिये।।२०५।।

आगे यही भाव कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

द्रुतविलम्बितछन्द

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं
सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्
कलयितुं यततां सततं जगत् ।।१४३।।

अर्थ–यह पद निश्चय ही कर्म के द्वारा दुष्प्राप्य है और सहजबोध कला-स्वाभाविकज्ञानकला से सुलभ है। इसलिये जगत् इस ज्ञानपद को सहजज्ञान-कला के बल प्राप्त करने का निरन्तर यत्न करे।

भावार्थ–यह ज्ञानरूप आत्मपद केवल क्रियाकाण्ड से सुलभ नहीं है किन्तु स्वाभाविक ज्ञान की कला से सुलभ है। यहाँ ज्ञान के साथ 'सहज' विशेषण दिया है। उससे यह सिद्ध होता है कि मात्र द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं है, क्योंकि ग्यारह अंग और नौ पूर्वका पाठी होकर भी यह जीव अनन्त संसार का पात्र बना रहता है। यहां आवश्यकता मोहजन्य विकार से रहित आत्मज्ञान की है। प्रारम्भ में वह आत्मज्ञान क्षायोपशमिक अवस्था में कलारूप ही होता है। परन्तु वह कलारूप आत्मज्ञान भी इस नीव को अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर केवलज्ञान प्राप्त कराने की सामर्थ्य रखता है। जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया वह नियम से अन्तर्मूहूर्त में या अधिक-से-अधिक देशोन कोटिवर्ष पूर्व में समस्त कर्मों से मोक्ष को प्राप्त करता है।।१४३।।

यही बात फिर भी कहते हैं–

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।२०६।।

अर्थ–इस ज्ञान में ही नित्य रत होओ, इसी ज्ञान में नित्य संतुष्ट होओ, इसी ज्ञान से तृप्त होओ, ऐसा करने से ही तुझे उत्तम सुख होगा।

विशेषार्थ–जितना ज्ञान है उतना ही तो आत्मा है अर्थात् ज्ञानादिगुणों का अविष्वग्भावरूप जो विलक्षण सम्बन्ध है वही आत्मा है, इस प्रकार निश्चय कर शुद्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान में ही रति को प्राप्त होओ, क्योंकि इतना ही कल्याण है, इससे भिन्न और कल्याण कोई वस्तु नहीं। ज्ञाता-द्रष्टा ही आत्मा है, जहाँ ज्ञान केवल परपदार्थ को जानता है, रागादिक औपाधिकभाव रूप नहीं परिणमता, यही तो सम्यक्चारित्र है। अत: आचार्यों का कहना है कि ज्ञान का ज्ञानरूप रहना ही तो कल्याण है, अतिरिक्त कल्याण की कल्पना करना मोहजभाव है, ऐसा निश्चयकर शुद्धज्ञान के द्वारा ही नित्य संतोष को प्राप्त होओ। और जितना ज्ञान है उतना ही सत्य अनुभव है अर्थात् ज्ञेयभिन्न शुद्धज्ञान में जो ज्ञान का अनुभवन है वही तो ज्ञान का निजरूप है—ऐसा निश्चयकर ज्ञानमात्र से ही नित्य तृप्ति को प्राप्त करो। इस प्रकार जो आत्मा अपने आप में रत होगा, अपने में ही तृप्त होगा और आत्मा में ही संतुष्ट होगा, उसके जो सुख होगा वह वचन के अगोचर होगा। वह सुख जिस क्षण में होगा उसको यह आत्मा स्वयमेव देखेगा, अन्य से पूछने की आवश्यकता नहीं।।२०६।।

यही बात श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा में कहते हैं—

उपजातिछन्द

अचिन्त्यशक्ति: स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण?।।१४४।।

अर्थ–वह आत्मदेव स्वयमेव अचिन्त्य शक्ति वाला है, चिन्मात्र चिन्तामणि है, उसके सर्व अर्थ की सिद्धि स्वयं होती है अत: ऐसे ज्ञानी पुरुष को अन्य परिग्रह के ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है।।१४४।।

अब यहाँ पर कोई आशंका करता है कि ज्ञानी पर को ग्रहण क्यों नहीं करता? इसी का उत्तर नीचे गाथा में देते हैं–

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो।।२०७।।

अर्थ–जो नियम से आत्मा को ही आत्मा का परिग्रह जान रहा है ऐसा कौन ज्ञानी पण्डित कह सकता है कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है?

विशेषार्थ–क्योंकि ज्ञानी पुरुष नियम से ऐसा जानता है कि जिसका जो आत्मीय असाधारण स्वरूप है वही उसका स्व है और वह उसका स्वामी है। इस प्रकार तीक्ष्णतरदृष्टि के अवलम्बन से आत्मा ही आत्मा का परिग्रह है। इसलिये यह जो परकीय वस्तु है वह मेरा स्व नहीं है और न मैं उसका स्वामी हूँ। यही कारण है कि ज्ञानी आत्मा परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता है। संसार में यह नियम है कि जो चतुर, विज्ञ तथा भद्र मनुष्य हैं वे परपदार्थ को न तो अपना जानते ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं और न उसे स्वीकार ही करते हैं। इसी पद्धति का अनुसारण करके सम्यग्ज्ञानी जीव अपने निज स्वभाव को ही स्वकीय धन जानते हैं और उसी को ग्रहण करते हैं। परपदार्थ को अपना धन नहीं मानते हैं और न उसको ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। यही मुख्य हेतु है कि षट्खण्डाधिपति होकर भी वे अणुमात्र भी उसमें अपना नहीं मानते, इसीसे निरन्तर कमलपत्र की तरह अलिप्त रहते हैं।।२०७।।

आगे इसी अर्थ को युक्ति से दृढ़ करते हैं–

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ।।२०८।।

अर्थ–यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह हो जावे, तो मैं अजीवनपन को प्राप्त हो जाऊँ, क्योंकि मैं तो ज्ञानी हूँ, इसलिये परिग्रह मेरा नहीं है।

विशेषार्थ–यदि मैं परद्रव्य रूप अजीव को ग्रहण करूँ तो निश्चय ही यह अजीव मेरा स्वीय धन हो जावे और मैं इस अजीव का निश्चय से स्वामी हो जाऊँ। परन्तु ऐसा होता नहीं, यदि ऐसा होने लगे, तो वस्तु की मर्यादा का ही लोप हो जावेगा, और यह इष्ट नहीं। अत: जो अजीव का स्वामी है वह निश्चय से अजीव ही है, यदि मैं अजीव का स्वामी हो जाऊँ तो निश्चय से मेरे अजीवपन आ जावेगा, परन्तु मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही है, वही मेरा स्वीय धन है और इसी एक ज्ञायकभाव का मैं स्वामी हूँ। इसलिये मेरे अजीवनपन न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, अत: परद्रव्य को नहीं ग्रहण करता हूँ, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।।२०८।।

आगे इसी अर्थ को और भी दृढ़ करते हैं–

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ।।२०९।।

अर्थ–ज्ञानी जीव के ऐसा दृढ़ निश्चय है कि परिग्रह छिद जावे, भिद जावे, अथवा कोई उसे ले जावे अथवा वह नष्ट हो जावे अथवा जिस किसी तरह से चला जावे, तो भी परिग्रह मेरा नहीं है।

विशेषार्थ–जब सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर चुका कि परवस्तु हमारी नहीं है तब उसकी कुछ भी अवस्था हो, उससे हमें क्या प्रयोजन है? वह छिद जावे अथवा भिद जावे अथवा चली जावे अथवा नष्ट हो जावे, अथवा जिस किसी अवस्था को प्राप्त होवे, उसमें मेरा अणुमात्र भी नहीं है, अतएव मैं परिग्रह को नहीं ग्रहण करता हूँ, क्योंकि परद्रव्य मेरा स्वीय धन नहीं है, इसीसे मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, परद्रव्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही परद्रव्य का आत्मीय धन है और परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है, मेरा जो स्व है वह मैं ही हूँ और अपना स्वामी मैं स्वयं आप हूँ। इस प्रकार यह ज्ञानी आत्मा जानता है।।२०९।।

अब यही भाव कलशा में प्रकट कते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः।।१४५।।

अर्थ—इस प्रकार सामान्यरूप से समस्त परिग्रह का त्याग कर अपने और पर के अविवेक का कारण जो अज्ञान है उसे त्याग करने का जिसका अभिप्राय है, ऐसा यह ज्ञानी विशेषरूप से परिग्रह के त्याग करने में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानी जीव सामान्यरूप से सभी परिग्रह का त्यागकर धर्म, अधर्म भाव तथा भोजन पान आदि विशिष्ट परिग्रह के त्याग करने के लिये प्रवृत्त होता है, क्योंकि अज्ञानदशा में वह निज और परको एक समझता रहा है। परन्तु ज्यों ही ज्ञानी दशा प्रकट होती है त्यों ही इसे अनुभव होने लगता है कि एक ज्ञायकभाव ही मेरा है। उसके सिवाय अन्य समस्त द्रव्य मेरे नहीं हैं। अतः उसमें स्वीय बुद्धि का त्याग करना ही कल्याण करनेवाला है।।१४५।।

अब कहते हैं कि ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई।।२१०।।

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रह से रहित है। अतएव उसके परिग्रह की इच्छा भी नहीं है, इसीसे वह धर्म को नहीं चाहता है। जिस कारण उसके धर्म का परिग्रह नहीं है तिस कारण वह धर्म का मात्र ज्ञाता है।

विशेषार्थ—इच्छा का अर्थ परिग्रह है अर्थात् इच्छा ही परिग्रह है। जिस जीव के इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमयभाव है और ज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव का अभाव है। ज्ञानी जीव के तो ज्ञानमय ही भाव होता है। ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावरूप इच्छा के असद्भाव से धर्म की इच्छा नहीं करता है, इसी हेतु से ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से यह धर्म का केवल ज्ञायक ही है।

इच्छा और परिग्रह का अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ इच्छा है वहीं परिग्रह का सद्भाव है। इच्छा मोहकर्म के उदय से जायमान होने के कारण अज्ञानमयभाव है, इसलिये स्वसंवेदनज्ञानी जीव शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म को छोड़कर शुभोपयोगरूप धर्म—अर्थात् पुण्य की इच्छा नहीं करता। यद्यपि अपने पद के अनुकूल ज्ञानी जीव के पुण्यरूप परिणाम होते हैं तो भी 'यह पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसा निश्चय होने से वह पुण्य से तन्मय नहीं होता। जिस प्रकार कोई दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब का ज्ञायक होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव अपने आत्मा में आये हुए पुण्य-परिणाम का ज्ञायक ही होता है, पुण्यपरिणामरूप अपने आप को नहीं मानता है।।२१०।।

आगे ज्ञानी के इसी प्रकार धर्म का भी परिग्रह नहीं है, यह कहते हैं–

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२११।।

अर्थ–ज्ञानी जीव इच्छा रहित है, अत: परपदार्थ के परिग्रह से रहित है, ऐसा कहा गया है, इसीसे ज्ञानी जीव अधर्म की इच्छा नहीं करता। यही कारण है कि ज्ञानी जीव के अधर्म का परिग्रह नहीं है। वह तो केवल उसका ज्ञाता है।

विशेषार्थ–इच्छा है वह परिग्रह है, जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं है, ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव होता है। इसीसे ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावात्मक इच्छा के अभाव से अधर्म को नहीं चाहता है। इसीलिये ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव से यह केवल अधर्म का ज्ञायक है। इसी पद्धति से अधर्म पद को परिवर्तित कर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रवण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन— ये सोलह पद रखकर सोलह सूत्रों की व्याख्या करनी चाहिये।

यहाँ विषय-कषायरूप पाप-परिणाम को अधर्म कहा गया है। ज्ञानी जीव जब धर्म को अपना स्वीय परिणाम नहीं मानता, तब अधर्म को स्वीय परिणाम कैसे मान सकता है? यद्यपि ज्ञानी जीव के भी चतुर्थ-पञ्चम गुणस्थान में विषय-कषायरूप परिणाम होते हैं परन्तु वह उन्हें 'ये परिणाम मेरे हैं' ऐसा नहीं मानता। उसकी श्रद्धा है कि चारित्रमोह के उदय से जो ये विकारीभाव उत्पन्न हो रहे हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। जैसे दर्पण, प्रतिबिम्ब से तन्मय दिखता हुआ भी वास्तव में उससे तन्मय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा इन विकारीभावों से तन्मय दिखता हुआ भी वास्तव में उनसे तन्मय नहीं है। अतएव जिस प्रकार कोई दर्पण के प्रतिबिम्ब का ज्ञाता होता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव इस अधर्म परिणाम का ज्ञाता होता है।।२११।।

आगे ज्ञानी के आहार का भी परिग्रह नहीं है, यह कहते हैं–

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो य णिच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२१२।।

अर्थ–जो इच्छावान् नहीं है वही परिग्रह से रहित कहा गया है। ज्ञानी भोजन को नहीं चाहता है, इसलिये उसके भोजन का परिग्रह नहीं है, यही कारण है कि ज्ञानी महात्मा भोजन का ज्ञायक है।

विशेषार्थ–इच्छा का अर्थ परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के होता नहीं हैं, ज्ञानी के तो एक ज्ञानमय ही भाव होता है, इसीसे ज्ञानी आत्मा अज्ञानमय भावरूप इच्छा का अभाव होने के कारण आहार की इच्छा नहीं करता, इसलिये ज्ञानी के अशन (आहार का) परिग्रह नहीं है। ज्ञानात्मक ज्ञायकभाव का सद्भाव होने से यह ज्ञानी केवल ज्ञायक ही होता है।

यद्यपि ज्ञानी जीव की छठवें गुणस्थान तक शरीर की स्थिरता के लिये आहार में प्रवृत्ति होती है, तो भी वह आहार को आत्मा का स्वभाव नहीं मानता, इसलिये आहार करता हुआ भी आहार के परिग्रह से रहित है, वह केवल आहार का ज्ञायक ही होता है।।२१२।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी के पान का भी परिग्रह नहीं है–

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२१३।।

अर्थ–इच्छारहित ही परिग्रह रहित कहा गया है, ज्ञानी जीव पान की इच्छा नहीं करता है, इसलिये उसके पान का परिग्रह नहीं है, वह तो पान का ज्ञाता ही है।

विशेषार्थ–इच्छा ही परिग्रह है। जिस पवित्र आत्मा के इच्छा नहीं है उसके परिग्रह का अभाव है। इच्छा अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी आत्मा के होता नहीं है, ज्ञानी के एक ज्ञानमय भाव का ही सद्भाव है, इसलिये ज्ञानी जीव अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से पान की इच्छा नहीं करता है, इसीसे उस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीव के पान का परिग्रह नहीं है। उसके तो एक ज्ञानमय ज्ञायक भाव ही है। अतः वह केवल पान का ज्ञायक है।

यद्यपि आहार की तरह पान में भी प्रवृत्ति छठवें गुणस्थान तक होती है तो भी ज्ञानी जीव उसे आत्मा का स्वभाव नहीं मानता। असाता वेदनीय की उदीरणा से प्रेरित होकर शरीर की स्थिरता के लिये ज्ञानी जीव यद्यपि आहार और पान को ग्रहण करता है तो भी तद्विषयक इच्छा का अभाव होने से वह पान के परिग्रह से रहित है वह केवल पान का ज्ञायक ही होता है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव इसी तरह अन्य भावों की भी इच्छा नहीं करता है–

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ।।२१४।।

अर्थ–इनको आदि लेकर और भी जो विविध प्रकार के सर्व भाव हैं ज्ञानी जीव उनकी इच्छा नहीं करता है। अतएव निश्चय से उसके ज्ञायकभाव ही है, अन्य सब विषयों में तो वह उसके निरालम्ब है।

विशेषार्थ–इस प्रकार इन भावों के अतिरिक्त अन्य भी जो अनेक प्रकार के परद्रव्य सम्बन्धी भाव हैं ज्ञानी जीव उन सबकी इच्छा नहीं करता, इसलिये ज्ञानी जीव के परद्रव्य सम्बन्धी सभी भावों का परिग्रह नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी जीव के अत्यन्त निष्परिग्रहपन सिद्ध होता है। इस तरह आत्मातिरिक्त निखिल पदार्थों के परिग्रह का अभाव होने से जिसने समस्त अज्ञानभाव को उगल दिया है, ऐसा ज्ञानी जीव सभी पदार्थों में अत्यन्त निरालम्ब होकर प्रतिनियत एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव का धारक होता हुआ साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का ही अनुभव करता है।।२१४।।

अब यही भाव कलशा में प्रकट करते हैं—

स्वागताछन्द

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम्।।१४६।।

अर्थ–पूर्वबद्ध निजकर्म के विपाक से यद्यपि ज्ञानी जीव के परपदार्थों का उपभोग होता है तथापि राग के वियोग से वह उपभोग परिग्रहपन को नहीं प्राप्त होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ–अज्ञानावस्था में बाँधे हुए कर्मों का उदय तीव्र, मन्द या मध्यमरूप से ज्ञानी जीव के भी होता है और उस उदयानुसार ज्ञानी जीव के नाना भाव भी होते हैं। परन्तु वह उन भावों को आत्मा का स्वभाव नहीं मानता, इसलिये वे परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होते।।१४६।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी के त्रिकाल सम्बन्धी उपभोग का परिग्रह नहीं है–

उप्पण्णोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।

कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी।।२१५।।

अर्थ–ज्ञानी जीव के वर्तमान में कर्मविपाक से जो भोग प्राप्त हुआ है वह निरन्तर वियोगबुद्धि से ही प्रवर्तता है अर्थात् उसका उपभोग करते हुए भी ज्ञानी जीव का सदा ऐसा अभिप्राय रहता है कि यह आपत्ति कब पृथक् हो और अनागत (भविष्य) काल में होने वाले उदय की आकांक्षा ज्ञानी नहीं करता है। इसतरह वर्तमान और भविष्यत् काल सम्बन्धी उपभोग का परिग्रह ज्ञानी के नहीं है तथा अतीतकाल सम्बन्धी उपभोग का परिग्रह अतीत हो जाने के कारण अभावरूप है ही। इस प्रकार ज्ञानी जीव त्रिकाल सम्बन्धी उपभोग के परिग्रह से रहित है।

विशेषार्थ–कर्म के उदय से जो उपभोग प्राप्त होता है वह अतीत, वर्तमान और अनागत के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें जो अतीत है वह तो अतीत हो जाने के कारण ही परिग्रह भाव को नहीं धारण करता है और अनागत भोग आकांक्षा करने से ही परिग्रह भाव को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं, सो ज्ञानी जीव के अनागत—आगामी भोग की इच्छा नहीं है। इसलिये वह भी परिग्रह भाव को नहीं प्राप्त होता है। तथा वर्तमान में जो उपभोग प्राप्त है उसे अन्तरंग से भोगना नहीं चाहता है अर्थात् उससे निरन्तर विरक्तबुद्धि रहता है, क्योंकि ज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव का अभाव है। अत: वर्तमान उपभोग उसके परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता है। अनागत भोग की ज्ञानी के इच्छा ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानी जीव के अज्ञानमयभावरूप इच्छा का अभाव है इसलिये अनागतकर्म के उदय का उपभोग भी ज्ञानी के परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता है।।२१५।।

आगे ज्ञानी भविष्यत् काल में होनेवाले भोग को क्यों नहीं चाहता है? इसका उत्तर कहते हैं–

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं।

तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखइ कया वि।।२१६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–जो भाव अनुभव करता है उसे वेदकभाव कहते हैं और जो अनुभव करने योग्य है उसे वेद्यभाव कहते हैं। यह दोनों भाव क्रम से होते हैं, एक समय में नहीं होते अर्थात् जिस काल में वेदकभाव है उस काल में वेद्यभाव नहीं है और जिस काल में वेद्यभाव है उस काल में वेदकभाव नहीं है अर्थात् दोनों ही समय-समय में नष्ट हो जाते हैं। उन्हें जाननेवाला ज्ञानी जीव कदापि दोनों को भी नहीं चाहता है।

विशेषार्थ–ज्ञानी जीव स्वभाव भाव के ध्रुवपन से नित्य ही टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है और वेद्यवेदकभाव उत्पन्न तथा विनाशस्वभावपन से अनित्य हैं। इन दोनों में जो भाव आकांक्षा करता है कि मैं इच्छा में आये हुए भाव का वेदन करूँगा। सो जबतक वेदन करनेवाला वेदकभाव होता है उसको पहले जिस भाव का वेदन करना चाहता था, वह वेद्यभाव विलय को प्राप्त हो जाता है, उसके विलीन होने से वेदकभाव किसको वेदे? कदाचित् कहो कि वेदकभाव के पश्चात् होनेवाला जो वेद्यभाव है उसे वेदे, सो जबतक आकांक्षा का विषय वेद्यभाव उत्पन्न होता है तबतक यह वेदकभाव नष्ट हो जाता है कौन वेदे? कदाचित् वेद्यभाव के पश्चात् होनेवाला वेदकभाव उसे वेदन करेगा सो जबतक वेदन करनेवाला वेदकभाव होगा तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जावेगा। इसप्रकार अनवस्थिति होने से अभीष्ट की सिद्धि होना असंभव है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव उभयभाव की अभिलाषा से शून्य हैं।।२१६।।

यही भाव कलशा में दिखाते हैं—

स्वागताच्छन्द

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति।।१४७।।

अर्थ–वेद्य और वेदकभाव दोनों ही क्षणिक हैं। इसीसे जो कांक्षित भाव है वह कदापि वेदने में नहीं आता, इसीलिये ज्ञानी जीव कुछ भी आकांक्षा नहीं करता, प्रत्युत सर्वभावों से विरक्तिभाव को प्राप्त होता है।

भावार्थ–परमार्थ से यह जीव बाह्य भोग-उपभोग का अनुभव नहीं करता है, किन्तु भोग-उपभोग की आकांक्षा करनेवाले आत्मपरिणाम का ही अनुभव करता है। इस स्थिति में आत्मा ही वेद्य है और आत्मा ही वेदक है। आत्मा जिस भाव का वेदन करता है वह वेद्य कहलाता है और जो भाव अनुभव करता है वह वेदक कहलाता है। आत्मा का यह वेद्यवेदकभाव क्रमवर्ती है अर्थात् जिस समय वेद्यभाव होता है उस समय वेदकभाव नहीं होता और जिस समय वेदकभाव होता है उस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय वेद्यभाव नहीं होता। यह वेद्यवेदकभाव कर्मोदय से जायमान होने के कारण आत्मा का विभाव कहलाता है, स्वभाव नहीं। विभाव होने से वह क्षणभङ्गुर है। अत: आत्मा का वेदकभाव जिस वेद्यभाव की इच्छा करता है वह क्षणभङ्गुर होने से वेदन करने में नहीं आता। जब वेदन करने में नहीं आता तब ज्ञानी जीव उसकी इच्छा ही क्यों करेगा? वह तो सब ओर से विरक्ति को ही प्राप्त होता है।।१४७।।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव के भोग-उपभोग में राग नहीं होता है–

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो।।२१७।।

अर्थ–बन्ध और उपभोग के निमित्त जो अध्यवसान के उदय हैं वे सब संसारविषयक तथा देहविषयक हैं उनमें ज्ञानी जीव के राग नहीं होता है।

विशेषार्थ–इस लोक में निश्चय से जो अध्यवसान के उदय हैं उनमें कितने तो ऐसे हैं जिनका विषय संसार है और कितने ही ऐसे हैं जिनका विषय शरीर है। जितने संसारविषयक हैं वे बन्ध के निमित्त हैं और जितने शरीरविषयक हैं वे उपभोग के निमित्त हैं। जो बन्ध के निमित्त हैं वे राग-द्वेष-मोह आदिक हैं और जो उपभोग के निमित्त हैं वे सुख-दु:ख आदिक हैं। इन सभी भावों में ज्ञानी जीव के राग नहीं होता है क्योंकि ये सभी भाव नानापरद्रव्यों के सम्बन्ध से जन्य हैं और ज्ञानी जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव वाला है। अतएव ज्ञानी जीव के साथ उनका सम्बन्ध नहीं बन सकता है।

मोहनीयकर्म के उदय से जो मोह-राग-द्वेष तथा हर्षविषादादिक भाव होते हैं उन्हें अध्यवसानभाव कहते हैं। इन अध्यवसानभावों में जो मोह-राग-द्वेष भाव हैं वे संसारविषयक हैं अर्थात् इन्हीं भावों का निमित्त पाकर आत्मा की संसृति-परम्परा होती है और यही भाव आगामीकर्मबन्ध में निमित्त पड़ते हैं तथा जो हर्ष-विषादादिक भाव हैं वे शरीरविषयक हैं और उपभोग के निमित्त हैं अर्थात् शरीर में सुखादिक द्वारा उपक्षीण हो जाते हैं। इनसे संसार-संततिका प्रवाह नहीं चलता, क्योंकि जब तक इनके साथ रागादिक परिणाम न हों तब तक वे स्वयं बन्ध के जनक नहीं होते। अतएव जो सम्यग्ज्ञानी जीव हैं उनके इन अखिल अध्यवसानादिक भावों में रागभाव नहीं है।।२१७।।

यही भाव कलशा में दिखाते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वागताछन्द

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं
कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे
स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह।।१४८।।

अर्थ–रागरूपी रस से रहित होने के कारण ज्ञानी जीव की क्रिया परिग्रह भाव को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि हर्रा, फिटकरी आदि से उत्पन्न कषायलापन से रहित वस्त्र में जो रङ्ग दिया जाता है वह स्वीकृत होने पर भी बाहर ही बाहर रहता है, अन्तरङ्ग में प्रवेश नहीं करता।।१४८।।

स्वागताछन्द

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न।।१४९।।

अर्थ–ज्ञानी जीव का ऐसा सहज स्वभाव है कि उसकी आत्मा में स्वयमेव राग की उत्पत्ति नहीं होती। इसी से ज्ञानी जीव कर्ममध्य में पतित होकर भी कर्मों से लिप्त नहीं होता।।१४९।।

आगे दृष्टान्त द्वारा इसी बात का समर्थन करते हैं–

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दम-मज्झे जहा कणयं।।२१८।।
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दम-मज्झे जहा लोहं।।२१९।।

(युग्मम्)

अर्थ– ज्ञानी जीव सब द्रव्यों में राग का त्याग करनेवाला है, इसलिये वह मन, वचन, काय के व्यापाररूप कर्म के मध्य में पड़ा हुआ भी कर्मरूपी रज से उस तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह कि कर्दम के मध्य में पड़ा हुआ सुवर्ण जङ्ग से लिप्त नहीं होता। किन्तु अज्ञानी जीव सब द्रव्यों में राग करता है, इसलिये वह मन, वचन, काय के व्यापार रूप कर्म के मध्य में पड़ा हुआ कर्मरूपी रज से उस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तरह लिप्त होता है जिस तरह कि कर्दम के मध्य में पड़ा हुआ लोहा जङ्ग से लिप्त हो जाता है।

विशेषार्थ–जिसप्रकार निश्चय से सुवर्ण कर्दम के मध्य में पड़ा हुआ होने पर भी कर्दम से लिप्त नहीं होता, क्योंकि कर्दम से लिप्त होना उसका स्वभाव नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मों के मध्य में अर्थात् मन, वचन काय के व्यापार के बीच में पड़ा हुआ होने पर भी कर्म से लिप्त नहीं होता, क्योंकि समस्त परद्रव्य सम्बन्धी राग का त्यागी होने से कर्म से लिप्त होना उसका स्वभाव नहीं है। जिसप्रकार लोहा कर्दम के मध्य में पड़कर कर्दम से लिप्त हो जाता है क्योंकि कर्दम से लिप्त होना उसका स्वभाव है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मों के मध्य में पड़कर कर्म से लिप्त होता है क्योंकि समस्त परद्रव्य सम्बन्धी राग से युक्त होने के कारण कर्मों से लिप्त होना उसका स्वभाव है।

सुवर्ण का ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि वह कितने ही कालपर्यन्त कर्दम में पड़ा रहे, परन्तु उसके वर्ण में विकार नहीं होता। इसी तरह ज्ञानी जीव का ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि वह समस्त कार्य करता हुआ भी कर्मबन्ध से रहित रहता है। कर्मबन्ध का कारण रागपरिणति है और ज्ञानी जीव के वह रागपरिणति छूट जाती है। इसलिये केवल क्रिया से उसके बन्ध नहीं होता। परन्तु अज्ञानी जीव की परिणति इससे विलक्षण है। जिस प्रकार लोहा कर्दम में डाल दिया जावे तो वह उसके सम्बन्ध से जंगाल से लिप्त हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्म के मध्य में पड़ जावे अर्थात् मन, वचन काय की प्रवृत्ति रूप व्यापार करे तो वह कर्मों से लिप्त हो जाता है क्योंकि कर्मबन्ध का प्रमुख कारण रागभाव है और वह उसके विद्यमान है ही।।२१८।२१९।।

आगे जिसका जो स्वभाव है वह वैसा ही रहता है, यह कलशा द्वारा कहते हैं––

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैव कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव।।१५०।।

अर्थ–जिस वस्तु का जो जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही रहता है, वह किसी भी तरह दूसरों के द्वारा अन्यथा नहीं किया जा सकता। इसी पद्धति से ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भी कभी अज्ञान नहीं हो सकता। अतएव आचार्य का उपदेश है कि हे ज्ञानी जीव! कर्मोदय से जो कुछ उपभोग प्राप्त हुआ है उसे उदयजनित सामग्री जान अहंकार बुद्धि से रहित होकर भोग, यदि इस नीति से उदासीनभाव से भोगेगा तो परापराधजनित बन्ध तुझे नहीं होगा।

भावार्थ–इस जीव के ज्ञान के साथ अनादिकाल से मोहजन्य विकारीभावों का संमिश्रण चला आ रहा है। अज्ञानी जीव उस संमिश्रण को ज्ञान का स्वभाव जान उससे कभी विरक्त नहीं होता। इसलिये उसके बन्ध सदाकाल जारी रहता है। परन्तु ज्ञानी जीव इस अन्तर को समझ जाता है, वह ज्ञान को ज्ञान और मोहजन्य रागादिक विकारों को विकार समझ लेता है, इसलिये उससे विरक्त हो जाता है। इस विरक्ति के कारण ज्ञानी जीव यद्यपि प्राप्त सामग्री का उपभोग करता है तो भी उसके बन्ध नहीं होता। उसका कर्मोदय अपना फल देकर निर्जीर्ण होता जाता है, नवीन बन्ध का कारण नहीं होता। कर्मोदय, ज्ञानी जीव के ज्ञान को अन्यथा करने के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि वस्तु का ऐसा स्वभाव है कि वह सदा वस्तु के ही स्वाधीन रहता है, किसी भी तरह उसका अन्यथा परिणमन नहीं कराया जा सकता।।१५०।।

आगे यही अर्थ दृष्टान्त के द्वारा दृढ़ करते हैं–

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्णगो काऊं।।२२०।।
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं।।२२१।।
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे।।२२२।।
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिऊण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे।।२२३।।

अर्थ–जिस तरह शङ्ख यद्यपि नाना प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का उपभोग करता है तो भी उसका श्वेतभाव कृष्ण नहीं किया जा सकता है। उसी तरह ज्ञानी जीव यद्यपि सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का उपभोग करता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञानभाव को प्राप्त नहीं कराया जा सकता और जिस तरह जिस काल में वही शङ्ख उस श्वेताभाव को छोड़कर कृष्णभाव को प्राप्त हो जाता है उस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काल में श्वेतभाव को स्वयं छोड़ देता है उसी तरह ज्ञानी जीव भी जिस काल में उस ज्ञानभाव को छोड़ देता है उस काल में अज्ञानभाव से परिणत हुआ अज्ञानभाव को प्राप्त हो जाता है।

विशेषार्थ–जिस प्रकार निश्चय से शङ्ख यद्यपि परद्रव्य का उपभोग करता है तो भी जो उसका स्वीय श्वेतभाव है वह पर के द्वारा कृष्ण नहीं किया जा सकता, क्योंकि पर में परभाव के प्रति निमित्तपने की अनुपपत्ति है अर्थात् परपदार्थ अपर पदार्थ के अन्यथापन करने की सामर्थ्य से शून्य है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव यद्यपि परद्रव्य का उपभोग कर रहा हो तो भी उसका जो स्वीय ज्ञानभाव है वह पर के द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता, क्योंकि पर में परभाव के प्रति निमित्तपन की अनुपपत्ति है अर्थात् परपदार्थ अपरपदार्थ के अन्यथापन करने के सामर्थ्य से शून्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानी के परकृत अपराध के निमित्त से बन्ध नहीं होता है। और जिस प्रकार जिस समय वही शङ्ख परद्रव्य का उपभोग कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, श्वेतभाव को छोड़कर स्वयं ही कृष्णभाव से परिणमता है उस समय उसका श्वेतभाव स्वयं ही कृष्णभाव को प्राप्त होता है। उसी प्रकार जिस समय वही ज्ञानी परद्रव्य का उपभोग कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, ज्ञान को छोड़कर स्वयमेव अज्ञानभाव से परिणमता है उस समय उसका ज्ञान स्वयं ही अज्ञानभाव को प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानी जीव के जो बन्ध होता है वह स्वीय अपराध के निमित्त से ही होता है।।२२०।२२३।।

आगे यही भाव कलशा के द्वारा दरशाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
बुभुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद् ध्रुवम् ।।१५१।।

अर्थ– हे ज्ञानी जीव! यद्यपि तुझे कभी कर्म करना उचित नहीं है अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध करना तेरे योग्य नहीं है तो भी कुछ कहा जाता है। 'परद्रव्य मेरा कभी नहीं है' ऐसा कहता हुआ यदि तूँ उसका उपभोग करता है तो खेद है कि तूँ दुर्भुक्त ही अर्थात् खोटा उपभोग करनेवाला ही है। जो वस्तु तेरी नहीं उसका उपभोग करना असद् उपभोग ही है। कदाचित् तूँ यह कहे कि ज्ञानी जीव के उपभोग से बन्ध नहीं होता तो इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या तेरा कामचार है अर्थात् तेरी इच्छा से बन्ध रुकने वाला है? अरे भाई! ज्ञानरूप होकर निवास कर—ज्ञान के साथ मिले हुए रागादिक को दूरकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहकर कार्य कर, तभी बन्ध से बच सकता है अन्यथा निश्चित ही अपने अपराध से बन्ध को प्राप्त होगा।

भावार्थ–निश्चय से जीव परद्रव्य का न कर्ता है और न भोक्ता है परन्तु अज्ञानी होकर यह परद्रव्य का कर्ता और भोक्ता बन रहा है। ऐसे जीव को आचार्य समझाते हैं कि हे भाई! तूँ अपने इस अज्ञान को छोड़, तू तो ज्ञानी है अत: ज्ञानस्वभाव को ही प्राप्त हो, परद्रव्य जब तेरा नहीं है तब तूँ-उसका उपभोग करनेवाला कैसे बनता है? लोक में परका उपभोग करना असद् उपभोग कहलाता है। इसके उत्तर में वह कहता है कि मैं तो ज्ञानी हूँ, परद्रव्य के उपभोग से मुझे बन्ध नहीं होगा अत: उपभोग करते हुए भी मेरी हानि नहीं है। तब आचार्य कहते हैं कि बन्ध होना और न होना तेरी इच्छा पर निर्भर नहीं है। इस विषय में तेरा स्वेच्छाचार नहीं चल सकता। यदि तूँ ज्ञानी होकर रहेगा अर्थात् अपने ज्ञान में-से रागादिक विकारीभावों को पृथक् कर देगा तब तो बन्ध से बच सकेगा, अन्यथा अपने इस-अपराध से-रागादि विकारीभावरूप परिणमन से निश्चित ही बन्ध को प्राप्त होगा।।१५१।।

आगे रागी मनुष्य ही कर्मबन्ध को प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः।।१५२।।

अर्थ–क्योंकि कर्म अपने करनेवाले कर्ता को जबर्दस्ती अपने फल से युक्त नहीं करता, किन्तु फल की इच्छा रख कर कर्म करनेवाला प्राणी ही कर्म के फल को प्राप्त होता है। इसीलिये ज्ञानरूप होते हुए जिसने राग की रचना को दूर कर दिया है तथा कर्म के फल का त्याग करना जिसका स्वभाव है, ऐसा मुनि (ज्ञानी जीव) कर्म करता हुआ भी कर्म से बद्ध नहीं होता है।

भावार्थ– वास्तव में बन्ध का कारण अन्तरङ्ग वासना है। जिनसे दर्शनमोह का उपशमादि हो गया है उनके मिथ्यात्व के जाने से स्वपरभेदज्ञान हो जाता है। वे भेदज्ञान के बल से पर को पर जानते हैं, केवल चारित्रमोह उदय से नहीं चाहते हुए भी औदयिक रागादिक की वेदना के अपहारार्थ रोगनिवृत्ति के लिये औषध सेवन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के समान बाह्य भोगों में यद्यपि प्रवृत्ति करते हैं तो भी स्निग्धता के अभाव में बन्ध को प्राप्त नहीं होते।१५२।।

आगे इसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं–

पुरिसो जह को वि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं ।
तो सो वि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ।।२२४।।
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सो वि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ।।२२५।।
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ।।२२६।।
एमेव सम्मद्दिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं ।
तो सो ण कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ।।२२७।।

(चतुष्कम्)

अर्थ–इस लोक में जिस प्रकार कोई पुरुष आजीविका के निमित्त राजा की सेवा करता है तो वह राजा भी उसके लिये सुख उपजाने वाले नाना प्रकार के भोग देता है। इसी प्राकर यह जीवनामा पुरुष सुख के निमित्त कर्मरूपी रज की सेवा करता है सो वह कर्म भी उसके लिये सुख उपजाने वाले नाना प्रकार के भोग देता है। यदि वह पुरुष आजीविका के निमित्त राजा की सेवा नहीं करता है तो वह राजा उसके लिये सुख उपजाने वाले नानाप्रकार के भोग नहीं देता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयों के लिये कर्मरूपी रज की सेवा नहीं करता है तो वह कार्य भी उसके लिये सुख उपजानेवाले नानाप्रकार के भोग अर्थात् विषय नहीं देता है।

विशेषार्थ–जिस प्रकार कोई पुरुष फल के अर्थ राजा की सेवा करता है तो वह राजा उसके लिये फल देता है। उसी प्रकार जीव फल के अर्थ कर्म की सेवा करता है तो कर्म उसके लिये फल देता है और जिस प्रकार वही पुरुष फल के अर्थ राजा की सेवा नहीं करता है तो राजा उसके लिये फल नहीं देता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव फल के अर्थ कर्म की सेवा नहीं करता है तो कर्म उसके लिये फल नहीं देता है।

ऊपर कलशा में जो कहा गया था कि कर्म किसी को जबर्दस्ती अपने फल से युक्त नहीं करता, किन्तु जो फल की इच्छा रखता हुआ कर्म करता है वही कर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से युक्त होता है, वही अर्थ यहाँ दृष्टान्त द्वारा अन्वय-व्यतिरेक से दृढ़ किया गया है। जिस प्रकार फल की इच्छा रखकर सेवा करनेवाले पुरुष को राजा फल प्रदान करता है और फल की इच्छा न रखकर सेवा करनेवाले को राजा फल प्रदान नहीं करता है। इसी प्रकार फल की इच्छा रखकर कर्म करनेवाले मनुष्य को कर्म फल देता है और फल की इच्छा न रखकर कर्म करनेवाले मनुष्य को कर्म कुछ भी फल नहीं देता। तात्पर्य यह है कि इच्छापूर्वक कर्म करनेवाले पुरुष के ही कर्म बन्ध होता है और इच्छा के बिना कर्म करनेवाले पुरुष को कर्म बन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि मनुष्य अन्तरङ्ग से रागादि को चाहता नहीं है किन्तु चारित्र मोह के उदय की बलवत्ता से आये हुए रागादि से प्रेरित होकर भोगोपभोग में प्रवृत्ति करता है, इसलिये वह बन्ध से रहित कहा गया है।।२२४।२२७।।

इसी भाव को कलशा में प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतितेप्यकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः।।१५३।।

अर्थ–जिसने कर्म का फल त्याग दिया है वह कर्म करता है, इसकी हम प्रतीति नहीं करते हैं किन्तु इस ज्ञानी के भी किसी कारण से कुल कर्म इसके वश बिना आ पड़ते हैं और उनके आ पड़ने पर भी यह ज्ञानी निश्चय परमस्वभाव में स्थित रहता है। इस स्थिति में ज्ञानी क्या करता है? और क्या नहीं करता है यह कौन जानता है?

भावार्थ–कर्म का बन्ध, कर्म फल के इच्छुक प्राणी के होता है। जिसने कर्म फल की इच्छा छोड़ दी उसे कर्म बन्ध नहीं होता। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को ज्ञानी कहा गया है। यद्यपि ज्ञानी के ज्ञानचेतना है, कर्मचेतना और कर्मफल चेतना नहीं है, फिर भी कालान्तर में जो कर्म अर्जित किये हैं वे उदय में आकर अपना रस देते हैं, उन्हें यह नहीं चाहता किन्तु चारित्र मोह के सद्भाव में पराधीनता से भोगने पड़ते हैं। भोगने पर भी अपने परमज्ञानस्वभाव में अकम्प स्थिर रहने से वे कर्म, ज्ञानी का कुछ बिगाड़ करने में समर्थ नहीं होते। अत: निष्कर्ष निकला कि ज्ञानी क्या करता है? और क्या नहीं करता है? इसको कौन जाने? वही जाने।।१५३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे ज्ञानी जीव ही निर्भय होते हैं यह कहते हैं---

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वमेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमबध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि।।१५४।।

अर्थ– सम्यग्दृष्टि जीव ही इस उत्कृष्ट साहस के करने में समर्थ होते हैं कि जिसके भय से विचलित हुए तीन लोक के जीव अपना-अपना मार्ग छोड़ देते हैं, ऐसे वज्र के पड़ने पर भी वे स्वभाव से निर्भय होने के कारण सभी प्रकार की शङ्का को छोड़कर स्वयं अपने आपको दूसरे के द्वारा बाधा न जा सके, ऐसे ज्ञानशरीर से युक्त जानते हुए ज्ञान से च्युत नहीं होते।

भावार्थ–सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्कित गुण का धारक होता है, अतः वह सदा सब प्रकार के भयों से निर्मुक्त रहता है। जिस वज्र के पड़ने पर तीन लोक के जीव भय से विचलित हो अपना-अपना मार्ग छोड़ देते हैं, उस वज्र के पड़ने पर भी सम्यग्दृष्टि सदा यही विचार करता है कि मैं तो ज्ञानशरीर हूँ अर्थात् ज्ञान ही मेरा रूप है और ऐसा ज्ञान, जो कि कभी किसी के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, ऐसा विचार कर वह सदा अपने ज्ञानस्वरूप से च्युत नहीं होता।।१५४।।

आगे यही भाव गाथा में दिखाते हैं---

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्त-भय-विप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका।।२२८।।

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्क होते हैं, इसलिये निर्भय हैं और क्योंकि सप्तभय से निर्मुक्त हैं, इसलिये निःशङ्क हैं।

विशेषार्थ–जिस कारण सम्यग्दृष्टि नित्य ही समस्त कर्मों के फल की अभिलाषा से रहित होते हुए कर्मों से अत्यन्त निरपेक्ष वर्तते हैं। इसलिये ही जान पड़ता है कि ये अत्यन्त निःशङ्क तीव्र निश्चयरूप होते हुए अत्यन्त निर्भय रहते हैं।।२२८।।

आगे सप्तभय के कलशरूप काव्य कहते हैं---

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शार्दूलविक्रीडितछन्द

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५५।।

अर्थ–पर से भिन्न आत्मा का जो यह चैतन्यलोक है वह शाश्वत है, एक है, सब जीवों के प्रकट है। यह एक सम्यग्ज्ञानी जीव ही स्वयं इस चैतन्य लोक का अवलोकन करता है। वह विचारता है कि हे आत्मन्! यह एक चैतन्यलोक ही तेरा लोक है, इससे भिन्न दूसरा कोई लोक तेरा नहीं है, तब तुझे उसका भय कैसे हो सकता है। ऐसा विचार कर ज्ञानी जीव निरन्तर निःशङ्करूप से स्वाभाविक ज्ञान को स्वयं ही प्राप्त होता है।

भावार्थ–इस काव्य में ज्ञानी के इस लोक तथा परलोक दोनों का भय नहीं होता है, यह कहा गया है। इस लोक अर्थात् वर्तमान पर्याय में मुझे कष्ट न उठाना पड़े, ऐसा भय होना इस लोक का भय है और परलोक अर्थात् आगामी पर्याय में मुझे कष्ट न भोगना पड़े, ऐसा भय होना परलोक का भय है। सो ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं समस्त कर्म, नोकर्म आदि से भिन्न पृथग्द्रव्य हूँ, चैतन्य ही मेरा स्वरूप है, यह चैतन्य ही मेरा लोक है, मेरा यह चैतन्यलोक शाश्वत है—कभी नष्ट होनेवाला नहीं है, इसलिये मुझे न इस लोक का भय है और न परलोक का भय है। शरीर अवश्य नाश को प्राप्त होता है, पर वह मेरा कब है? मैं चैतन्य का पुञ्ज हूँ और यह शरीर जड़ अर्थात् ज्ञानदर्शन से शून्य पुद्गलद्रव्य है, इसके नाश से मेरा कुछ नष्ट होनेवाला नहीं है। इसलिये ज्ञानी जीव सदा निःशङ्क होकर स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप को ही प्राप्त होता है—उसी प्रकार अनुभव करता है।

संसार में ये प्राणी निरन्तर भयभीत रहते हैं। न जाने ये लोक मेरी कैसी दुर्दशा करेंगे, अतः निरन्तर इनके अनुकूल रहने की प्रवृत्ति करता है। न जाने, यह राजलोक मेरे ऊपर कौन-सी आपत्ति ला पटकेंगे, अतः निरन्तर उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा में मग्न रहता है। न जाने, परलोक में कहाँ जाऊँगा, भद्रजन्म हो तो अच्छा, इसके अर्थ निरन्तर नानाप्रकार के दानादि कर परलोक में निःशङ्क होने की चेष्टा करता है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी विचार करता है कि मेरा तो चेतना ही लोक है, उसी का आत्मा के साथ नित्य तादात्म्य है जो किसी काल और किसी शक्ति के द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता है। अतः चाहे मैं यहाँ रहूँ, चाहे परलोक में जाऊँ, मेरा गुण मुझसे भिन्न नहीं हो सकता। अतः सम्यग्ज्ञानी जीव के इस लोक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और परलोक का भय नहीं है। तत्त्वदृष्टि से विचारो तो ज्ञानगुण की जो जानन क्रिया है वह कभी भी उसे छोड़कर भिन्न नहीं हो सकती और परपदार्थ का उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। मात्र ज्ञान की स्वच्छता ही एक ऐसी अनुपम है कि उसमें ज्ञेय प्रतिभासमान होते हैं। अथवा ज्ञेय क्या प्रतिभासमान होते हैं? वह तो ज्ञान का ही परिणाम है परन्तु हम व्यवहार से ऐसा मानते हैं कि हमने परपदार्थ को जाना। जब ऐसा ज्ञानी का सामर्थ्य है कि उसमें परपदार्थ का प्रवेश नहीं तब न कोई पदार्थ सुख का कर्ता है और न कोई पदार्थ दुःख का कर्ता है।।१५५।।

शार्दुलविक्रीडितछन्द

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५६।।

अर्थ– सम्यग्ज्ञानी जीवों के यही एक वेदना है कि वे सदा निराकुल रहकर अभेदरूप से उदित वेद्यवेदकभाव के बल से अविचल—कभी नष्ट नहीं होनेवाले ज्ञान का स्वयं वेदन करते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। ज्ञानी के अन्य पदार्थ की वेदना नहीं है तब उसे वेदना का भय कैसे हो सकता है? वह तो सदा निःशङ्क होता हुआ स्वाभाविक ज्ञान को ही प्राप्त होता है, उसका अनुभव करता है।

भावार्थ– इस काव्य में वेदनाभय का वर्णन है। सुख-दुःख का अनुभव करना सो वेदना है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव को ऐसा सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। यह सुख-दुःख का विकल्प स्वाभाविक न होकर मोहकर्म के उदय से जायमान अशुद्ध अनुभूति है। ज्ञानी जीव विचार करता कि मोहकर्म के विपाक से जायमान सुख-दुःख मेरे स्वभाव नहीं है, इसलिये मुझे तद्विषयक आकुलता से क्या प्रयोजन? अतः वह सदा निराकुल रहकर एक ज्ञानस्वभाव का ही वेदन करता है और वह भी अभेद वेद्यवेदकभाव के सामर्थ्य से अर्थात् वेदन करनेवाला भी आत्मा है और जिसका वेदन करता है वह वेद्य भी आत्मा ही है। ज्ञानानुभूति के सिवाय कर्मोदय से आगत अन्य अनुभूति मेरा स्वाभाव नहीं है, तब मुझे उस विषय का भय भी कैसे हो सकता है? कर्म के उदय से जो सुख-दुःख की अनुभूति होती है उसे मैं अपना स्वभाव नहीं मानता, तब मुझे उन कल्पित अनुभूतियों से होनेवाले सुख-दुःख की चिन्ता ही क्या है। एक ज्ञान ही मेरा स्वभाव है, इसलिये उसी का वेदन मैं करता हूँ, ऐसा विचार कर सम्यग्ज्ञानी जीव सदा वेदानाभय से रहित होता है।।१५६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५७।।

अर्थ– जो सत् स्वरूप है वह नाश को प्राप्त नहीं होता, इस नियम से वस्तु की मर्यादा प्रकट है। ज्ञान सत्स्वरूप है इसलिए वह स्वयं ही रक्षित है। इसके लिए दूसरे पदार्थों से क्या प्रयोजन है? इसकी रक्षा किसी से नहीं हो सकती। इसलिये ज्ञानी पुरुषों को भय कैसे हो सकता है? वह तो निरन्तर निःशङ्क रहता हुआ स्वयं सहज-स्वाभाविक ज्ञान को ही सदा प्राप्त होता है—उसी का अनुभव करता है।

भावार्थ— जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता, ऐसी निश्चय से वस्तु-मर्यादा है और ज्ञान जो है सो स्वयं ही सत्स्वरूप है। इसलिये इसकी रक्षा के अर्थ अन्य की आवश्यकता नहीं है। इस ज्ञान की अरक्षा करने में कोई भी वस्तु समर्थ नहीं है। अतएव ज्ञानी जीव को इसकी रक्षा के अर्थ किसी से भी भय नहीं होता है। स्वयं जो अपना सहज ज्ञान है उसी का अनुभव करता है। ज्ञानी के ऐसा निश्चय है कि सत्पदार्थ स्वयं स्वरूप से ही रक्षित है। कोई भी शक्ति इसका अभाव करने में समर्थ नहीं है। अतः इसी भाव को लेकर ज्ञानी के किसी का भय नहीं रहता है। निरन्तर जो अपना स्वाभाविक ज्ञान है उसी का अनुभव करता है।

इस काव्य में अरक्षाभय का वर्णन है। ज्ञानी जीव समझता है कि ज्ञान ही मेरा स्वरूप है उसको करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। शरीरादिक परपदार्थ हैं—पुद्गलद्रव्य की परिणतियाँ हैं। उनके नाश से मेरे ज्ञानस्वभाव का नाश नहीं होता, इसलिये मुझे अरक्षा का भय नहीं है।।१५७।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५८।।

अर्थ– निश्चय से वस्तु का जो स्वीयरूप है वही उसकी परमगुप्ति है क्योंकि स्वीयरूप में कोई भी परपदार्थ प्रवेश करने के लिये समर्थ नहीं है। आत्मा का स्वरूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अकृत्रिम ज्ञान है इसलिये इसकी कोई भी अगुप्ति नहीं है। फिर ज्ञानी जीव को अगुप्ति का भय कैसे हो सकता है? वह तो निरन्तर नि:शङ्क रहता हुआ स्वयं सहज ज्ञान को ही सदा प्राप्त होता है—उसी का अनुभव करता है।

भावार्थ– वस्तु का जो स्वीय स्वरूप है वही परमगुप्ति है, उसमें अन्य का प्रवेश नहीं हो सकता। पुरुष का स्वीयस्वरूप ज्ञान है। इसकी अगुप्ति किसी के द्वारा नहीं हो सकती, इसीसे ज्ञानी जीव के किसी से भी कुछ भी भीति नहीं रहती है। वह तो निशङ्क होता हुआ निरन्तर अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभवन करता है। लोक में मनुष्य अपनी रक्षा के अर्थ गढ़, कोट, परिखा आदि बनाते हैं जिसमें शत्रुओं का प्रवेश न हो और अपने धनादिक की गुप्ति रहे, परन्तु आत्मा का जो धन है वह ज्ञान है, उसमें अन्य पदार्थों का प्रवेश नहीं है वह स्वयं गुप्ति स्वरूप ही है। इसीसे ज्ञानी जीव निरन्तर निर्भीक होते हुए स्वात्मस्वरूप में मग्न रहते हैं। ऐसा नियम है कि—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
तं अण्णमसंकमंतो कहं तुं परिणामए दव्वं।।

अर्थात् जो वस्तु जिस गुण अथवा द्रव्य में वर्तती है वह अन्य द्रव्य में संक्रमण नहीं करती—- अन्य द्रव्यरूप पलटकर नहीं वर्तती। जब वह अन्य द्रव्यरूप संक्रमण नहीं करती तब उसे अन्यरूप कैसे परिणमा सकती है।

जब यह नियम है तब ज्ञानी जीव परपदार्थ से अपना उपयोग हटाकर स्वकीय ज्ञान स्वरूप की ओर ही लगाता है। ज्ञानी का ज्ञानस्वरूप कभी नष्ट नहीं होता। इसलिये वह सदा अगुप्तिभय से दूर रहता है। लोक में धनादि का नाश होता है। पर ज्ञानी उन्हें अपना नहीं मानता।।१५८।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणा: किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नो छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भी: कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क: सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५९।।

अर्थ–प्राणों के उच्छेद को मरण कहते हैं, निश्चय से इस आत्मा के प्राण ज्ञान हैं, ज्ञान स्वयमेव शाश्वत है। इसलिये कभी नष्ट नहीं होता, इसलिये ज्ञानी का कुछ भी मरण नहीं होता, फिर उसे मरण का भय कैसे हो सकता है? वह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो निरन्तर नि:शङ्क रहता हुआ स्वयं सहज ज्ञान को ही सदा प्राप्त होता है—उसी का अनुभव करता है।

भावार्थ–प्राणों के उच्छेद को मरण कहते हैं। इस आत्मा का प्राण ज्ञान है, यह ज्ञान नित्य है, इसका कभी भी नाश नहीं होता, इससे जब इसका मरण ही नहीं तब सम्यग्ज्ञानी को किसका भय? वह तो निरन्तर स्वीय ज्ञान का ही अनुभव करता है। लोक में इन्द्रियादिक प्राणों के वियोग को मरण कहते हैं, इन्हीं को द्रव्यप्राण कहते हैं। यह जो द्रव्यप्राण हैं वे पुद्गल के निमित्त से जायमान होने के कारण पौद्गलिक हैं। वास्तव में आत्मा के प्राण ज्ञानादिक हैं, उन ज्ञानादिक प्राणों का कभी भी नाश नहीं होता। अतएव जो ज्ञानी जीव हैं, उन्हें मरण का भय नहीं होता। वे तो निरन्तर अपने ज्ञान का ही अनुभव करते हैं।।१५९।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय:।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भी: कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्क: सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१६०।।

अर्थ– आत्मा का जो ज्ञान है वह एक है, अनादि, अनन्त और अचल है तथा स्वयं सिद्ध है, वह सर्वदा ही रहता है, उसमें अन्य उदय नहीं है। इसलिये इस ज्ञान में कुछ भी आकस्मिक नहीं है, तब ज्ञानी जीव को उसका भय कैसे हो सकता है? वह तो निरन्तर नि:शङ्क रहता हुआ स्वयं सहज ज्ञान को ही सदा प्राप्त होता है—उसी का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ–जो अनुभव में नहीं आया, ऐसा कोई भय का कारण उपस्थित हो जावे, उसे आकस्मिक भय कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी जीव का ऐसा निर्मल विचार है कि हमारा जो ज्ञानस्वभाव है वह एक अनादि, अनन्त, अचल तथा स्वयं सिद्ध है। उसमें अन्य का उदय नहीं हो सकता। अत: भय के कारणों का अभाव होने से वह निरन्तर निर्भीक रहता हुआ अपने आत्मस्वरूप में लीन रहता है।।१६०।।

मन्दाक्रान्ताछन्द

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाज:
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्ध:
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव।।१६१।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–टाँकी से उकेरे हुए के समान शाश्वत स्वभाव से युक्त ज्ञानरूपी सर्वस्व को प्राप्त जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसके नि:शङ्कितत्वादि लक्षण, इस जगत् में समस्त कर्मों को नष्ट करते हैं, इसलिये इस ज्ञानरूप सर्वस्व के प्रकट होने पर सम्यग्दृष्टि जीव के कर्म का थोड़ा भी बन्ध नहीं होता है। किन्तु पूर्वोपार्जित कर्म का अनुभव करते हुए उसके निश्चितरूप से निर्जरा ही होती है।

भावार्थ–टङ्कोत्कीर्ण और स्वरस से भरे हुए ज्ञानरूप सर्वस्व का भोग करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव के जो नि:शङ्कता आदि गुण हैं वे सब कर्मों का हनन करते हैं। इसके होने पर उसके फिर नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता है। पूर्वोपार्जित कर्मों के विपाक का अनुभव करनेवाला जो सम्यग्ज्ञानी जीव है, उसके राग का अभाव होने से निर्जरा ही होती है, नवीन बन्ध नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोपार्जित भय आदि प्रकृतियों का उदय आनेपर भी सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य से ज्ञानी जीव के स्वरूप से विचलित नहीं होता। अत: वह निरन्तर नि:शङ्क रहता है। उसकी पूर्वबद्ध प्रकृतियाँ उदय देकर निर्जराभाव को प्राप्त हो जाती है।।१६१।।

आगे सम्यग्दृष्टि जीव के नि:शङ्क आदि गुणों का वर्णन करते हैं। उनमें सर्वप्रथम नि:शङ्कगुण निरूपण करते हुए गाथा कहते हैं–

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२२९।।

अर्थ– जो आत्मा कर्मबन्ध के कारण मोह के उत्पादक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप चारों पायों को छेदता है वह नि:शङ्कगुण का धारक सम्यग्दृष्टि जानने के योग्य है।

विशेषार्थ–जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव से तन्मय होने के कारण कर्मबन्ध की शङ्का करनेवाले मिथ्यात्व आदि भावों का अभाव हो जाने से नि:शङ्क है, इसीसे इसके शङ्का द्वारा बन्ध नहीं होता है, प्रत्युत निर्जरा ही होती है। सम्यग्दृष्टि जीव के कर्म का उदय आता है, परन्तु उसके आनेपर यह उसका स्वामी नहीं बनता। अत: वह कर्म अपना रस देकर झड़ जाता है, आसक्ति के अभाव से बन्ध का प्रयोजक नहीं होता है।।२२९।।

आगे नि:कांक्षितगुण का निरूपण करते हुए गाथा कहते हैं–

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ–जो आत्मा कर्मों के फलों में तथा समस्त धर्मों में कांक्षा नहीं करता है, वह निःकाङ्क्ष गुण का धारक सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ– जो पञ्चेन्द्रियों के विषयसुख स्वरूप कर्मफलों तथा समस्त वस्तुधर्मों की अभिलाषा को नहीं करता है, ऐसा वह सम्यग्दृष्टि जीव ही निःकांक्षित अङ्ग का धारी होता है।

जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाव वाला है, इसी स्वभाव के बल से उस सम्यग्दृष्टि जीव के सम्पूर्ण कर्मफलों में और सम्पूर्ण वस्तुधर्मों में आकांक्षा का अभाव है। अतएव आकांक्षाकृत बन्ध उसके नहीं है, प्रत्युत निर्जरा ही होती है।

साताकर्म के उदय में रति के सम्बन्ध से हर्ष होता है, इसीसे यह प्राणी साता के उदय में सुपुत्र, कलत्रादि अनुकूल सामग्री के उदय में रतिकर्म के सम्बन्ध से अपने को सुखी मानता है और निरन्तर इस भावना को भाता है कि सम्बन्ध इसी रूप से सदैव बना रहे, विघट न जावे। और जब असाता का उदय आता है तब उसके साथ ही अरति का उदय रहने से विषाद मानता है अर्थात् असाता के उदय में अनिष्ट पुत्र, कलत्रादिक प्रतिकूल सामग्री के सद्भाव में अरतिकर्म के उदय से अपने को दुखी मानता है और निरन्तर यही भावना रखता है कि कब इन अनिष्ट पदार्थों का सम्बन्ध मिट जावे? परन्तु जिस जीव के सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है वह इनके उदय में हर्षविषाद नहीं करता, इन्हें कर्मकृत जान इनकी अभिलाषा नहीं करता, इसीसे उसके वाञ्छाकृत बन्ध भी नहीं होता।।२३०।।

आगे निर्विचिकित्सागुण का वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं–

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।२३१।।

अर्थ– जो आत्मा सम्पूर्ण वस्तुधर्मों में ग्लानि को नहीं करता है, वह निश्चयकर विचिकित्सा ग्लानिदोष से रहित सम्यग्दृष्टि जानने के योग्य है।

विशेषार्थ– जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव के टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव से तन्मयपना है उसीसे उसके सम्पूर्ण वस्तुधर्मों में जुगुप्सा (ग्लानि) का अभाव होने से निर्जुगुप्सा अङ्ग है। इसीलिये इस जीव के ग्लानि से किया हुआ बन्ध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है। जब जुगुप्सा का उदय आता है तब मिथ्यादृष्टि जीव अपवित्र पदार्थों को देखकर ग्लानि करता है और सम्यग्ज्ञानी जीव वस्तुस्वरूप का वेत्ता होने के कारण समदर्शी होता हुआ ग्लानि से रहित रहता है।।२३१।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे अमूढदृष्टिगुण का वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं–

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३२।।

अर्थ– जो जीव सम्पूर्ण पदार्थों में असंमूढ रहता है अर्थात् मूढता नहीं करता है। किन्तु सदृष्टि रहता है अर्थात् समीचीन दृष्टि से उन पदार्थों को जानता है। वह निश्चय से अमूढदृष्टिअङ्ग का धारक सम्यग्दृष्टि होता है।

विशेषार्थ– जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभाव से तन्मय होने के कारण निखिल पदार्थों में मोहाभाव होने से अमूढदृष्टि रहता है अर्थात् यथार्थ दृष्टि का धारक होता है। इस कारण इस अमूढदृष्टि के द्वारा किया हुआ बन्ध नहीं है किन्तु निर्जरा ही है।

सम्यग्ज्ञानी जीव सम्पूर्ण पदार्थों को यथार्थ जानता है। अत: उसके विपरीत अभिप्राय नष्ट हो जाता। विपरीत अभिप्राय के नष्ट हो जाने से मिथ्यात्व के साथ होनेवाला रागद्वेष नहीं होता है। इसीलिये उसके अनन्त संसार का बन्ध नहीं होता है। चारित्र मोह के उदय से बिना अभिप्राय के जो रागद्वेष होता है वह संसार की अल्पस्थिति के लिये होता हैं तथा उत्तम गति का ही कारण होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव के तिर्यञ्च और नरक आयु का बन्ध नहीं होता है।।२३२।।

आगे उपगूहनगुण का वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं–

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३३।।

अर्थ— जो सिद्ध भक्ति से युक्त है और सम्पूर्ण धर्मों का गोपन करनेवाला है। वह जीव उपगूहन अङ्ग का धारी सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ– सम्यग्दृष्टि जीव के टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव का सद्भाव है। इसीसे उसके सम्पूर्ण आत्म-शक्तियों का विकास हो गया है। यही कारण है कि इस सम्यग्दृष्टि जीव के शक्ति की दुर्बलता प्रयुक्त बन्ध नहीं होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है।

यहाँ पर सिद्ध भगवान् में जब सम्यग्दृष्टि अपने उपयोग को लगाता है तब अन्य पदार्थों में उपयोग के न जाने से स्वयमेव उसका उपयोग निर्मल हो जाता है, इससे उसके विकास वृद्धि होती है और इसीसे इस गुण को उपबृंहण कहते हैं तथा उपगूहन नाम छिपाने का है सो जब अपना उपयोग सिद्ध भगवान् के गुणों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में अनुरागी होता है तब अन्यत्र से उसका उपगूहन स्वयमेव हो जाता है, इसी से उसमें निर्मलता आती है और उस निर्मलता के कारण ही शक्ति की दुर्बलता से होनेवाला बन्ध नहीं होता हैं।।२३३।।

आगे स्थितीकरणगुण का वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं–

उम्मग्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।२३४।।

अर्थ– जो जीव उन्मार्ग में चलते हुए आत्मा को भी मार्ग में स्थापित करता है वह ज्ञानी स्थितीकरण अङ्ग से सहित सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ– क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव, टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव से तन्मय होने के कारण मार्ग से च्युत हुए अपने आप को मार्ग में ही स्थित करता है। इसलिये वह स्थितीकरण अङ्ग का धारक होता है और इसीसे इसके मार्गच्यवनकृत बन्ध नहीं होता है अर्थात् न च्युत होता है और अतएव न बन्ध होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है।

यदि अपना आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रात्मक मोक्षमार्ग से च्युत हो जावे तो उसे फिर उसी में स्थित करना, इसी का नाम स्थितीकरण अङ्ग है। सम्यग्दृष्टि जीव अङ्ग का धारक होता है, इसीसे इसके मार्ग से छूटने रूप बन्ध नहीं होता, किन्तु उदयागत कर्म के स्वयमेव झड़ जाने से निर्जरा ही होती है।।२३४।।

आगे वात्सल्यगुण का वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं–

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गह्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।२३५।।

अर्थ–जो निश्चय से मोक्षमार्ग के साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में वात्सल्यभाव करता है अथवा व्यवहार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आधारभूत आचार्य, उपाध्याय और साधु महात्मा में वात्सल्यभाव को करता है, वह वात्सल्य अङ्ग का धारी सम्यग्दृष्टि जानने के योग्य है।

विशेषार्थ–क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव से तन्मय रहता है। इसलिये वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अपने आप से अभिन्न देखता है। इसी से मार्गवत्सल कहलाता है और इसीसे इसके मार्ग के अनुपलम्भ प्रयुक्त बन्ध नहीं होता है, किन्तु निर्जरा ही होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वात्सल्य नाम प्रेमभाव का है। सो जिनके मोक्षमार्ग का मुख्य साधनीभूत सम्यग्दर्शन हो गया उसके मार्ग में स्वभाव से ही प्रेम है। अत: मार्ग के अभाव में जो बन्ध होता है वह इसके नहीं होता।।२३५।।

आगे प्रभावनागुण का वर्णन करते हुए गाथा कहते हैं—

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।२३६।।

अर्थ– जो आत्मा विद्यारूपी रथपर चढ़कर मानरूपी रथ के मार्ग में भ्रमण करता है, वह जिन भगवान् के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

विशेषार्थ–क्योंकि सम्यग्दृष्टिजीव, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव से तन्मय है, इसीसे ज्ञान की सम्पूर्ण शक्ति के विकास द्वारा ज्ञान की प्रभावना का जनक है अतएव उसे प्रभावना अङ्ग का धारी कहा है और इसीसे ज्ञान के अपकर्ष से हुआ बन्ध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।

बाह्य में प्रभावना जिनबिम्बपञ्चकल्याणक आदि सत्कार्यों से होती है और निश्चय-प्रभावना सम्यग्ज्ञान के पूर्ण विकास से आत्मा की जो वास्तविक दशा की प्राप्ति है वही है।।२३६।।

आगे इन आठ गुणों के उपसंहार स्वरूप कलशा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजै: संगतोऽष्टाभिरङ्गै:-
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टि: स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य।।१६२।।

अर्थ–इस प्रकार जो अपने आठ अङ्गों से सहित होता हुआ नवीन बन्ध को रोक रहा है और निर्जरा की वृद्धि से जो पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय को प्राप्त करा रहा है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं स्वाभाविकरूप से आदि, मध्य और अन्त से रहित ज्ञानरूप होकर आकाश के विस्ताररूप रङ्गस्थल में प्रवेश कर नृत्य कर रहा है।

भावार्थ–सम्यग्दृष्टि जीव नि:शङ्कितत्व आदि आठ अङ्गों के द्वारा आत्मा में विशेष निर्मलता को प्रापत होता है। उस निर्मलता के कारण उसके नवीन बन्ध रुक जाता है और गुणश्रेणी निर्जरा की प्राप्ति से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करता जाता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। इस तरह संवर और निर्जरा के प्रभाव से ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयकर वह स्वयं ही उस स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप हो जाता हैं जो आदि, मध्य और अन्त से रहित है। आदि, मध्य और अन्त से रहित ज्ञान केवलज्ञान है। यही ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान है। ज्ञानी जीव इसी केवलज्ञानस्वरूप होकर लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से द्विविधरूपता को प्राप्त अनन्त आकाशरूपी रङ्गभूमि में प्रवेश कर अर्थात् लोकालोकगत ज्ञेयों को अपना विषय बनाकर परमानन्द में निमग्न रहता है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव के जो नवीन कर्मों के बन्ध का अभाव बतलाया है, वह उपशान्तमोह, क्षीणमोह आदि गुणस्थानवर्ती जीवों की अपेक्षा है। चतुर्थादि गुणस्थान में जो बन्ध होता है, वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी का अभाव हो जाने से अनन्त संसार का कारण नहीं, इसलिये उसकी विवक्षा नहीं की गई है। इस संसार में भ्रमण का मूल कारण मोहनीय कर्म है, उसके दो भेद हैं— एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। इसी मोह के सद्भाव को पाकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, ये भी आत्मा के ज्ञान, दर्शन और वीर्य को घातते हैं। यद्यपि ज्ञानावरण कर्म के उदय में आत्मा के ज्ञान का उदय नहीं होता, अज्ञानभाव रहता है तथापि उससे आत्मा की कुछ भी मर्मभेदकरी हानि नहीं होती। किन्तु ज्ञानावरण के क्षयोपशम से आत्मा के ज्ञानगुण का जो विकास हुआ है वह यदि दर्शनमोह के उदय से जन्य मिथ्यात्व का सहकार पा जावे तब एकादशाङ्ग का पाठी होकर भी मोक्षमार्ग से च्युत रहता है। यद्यपि वह तत्त्वार्थ का यथार्थ निरूपण करता है, मन्द कषाय के उदय से प्रबल से प्रबल उपसर्ग करनेवालों से द्वेष नहीं करता है, ज्ञानावरणादिकर्मों के क्षयोपशम से जो ज्ञान-दर्शन प्राप्त हुआ है उसका कुछ भी मद नहीं करता है, अन्तराय के क्षयोपशम से जो शक्ति का उदय हुआ है उसका भी कोई अभिमान नहीं करता, साता आदि पुण्यप्रकृतियों के उदय से जो सुभगादि रूप सामग्री का लाभ हुआ है उसमें कोई अहंकार नहीं करता तथा बड़े-बड़े राजा आदि गुणों के द्वारा आप पर मुग्ध हैं उसका भी कोई मद नहीं करता तथापि दर्शनमोह का उदय उसके अभिप्राय को ऐसा मलीमस करता रहता है कि मोक्षमार्ग में उसका प्रवेश नहीं हो पाता। अतएव मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये दर्शनमोह के उदय से जन्य अभिप्राय की मलिनता का त्याग करना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।।१६२।।

इस तरह निर्जरा रङ्गभूमि से बाहर निकल गई।

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित समयप्राभृत में निर्जरा का वर्णन करनेवाले छठवें अधिकार का प्रवचन पूर्ण हुआ।।६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७. बन्धाधिकारः

अब बन्ध प्रवेश करता है :-

शार्दूलविक्रीडितछन्द

[१]रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजिसहजावस्थां स्फुटं नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञानं समुन्मज्जति।।१६३।।

अर्थ– रागद्वेषादि के उद्गार (तीव्रोदय) रूप महारस के द्वारा समस्त जगत् को प्रमत्तकर रस के समूह से परिपूर्ण महानाट्य के द्वारा क्रीड़ा करते हुए बन्धतत्त्व को जो दूर कर रहा है, आनन्दरूपी अमृत का जो निरन्तर उपभोग करता है, आत्मा की सहज—स्वाभाविक अवस्था को जो स्पष्टरूप से प्रकट कर रहा है, धीर है, उदार है, आकुलता रहित है तथा उपाधि रहित है ऐसा ज्ञान प्रकट होता है।

भावार्थ– संसार का कारण बन्ध है और बन्ध का कारण रागादिक की तीव्रता है, इस रागादिक की तीव्रतारूपी मदिरा के नशा से समस्त संसार मतवाला हो रहा है, संसार में बन्ध ही सब अपना रसपूर्ण महानाट्य दिखला रहा है। इस बन्ध से मुक्ति दिलानेवाला आत्मा का सहज ज्ञान है, उस सहज ज्ञान के प्रकट होने पर आत्मा की सहज—स्वाभाविक दशा अनुभव में आने लगती है तथा दु:खों को उत्पन्न करनेवाले जो विकारी भाव हैं उनसे निवृत्ति होने लगती है। अत: वह ज्ञान निरन्तर आनन्दरूपी अमृत का उपभोग कराने में तत्पर होता है। दर्शनमोहजन्य विकारभाव के निकल जाने से वह ज्ञान धीर, उदार तथा अनाकुल होता है तथा सब प्रकार की उपाधियों से रहित होता है। जिस प्रकार वायु का प्रबल वेग धूलि के समूह को दूर उड़ा देता है उसी प्रकार यह सहजज्ञान बन्ध को दूर उड़ा देता है। जहाँ बन्ध दूर हुआ वहाँ मोक्ष अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अत: सहजज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।।१६३।।

---

१. रागशब्द उपलक्षणं तेन द्वेषमोहादीनामपि ग्रहणं, तस्य उद्गार आधिक्यं स एव महारस उन्मादकरस: तेन रागोद्गारमहारसेन।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे राग बन्ध का कारण है, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हुए गाथा कहते हैं–

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं।।२३७।।
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं।।२३८।।
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो।।२३९।।
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।२४०।।
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण।।२४१।।

अर्थ– 'नाम' शब्द सत्यार्थ में अव्यय है। जिस प्रकार कोई पुरुष अपने शरीर में तेल का मर्दन कर रेणुबहुल भूमि में स्थित होकर शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है तथा ताड़वृक्ष, कदलीवृक्ष और बाँस के घनीभूत पिण्ड को छेदता है, भेदता है और सचित्त, अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है। नानाप्रकार के शस्त्रों के द्वारा उपघात करनेवाले उस पुरुष के जो धूलि का बन्ध हो रहा है वह किस कारण से हो रहा है, यह निश्चय से विचार करने योग्य है। इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि उस पुरुष में जो तेल का सम्बन्ध है उसी से उसके धूलिका बन्ध हो रहा है, यह निश्चय से जानने के योग्य है। उस पुरुष की काय आदि की चेष्टाओं व शस्त्रों की क्रिया आदि से धूलिका बन्ध नहीं हो रहा है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि बहुत प्रकार की चेष्टाओं में प्रवृत्त होता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता, किन्तु उपयोग में रागादि को करता हुआ कर्मरूपी रज से लिप्त होता है— बन्ध को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ– इस लोक में जैसे कोई पुरुष स्नेह का मर्दन कर स्वभाव से ही जिस प्रदेश में धूलि की प्रचुरता है वहाँ पर शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है और अनेक प्रकार के करणों (शस्त्रादि) द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ धूलि से बन्धभाव को प्राप्त होता है। अब यहाँ पर बन्ध का क्या कारण है, यह विचारणीय है। स्वभाव से धूलि की प्रचुरता जिसमें हैं, ऐसी भूमि बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से जिनके शरीर में स्नेह का अभ्यङ्ग नहीं है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनके भी धूलिबन्ध का प्रसङ्ग हो जावेगा। शस्त्रादि के द्वारा जो व्यायामकर्म है वह भी बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि जिनके शरीर में स्नेह का अभ्यङ्ग नहीं है, उन पुरुषों के भी शस्त्रव्यायायकर्म से बन्ध की प्रसक्ति आवेगी। अनेक प्रकार के जो कारण हैं वे भी बन्ध के कारण नहीं हैं क्योंकि जिनके शरीर में स्नेह का अभ्यङ्ग नहीं है उन पुरुषों के भी उन कारणों के द्वारा बन्ध होने लगेगा। और सचित्त-अचित्त वस्तुओं का जो उपघात है वह भी बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि जिनके शरीर में स्नेह का अभ्यङ्ग नहीं है उनके सचित्ताचित्त पदार्थों के घात होने पर बन्ध होने लगेगा। इसलिये न्याय के बल से यह आया कि उस पुरुष के शरीर में जो स्नेह का अभ्यङ्ग है वही बन्ध का कारण है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि अपने आत्मा में रागादिक को करता हुआ स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गलों के द्वारा भरे हुए लोक में काय, वचन और मन की क्रिया को करता है और अनेक प्रकार के कारणों के द्वारा वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूपी धूलि से बन्धभाव को प्राप्त होता है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उस मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कया कारण है? स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ जो यह लोक है, वह तो बन्ध का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उस लोक में स्थित जो सिद्ध भगवान् हैं उनके भी बन्ध का प्रसङ्ग आवेगा। काय, वचन और मन का व्यापार भी बन्ध का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तो यथाख्यातसंयमी के भी काय, वचन और मन के व्यापार से बन्ध होने लगेगा। अनेक प्रकार के जो कारण हैं वे भी बन्ध के कारण नहीं है क्योंकि इनके सद्भाव में केवली भगवान् के भी बन्ध की प्रसक्ति हो जावेगी। और सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी बन्ध का हेतु नहीं है क्योंकि जो मुनि ईर्य्यासमिति आदि में सावधान हैं उनके भी सचित्ताचित्त वस्तु का घात होने पर बन्ध होने लगेगा। इसलिये न्याय के बल से यह आया कि उपयोग में जो रागादिकों की एकता है वही बन्ध का कारण है।।२३७।२४१।।

यही भाव कलशा में कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्।।१६४।।

अर्थ– न तो कर्म की प्रचुरता से व्याप्त जगत् ही बन्ध का कारण है, न परिस्पन्दात्मक कर्म अर्थात् योग बन्ध का कारण है, न अनेक प्रकार के करण बन्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के कारण हैं और न चित् अचित् वस्तु का घात भी बन्ध का निमित्त है, किन्तु रागादिकों के साथ उपयोग की जो एकभूमिता है वही निश्चय से जीवों के बन्ध का कारण है।

भावार्थ—यहाँ पर बन्ध का वास्तविक कारण आत्मा के अशुद्धभाव—रागादिकभावों को ही कहा है और जो निमित्तकारण हैं उन्हें गौण कर दिया है। यदि तत्त्व से देखा जावे तो यही आता है। अन्तरङ्ग में यदि मलिनता नहीं तो बाह्य में नानाप्रकार के परिणमन होते हुए भी आत्मा नहीं बँधती। जैसे अध्यापक शिष्य को अध्ययन कराते समय नानाप्रकार के अवाच्य शब्दों का प्रयोग करता है तथा नानाप्रकार के शारीदिक दण्ड आदि का भी प्रयोग करता है फिर भी उसे कोई अपराधी नहीं मानता, क्योंकि उसका अभिप्राय विरुद्ध नहीं है। इसी तरह मन-वचन-काय के व्यापारों में कषाय के विना बन्ध की कारणता नहीं है।।१६३।।

आगे यही बात व्यतिरेकदृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं—

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं।।२४२।।
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं।।२४३।।
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किं पच्चयगो ण रयबंधो।।२४४।।
जो सो अणेहभावो तह्मि णरे तेण तस्सऽरयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहि।।२४५।।
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण।।२४६।।

(पंचकम्)

अर्थ– जिस प्रकार फिर वही मनुष्य जब तेलादिक सम्पूर्ण वस्तुओं का अपनयन कर देता है और निःस्नेह होकर उसी रेणुबहुल प्रदेश में शस्त्रों के द्वारा व्यायामक्रिया करता है, तालवृक्ष, तथा बाँसों के भिड़े को छेदता है, भेदता है, तथा सचित्त-अचित्त पदार्थों का उपघात करता है। नाना प्रकार के कारणों द्वारा उपघात करनेवाले उस पुरुष के निश्चय से विचार करो, ऐसा कौन-सा कारण है कि जिससे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसके धूलिका बन्ध नहीं होता? तब यही निर्धार होता है कि बन्ध का कारण स्नेह का सम्बन्ध है। जिसके स्नेह हैं उसके बन्ध है और जिसके स्निग्धता की सत्ता नहीं है वह धूलि से नहीं बँधता। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मन-वचन-कायरूप नानाप्रकार के योगों में स्थिर रह कर भी उपयोग में रागादिक नहीं करता है, इसीसे वह कर्मरूपी रज से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसके बन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ– जैसे वही पुरुष जब सर्व स्नेह को शरीर से पृथक् कर देता है और तदनन्तर जो स्वभाव से ही रज की बहुलता से विशिष्ट है उसी भूमि में शस्त्रों द्वारा वही व्यायाम करता है और उन्हीं अनेक प्रकार के करणों द्वारा सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता है फिर भी धूलि के साथ बन्ध को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि बन्ध का, कारण जो स्नेहाभ्यङ्ग (तैलका मर्दन) था उसका उसके अभाव है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा में रागादिक नहीं करता हुआ स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गलों की बहुलता से भरे हुए लोक में मन-वचन-काय के द्वारा वही कर्म करता है और उन्हीं नाना प्रकार के करणों के द्वारा सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करता है फिर भी ऐसा करता हुआ भी बन्ध के कारणभूत रागादिक परिणामों के अभाव से कर्मरूपी धूलि से नहीं बँधता है।।२४२।२४६।।

यही बात श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिदव्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन् केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपेत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्।।१६५।।

अर्थ– कर्मों से व्याप्त लोक रहे, मन-वचन-काय के चलनरूप योग रहे, पूर्वोक्त करण भी रहे और वह सचित्ताचित्त वस्तुओं का व्याघात भी रहे, तो भी जो रागादिक को उपयोग की भूमि में नहीं ला रहा है, तथा मात्र ज्ञानरूप हो रहा है, ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय से किसी भी कारण से बन्ध को प्राप्त नहीं होता। अहो सम्यग्दृष्टि की अद्भूत महिमा देखो।

भावार्थ– बन्ध का मूल कारण कषाय है, कार्मणवर्गणा से भरा हुआ लोक बन्ध का कारण नहीं है, मन-वचन-काय के व्यापार बन्ध के जनक नहीं हैं, करण भी बन्ध के कारण नहीं हैं और चित्-अचित् पदार्थों का घात भी बन्ध का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव एक ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, उसे रागादिक से मलिन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होने देता। इसलिये उसके बन्ध नहीं होता। सम्यग्दर्शन की ऐसी ही अद्भुत महिमा है।।१६५।।

पृथ्वीच्छन्द

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां

तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।

अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां

द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च।।१६६।।

अर्थ– यद्यपि कार्मणवर्गणा से भरा हुआ लोक आदिक बन्ध का कारण नहीं है, यह कहा गया है तो भी ज्ञानीजनों को स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना इष्ट नहीं है क्योंकि वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो बन्ध का स्थान ही है। ज्ञानीजनों का अनिच्छापूर्वक किया हुआ जो कर्म है वह बन्ध का अकारण माना गया है अर्थात् उससे बन्ध नहीं होता। जीव करता है और जानता है ये दोनों निश्चय से क्या विरुद्ध नहीं हैं? अर्थात् अवश्य ही विरुद्ध हैं।

भावार्थ– कोई यह समझे कि ज्ञानीजनों को बन्ध नहीं होता, इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने में हानि नहीं है? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि रे भाई स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो बन्ध का ही स्थान है। ज्ञानीजनों के अनिच्छापूर्वक जो कार्य होता है वह बन्ध का कारण नहीं है परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति तो अनिच्छापूर्वक नहीं है, वह तो स्पष्ट ही इच्छापूर्वक है और जहाँ इच्छा है वहाँ रागादिक का सद्भाव अवश्यंभावी है। इसलिये स्वच्छन्द प्रवृत्ति को कभी अङ्गीकृत नहीं करना चाहिये। जहाँ मात्र जानना ही रहता है, कर्तृत्व समाप्त हो जाता है वहाँ। बन्ध नहीं होता। परन्तु जहाँ इच्छापूर्वक कर्तृत्व विद्यमान है वहाँ मात्र जानना नहीं रहता और इसलिये वहाँ बन्ध का अभाव नहीं होता।।१६६।।

आगे कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध दिखाते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु

जानात्ययं न खलु तत्किल कर्म, रागः।

रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-

र्मिथ्यादृशः स नियतं स हि बन्धहेतुः।।१६७।।

अर्थ– जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। करनेवाले का जो कर्म है वह निश्चय से राग है और राग को अज्ञानमय अध्यवसाय कहते हैं, मिथ्यादृष्टि जीव के यह अध्यवसाय नियम से रहता है और वही उसके बन्ध का कारण है।

भावार्थ– सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थ को मात्र जानता है। उसके साथ राग-द्वेष नहीं करता और मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थ को जानता हुआ साथ में राग-द्वेष भी करता है। मिथ्यादृष्टि जीव का यह राग-द्वेष परमार्थ से अज्ञानमय रहता है। इसे ही आचार्यों ने अध्यवसाय कहा है। यह अध्यवसाय ही मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण माना गया है। सम्यग्दृष्टि जीव के ऐसा अध्यवसाय नहीं रहता, इसलिये उसके बन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थ को मात्र जानता है, अपने आप को उसका कर्ता नहीं मानता और मिथ्यादृष्टि जीव पदार्थ को जानता हुआ उसका अपने आप को कर्ता मानता है, इसलिये वह मात्र ज्ञाता नहीं होता। जहाँ मात्र ज्ञातृत्व है वहाँ बन्ध नहीं होता और जहाँ कर्तृत्व भी साथ में लगा रहता है वहाँ बन्ध अवश्य होता है।।१६७।।

अब मिथ्यादृष्टि का अभिप्राय गाथा में कहते हैं–

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।

सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२४७।।

अर्थ– जो जीव ऐसा मानता है कि मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ, ऐसा मानने वाला जीव मूढ है तथा अज्ञानी है। परन्तु ज्ञानी जीव इससे विरुद्ध है अर्थात् न तो मैं ही किसी का घात करने वाला हूँ और न परके द्वारा मेरा ही घात होता है, ऐसा वह मानता है।

विशेषार्थ– मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ ऐसा जो अध्यवसाय भाव है वह निश्चय से अज्ञान है। ऐसा अज्ञानभाव जिसके है वह अज्ञानी होने से मिथ्यादृष्टि है।

जिनके आशय में ऐसा निश्चय हो गया है कि मैं परजीवों का घात करने वाला हूँ और परजीव मेरा घात करनेवाले हैं, यही उनका अज्ञानभाव है क्योंकि इसके अभ्यन्तर में कर्तृत्वभाव का सद्भाव होने से ज्ञानभाव की विकृतावस्था रहती है। इसीसे आचार्यों ने इसे बन्ध का पात्र बताया है।।२४७।।

अब यह अध्यवसाय अज्ञान क्यों है, इसका उत्तर कहते हैं–

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।

आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं।।२४८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।

आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं।।२४९।।

(युग्मम्)

अर्थ– जीवों का मरण आयुःकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा गया है। जब तुम पर की आयु का हरण करने में समर्थ नहीं हो, तब तुमने उन जीवों का मरण कैसे किया? आयुःकर्म का क्षय होने से जीवों का मरण होता है, ऐसा जिनवरदेवों के द्वारा कहा गया है। तुम्हारी आयु को जब अन्य हरण करने में समर्थ नहीं तब अन्य के द्वारा तुम्हारा मरण किस प्रकार किया गया?

विशेषार्थ– जीवों का जो मरण है वह स्वकीय आयुःकर्म के क्षय से होता है क्योंकि उसके अभाव में मरण का होना असम्भव है। और अन्य का अपना आयुःकर्म अन्य के द्वारा हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वकीय उपभोग से ही उसका क्षय होता है। इससे यह निश्चय हुआ कि पुरुष अन्य पुरुष का मरण किसी भी तरह नहीं कर सकता। जब यह बात है तब मैं पर की हिंसा करता हूँ और परके द्वारा मेरी हिंसा की जाती है, ऐसा अध्यवसाय निश्चय अज्ञान है।।२४८। २४९।।

फिर पूछते हैं कि मरण के अध्यवसाय को अज्ञान कहा, यह तो जान लिया, अब मरण का प्रतिपक्षी जो जीवन का अध्यवसाय है उसकी क्या कथा है, इसका उत्तर देते हैं—

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।

सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२५०।।

अर्थ– जो आत्मा ऐसा मानता है कि परजीवों को मैं जीवित करता हूँ तथा परजीवों के द्वारा मैं जीवित किया जाता हूँ वह मूढ है, अज्ञानी है और ज्ञानी इससे विपरीत है।

विशेषार्थ– परजीवों को जिवाता हूँ और परजीवों के द्वारा मैं जिवाया जाता हूँ ऐसा जो अध्यवसाय है वह निश्चय से अज्ञानभाव है। ऐसा अज्ञानभाव जिस जीव के है वह अज्ञानी होने से मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञानभाव नहीं है वह ज्ञानी होने से सम्यग्दृष्टि है।

बहुत से जीव अहंबुद्धि के वशीभूत होकर ऐसा मानते हैं कि हम परप्राणियों की जीवनक्रिया के कर्ता हैं। यदि हम उन्हें आश्रय न देते तो उनका जीवन रहना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन था। ऐसे ही मोह के आवेग में आकर यह मानने लगते हैं कि परकी सहायता से हम जीवन-रक्षा कर रहे हैं। यदि अमुक व्यक्ति हमारी रक्षा न करते तो हमारा जीना ही कठिन था। यह सब मानना मिथ्याध्यवसाय है। परन्तु ज्ञानी जीव का विचार इससे विपरीत रहता है। वह ऐसा विचार करता है कि प्राणियों का जीवन उनके आयु:कर्म के आधीन है। परके जीवन में हम और हमारे जीवन में पर, केवल निमित्तकारण हैं, सो भी बाह्य उपकार की अपेक्षा से हैं। जैसे 'अन्नं वै प्राणा:', 'घृतं वै आयु:', 'अयं मे कुलदीपक:', 'सिंहो माणवक:' आदि उपचार से व्यवहार होता है वैसे ही यहाँ जानना चाहिये। यहाँ निमित्तकारण को गौणकर जीवन-मरण का मूल कारण जो आयु:कर्म का सद्भाव और असद्भाव है उसकी प्रधानता से कथन किया गया है। अज्ञानी जीव मूलकारण की ओर लक्ष्य न देकर केवल निमित्तकारण की ओर दृष्टि देते हुए जो कर्तृत्व का अध्यवसाय करते हैं उसका निषेध करना लक्ष्य है।।२५०।।

अब यह अध्यवसायभाव अज्ञान क्यों है? इसीका समाधान करते हैं–

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ।।२५१।।
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ।।२५२।।

(युग्मम्)

अर्थ– आयु:कर्म के उदय से जीव जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं और तुम पर की आयु को देते नहीं, फिर कैसे तुम्हारे द्वारा उन जीवों—पुरुषों का जीवन किया गया?

आयु:कर्म के उदय से जीव का जीवन है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं और परजीव तुम्हारी आयु देते नहीं, तब उनके द्वारा तुम्हारा जीवन कैसे किया गया?

विशेषार्थ– जीवों का जीवन अपने आयु:कर्म के उदय से ही होता है क्योंकि उसके अभाव में जीवन का होना असम्भव है और अन्य का आयु:कर्म अन्य के द्वारा नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उसका बन्ध अपने ही परिणामों से किया जाता है। इसीसे किसी भी प्रकार से अन्य पुरुष के द्वारा अन्य पुरुष का जीवन नहीं हो सकता। अतएव जो यह अध्यवसाय है कि मैं किसी को जिवाता हूँ और किसी के द्वारा मैं जिवाया जाता हूँ, यह निश्चित ही अज्ञान है।।२५१।२५२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे दुःख और सुख करने के अध्यवसाय की भी यही गति है, यह कहते हैं—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।२५३।।

अर्थ– जो आत्मा ऐसा मानता है कि मैं अपने आपके द्वारा इन जीवों को दुःखी और सुखी करता हूँ वह मूढ है, अज्ञानी है, और ज्ञानी इससे विपरीत है।

विशेषार्थ– परजीवों को मैं दुःखी करता हूँ तथा सुखी करता हूँ और परजीवों के द्वारा मैं दुःखी तथा सुखी किया जाता हूँ, ऐसा जो अध्यवसायभाव है वह निश्चय से अज्ञान है। यह अज्ञानभाव जिसके है वह अज्ञानी होने से मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अज्ञानभाव नहीं है वह ज्ञानी होने से सम्यदृष्टि है।।२५३।।

आगे यह अध्यवसायभाव अज्ञान क्यों है? इसका समाधान करते हैं—

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिद-सुहिदा कहं कया ते।।२५४।।
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं।।२५५।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं।।२५६।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– सभी जीव अपने-अपने कर्म के उदय से दुःखी और सुखी होते हैं। तुम उनके कर्मों को देते नहीं, तब तुम्हारे द्वारा वे दुःखी और सुखी कैसे किये गये? सम्पूर्ण जीव स्वकीय-स्वकीय कर्मों के द्वारा दुःखी और सुखी होते हैं, अन्य जीव तुम्हें कर्म देते नहीं, तब उनके द्वारा तुम दुःखी कैसे किये गये?

सकल जीव निज-निज कर्मों के उदय से दुःखी और सुखी होते हैं। अन्य जीव तुम्हें कर्म देते नहीं, फिर उनके द्वारा तुम सुखी कैसे किये गये?

विशेषार्थ– सुख और दुःख जीवों को अपने कर्मों के विपाक से ही होते हैं। यदि साता-असाता का उदय और सहकारी कारण रति और अरतिरूप मोहकर्म का उदय न हो, तो सुख और दुःख की उत्पत्ति नहीं बन सकती और जिस जीव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का सुख-दु:ख देनेवाला जो साता और असाता कर्म है उसे अन्य जीव देने के लिये असमर्थ हैं क्योंकि वह कर्म अपने ही परिणामों से उपार्जित होता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि किसी प्रकार से भी अन्य जीव को अन्य जीव सुख-दु:ख नहीं दे सकता। अतएव जो ऐसा मानते हैं कि मैं अन्य जीवों को सुखी और दु:खी करता हूँ तथा अन्य जीव मुझे सुखी और दु:खी करते हैं उनका यह अध्यवसायभाव है जो निश्चय से अज्ञान है।।२५४/२५६।।

आगे यही भाव कलशा में दिखाते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर: परस्य
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदु:खसौख्यम्।।१६८।।

अर्थ– सभी काल में प्राणियों के मरण-जीवन-दु:ख-सुख आदि जो कुछ विभावपरिणमन है वह सम्पूर्ण स्वोपार्जित कर्म के उदय से होता है और जो ऐसा मानता है कि परपुरुष पर के मरण, जीवन, दु:ख और सुख को करता है, इस लोक में यह उसका अज्ञान है।

भावार्थ– संसार में प्रत्येक प्राणी को जो जीवन, मरण, सुख अथवा दु:ख प्राप्त होता है वह उसके कर्मोदय के अनुसार ही प्राप्त होता है। इसमें अन्तरङ्ग कारण सबका अपना-अपना कर्मोदय है। अन्य पुरुष निमित्तकारण हैं। उसे यहाँ गौणकर कथन किया गया है।।१६८।।

वसन्ततिलकाछन्द

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति।।१६९।।

अर्थ– इस अज्ञानभाव को प्राप्त होकर जो प्राणी पर से पर का मरण, जीवन, दु:ख और सुख का अवलोकन करते हैं वे अहंकार से मदोन्मत्त होकर कर्म करने के इच्छुक होते हुए निश्चय से मिथ्यादृष्टि आत्मघाती हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ– परजीव पर को सुख-दु:ख करता है, यह अज्ञान है। इस अज्ञान के वशीभूत होकर जो परद्रव्य का कर्तृत्व अपने ऊपर लेते हैं वे मिथ्यादृष्टि आत्मा के शुद्ध स्वभाव के घातक होने से आत्मघाती है।।१६९।।

अब यही भाव गाथा द्वारा प्रकट करते हैं—

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।२५७।।
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तह्मा ण मारिदो ण दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ।।२५८।।

(जुगलम्)

अर्थ– जो मरता है और जो दु:खी होता है वह सब अपने कर्म के उदय से होता है, इसलिये मैंने इसे मारा अथवा दु:खी किया, ऐसा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? जो नहीं मरता है तथा दु:खी नहीं होता है वह भी निश्चयकर अपने कर्मोदय से ही। इससे तुम्हारा जो अभिप्राय है कि हमने नहीं मारा तथा हमने दु:खी नहीं किया वह क्या मिथ्या नहीं है?

विशेषार्थ– निश्चय से जो मरता है, दु:खी होता है अथवा सुखी होता है वह अपने कर्मोदय से ही इन सब अवस्थाओं को प्राप्त होता है। यदि वैसा कर्म का उदय न हो तो ये सब अवस्थाएँ नहीं हो सकती हैं। इससे 'यह मेरे द्वारा मारा गया अथवा यह हमारे द्वारा जीवित किया अथवा दु:खी किया गया या सुखी किया गया' ऐसा जिसका श्रद्धान है वह मिथ्यादृष्टि है।।२५७।२५८।।

अब यही भाव कलशा में प्रकट करते हैं—

अनुष्टुपछन्द

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्मास्य दृश्यते।।१७०।।

अर्थ– मिथ्यादृष्टि जीव के जो यह अज्ञानात्मक अध्यवसायभाव देखा जाता है वही स्वरूप से विपरीत होने के कारण बन्ध का हेतु है।

भावार्थ– परजीव, पर को जिवाता है, मारता है, सुखी करता है तथा दु:खी करता है, ऐसा भाव अज्ञानमयभाव है। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव के होता है तथा बन्ध का कारण है।।१७०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे यही अध्यवसाय बन्ध का कारण है, यह कहते हैं—

एसा दु जा मई दे दुःखिद-सुहिदे करेमि सत्तेति।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं।।२५९।।

अर्थ– हे आत्मन् तुम्हारी जो यह मति है कि मैं प्राणियों को दु:खी अथवा सुखी करता हूँ सो तुम्हारी यही मूढमति शुभ-अशुभ कर्म को बाँधती है।

विशेषार्थ– मैं परजीवों को मारता हूँ अथवा नहीं मारता हूँ, दु:खी करता हूँ अथवा सुखी करता हूँ, इस प्रकार का मिथ्यादृष्टि जीव के जो अज्ञानमय अध्यवसायभाव है वह स्वयं रागादिरूप होने से उसके शुभ-अशुभ बन्ध का कारण होता है।।२५९।।

अब अध्यवसाय ही बन्ध का हेतु है, ऐसा नियम करते हैं–

दुक्खिद-सुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६०।।
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।२६१।।

(युग्मम्)

अर्थ– तेरा जो यह अध्यवसाय है कि मैं प्राणियों को दु:खी अथवा सुखी करता हूँ, सो यह अध्यवसाय ही पाप और पुण्य का बन्ध करने वाला होता है। इसी प्रकार जो तेरा यह अध्यवसाय है कि मैं प्राणि को मारता हूँ, अथवा जिवाता हूँ, सो तेरा यह अध्यवसाय ही पाप और पुण्य का बन्ध करनेवाला है।

विशेषार्थ– मिथ्यादृष्टि जीव के अज्ञान से जायमान जो यह रागमय अध्यवसायभाव है, यही बन्ध का हेतु है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। पुण्य और पाप के भेद से बन्ध दो प्रकार का है, इसलिये बन्ध का अन्य कारण खोजने योग्य नहीं है, क्योंकि इस एक ही अध्यवसाय भाव से मैं दु:खी करता हूँ, मारता हूँ, सुखी करता हूँ, अथवा जीवित करता हूँ। इस तरह दो प्रकार के शुभ और अशुभ अहंकार रस से भरे हुए होने के कारण पुण्य और पाप दोनों के बन्ध हेतुपन में विरोध नहीं है।

यह जो अज्ञानमय अध्यवसायभाव है यही बन्ध का कारण है। उसमें जहाँ जीवनदान देने या सुखी करने का अभिप्राय है वहाँ तो शुभ अध्यवसाय और जहाँ मारने का या दु:खी करने का अभिप्राय है, वहाँ अशुभ अध्यवसाय है। ऐसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुस्थिति होने से अहंकाररूप अज्ञानभाव की समानता दोनों में है। अत: यह न जानना कि शुभ बन्ध का कारण अन्य है और अशुभ बन्ध का कारण अन्य है। पर अज्ञान की अपेक्षा दोनों एक ही हैं।।२६०।२६१।।

इसी प्रकार हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है, यह सिद्ध हुआ, यह कहते हैं—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।।२६२।।

अर्थ– प्राणियों को मारो, चाहे मत मारो, अध्यवसायभाव से ही बन्ध होता है, निश्चयनय का संक्षेप से जीवों के बन्धन के विषय में यह निश्चित सिद्धान्त है। तात्पर्य यह है कि प्राणी का घात होवे अथवा मत होवे, यदि मारने का अभिप्राय है तो नियम से बन्ध है। यदि कोई जीव किसी जीव को मारना चाहता है और वह जीव स्वकीय आयुकर्म के निमित्त से नहीं मरता तो भी मारने के अभिप्रायवाला पापभागी होता ही है।

विशेषार्थ– परजीवों का स्वकीय कर्मोदय की विचित्रता से कदाचित् प्राण का वियोग होवे अथवा न होवे, किन्तु 'मैं इसे मारता हूँ' ऐसा जो अहंकार से भरा हुआ हिंसा के विषय में अध्यवसायभाव है वह भाव ही निश्चय से उस जीव के बन्ध का जनक है। परमार्थ से पर के प्राणव्यपरोपण में पर की सामर्थ्य नहीं है।।२६२।।

आगे अध्यवसायभाव ही पुण्य और पाप के बन्ध का कारण है, यह दिखाते हैं–

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पावं।।२६३।।
तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गगहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं।।२६४।।

(युग्मम्)

अर्थ– जिस प्रकार हिंसा का अध्यवसाय कहा, उसी प्रकार मिथ्याभाषण, अदत्तग्रहण, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के विषय में जो अध्यवसान किया जाता है उससे पापबन्ध होता है तथा सत्यभाषण, दत्तग्रहण, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के विषय में जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यबन्ध होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– इसप्रकार अज्ञान से जैसा हिंसा के विषय में यह अध्यवसायभाव किया जाता है वैसा ही असत्य, अदत्त, अब्रह्म और परिग्रह के विषय में जो अध्यवसाय किया जाता है वह सब केवल पापबन्ध का हेतु है और अहिंसा के विषय में जैसा अध्यवसाय किया जाता है वैसा ही सत्य-दत्त-ब्रह्म और अपरिग्रह के विषय में जो अध्यवसाय किया जाता है वह सब केवल पुण्यबन्ध का हेतु है।

भाव यह है कि जैसे हिंसा में अहंकार रस से भरे हुए मलिनभाव से पाप का बन्ध होता है। वैसे ही झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह में भी अहंकार रस से पूरित जो कर्तृत्वभाव है वह भी पाप का जनक है। इसीतरह अहिंसा में होनेवाला कर्तृत्वभाव जिस प्रकार पुण्य का जनक है उसी तरह सत्यभाषण, दत्तग्रहण, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में भी होनेवाला कर्तृत्वभाव पुण्य का जनक है।।२६३-२६४।।

आगे अध्यवसानभाव ही बन्ध का कारण है, बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है, यह कहते हैं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।२६५।।

अर्थ– जीवों के जो अध्यवसान होता है वह यद्यपि बाह्य वस्तु की अपेक्षा होता है फिर भी बाह्य वस्तु से बन्ध नहीं होता, अध्यवसानभाव के ही द्वारा बन्ध होता है।

विशेषार्थ– अध्यवसानभाव ही बन्ध का कारण है, बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं होती। बाह्य वस्तु, बन्ध का कारण जो अध्यवसानभाव है उसके हेतुपन से ही चरितार्थ होती है। जिसप्रकार इन्द्रियाँ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं परन्तु अज्ञान की निवृत्ति में ज्ञान ही कारण है। इसी प्रकार बाह्य वस्तु अध्यवसान की उत्पत्ति में कारण है परन्तु बन्ध में अध्यवसान भाव ही कारण है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब बाह्य पदार्थ बन्ध में कारण नहीं तब उनका प्रतिषेध करने से क्या लाभ है? इसका उत्तर यह है कि अध्यवसान के निषेध के अर्थ बाह्य पदार्थों का निषेध है क्योंकि अध्यवसानभाव का आश्रयभूत बाह्य पदार्थ है। बाह्य पदार्थ के आश्रय के विना अध्यावसान अपने आत्मलाभ को नहीं कर सकता है। यदि बाह्य वस्तु के आश्रय के बिना भी अध्यवसानभाव की उत्पत्ति हो जावे तो जैसे यह अध्यवसानभाव होता है कि मैं वीरजननी के पुत्र को मारूँ वैसे ही बन्ध्या पुत्र को मैं मारूँ, ऐसा भी अध्यवसानभाव होने लगेगा। परन्तु ऐसा अध्यवसानभाव होता नहीं, क्यों वीरजननी के पुत्र की तरह बन्ध्यापुत्र का सद्भाव नहीं। अत: वीरप्रसविनी माता के पुत्र को जैसे मैं मारूँ, ऐसा अध्यवसानभाव होता है वैसा वन्ध्यापुत्र को मारने का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्यवसानभाव नहीं होता, क्योंकि वन्ध्यापुत्र अलीक है और अलीक का अध्यवसान नहीं होता। इससे यह नियम है कि निराश्रय अध्यवसानभाव नहीं होता। अत: अध्यवसान का आश्रयभूत बाह्य वस्तु का अत्यन्त प्रतिषेध आचार्यों ने बताया है, क्योंकि हेतु के निषेध से हेतुमान् का भी निषेध हो जाता है। यद्यपि बाह्य वस्तु बन्ध के कारण का कारण है तो भी बाह्य वस्तु बन्ध का जनक नहीं है। जैसे ईर्यासमिति में सावधान यतीन्द्र के पद से कोई काल का प्रेरा सूक्ष्म जीव यदि मरण को भी प्राप्त हो जावे तो भी ईर्यासमिति में सावधान यतीन्द्र के तन्मरण सम्बन्धी बन्ध नहीं होता। अत: बाह्य वस्तु बन्ध के हेतु में नियमरूप से हेतु भी नहीं है क्योंकि यहाँ पर बाह्य क्रिया तो हो गयी परन्तु अध्यवसान नहीं हुआ। अतएव बाह्य पदार्थ जीव का तद्भाव न होने से बन्ध का कारण नहीं है, अध्यवसान ही जीव का तद्भाव है। अत: वही बन्ध का कारण है।।२६५।।

इस प्रकार बन्ध के कारणपन से निर्धारित जो अध्यवसानभाव है, उसके स्वार्थक्रियाकारित्व का अभाव होने से मिथ्यापन को दिखाते हैं—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा।।२६६।।

अर्थ– हे जीव! तेरी जो यह मूढ बुद्धि है कि मैं जीवों को दु:खी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बाँधता हूँ तथा छोड़ता हूँ, यह सब निरर्थक है, अतएव निश्चय से मिथ्या है।

विशेषार्थ– परजीवों को मैं दु:खी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बन्धन में डालता हूँ तथा छोड़ देता हूँ, यह जो अध्यवसानभाव हैं सो वे सभी अध्यवसानभाव परपदार्थ में अपना व्यापार करने को असमर्थ हैं। इसीसे इसके स्वार्थक्रियाकारित्व का अभाव है। अतएव इस अध्यवसानभाव के 'आकाश के फूल को चयन करता हूँ' इस अध्यवसान की तरह मिथ्यारूपता ही है और वह केवल आत्मा के अनर्थ के लिये ही है।।२६६।।

अब अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी क्यों नहीं है, यह दिखाते हैं–

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुमं।।२६७।।

अर्थ– यदि जीव अध्यवसान के निमित्त से कर्मों के द्वारा बन्ध को प्राप्त होते हैं और यदि मोक्षमार्ग में स्थित होकर कर्मों से छूट जाते हैं तो तूँ क्या करता है?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– निश्चयकर मैं बँधता हूँ अथवा छुड़ाता हूँ, ऐसा जो अध्यवसानभाव है, इसकी स्वार्थक्रिया जीवों को बँधाना और छुड़ाना है, परन्तु जीव तो इस अध्यवसानभाव का सद्भाव होने पर भी स्वकीय, सराग, वीतराग परिणामों के अभाव से न बँधता और न छूटता है अर्थात् किसी जीव ने यह अध्यवसानभाव किया कि यह बन्ध को प्राप्त हो जावे अथवा ऐसा भाव किया कि अमुक जीव कर्मबन्धन से छूट जावे, परन्तु उस जीव के उस प्रकार का भाव होने से न तो वह जीव बँधता है और न छूटता है और यदि उन जीवों के सराग तथा वीतराग परिणाम हो जावे, तो इस अध्यवसानभाव का अभाव होने पर भी वे जीव बँध जाते हैं और छूट जाते हैं, अतएव यह अध्यवसानभाव पर में अकिञ्चित्कर होने से स्वार्थक्रियाकारी नहीं है, इसीसे मिथ्या है।।२६७।।

अब इस निष्फल अध्यवसान का कार्य बताने के लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत्।।१७१।।

अर्थ– इस निष्फल अध्यवसानभाव के द्वारा मोहित हुआ आत्मा, ऐसा कुछ नहीं है जिस रूप अपने को न करता हो।

भावार्थ– इस अध्यवसानभाव के कारण यह जीव अपने आप में सबका कर्तृत्व प्रकट करता है।।१७१।।

आगे इसी अर्थ को गाथा में कहते हैं–

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं।।२६८।।
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं।।२६९।।

(जुगलं)

अर्थ– जीव अध्यवसानभाव के द्वारा सम्पूर्ण तिर्यञ्च, नारकी, देव और मनुष्य सभी को अपने रूप करता है और अनेक प्रकार के पुण्य-पाप को तथा धर्म-अधर्म, जीव-अजीव और लोक-अलोक इन सभी को जीव अध्यवसान के द्वारा आत्मस्वरूप करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– जिस प्रकार यह जीव जब हिंसा का अध्यवसान करता है अर्थात् 'मैं इसे मारूँ' ऐसा अभिप्राय करता है तब अपने को हिंसक बनाता है उसी प्रकार असत्यभाषण, आदि के अध्यवसान से अपने को असत्यभाषी आदि करता है। तथा उदय में आये हुए नारकभाव के अध्यवसाय से अपने आपको नारक, उदय में आये हुए तिर्यञ्च के अध्यवसाय से अपने आपको तिर्यञ्च, उदयागत मनुष्य के अध्यवसाय से अपने आप को मनुष्य, उदयागत देव के अध्यवसाय से अपने आपको देव, उदयागत सुखादि पुण्य के अध्यवसान से अपने आप को पुण्य और उदयागत दुःखादि पाप के अध्यवसान से अपने आप को पाप करता है। इसी प्रकार ज्ञायमान अर्थात् जानने में आये हुए धर्म के अध्यवसान से अपने आपको धर्म, ज्ञायमान अधर्म के अध्यवसान से अपने आपको अधर्म, ज्ञायमान अन्य जीव के अध्यवसान से अपने आपको अन्य जीव, ज्ञायमान पुद्गल के अध्यवसाय से अपने आपको पुद्गल, ज्ञायमान लोकाकाश के अध्यवसान से अपने आपको लोकाकाश और ज्ञायमान अलोकाकाश के अध्यवसाय से अपने आपको अलोकाकाशरूप करता है।। २६८-२६९।।

अब इस अध्यवसानभाव की निन्दा करते हुए कलशकाव्य कहते हैं—

इन्द्रवज्राछन्द

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैव कन्दोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषां यतयस्त एव।।१७२।।

अर्थ– विश्व से भिन्न होने पर भी जिसके प्रभाव से आत्मा अपने आपको विश्वरूप करता है तथा मोह ही जिसकी एक जड़ है ऐसा अध्यवसानभाव जिनके नहीं है वे ही यति हैं।

भावार्थ– यह अध्यवसानभाव समस्त अनर्थों का स्थान है। मोह अर्थात् मिथ्यात्व से इसकी उत्पत्ति होती है। इसके प्रभाव से यह जीव अपने आपको नानारूप मानता है। जबकि वस्तुस्वरूप की अपेक्षा पर से भिन्न और स्वीय-स्वरूप से अभिन्न है। इस अध्यवसान को जिन्होंने नष्ट कर दिया है वे ही यति हैं। उन्हीं का संसारपरिभ्रमण से उपरम हुआ है।।१७२।।

आगे कहते हैं कि जो मुनि इस अध्यवसाय से रहित हैं वे ही कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एदाणि णत्थि जेसिं अज्जवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।२७०।।

अर्थ– ये जो पूर्व में अध्यवसानभाव कह आये हैं उन्हें आदि लेकर और भी जो अध्यवसानभाव हैं वे सब जिनके नहीं हैं वे मुनिमहोदय शुभ-अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते हैं।

विशेषार्थ– निश्चय से अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र के भेद से अध्यवसानभाव तीन प्रकार के हैं। इनके अन्दर सकल अध्यवसानभावों का समावेश हो जाता है। यही तीनों भाव स्वयं अज्ञानरूप होने से शुभ-अशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं। यही दिखाते हैं- 'मैं इसको मारता हूँ' ऐसा जो यह अध्यवसानभाव है वह अज्ञानादिरूप है क्योंकि सद् अहेतुक और एक अज्ञप्तिक्रिया से युक्त आत्मा का तथा रागद्वेष के विपाक से तन्मय हननादि क्रियाओं का विशेष ज्ञान न होने से रागादि विभाव परिणामों से भिन्न आत्मा का बोध न होने के कारण अज्ञानरूप है, उसी तरह रागादि विभावपरिणामों से भिन्न आत्मा का दर्शन न होने से मिथ्यादर्शनरूप है, और रागादि विभावपरिणामों से भिन्न आत्मा का आचरण न होने से आचारित्र है। और 'यह धर्मद्रव्य जाना जाता है' इत्यादिरूप जो अध्यवसान है वह भी अज्ञानादिरूप है क्योंकि सद् अहेतुक और एक ज्ञानरूप आत्मा तथा ज्ञेयरूप धर्मादि द्रव्यों का विशेष ज्ञान न होने से परपदार्थ से भिन्न आत्मा का ज्ञान न होने के कारण जैसे अज्ञानरूप है उसी तरह परपदार्थ से भिन्न आत्मा का दर्शन न होने से मिथ्यादर्शनरूप है, और परपदार्थ से भिन्न आत्मा का आचरण न होने से अचारित्ररूप है। इसीसे ये सब अध्यवसानभाव बन्ध के ही निमित्त हैं। जिन महापवित्र आत्माओं के ये अध्यवसान नहीं हैं वे ही मुनिकुञ्जर हैं—श्रेष्ठ मुनिराज हैं। यही महानुभाव सद् अहेतुक एक ज्ञप्तिक्रियारूप, सद् अहेतुक एक ज्ञायकभावरूप और सद् अहेतुक एक ज्ञानरूप शुद्ध आत्मा को जानते हुए, उसी का अच्छी तरह अवलोकन करते हुए तथा उसी का आचरण करते हुए जिनके स्वच्छ-स्वच्छन्द और बहुत भारी अन्तर-ज्योति प्रकट हुई है ऐसे होते हुए अज्ञानादिरूपत्व का अभाव होने से शुभ-अशुभकर्म से लिप्त नहीं होते अर्थात् बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं।।२७०।।

अब अध्यवसानभाव क्या है, यह दिखाते हैं–

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।।२७१।।

अर्थ– बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थवाचक ही हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– जहाँ पर स्व और पर का विवेक नहीं होता है वहीं पर जीव के अध्यवसान भाव का उदय होता है, उसी को बोधनमात्रपन से बुद्धि कहते हैं, व्यवसायमात्रपन से व्यवसाय कहते हैं, मननमात्रपन से मति कहते हैं, विज्ञप्तिमात्रपन से विज्ञान कहते हैं, चेतनमात्रपन से चित्त कहते हैं, चित् के भवनमात्रपन से भाव कहते हैं, और चित् के परिणमनमात्रपन से परिणाम कहते हैं। ये जो बुद्धि आदि को लेकर आठ नाम कहे गये हैं वे सभी चेतन के परिणाम हैं। जब तक आत्मा और परपदार्थों का भेदज्ञान नहीं होता है तब ही तक ये होते हैं, भेदज्ञान के उत्पन्न होने से स्वयमेव वे चले जाते हैं।।२७१।।

अब सब प्रकार का अध्यवसानभाव त्यागने योग्य है, यह कलशा में प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्।।१७३।।

अर्थ– सर्व पदार्थों में जो अध्यवसानभाव है वह त्यागने योग्य है, ऐसा जिनेन्द्रभगवान् ने कहा है। इससे हम ऐसा मानते हैं कि अन्य पदार्थों के आश्रय से जितना भी व्यवहार है वह सभी छुड़ाया है। अतः ये सन्त पुरुष निष्कम्परूप से एक निश्चय का ही अच्छी तरह आलम्बन लेकर शुद्धज्ञानघन निजमहिमा में ही स्थिरता को क्यों नहीं धारण करते?

भावार्थ– जिस प्रकार अध्यवसान भाव पर के आश्रय से होता है उसी प्रकार व्यवहारनय भी पर के आश्रय से होता है। जिनेन्द्र भगवान् ने सभी प्रकार का अध्यवसान भाव छोड़ने योग्य बतलाया है। उसका फलितार्थ यह निकलता है कि पर के आश्रय से होनेवाला व्यवहारनय भी छोड़ने योग्य है। इस तरह जब व्यवहारनय छोड़ने योग्य पदार्थों की कोटि में आता है तब सन्तपुरुष निश्चलभाव से एक निश्चय का ही अच्छी तरह आश्रय कर निश्चयनय के द्वारा प्रतिपादित शुद्धज्ञानघन जो निज की महिमा है उसी में स्थिरता को क्यों नहीं प्राप्त होते? इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया गया है।।१७३।।

अब निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है, यह गाथा में दिखाते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।

णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।२७२।।

अर्थ– इस रीति से व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा प्रतिषेध करने योग्य है, यह जानो। जो मुनि निश्चयनय का आश्रय करनेवाले हैं वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ– जो आत्मामात्र का आलम्बनकर प्रवृत्ति करता है वह निश्चयनय है और जो पराश्रित है अर्थात् पर के आश्रय से प्रवृत्ति करता है वह व्यवहारनय है। इन दोनों नयों में पूर्वोक्त प्रकार से परके आश्रय से होनेवाला समस्त अध्यवसान बन्ध का हेतु है, अत: मोक्षाभिलाक्षी जन को वह छोड़ने योग्य है, ऐसा उपदेश देनेवाले आचार्य ने निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का ही प्रतिषेध किया है क्योंकि अध्यवसान की तरह व्यवहार भी परके ही आश्रय से होता है। यह व्यवहार प्रतिषेध के योग्य है भी, क्योंकि आत्मा के आश्रय से होनेवाले निश्चयनय का आश्रय करनेवाले मुनि ही कर्मबन्ध से मुक्त होते हैं। पर के आश्रय से होनेवाले व्यवहारनय का आश्रय तो नियम से मुक्त न होनेवाले अभव्य जीव के द्वारा भी किया जाता है।

जिनागम में निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो नय प्ररूपित किये गये हैं। इनमें जो पर पदार्थ के आश्रय से रहित आत्मा का ही वर्णन करता है वह निश्चयनय है और जो परपदार्थ के आश्रय से होनेवाली अवस्थाओं को आत्मा की अवस्थाएँ बतलाता है वह व्यवहारनय है। अपने-अपने स्थान पर दोनों नय उपयोगिता को प्राप्त हैं। परन्तु यहाँ पर बन्धाधिकार के प्रकरण में अध्यवसानभाव की समानता रखने के कारण निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय को प्रतिषेध के योग्य बतलाया है क्योंकि बन्ध की निवृत्ति निश्चयनय का आश्रय करनेवाले मुनियों के ही होती है, मात्र व्यवहारनय का आश्रय तो ऐसे अभव्य जीव भी कर लेते हैं जिन्हें एकान्त से-नियम से कभी मुक्ति होती ही नहीं है। यहाँ निर्वाण की प्राप्ति निश्चयनय का आश्रय करनेवाले मुनियों के कहीं गई है, सो उसका यह तात्पर्य ग्राह्य नहीं है कि वे मुनि व्यवहारनय के द्वारा प्रतिपादित व्रत, समिति, गुप्ति आदि का परित्याग कर मात्र निश्चयनय का आश्रय लेते हैं, क्योंकि अपने पदानुसार इन सब क्रियाओं को वे करते हैं। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों की उपयोगिता उनकी सापेक्ष अवस्था में ही होती है, निरपेक्ष अवस्था में नहीं। ज्यों-ज्यों यह प्राणी उच्चतम भूमिका में पहुँचता जाता है त्यों-त्यों इसका पराश्रितपन स्वयं छूटता जाता है और स्वाश्रितपन आता जाता है। इस दृष्टि से यह कथन किया जाता है कि निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है।।२७२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे अभव्य द्वारा व्यवहारनय का आश्रय किस प्रकार किया जाता है, यह कहते हैं—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु।।२७३।।

अर्थ– व्रत, समिति, गुप्ति शील और तप श्रीजिनवरदेव ने कहे हैं। इनको करता हुआ भी अभव्यजीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

विशेषार्थ– शील और तप से परिपूर्ण तथा तीन गुप्ति और पाँच समितियों से युक्त अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप जो व्यवहारचारित्र है उसे अभव्य भी कर सकता है फिर वह निश्चारित्र, अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही रहता है क्योंकि निश्चयचारित्र के हेतुभूत ज्ञान और श्रद्धान से वह शून्य होता है।

अभव्यजीव के दर्शनमोहनीयकर्म का उपशमादि न होने से न तो सम्यग्दर्शन होता है और चारित्रमोहनीयकर्म का उपशमादि न होने से न सम्यक्चारित्र होता है। केवल कषायों का मन्द उदय होने से व्यवहारचारित्र होता है, जो मोक्षमार्ग का साधक नहीं, मात्र पुण्य का जनक होने से स्वर्गादिक के ही लाभ में निमित्त रहता है।।२७३।।

आगे उस अभव्य के तो ग्यारह अङ्गतक का ज्ञान होता है फिर उसे अज्ञानी क्यों कहते, इसका उत्तर देते हैं—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहं तस्स णाणं तु।।२७४।।

अर्थ– मोक्ष की श्रद्धा नहीं करता हुआ जो अभव्य जीव अध्ययन करता है वह अध्ययन सम्यग्ज्ञान की श्रद्धा न करनेवाले उस अभव्य जीव के गुण नहीं करता है अर्थात् द्रव्यश्रुत हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन के बिना अभव्यजीव का पढ़ना तथा ज्ञान मोक्षमार्ग में उपकारी नहीं होता।

विशेषार्थ– अभव्य जीव मोक्षतत्त्व की श्रद्धा नहीं करता है क्योंकि वह शुद्धज्ञानात्मक आत्मज्ञान से शून्य है। इसीसे उसके ज्ञान की श्रद्धा नहीं है क्योंकि वह शुद्धज्ञानमय आत्मज्ञान से पराङ्मुख है। एकादशाङ्गश्रुत का अध्ययन करके भी श्रुताध्ययन के फलस्वरूप आत्मज्ञानगुण का अभाव होने से अभव्यजीव ज्ञानी नहीं होता। श्रुताध्ययन का गुण तो वह है कि परवस्तु से भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा का जो ज्ञान होता है उस वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मज्ञान की अभव्य के श्रद्धा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। इसीसे इस अभव्य के श्रुताध्ययन के द्वारा वह नहीं हो सकता अर्थात् केवल श्रुत के अध्ययन से उस आत्मज्ञान की प्राप्ति होना अतिदुर्लभ है। इसीलिये अभव्य के उस गुण का अभाव है। अतएव ज्ञान और श्रद्धान के अभाव से वह अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि है, ऐसा नियम किया गया है।।२७४।।

आगे उस अभव्य के धर्म का श्रद्धान तो है, इसका निषेध करते हैं–

सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो हि फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।।२७५।।

अर्थ– वह अभव्य जीव धर्म की श्रद्धा भी करता है, प्रतीति भी करता है, रुचि भी करता है और पुनः-पुनः स्पर्श भी करता है परन्तु जो धर्म भोग का निमित्त है उसी धर्म की श्रद्धा आदि करता है, कर्मक्षय का निमित्तभूत जो धर्म है उसकी श्रद्धा आदि नहीं करता।

विशेषार्थ– अभव्य जीव नित्य ही कर्म और कर्मफल चेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है, नित्यज्ञान चेतनास्वरूप जो आत्मतत्त्व है उसकी श्रद्धा नहीं करता, क्योंकि वह नित्य ही भेदविज्ञान के अयोग्य है। इसीसे वह अभव्यजीव कर्मक्षय में निमित्तभूत ज्ञानमात्र जो भूतार्थ धर्म है उसकी श्रद्धा नहीं करता किन्तु भोगों के निमित्तभूत शुभकर्ममात्र जो अभूतार्थ धर्म है उसी की श्रद्धा करता है, इसीलिये यह अभव्यजीव अभूतार्थधर्म के श्रद्धान, प्रत्ययन, रोचन और स्पर्शन के द्वारा उपरितन ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त हो सकता है। परन्त कर्मबन्धन से मुक्त कभी नहीं होता। इसलिये भूतार्थधर्म की श्रद्धा का अभाव होने से अभव्य के श्रद्धान भी नहीं है। ऐसा होने पर निश्चयनय के लिये व्यवहारनय का प्रतिषेध करना युक्त ही है।।२७५।।

आगे व्यवहारनय को प्रतिषेध्य कहा है और निश्चयनय को प्रतिषेधक, सो ये दोनों नय कैसे हैं, इसका उत्तर कहते हैं—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो।।२७६।।
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।२७७।।

(युगलम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– आचाराङ्ग आदि ज्ञान है, जीवादि पदार्थ दर्शन हैं और षट्काय के जीवों की रक्षा चारित्र है, व्यवहारनय कहता है। और मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन तथा चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर है और मेरा आत्मा ही योग-ध्यान है, यह निश्चयनय कहता है।

विशेषार्थ– ज्ञान का आश्रय होने से आचाराङ्ग आदि द्रव्यश्रुतज्ञान है, दर्शन का आश्रय होने से जीवादि नौ पदार्थ दर्शन हैं और चारित्र का आश्रय होने से छहकाय के जीवों की रक्षा करना चारित्र है, यह सब व्यवहारनय का कथन है। और ज्ञान का आधार होने से शुद्ध आत्मा ज्ञान है, दर्शन का आधार होने से शुद्ध आत्मा दर्शन है तथा चारित्र का आधार होने से शुद्ध आत्मा चारित्र है, इसप्रकार निश्चयनय का कहना है।

यहाँ पर आचाराङ्गादिको ज्ञान का आश्रय मानने से अभव्यजीव में अनैकान्तिकपन आता है, अत: व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है। और निश्चयनय ज्ञानादिक का आश्रय शुद्ध आत्मा को मानता है, अत: उसमें ऐकान्तिकपन है अर्थात् अनैकान्तिक दोष का अभाव है, इसलिये वह प्रतिषेधक है। यही दिखाते हैं— आचाराङ्गादि जो शब्दश्रुत है वह एकान्तरूप से ज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि आचाराङ्गादि शब्दश्रुत के सद्भाव में भी अभव्यजीवों के शुद्धात्मा का अभाव होने से सम्यग्ज्ञान का अभाव है। इसीतरह जीवादि पदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं है क्योंकि उनका सद्भाव होने पर भी अभव्यजीवों के शुद्धात्मा की उपलब्धि का अभाव होने से सम्यग्दर्शन का अभाव है। और इसीतरह षट्काय के जीवों की रक्षा भी चारित्र का आश्रय नहीं है क्योंकि इनका सद्भाव होने पर भी अभव्यजीवों के शुद्धात्मा का अभाव होने से चारित्र का अभाव है। इसके विपरीत निश्चयनय में शुद्धात्मा का ज्ञान आदि के साथ ऐकान्तिकपन है। जैसे शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है क्योंकि आचाराङ्गादि शब्दश्रुत का चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्ध आत्मा का सद्भाव होने से सम्यग्ज्ञान का सद्भाव एकान्तरूप से—नियमरूप से रहता ही है। इसीप्रकार शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है क्योंकि जीवादि पदार्थों का चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्ध आत्मा का सद्भाव होने से सम्यग्दर्शन का सद्भाव एकान्तरूप से—नियमरूप से रहता ही है। इसीतरह शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है क्योंकि छहकाय के जीवों की रक्षा का चाहे सद्भाव हो, चाहे असद्भाव हो, शुद्धात्मा का सद्भाव होने से सम्यक् चारित्र का सद्भाव एकान्तरूप से—नियमरूप से रहता ही है।।२७६।२७७।।

आगे रागादिक का निमित्त क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये जो गाथाएँ कही जानेवाली हैं उनकी अवतरणिका के लिये कलशकाव्य कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपजातिछन्द

रागादयो बन्धनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः।।२७४।।

अर्थ– जो रागादिक बन्ध के कारण कहे गये हैं वे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतेज से भिन्न हैं। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उन रागादिक का निमित्त क्या है, आत्मा है या परद्रव्य? इस प्रकार प्रेरित हुए आचार्य पुनः इस प्रकार कहते हैं।।१७४।।

अब दृष्टान्त द्वारा रागादिक का निमित्तकारण आचार्य बताते हैं–

जह फलहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहि दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।२७८।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।।२७९।।

(युगलम्)

अर्थ– जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह लाल आदि रङ्गरूप स्वयं नहीं परिणमता, किन्तु लाल आदि अन्य द्रव्यों के द्वारा तद्-तद् रङ्गरूप हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है वह स्वयं रागादिरूप परिणमन नहीं करता, किन्तु रागादिक अन्य दोषों के कारण तद्-तद् दोषरूप परिणम जाता है।

विशेषार्थ– जैसे निश्चय कर स्फटिकमणि परिणामस्वभाव वाला है और इस परिणमन-स्वभाव का सद्भाव होने पर भी अपना जो शुद्ध स्वभाव है वह लाल, पीला, हरा आदिरूप परिणमन करने में निमित्त नहीं है। इसीसे वह स्वयं लाल आदि रङ्गरूप परिणमन नहीं करता किन्तु परद्रव्य जो जपापुष्पादि हैं वे स्वयं लाल, पीले, हरे आदिरूप हैं, अतः उनकी डाँक का निमित्त पाकर स्फटिकमणि लाल, पीला, हरा आदिरूप परिणम जाता है। वैसे ही केवल जो शुद्ध आत्मा है वह परिणामस्वभाववाला है और इस स्वभाव का सद्भाव होने पर भी अपना जो शुद्ध स्वभाव है उससे अपने आप रागादिक रूप परिणमन नहीं करता। किन्तु मोहादिक पुद्गल कर्म के विपाक का निमित्त पाकर मोह तथा राग-द्वेषरूप परिणम जाता है। उस समय वह स्वयं रागादि भाव को प्राप्त होकर शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ रागादिरूप परिणमन करता है, यही वस्तुस्वभाव है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा केवल तो शुद्ध ही है किन्तु परिणमनशील है। सो शुद्ध स्फटिकमणि की तरह मोहादिक प्रकृतियों के निमित्त को पाकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणम जाता है। इस संसार में आत्मा और पुद्गल ये दो ही द्रव्य वैभाविक शक्तिवाले हैं। इन्हीं दोनों का तिल-तेल के सदृश अनादिकाल से सम्बन्ध बन रहा है। इसी सम्बन्ध से दोनों में विकार-परिणमन हो रहा है। जीव में जो विकाररूप रागादिक परिणाम होते हैं उनमें पुद्गलकर्म का उदय कारण है और पुद्गल में जो ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है उसमें रागादिक विभवायुक्त जीव कारण है।।२७८।२७९।।

अब यही भाव श्री अमृतचन्द्र स्वामी कलशा में प्रकट करते हैं—

उपजातिछन्द

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः[1]।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।।१७५।।

अर्थ– आत्मा स्वयं ही कभी रागादिरूप परिणमन में निमित्तभाव को प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार कि स्फटिकमणि स्वयं लाल, पीले आदि विविध रङ्गरूप परिणमन में निमित्त को प्राप्त नहीं होता। रागादिकरूप परिणमन में तो परद्रव्य का सङ्ग ही निमित्त कारण है अर्थात् मोहादिक पुद्गलकर्म के विपाक को निमित्त पाकर आत्मा रागादिरूप परिणाम जाता है। जिस प्रकार कि स्फटिकमणि लाल, पीले आदि पदार्थों के संसर्ग से तत् तत्रूप परिणम जाता है। यह वस्तु का स्वभाव है।

भावार्थ– आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। उसमें जो रागादिरूप अशुद्धता आती है उसमें निमित्तकारण मोहकर्म का विपाक है। यद्यपि आत्मा में वैभाविक शक्ति के कारण उसमें रागादिरूप परिणमन करने की योग्यता है तथापि इस योग्यता के रागादिरूप से विकसित होने में मोहकर्म का विपाक निमित्तकारण है। यदि रागादिक परिणति में केवल आत्मा को ही कारण माना जावे तो रागादिक विकार नित्य हो जावेंगे, परन्तु वे नित्य नहीं हैं, इससे उन्हें निमित्तसापेक्ष माना जाता है। कार्य की

---

१. 'अर्कः स्फटिकसूर्ययोः' इत्यमरः। मूल में तथा आत्मख्यातिटीका में स्फटिकोपलका ही दृष्टान्त दिया है। इसिलये यहाँ कलशा में भी 'अर्ककान्तः' शब्द से स्फटिकोपल ही लेना चाहिये, सूर्यकान्तमणि नहीं, क्योंकि उक्त कोष के अनुसार अर्क का अर्थ स्फटिक भी होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धि में उपादान और निमित्त दोनों कारण होते हैं, वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है, अत: वह तर्क का विषय नहीं है।।१७५।।

अनुष्टुप्छन्द

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन स:।
रागादीन्नात्मन: कुर्यान्नातो भवति कारक:।।१७६।।

अर्थ– इस प्रकार ज्ञानी जीव स्वकीय वस्तुस्वरूप को जानता है। इसी कारण वह रागादिक को आत्मा के नहीं करता है, इसलिये उनका कर्ता नहीं है।

भावार्थ– ज्ञानी जीव की श्रद्धा है कि रागादिक आत्मा के स्वभाव नहीं है किन्तु मोहकर्म के विपाक से आत्मा में उत्पन्न होते हैं, अत: वे उसके विकारीभाव हैं।।१७६।।

अब यही भाव गाथा में कहते हैं–

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं।।२८०।।

अर्थ– ज्ञानी जीव स्वयं ही अपने राग-द्वेष-मोह अथवा कषायभाव को नहीं करता है, इसीलिये वह उन रागादिक भावों का कर्ता नहीं है।

विशेषार्थ– यथोक्त वस्तुभावको जानता हुआ ज्ञानी शुद्धस्वभाव से च्युत नहीं होत है। इसीसे वह राग-द्वेष-मोह आदि भावों के रूप न स्वयं परिणमन करता है और न दूसरे के द्वारा भी तद्रूप परिणमाया जाता है। अतएव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव का धारक ज्ञानी जीव राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्ता ही है, यह नियम है।।२८०।।

आगे अज्ञानी जीव इस वस्तु स्वभाव को नहीं जानता है, यह कहते हैं—

अनुष्टुप्

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन स:।
रागादीन्नात्मन: कुर्यादतो भवति कारक:।।१७७।।

अर्थ– अज्ञानी जीव इस प्रकार के अपने वस्तुस्वभाव को नहीं जानता है, इसलिये वह रागादिक को आत्मा के करता है अर्थात् रागादिरूप परिणमता है और इसलिये उनका कर्ता होता है।।१७७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब रागादिकरूप परिणमन करता हुआ जीव पुनः रागादिक को बाँधता है, यह कहते हैं—

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणो वि ।।२८२।।

अर्थ– राग, द्वेष और कषायकर्म के होने पर आत्मा के जो भाव होते हैं उनरूप परिणमन करता हुआ आत्मा फिर भी उन रागादिकों को बाँधता है।

विशेषार्थ– जैसा वस्तु का स्वभाव कहा गया है उसको नहीं जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसार से शुद्धस्वभाव से च्युत है। इसीसे कर्मविपाक से होनेवाले राग, द्वेष, मोह आदि भावों के द्वारा परिणमता हुआ राग, द्वेष, मोह आदि भावों का कर्ता होकर बन्ध अवस्था को प्राप्त है, ऐसा निश्चय है।

अज्ञानी जीव परमार्थभूत वस्तुस्वभाव को तो जानता नहीं, किन्तु कर्मों के उदय से जायमान रागादिकों को अपना स्वरूप मानता है और आगामी उन्हीं के अनुकूल सामग्री—द्रव्यकर्मों को बाँधता है।।२८१।।

इससे यह स्थित हुआ–

रायम्हि य दोसम्हि कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा।।२८२।।

अर्थ– राग, द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर जो भाव आत्मा के होते हैं उन भावों के द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा फिर उन्हीं रागादिकों के कारणभूत द्रव्यकर्म को बाँधता है।

विशेषार्थ– निश्चय कर अज्ञानी जीव के पुद्गलकर्म के निमित्त से जो राग, द्वेष, मोह, आदि परिणाम होते हैं वे ही परिणाम फिर भी राग-द्वेष-मोह आदि परिणामों के निमित्तभूत पुद्गलकर्म के बन्ध के हेतु हैं।

अज्ञानी जीव परमार्थ से अपने वास्तविक गुणविकास को तो जानता नहीं हैं किन्तु कर्म के विकास से जायमान रागादिकों को अपना स्वरूप मानता हुआ तद्रूप परिणमन करता है। उसका फल यह होता है कि वह रागादिक की उत्पत्ति में निमित्तभूत पुद्गलकर्म का बन्ध करता रहता है। इस तरह द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से रागादिक भावकर्म और रागादिक भावकर्म के निमित्त से पुनः द्रव्यकर्म का बन्ध यह जीव अनादिकाल से करता चला आ रहा है।।२८२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब आत्मा रागादिक परिणामों का अकर्ता किस प्रकार है, यह कहते हैं—

अपडिक्कमणं दुविहं अपचक्खाणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया।।२८३।।
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपचक्खाणं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया।।२८४।।
जावं अपडिक्कमणं अपचक्खाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो।।२८५।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– अप्रतिक्रमण दो प्रकार का जानना चाहिये और इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का जानना चाहिये। इसी उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है। अप्रतिक्रमण दो प्रकार है—एक द्रव्य में और दूसरा भाव में। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार है—एक द्रव्य में और दूसरा भाव में। इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है। जबतक आत्मा द्रव्य और भाव में अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान करता है अबतक वह कर्ता होता है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ– आत्मा स्वयं अनात्मीय रागादिकभावों का अकारक ही है क्योंकि यदि स्वयं रागादिक भावों का कारक होता तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जो दो प्रकार का उपदेश आगम में दिया है उसकी उपपत्ति नहीं बनती। निश्चय से द्रव्य और भाव के भेद से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जो दो प्रकार का उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तकभाव को विस्तारता हुआ आत्मा के अकर्तृपन को जानता है। इससे यह स्थिर हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और आत्मा के जो रागादिकभाव हैं वे नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा नहीं माना जावे तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान दोनों में जो कर्तृत्व के निमित्तपन का उपदेश है वह अनर्थक हो जावेगा और उसके अनर्थक होने पर एक आत्मा के ही रागादिभावों के निमित्तपन की आपत्ति आ जावेगी तथा उसके आने पर आत्मा में नित्य कर्तृपन का अनुषङ्ग होने से मोक्ष का अभाव हो जावेगा। इससे आत्मा के रागादिक भावों के होने में परद्रव्य को निमित्त मानना ठीक होगा। ऐसा मानने से आत्मा-रागादिक भावों का अकारक ही है। किन्तु जब तक रागादिकभावों के निमित्तभूत द्रव्य का न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है तब तक नैमित्तिकभूत भाव का न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है और जब तक नैमित्तिकभूत भाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का न प्रतिक्रमण करता है और न प्रत्याख्यान करता है तब तक वह उसका कर्ता ही होता है। और जिस काल में निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर देता है उसी काल में नैमित्तिकभूत भाव का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर देता है। और जब नैमित्तिकभूत भाव का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान कर देता है तब आत्मा साक्षात् अकर्ता ही हो जाता है।

भावार्थ– प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान ये दोनों दो-दो प्रकार के हैं— एक द्रव्य और दूसरा भाव। इसीसे अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान भी द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार का है। तात्पर्य यह है कि जो परपदार्थ अतीतकाल में आत्मा ने ममत्वभाव से ग्रहण किया था उसको जब तक अच्छा समझे तब तक उसका त्याग नहीं हो सकता। अतएव एक प्रकार का संस्कार उसके द्वारा आत्मा में होता है जिससे उसे त्याग नहीं सकता, इसीका नाम द्रव्य-अप्रतिक्रमण है और उस परद्रव्य के द्वारा जो रागादिक भाव आत्मा में हुए थे उनको अच्छा समझना भाव-अप्रतिक्रमण है तथा भविष्यकाल में परद्रव्य के ग्रहण का ममत्व राखे वह द्रव्य-अप्रत्याख्यान है और उससे भविष्यकाल में होनेवाले रागाद्रिकों का वाञ्छा रखना यह भाव-अप्रत्याख्यान है। इस पद्धति से द्रव्य-अप्रतिक्रमण और भाव-अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य-अप्रत्याख्यान और भाव-अप्रत्याख्यान से दो प्रकार का उपदेश है। यही उपदेश रागादिकभावों की उत्पत्ति में परद्रव्य के निमित्तपन की व्यवस्था करता है। यदि परद्रव्य को रागादिक परिणामों के उत्पन्न होने में निमित्त न माना जावे तो आत्मा ही इनका निमित्त होगा। इस स्थिति में नित्यकर्तृपन की आपत्ति आने से आत्मा की संसार-अवस्था का सर्वदैव सद्भाव रहेगा और संसार का नित्य सद्भाव रहने से मोक्ष का अभाव हो जायेगा।।२८३।२८५।।

आगे द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तिकभाव का उदाहरण कहते हैं—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं।।२८६।।
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं।।२८७।।

(युग्मम्)

अर्थ– अध:कर्म आदि को लेकर जो ये पुद्गलद्रव्य के दोष हैं उन्हें ज्ञानी जीव किस प्रकार कर सकता है क्योंकि ये सब परद्रव्य के गुण हैं। अध:कर्म और उद्देशिक ये जो दोष हैं वे सब पुद्गलद्रव्यमय हैं। ज्ञानी जीव विचारता है कि ये हमारे किस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार हो सकते हैं क्योंकि ये नित्य ही अचेतन कहे गये हैं।[१]

विशेषार्थ– जो पुद्गलद्रव्य अध:कर्म से निष्पन्न हुआ है अथवा जो पुद्गलद्रव्य उद्देश्य से निष्पन्न हुआ है अर्थात् जो आहार पाप कर्म से उपार्जित द्रव्य द्वारा बनाया गया है अथवा जो आहार व्यक्तिविशेष के निमित्त से बनाया गया है, मलिनभाव की उत्पत्ति में निमित्तभूत उस आहार का जो मुनि प्रत्यख्यान नहीं करता है—त्याग नहीं करता है वह उसके निमित्त से होनेवाले बन्ध के साधक भाव का प्रत्यख्यान नहीं कर सकता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण परद्रव्य को नहीं त्यागने वाला मुनि उसके निमित्त से जायमान भाव को नहीं त्याग सकता है। और जैसे आत्मा अध:कर्मादिक पुद्गलद्रव्य के दोषों को नहीं करता है क्योंकि ये अध:कर्मादिक पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से आत्मा के कार्य नहीं हैं। इसीसे अध:कर्म और उद्देश्य से निष्पन्न जो यह पुद्गलद्रव्य है वह मेरा कार्य नहीं है क्योंकि यह नित्य अचेतन है, अत: इसमें मेरे कार्यपने का अभाव है अर्थात् मैं इसका कर्ता नहीं हूँ। इसप्रकार तत्त्वज्ञान पूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य को त्यागता हुआ आत्मा बन्ध के साधक जो नैमित्तिक भाव हैं उन्हें त्यागता है। इसी प्रकार समस्त परद्रव्यों को त्यागता हुआ आत्मा उनके निमित्त से उत्पन्न भाव को भी त्यागता है। इस तरह द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तिकभाव है।।२८६।२८७।।

आगे इसी भाव को कलशा में कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बला-
तन्मूलं बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकाम: समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति।।१७८।।

अर्थ– इसप्रकार परद्रव्य और अपने भावों में निमित्त-नैमित्तिकभाव का विचार कर नानाभावों की इस परिपाटी को बलपूर्वक एक साथ उखाड़ देने की इच्छा करने-वाला आत्मा नानाभावों के मूलभूत उस समस्त परद्रव्य का परित्याग करता है और

---

१. अध:कर्म और उद्देश्य से जो आहार निष्पन्न होता है वह परिणामों की मलिनता का निमित्त होता है क्योंकि ऐसा नियम है कि जैसा अन्न खाया जावे वैसा ही उसका परिपाक होता है और उसका प्रभाव मनपर पड़ता है। यही कारण है कि जो अन्याय से धनोपार्जन करते हैं वे कभी भी निर्मलता के पात्र नहीं होते— अतएव न्यायपूर्वक आजीविका ही गृहस्थावस्था में हितकारिणी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसके फलस्वरूप अतिशयरूप से बहने वाले पूर्ण एक संवेदन से युक्त उस आत्मा को प्राप्त होता है जिसके द्वारा समस्त कर्मबन्ध को उखाड़ देनेवाला यह भगवान् आत्मा अपने आप में ही प्रकट होता है।

भावार्थ– समस्त परद्रव्यों और रागादिकभावों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपन है अर्थात् परद्रव्य निमित्त है और रागादिकभाव नैमित्तिक हैं। जो आत्मा रागादिकभावों की इस परम्परा को उखाड़कर दूर करने की इच्छा रखता है वह उन रागादिकभावों का मूल कारण जो समस्त परद्रव्य है उसको पृथक् कर निरन्तर उपयोगरूप रहने वाले पूर्णज्ञान-केवलज्ञान से युक्त आत्मा को प्राप्त होता है अर्थात् अरहन्त अवस्था को प्राप्त होता है और उसके फलस्वरूप समस्त कर्मबन्धन को नष्ट कर भगवान् आत्मा, आत्मा में ही प्रकट होता है। अर्थात् सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है।।१७८।।

मंदाक्रान्ताछन्द

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत् प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति।।१७९।।

अर्थ– बन्ध के कारण जो रागादिक भाव हैं उनके उदय को निर्दयतापूर्वक विदारण करनेवाली तथा अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाली जो यह ज्ञानरूपी ज्योति है, वह रागादिक का कार्य जो नाना प्रकार का बन्ध है उसे उसी समय शीघ्र ही नष्ट कर अच्छी तरह उस प्रकार सज्जित होती है—पूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रकट होती है कि कोई दूसरा इसके प्रसार को रोक नहीं सकता।

भावार्थ– प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध के चार भेद हैं। इन बन्धों का कारण रागादिक विकारीभावों का उदय है। सो आत्मकल्याण का इच्छुक पुरुष (क्षपकश्रेणी में आरूढ होकर) दशमगुणस्थान के अन्त में उन रागादिकभावों का इतनी निर्दयतापूर्वक विदारण करता है कि फिर वे उत्पन्न होने का नाम ही नहीं लेते। रागादिक भावों का अभाव हो जाने पर कर्मों का नाना प्रकार का बन्ध तत्काल ही नष्ट हो जाता है। यद्यपि केवल सातादेवदनीय का प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है परन्तु स्थिति और अनुभागबन्ध से रहित होने के कारण उसकी विवक्षा नहीं की गई है। इस तरह निर्बन्ध अवस्था होने पर बारहवे गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण-दर्शनावरणरूपी अन्धकार को नष्ट कर सर्वोत्कृष्ट तथा सदा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सन्नद्ध रहनेवाली अर्थात् उपयोगरूप परिणत केवलज्ञानरूप वह ज्योति इस तरह प्रकट होती है कि कोई दूसरा पदार्थ उसके प्रसार को रोकने में समर्थ नहीं होता।।१७९।।

इस प्रकार बन्ध रङ्गभूमि से बाहर निकल गया।

इस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित समयप्राभृत में बन्धपदार्थ का प्ररूपण करनेवाले सातवें बन्धाधिकार का प्रवचन पूर्ण हुआ।।७।।

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८. मोक्षाधिकार

अब मोक्ष प्रवेश करता है –

अब मोक्षाधिकार के प्रारम्भ में मोक्ष के पूर्व प्राप्त होनेवाले पूर्णज्ञान—केवलज्ञान की महिमा प्रकट करते हैं —

शिखरिणीछन्द

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते।।१८०।।

अर्थ– जो प्रज्ञारूपी करोंत के द्वारा विदारण करने से बन्ध और पुरुष अर्थात् आत्मा को पृथक्-पृथक् कर स्वोपलब्धि—स्वानुभव से निश्चित पुरुष को साक्षात् मोक्ष प्राप्त करा रहा है, जो प्रकट होते हुए स्वाभाविक उत्कृष्ट आनन्द से सरस है, उत्कृष्ट है तथा जो समस्त करने योग्य कार्य कर चुका है, ऐसा पूर्णज्ञान—केवलज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है।

भावार्थ– अनादिकाल से जीव की बन्धदशा चली आ रही है, जिससे यह जीव कर्म और नोकर्म के साथ एकीभाव को प्राप्त हो रहा है। भेदज्ञान के अभाव में मिथ्यादृष्टि जीव इस संयुक्त दशा को ही जीव मानता है। जब उसे पर से भिन्न शुद्ध जीव का अस्तित्व ही अनुभव में नहीं आ रहा है तब मोक्ष का लक्ष्य कैसे बन सकता है? श्रेयोमार्ग में अग्रसर होनेवाले जीव को सर्वप्रथम प्रज्ञा अर्थात् भेदज्ञान की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार लोक में करोंत (आरा) के द्वारा काष्ठ के दो भाग कर दिये जाते हैं उसी प्रकार यह जीव प्रज्ञा के द्वारा बन्ध और आत्मा के दो भाग कर देता है अर्थात् भेदज्ञान की महिमा से इसे अनुभव होने लगता है कि यह कर्म और नोकर्म रूप पुद्गल का बन्ध पृथक् है और पुरुष अर्थात् आत्मा पृथक् है। उस पुरुष का स्वानुभव प्रत्येक ज्ञानी पुरुष को होता है। 'मैं ज्ञानवान हूँ' इत्यादि प्रकार के स्वानुभव से पुरुष का अस्तित्व पृथक् अनुभव में आता है। इस भेदज्ञान के द्वारा जीव मोक्ष का लक्ष्य बनाता है और उसके लिये पुरुषार्थ करता है। उस पुरुषार्थ के फलस्वरूप वह दशमगुणस्थान के अन्त में मोहकर्म को नष्ट कर वीतराग दशा प्राप्त करता है और अन्तर्मुहूर्त के भीतर शेष तीन घातियाकर्मों को नष्ट कर पूर्णज्ञान—केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। यह पूर्णज्ञान सहज आत्मीय आनन्द

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से युक्त होता है, सर्वोत्कृष्ट होता है और कृतकृत्य होता है। मोक्षाधिकार के प्रारम्भ में इसी पूर्णज्ञान का जयघोष आचार्य ने किया है और वह इसलिये कि इसके होने पर मोक्ष की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है।।१८०।।

अब मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह कहते हैं–

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स।।२८८।।
जइ ण वि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावइ विमोक्खं।।२८९।।
इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो।।२९०।।
(त्रिकलम्)

अर्थ– जिस प्रकार कोई पुरुष चिरकाल से बन्ध में पड़ा हुआ है और वह उसके तीव्र-मन्द स्वभाव को तथा बन्धन के काल को जानता है तो भी यदि वह बन्धन का छेद नहीं करता है तो बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, वह बन्धन के वशीभूत होता हुआ बहुत समय में भी बन्धन से छुटकारा को नहीं प्राप्त करता है, उसी प्रकार जो पुरुष कर्मबन्धनों के प्रदेश, स्थिति, प्रकृति तथा अनुभाग भेदों को जानता है तो भी उनसे मुक्त नहीं होता, किन्तु जब यदि रागादिक को छोड़कर शुद्ध होता है तभी मुक्त होता है।

विशेषार्थ– आत्मा और बन्ध का जो द्वेधाकरण अर्थात् पृथक्-पृथक् करना है वही मोक्ष है। बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र हो जाना मोक्ष का हेतु है, ऐसा कोई कहते हैं, पर यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार बेड़ी आदि से बद्ध पुरुष को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र हो जाना बन्धन से छूटने का कारण नहीं है उसी प्रकार कर्मबन्ध से बद्ध पुरुष को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र हो जाना बन्ध से छूटने का कारण नहीं है, किन्तु वह उसका अकारण है अर्थात् चारित्र के बिना अकेला ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है। इस कथन से कर्मबन्ध के विस्तार सहित भेद-प्रभेदों को जानने मात्र से संतुष्ट रहनेवाले पुरुषों का निरास हो जाता है।।२८८।२९०।।

आगे कहते हैं कि बन्ध की चिन्ता करने से भी बन्ध नहीं कटता है–

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावइ विमोक्खं।।२९१।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जिस प्रकार बन्धनबद्ध पुरुष उन बन्धनों की चिन्ता करता हुआ उन बन्धनों से छुटकारा नहीं पाता, उसी प्रकार कर्मबन्धों का विचार करनेवाला पुरुष भी उन कर्मबन्धों से मुक्ति को नहीं पाता है।

विशेषार्थ– कोई ऐसा मानते हैं कि बन्ध की चिन्ता का जो प्रबन्ध है वह मोक्ष का हेतु है, परन्तु उनका ऐसा मानना असत्य है क्योंकि जिस प्रकार बेड़ी आदि से बद्ध पुरुष के बन्ध की चिन्ता का प्रबन्ध उस बन्धन से छूटने का कारण नहीं है, उसी प्रकार कर्मबन्ध से युक्त पुरुष के बन्ध की चिन्ता का प्रबन्ध उस बन्ध से छूटने का कारण नहीं है किन्तु वह उसके प्रति अकारण है। इस कथन से कर्मबन्धविषयक चिन्ता के प्रबन्ध रूप धर्मध्यान से अर्थात् मात्र विपाकविचय धर्म्यध्यान से अन्धबुद्धि वाले मनुष्य प्रतिबोधित हो जाते हैं।

भावार्थ– बहुत से मनुष्य केवल बन्ध के भेद-प्रभेदों के ज्ञान से अपने आपको संसार-बन्धन से मोक्ष मानते हैं सो वे भी मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं।।२९१।।

तब मोक्ष का क्या कारण है, सो कहते हैं–

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं।।२९२।।

अर्थ– जिस प्रकार बन्धन से बँधा हुआ पुरुष बन्धनों को छेदकर ही उनसे मोक्ष को पाता है उसी प्रकार कर्मबन्धन से बँधा हुआ जीव भी कर्मबन्धों को छेदकर ही उनसे मोक्ष प्राप्त करता है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार बेड़ी आदि से बद्ध पुरुष के उस बन्धन का छेदा जाना छूटने का कारण है, उसी प्रकार कर्मों से बद्ध पुरुष के कर्मबन्ध का छेदा जाना उससे छूटने का कारण है क्योंकि वही एक उसका हेतु है। इस कथन से पहले कहे गये बन्ध का स्वरूप जाननेवाले तथा बन्ध की चिन्ता करने वाले इन दोनों को आत्मा और बन्ध के पृथक्-पृथक् करने में व्यापृत किया गया है अर्थात् उन्हें समझाया गया है कि बन्ध का स्वरूप जानने मात्र अथवा बन्ध की चिन्ता करने मात्र से मोक्ष होनेवाला नहीं है किन्तु उसके लिये तो पुरुषार्थपूर्वक आत्मा और बन्ध को पृथक्-पृथक् करना ही आवश्यक है।।२९२।।

आगे क्या यही मोक्ष का हेतु है? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं–

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो विमोक्खणं कुणई।।२९३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– बन्धों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर जो बन्धों में विरक्त होता है वही मोक्ष को करता है।

विशेषार्थ– जो हपुरुष निर्विकार चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उसमें विकार को करनेवाले बन्धों के स्वभाव को जानकर बन्धों से विरक्त हो जाता है वही पुरुष सम्पूर्ण कर्मों से मोक्ष को कर सकता है। इससे यह नियम किया गया कि आत्मा और बन्ध का पृथक्-पृथक् करना ही मोक्ष का हेतु है।।२९३।।

आगे आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् किसके द्वारा किये जाते हैं, इस आशङ्का का उत्तर कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा।।२९४।।

अर्थ– जीव और बन्ध ये दोनों निश्चित स्वकीय-स्वकीय लक्षणों से प्रज्ञारूपी छेनी के द्वारा छेदे जाकर नानापन को प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ– आत्मा औरे बन्ध को पृथक्-पृथक् करना कार्य है तथा इस कार्य का कर्ता आत्मा है। जब इसके कारण का विचार किया जाता है तब निश्चयनय से अपने से भिन्न करण का होना असंभव है। अत: भगवती प्रज्ञा ही छेदन करने वाली करण हो सकती है, उसके द्वारा छेद को प्राप्त हुए आत्मा और बन्ध अवश्य ही नानापन को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा और बन्ध को पृथक्-पृथक् किया जाता है। भावार्थ—करण दो प्रकार का होता है—एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। जहाँ पर भिन्न कर्ता और भिन्न करण होते हैं वहाँ पर बाह्य करण होता है। जैसे देवदत्त परशु के द्वारा काष्ठ को छेदता है। यहाँ कर्ता से भिन्न करण है। और जहाँ कर्ता से भिन्न करण नहीं होता वहाँ आभ्यन्तर करण होता है। जैसे देवदत्त मन से सुमेरु को जाता है इस उदाहरण में मन देवदत्त से पृथक् नहीं है। यहाँ पर प्रज्ञा अर्थात् भेद विज्ञानरूप बुद्धि आभ्यन्तर करण है। इस प्रज्ञा को छेनी की उपमा दी जाती है क्योंकि जिस प्रकार छेनीके द्वारा काष्ठादिक के दो भाग पृथक्-पृथक् हो जाते हैं उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। उस प्रज्ञारूपी छेनीके द्वारा भिन्न-भिन्न किये गये आत्मा और बन्ध नियम से नानापन को प्राप्त होते हैं। अत: प्रज्ञा ही आत्मा और बन्ध के द्विधा करने में करण है।

अब यहाँ पर यह आशङ्का होती है कि जो आत्मा और बन्ध चेत्यचेतक भाव के कारण अत्यन्त प्रत्यासत्ति से एकरूप हो रहे हैं तथा भेदविज्ञान के अभाव से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक चेतक की तरह ही व्यवहार में आ रहे हैं वे दोनों प्रज्ञारूपी छेनी के द्वारा कैसे भिन्न-भिन्न किये जा सकते हैं?

इस आशङ्का का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि हम तो ऐसा समझते हैं कि आत्मा और बन्ध के जो अपने-अपने लक्षण नियत हैं उनकी सूक्ष्म अन्तः सन्धि के ऊपर इस प्रज्ञारूपो छेनी को बड़ी सावधानी के साथ डालने से दोनों ही भिन्न-भिन्न किये जा सकते हैं।

भावार्थ– आत्मा और बन्ध के बीच जब तक प्रज्ञारूपी छेनीके नहीं पटका जाता है तब तक दोनों एक दिखते हैं। परन्तु जब अपने-अपने नियत लक्षणों की सूक्ष्म सन्धिपर प्रज्ञारूपी छेनी को डाला जाता है तब आत्मा और बन्ध दोनो ही पृथक्-पृथक् अनुभव में आने लगते हैं।

अब यहाँ आत्मा और बन्ध के स्वकीय-स्वकीय नियत लक्षणों पर विचार करते हैं—

आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है क्योंकि वह आत्मा को छोड़कर शेष समस्तद्रव्यों में नहीं पाया जाता है। आत्मा का यह चैतन्यलक्षण प्रवर्तता हुआ जिस-जिस पर्याय को व्याप्त कर प्रवृत्त होता है तथा निवृत्त होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण कर निवृत्त होता है, वह सभी सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त गुण-पर्यायों का समूह आत्मा है। इस तरह यहाँ आत्मा लक्ष्य है और एक चैतन्यलक्षण के द्वारा वह जाना जाता है। चैतन्यलक्षण समस्त सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्तगुण-पर्यायों में अविनाभावरूप से विद्यमान रहता है। अतः आत्मा चैतन्यमात्र ही है, यह निश्चय करना चाहिये।

भावार्थ– लक्षण वह है जो समस्त लक्ष्य में रहे और अलक्ष्य में न रहे। आत्मा का चैतन्य लक्षण उसकी क्रमवर्ती समस्त पर्यायों में तथा सहभावी समस्त गुणों में अविनाभाव से रहता है अर्थात् आत्मा की कोई भी ऐसी पर्याय नहीं जो चेतना से रिक्त हो, अतः चिन्मात्र ही आत्मा जानना चाहिये, यह निर्विवाद है।

और बन्ध का स्वलक्षण रागादिक है। ये रागादिक यद्यपि आत्मा को छोड़कर शेष द्रव्यों में नहीं पाये जाते हैं, इसलिये आत्मा के असाधारण हैं अर्थात् आत्मद्रव्य के साथ साधारणता को धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते। तथापि निरन्तर चैतन्यचमत्कार से अतिरिक्त ही इनका प्रतिभास होता है। जिस प्रकार चैतन्यभाव आत्मा की समस्त पर्यायों में अनुस्यूतरूप से प्रतीत होता है उस प्रकार रागादिक भाव आत्मा की सब पर्यायों में नहीं पाये जाते, क्योंकि रागादिकभावों के बिना भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चैतन्य का आत्मलाभ होता है। रागादिकों का चैतन्य के साथ जो उत्प्लवन (उछलना) देखा जाता है वह चेत्य-चेतकभाव की प्रत्यासत्ति से ही देखा जाता है, एक द्रव्य होने से नहीं। रागादिक भाव चेत्यमान हैं और आत्मा चेतक है। जिस प्रकार प्रदीप्यमान घटादिक प्रदीप की प्रदीपकता को प्रसिद्ध करते हैं उसी प्रकार चेत्यमान रागादिक आत्मा की चेतकता को ही प्रसिद्ध करते हैं, रागादिक रूपता को नहीं अर्थात् जैसे प्रदीप घटपटादि को प्रकाशित करता है परन्तु घटपटादिरूप नहीं हो जाता, इसी प्रकार आत्मा चेतक पदार्थ है और रागादिक चेत्य पदार्थ हैं। आत्मा रागादिक को चेत्य तो करता है अर्थात् उन्हें अपने ज्ञान का विषय तो बनाता है, परन्तु रागादिकरूप नहीं हो जाता। ऐसा होने पर भी आत्मा और बन्ध में अत्यन्त प्रत्यासत्ति होने से भेद की संभावना का अभाव है। इसलिये दोनों में अनादिकाल से एकत्व का भ्रम होता है किन्तु वह भ्रम प्रज्ञा के द्वारा नियम से छेदा जाता है।

भावार्थ– अनादिकाल से इस जीव के कर्मों का बन्ध है और उस कर्मबन्ध के उदय में आत्मा के रागादिकभावों का उदय होता है। उससे यह जीव परपदार्थों में राग और द्वेषभावरूप प्रवृत्ति करता है। जो इसके अनुकूल हैं उनके सद्भाव और जो प्रतिकूल हैं उनके अभाव की चेष्टा करता है। वास्तव में जो रागादिक भाव हैं वे इसके निजभाव नहीं है, मिथ्यादर्शन के उदय में यह उन्हें निजभाव मानता है। परन्तु जिस काल में मिथ्यादर्शन रूप तिमिर का अभाव हो जाता है उस काल में इसकी परपदार्थ में निजत्वबुद्धि मिट जाती है। तब जो परपदार्थ के निमित्त से रागादिक होते हैं उन्हें औपाधिकभाव जानकर उनके पृथक् करने की चेष्टा करता है और मोह के कृश होने पर फिर उनका अस्तित्व ही नहीं रहता। उस समय आत्मा अपने स्वरूप में ही परिणमन करता है। यही कल्याण का पथ है।।२९४।।

स्रग्धराछन्द

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ।।१८१।।

अर्थ– चतुर और सावधान पुरुषों के द्वारा किसी तरह पटकी हुई यह प्रज्ञारूपी पैनी छेनी आत्मा और कर्म दोनों के बीच सूक्ष्म सन्धि-बन्ध पर वेग से पड़ती है और अन्तरङ्ग में स्थिर निर्मल शोभायमान तेज से युक्त चैतन्य के पूर में निमग्न आत्मा को तथा अज्ञानभाव में नियत बन्ध को दोनों ओर पृथक्-पृथक् कर देती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– आत्मा और बन्ध के भिन्न-भिन्न करने में यही प्रज्ञारूपी छेनी समर्थ है। चतुरविज्ञानी जीव सावधान होकर आत्मा और बन्ध की जो सूक्ष्म सन्धि है उसपर इसे इस तरह पटकते हैं कि जिस तरह आत्मा का अंश पर में जाता नहीं और पर का अंश आत्मा में रहता नहीं। प्रज्ञारूपी छेनीके पड़ते ही आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, पृथक् होता हुआ आत्मा तो अन्तरङ्ग में स्थिर, विशद तथा देदीप्यमान तेज से युक्त चैतन्य-प्रवाह में मग्न हो जाता है और बन्ध अज्ञान में विलीन हो जाता है।।१८१।।

आगे आत्मा और बन्ध को द्विधा करके क्या करना चाहिये, ऐसी आशङ्का का उत्तर देने के लिये गाथा कहते हैं–

जीवो वंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो।।२९५।।

अर्थ– जीव और बन्ध अपने-अपने नियत लक्षणों के द्वारा उस तरह भिन्न-भिन्न किये जाते हैं जिस तरह कि बन्ध छेदने के योग्य और शुद्ध आत्मा ग्रहण करने के योग्य हो जाता है।

विशेषार्थ– आत्मा और बन्ध अपने-अपने नियत लक्षणों के भेदज्ञान के द्वारा सर्वथा भिन्न-भिन्न करने के योग्य हैं। तदन्तर रागादि लक्षण से युक्त सभी बन्ध सम्पूर्ण रूप से छोड़ने के योग्य हैं और उपयोग लक्षणवाली शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने के योग्य है।

आत्मा और बन्ध के पृथक्-पृथक् करने का प्रयोजन यही है कि बन्ध को छोड़ा जाय और शुद्ध आत्मा को ग्रहण किया जाय।।२९५।।

आगे वह आत्मा किससे ग्रहण किया जावे इस आशङ्का का उत्तर कहते हैं–

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो।।२९६।।

अर्थ– शिष्य पूछता है कि वह आत्मा किस तरह ग्रहण किया जाता है? आचार्य उत्तर देते हैं कि वह आत्मा प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण किया जाता है। जिस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा उसे बन्ध से विभक्त किया गया था---पृथक् किया था उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा उसे ग्रहण करना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि किसके द्वारा यह शुद्ध आत्मा ग्रहण किया जावे? उसका आचार्य उत्तर देते हैं कि प्रज्ञा के द्वारा ही शुद्ध आत्मा ग्रहण करने के योग्य है। शुद्ध आत्मा के विभाग और ग्रहण करने में प्रज्ञा ही एक कारण है। अतएव जैसे प्रज्ञा के द्वारा आत्मा भिन्न किया गया था वैसे ही प्रज्ञा के द्वारा उसे ग्रहण करना उचित है।।२९६।।

आगे यह आत्मा प्रज्ञा के द्वारा किस प्रकार ग्रहण किया जाये, इस आशङ्का का उत्तर कहते हैं –

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा।।२९७।।

अर्थ– जो चेतनागुण विशिष्ट है वही तो निश्चय से मैं हूँ, यही प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करने योग्य है और इससे अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे मुझसे भिन्न हैं, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ– निश्चय से चेतना-स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया जो चेतयिता है, वह मैं ही हूँ और अन्यलक्षण का अवलम्बन करनेवाले जो ये अवशिष्ट भाव व्यवहार में आ रहे हैं वे सम्पूर्ण भाव मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं क्योंकि वे सभी भाव चेतनागुण विशिष्ट व्यापक आत्मा के व्याप्यपन को प्राप्त नहीं हो रहे हैं अर्थात् आत्मा के चेतनागुण के साथ उनकी कोई व्याप्ति नहीं हैं। अतएव मैं ही, मेरे ही द्वारा, मेरे ही लिये, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ। जो मैं निश्चय से ग्रहण करता हूँ वह आत्मा की ही एक चेतनाक्रिया है। अतएव उस क्रिया से मैं चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ। चेतते हुए के द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुए के लिये ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते हुए में ही चेतता हूँ और चेतते हुए को ही चेतता हूँ अथवा गुण-गुणी की भिन्न विवक्षा न की जावे तो न चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुए के द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिये चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ और न चेतते हुए को चेतता हूँ किन्तु सर्व कर्ता-कर्म आदि की प्रक्रिया से भिन्न शुद्ध चिन्मात्रभाव हूँ।।२९७।।

अब यही भाव कलश द्वारा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति।।१८२।।

अर्थ– ज्ञानी कहता है कि जिसका भेद किया जा सकता है उस सबको स्वलक्षण के बल से भिन्नकर चिन्मुद्रा से चिह्नित विभागरहित महिमा वाला मैं शुद्ध चेतन ही हूँ। यदि कर्ता-कर्म आदि कारक, अथवा नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म अथवा ज्ञान-दर्शन आदि गुण भेद को प्राप्त होते हैं तो हों, परन्तु व्यापक तथा विशुद्ध चेतनभाव में तो कुछ भेद नहीं है।

भावार्थ– ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि मैं शुद्ध चेतनद्रव्य हूँ और चैतन्य मेरा लक्षण है। मेरा यह चैतन्यलक्षण मुझसे कभी पृथक् नहीं हो सकता। मुझमें यद्यपि रागादिक विकारीभाव उत्पन्न हो रहे हैं पर वे मेरे स्वभाव नहीं है, परके निमित्त से जायमान होने के कारण स्पष्ट ही मुझसे पृथक् हैं। प्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञान की बुद्धि से वे स्पष्ट ही मुझसे पृथक् अनुभव में आते हैं। अत: मैं उन्हें अपने चैतन्यस्वभावरूप से भिन्न मानता हूँ। इस प्रकार रागादिक विभाव भावों से अपनी भिन्नता का चिन्तन कर ज्ञानी जीव एक चेतनद्रव्य में कारक, धर्म-धर्मी तथा गुण-गुणी के भेद का चिन्तन करता है। प्रथम तो वह चेतनद्रव्य को सब प्रकार की भेदकल्पना से रहित एक अखण्डद्रव्य अनुभव करता है; फिर उससे उतरती हुई अवस्था का चिन्तन करता हुआ विचार करता है कि यदि प्रारम्भिक दशा में कारक, धर्म-धर्मी और गुण-गुणी का भेद रहता है तो रहे, वे सब चैतन्यगुण के ही परिणाम हैं। उस गुण की अपेक्षा इनमें भेद नहीं है क्योंकि विशुद्ध चैतन्यभाव इन सबमें व्यापक होकर रहता है।।१८२।।

आगे आत्मा द्रष्टा-ज्ञाता है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये, यह कहते हैं–

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा।।२९८।।
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा।।२९९।।

(युग्मम्)

अर्थ– प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करने के योग्य जो द्रष्टा है वह निश्चय से मैं हूँ और इससे अतिरिक्त जो भाव हैं वे मुझसे भिन्न जानने योग्य हैं। इसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करने के योग्य जो ज्ञाता है वह निश्चय से मैं हूँ और इससे भिन्न जितने भी भाव हैं वे मुझसे भिन्न जानना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– चेतना दर्शन और ज्ञान के विकल्पों का अतिक्रमण नहीं करती अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप जो विकल्प हैं वे चेतना के साथ तादात्म्य से रहते है, अत: चेतनपन की तरह द्रष्टापन और ज्ञातापन आत्मा के स्वलक्षण ही हैं। इसीसे मैं द्रष्टा जो आत्मा है उसको ग्रहण करता हूँ। निश्चय से जिसे ग्रहण करता हूँ उसका अवलोकन करता ही हूँ, अवलोकन करनेवाला होकर ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवाले के द्वारा ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवाले के लिये ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवाले से ही अवलोकन करता हूँ, अवलोकन करनेवाले में ही अवलोकन करता हूँ।

अथवा न अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करता हुआ अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवाले के द्वारा अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करने वाले के लिये अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवाले से अवलोकन करता हूँ, न अवलोकन करनेवाले में अवलोकन करता हूँ किन्तु सर्व कर्ता-कारकादि से भिन्न शुद्ध दर्शनमात्र भाव मैं हूँ।

इसी प्रकार, ज्ञाता जो आत्मा है उसे ग्रहण करता हूँ, निश्चय से जिसे ग्रहण करता हूँ उसे जानता ही हूँ, जाननेवाला होकर ही जानता हूँ, जाननेवाले के द्वारा ही जानता हूँ, जाननेवाले के लिये ही जानता हूँ, जाननेवाले से ही जानता हूँ, जाननेवाले में ही जानता हूँ, जाननेवाले को ही जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ, न जानता हुआ जानता हूँ, न जाननेवाले के द्वारा जानता हूँ, न जाननेवाले के लिये जानता हूँ, न जाननेवाले से जानता हूँ, न जाननेवाले में जानता हूँ, न जाननेवाले को जानता हूँ, किन्तु सबसे विशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव मैं हूँ।

अब यहाँ यह आशङ्का होती है कि चेतना ज्ञान-दर्शनरूप विकल्पों का अतिक्रमण क्यों नहीं करती है, जिससे चेतयिता ज्ञाता और द्रष्टा होता है? इसका उत्तर कहते हैं—

आत्मा का जो चेतनागुण है वह प्रतिभासरूप है, वह प्रतिभासरूप चेतना, सामान्यविशेषात्मक वस्तु को विषय करती है। अत: द्वैरूप्य का अतिक्रमण नहीं कर सकती है। उस चेतना के सामान्यविशेषात्मक जो दो रूप हैं उन्हीं का नाम दर्शन और ज्ञान है, इसीसे चेतना, दर्शन और ज्ञान का अतिक्रमण नहीं करती है। यदि चेतना दर्शन और ज्ञान का अतिक्रमण करने लगे तो सामान्यविशेषात्मक स्वरूप का अतिक्रमण करने से वह चेतना ही नहीं रह सकती। तथा उसके अभाव में दोषों की आपत्ति आवेगी, एक तो स्वकीय गुण का नाश होने से चेतन के अचेतनपन की आपत्ति आवेगी और दूसरा व्यापक के अभाव से व्याप्य जो चेतन है उसका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभाव हो जावेगा। इसलिये उन दोषों के भय से दर्शन-ज्ञानात्मक ही चेतना को स्वीकार करना चाहिये।।२९८।२९९।।

अब इसी भाव को कलशा के द्वारा प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित्।।१८३।।

अर्थ– निश्चय से संसार में चेतना अद्वैतरूप होकर भी यदि दर्शन और ज्ञानरूप को छोड़ देवे, तो सामान्य और विशेष का अभाव होने से वह अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी और चेतना का अस्तित्व छूट जाने पर चेतन जो आत्मा है उसमें भी जड़पन हो जावेगा तथा व्यापक चेतना के बिना व्याप्य जो आत्मा है वह भी अन्त को प्राप्त हो जावेगा। इसलिये चेतना निश्चित ही दर्शन और ज्ञानरूप है।

भावार्थ– सामान्य की अपेक्षा यद्यपि चेतना का एक ही भेद है तथापि सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को विषय करने से उसका दर्शन चेतना और ज्ञान चेतना इस प्रकार द्विविध परिणमन होता है। जो वस्तु के सामान्य अंश को विषय करती है वह दर्शन चेतना है और जो वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करती है वह ज्ञान चेतना है। जब वस्तु दो प्रकार की हैं तब उसे विषय करनेवाली चेतना भी दो प्रकार की माननी आवश्यक है। सामान्य और विशेष परस्पर में सापेक्ष हैं अर्थात् सामान्य के बिना विशेष नहीं रह सकता और विशेष के बिना सामान्य नहीं रह सकता। इसमें से एक का भी अभाव होगा तो दूसरे का भी अभाव अवश्य हो जायगा। इस तरह जब सामान्य और विशेष का अभाव होने से चेतना अपना अस्तित्व खो बैठेगी तब उसके अभाव में चेतन जो आत्मा है उसमें अचेतनपन अर्थात् जड़पन आ जावेगा, जो कि किसी तरह संभव नहीं है। दूसरा दोष यह आवेगा कि व्यापक जो चेतना है उसका अभाव होने पर व्याप्य जो आत्मा है उसका भी अभाव हो जावेगा। इसलिये इन दोषों से बचने के लिये चेतना को ज्ञानचेतना और दर्शन चेतना के भेद से दो प्रकार की मानना ही उचित है।।१८३।।

इन्द्रवज्राछन्द

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावा: परे ये किल ते परेषाम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावा: परे सर्वत एव हेया:।।१८४।।

अर्थ– चित् अर्थात् आत्मा का तो एक चिन्मय भाव ही है। इसके अतिरिक्त जो अन्य भाव हैं वे निश्चय से पर के हैं। अतएव चिन्मयभाव ही ग्रहण करने के योग्य है और इसके सिवाय अन्यभाव सब प्रकार से त्यागने योग्य हैं।

भावार्थ– ज्ञानचेतना और दर्शन चेतनारूप जो आत्मा का परिणमन है वह चिन्मय भाव है। यही एक भाव आत्मा का निज में निज के निमित्त से होनेवाला भाव है। अतएव ग्राह्य है और इसके अतिरिक्त आत्मा में जो राग-द्वेष-मोह भाव उत्पन्न होते हैं वे आत्मा में परके निमित्त से जायमान होने के कारण पर हैं। अत: सब प्रकार से हेय हैं—छोड़ने योग्य हैं।।१८४।।

आगे इसी भाव को गाथा में कहते हैं–

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं।।३००।।

अर्थ– सर्व परकीय भावों को जानकर ऐसा कौन ज्ञानी होगा जो यह कहते हैं कि वे मेरे हैं क्योंकि ज्ञानी जीव शुद्ध आत्मा को जाननेवाला है।

विशेषार्थ– जो पुरुष निश्चय से पर और आत्मा के निश्चित स्वलक्षण के विभाग में पड़नेवाली प्रज्ञा से ज्ञानी होता है वह निश्चय से एक चिन्मात्रभाव को ही अपना जानता है और शेष सभी भावों को पर के जानता है। इस तरह जानता हुआ ज्ञानी जीव परभावों को ये 'मेरे हैं' ऐसा कैसे कह सकता है? क्योंकि पर और आत्मा में निश्चय से स्वस्वामी-सम्बन्ध का अभाव है। अतएव सर्वप्रकार से एक चिद्भाव ही ग्रहण करने योग्य है और शेष सभी भाव त्यागने के योग्य हैं, यह सिद्धान्त है।।३००।।

यही भाव कलशा में दर्शाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि: सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योति: सदैवास्म्यहम्।
ऐते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा: पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि।।१८५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जिनके चित्त की प्रवृत्ति अत्यन्त उत्कृष्ट है तथा जो मोक्ष के अभिलाषी हैं उन महानुभावों के द्वारा यही सिद्धान्त सेवन करने योग्य है कि मैं निरन्तर शुद्ध चेतनागुणविशिष्ट एक परमज्योतिस्वरूप हूँ तथा परमज्योति—चेतना के अतिरिक्त पृथक्लक्षण वाले जो ये नानाप्रकार के भाव उल्लसित हो रहे हैं—प्रकट हो रहे हैं वे मैं नहीं हूँ क्योंकि ये सभी इस संसार में मेरे लिये परद्रव्य हैं।

भावार्थ– परपदार्थ से भिन्न आत्मा की शुद्ध स्वाधीन परिणति का हो जाना मोक्ष है। इस मोक्ष के जो अभिलाषी है उन्हें सदा इस सिद्धान्त का मनन करना चाहिये कि मैं तो सदा एक चैतन्य-ज्योतिस्वरूप हूँ, वही मेरी शुद्ध स्वाधीन परिणति है और उसके सिवाय मुझमें जो राग, द्वेष, मोह आदि विकारीभाव उठ रहे हैं वे मेरे नहीं हैं, मोहकर्म के उदय में उत्पन्न होनेवाले विकारी भाव हैं, उनका नष्ट हो जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। जो महानुभाव इस प्रकार विचार करते हैं वे अवश्य ही एक दिन उन विकारीभावों की सत्ता को आत्मा से बहिष्कार कर देते हैं।।१८५।।

अनुष्टुपृछन्द

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः।।१८६।।

अर्थ– जो परद्रव्य को ग्रहण करता है वह अपराधी है और जो अपराधी है वह बन्ध को प्राप्त होता ही है। जो स्वद्रव्य में संवृत है वही मुनि है, वही निरपराध है। अतएव वह बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ– लोक में जो परद्रव्य को ग्रहण करता है वह चोरी का अपराधी कहलाता है तथा इस अपराध के कारण बन्धन को प्राप्त होता है, परन्तु जो मनुष्य अपने द्रव्य में ही सन्तुष्ट रहकर कभी किसी के द्रव्य का ग्रहण नहीं करता है, वह अपराधी नहीं कहलाता और इसीलिये बन्धन को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय में जो परद्रव्य को अपना मानता है—उसकी संभाल में निमग्न रहता है वह आत्मा की आराधना से रहित होने के कारण अपराधी कहलाता है और इसीलिये नियम से बन्ध को प्राप्त होता है, मिथ्यात्व को धारण करनेवाला चाहे गृहस्थ हो चाहे मुनि हो, नियम से उस गुणस्थान में बाँधनेवाली प्रकृतियों का बन्ध करता ही है, परन्तु जो स्वद्रव्य में ही संवृत रहता है अर्थात् आत्मा को ही स्वकीय द्रव्य मानता है और उसीकी शुद्ध परिणति में निमग्न रहता है, वह अपराध से रहित है तथा परमार्थ से मुनि है—ज्ञानी है, वह बन्ध को प्राप्त नहीं होता है।।१८६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे इसी भाव को गाथाओं में प्रकट करते हैं–

थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सो उ संकिदो भमई।
मा बज्झेज्जं केण वि चोरो त्ति जणम्मि वियरंतो।।३०१।।
जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
ण वि तिस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ।।३०२।।
एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि।।३०३।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– जो चोरी आदि अपराधों को करता है वह लोक में विचरता हुआ 'मैं चोर हूँ किसी के द्वारा पकड़ा न जाऊँ' ऐसी शङ्का सहित भ्रमता है और जो चोरी आदि अपराधों को नहीं करता है, वह निःशङ्क होकर लोक में भ्रमता है, उसको 'हमको कोई बाँध लेगा' ऐसी शङ्का कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार जो आत्मा सापराध है वह 'मैं बँधूँगा' इस तरह शङ्कित रहता है और यदि निरपराध है तो 'मैं नहीं बँधूँगा' इस तरह निःशङ्क रहता है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार लोक में जो जीव परद्रव्य ग्रहण रूप अपराध को करता है उसी के बन्ध की शङ्का होती है और जो शुद्ध होता हुआ परद्रव्यग्रहणरूप अपराध को नहीं करता है उसके बन्ध की शङ्का की उत्पत्ति नहीं होती है। उसी प्रकार जो आत्मा अशुद्ध होता हुआ परद्रव्यग्रहणरूप अपराध को करता है उसी को बन्ध की शङ्का होती है और जो शूद्ध होता हुआ परद्रव्यग्रहणरूप उस अपराध को नहीं करता है उसके बन्ध की शङ्का नहीं होती, यह नियम है। अतएव सर्वथा सम्पूर्ण परकीय भावों का त्यागकर शुद्ध आत्मा ग्रहण करने के योग्य है क्योंकि ऐसा होने पर ही आत्मा निरपराध होता है।।३०१-३०३।।

आगे यह अपराध क्या है, इस आशंका का उत्तर देते हैं–

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो।।३०४।।
जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाए णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो।।३०५।।

अर्थ– संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित— ये सब एकार्थवाचक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द हैं। जो चेतयिता निश्चय से राध से रहित है वह अपराधी होता है और जो चेतयिता निरपराध होता है वह निःशङ्क होता है तथा 'मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ आराधना द्वारा नित्य वर्तता है।

विशेषार्थ– परद्रव्य का त्यागकर शुद्ध आत्मा की जो सिद्धि अथवा साधना है उसी का नाम राध है और जिस जीव का यह राध अपगत हो गया अर्थात् नष्ट हो गया वह अपराध है अथवा जिस भाव का राध चला गया है वह भाव अपराध है, उस भाव से सहित जो जीव है वह सापराध है। वह जो अपराधी आत्मा है उसके परद्रव्य के ग्रहण का सद्भाव होने से शुद्धात्मा की सिद्धि का अभाव है तथा इसी कारण उसके बन्ध की शङ्का होने से स्वयं अशुद्ध होने के कारण वह अनाराधक ही है। अर्थात् उसके आराधकपन नहीं है। किन्तु जो आत्मा निरपराध है उसके सम्पूर्ण परद्रव्य का परित्याग होने से शुद्धात्मा की सिद्धि का सद्भाव है और इसीसे उसके बन्धशङ्का की संभावना नहीं है। उस बन्धशङ्का का अभाव होने पर उपयोग रूप एक लक्षण से युक्त शुद्ध आत्मा 'मैं ही हूँ', ऐसा निश्चय करता हुआ वह शुद्धात्मसिद्धिरूप लक्षण से युक्त आराधना से सहित होने के कारण आराधक ही होता है।।३०४।३०५।।

आगे अपराधी जीव ही बन्ध को प्राप्त होता है, यह कलशा द्वारा कहते हैं—

मालिनीछन्द

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो
भवति निरपराधः साधुशुद्धात्मसेवी।।१८७।।

अर्थ– जो अपराधी है वह निरन्तर अनन्तकर्म पुद्गलपरमाणुओं के द्वारा बँधता है और जो निरपराध है वह कभी बन्ध का स्पर्श नहीं करता। जो जीव अशुद्ध आत्मा की सेवा करता है वह सापराध होता है और जो शुद्ध आत्मा की सेवा करता है वह निरपराध होता है।

भावार्थ– जो रागादिविकारों से अशुद्ध आत्मा की उपासना करता है अर्थात् रागादिविकारों को आत्मा की निजपरिणति समझता है, वह सापराध है और जो इसके विपरीत रागादिविकारों से रहित शुद्ध आत्मा की उपासना करता है अर्थात् रागादिविकारों को आत्मा की निजपरिणति नहीं मानता है, वह निरपराध है। सापराध जीव मिथ्यादृष्टि है, इसीसे वह सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनन्तगुणे कर्मपरमाणुओं से प्रत्येक समय बन्ध को प्राप्त होता है और जो उक्त अपराध से रहित है वह बन्ध से रहित होता है।।१८७।।

अब यहाँ पर कोई आशङ्का करता है कि इस शुद्ध आत्मा की उपासना के प्रयास से क्या लाभ है, क्योंकि प्रतिक्रमणादिक के द्वारा ही आत्मा निरपराध हो जाता है। सापराध जीव यदि प्रतिक्रमण नहीं करता है तो उसकी वह क्रिया अपराधों को दूर करनेवाली न होने से विषकुम्भ कही गई है और यदि प्रतिक्रमणादि करता है तो उसकी वह क्रिया अपराधों को दूर करनेवाली होने से अमृतकुम्भ कही गई है। जैसा कि व्यवहाराचार सूत्र में कहा गया है—

अपडिकमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोहीय विसकुंभो।।१।।
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु।।२।।

अर्थ– अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि इस तरह आठ प्रकार के लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त न करना विषकुम्भ है और इनके विपरीत लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमाण[१], प्रतिसरण[२], परिहार[३], धारणा[४], निवृत्ति[५], निन्दा[६], गर्हा[७] और शुद्धि[८] इन आठ प्रकारों से प्रायश्चित्त करना अमृतकुम्भ है। अर्थात् इन्हीं के द्वारा आत्मा निरपराध हो जावेगा। अतः शुद्धात्मा की उपासना करना निष्प्रयोजन है, ऐसा व्यवहारनय वाले का तर्क है? उसका उत्तर आचार्य निश्चयनय की मुख्यता से देते हैं—

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो।।३०६।।

---

१. किये हुए दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है।

२. सम्यक्चारित्रादिक में आत्मा को प्रेरित करना प्रतिसरण है।

३. मिथ्यात्व तथा रागादिक दोषों से आत्मा का निवारण करना परिहरण है।

४. पञ्चनमस्कारादि बाह्य द्रव्य का आलम्बन कर चित्त को स्थिर करना धारणा है।

५. बहिरङ्ग विषयकषायादिक में जो चेष्टा है उससे चित्त की प्रवृत्ति को रोकना निवृत्ति है।

६. आत्मा को साक्षीकर दोषों को प्रकट करना निन्दा है।

७. गुरु की साक्षीपूर्वक दोषों का प्रकट करना गर्हा है।

८. गुरुप्रदत्त प्रायश्चित्त को धारण करना शुद्धि है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो।।३०७।।
(युग्मम्)

अर्थ– प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि— ये आठ प्रकार विषकुम्भ हैं, क्योंकि इनमें आत्मा के कर्तापन का अभिप्राय है और जहाँ कर्तापन का अभिप्राय है वहाँ बन्धरूप दोष का सद्भाव ही है। तथा अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि–– ये आठ प्रकार अमृतकुम्भ हैं, क्योंकि यहाँ कर्तापन का निषेध है। अतएव निरपराध है तथा इसीसे अबन्ध है।

विशेषार्थ– जो अज्ञानी जनसाधारण अप्रतिक्रमणादिक हैं वे शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव स्वरूप होने से स्वयमेव अपराध हैं, इसलिये विषकुम्भ ही हैं। उनके विचार से क्या लाभ है? वे तो स्वयं त्यागने योग्य ही हैं। परन्तु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादिक हैं वह सम्पूर्ण अपराधरूप विषके दोषों के कम करने में समर्थ होने से यद्यपि अमृतकुम्भ भी हैं तो भी प्रतिक्रमणादि और अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण तृतीय भूमि को न देखनेवाले पुरुष के स्वकीय कार्य के करने में असमर्थ होने तथा विपक्षकार्य के करने के कारण वे विषकुम्भ ही हैं। वह अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीय भूमि स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिस्वरूप होने के कारण सम्पूर्ण अपराधरूपी विष के दोषों को समूल नष्ट करने में समर्थ है। इसलिये स्वयं साक्षात् अमृतकुम्भ है। इस तरह से वह व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि के भी अमृतकुम्भपन को सिद्ध करती है। इसी तृतीय भूमि के द्वारा आत्म निरपराध होता है। इस तृतीय भूमि के अभाव में द्रव्य प्रतिक्रमणादिक भी अपराध ही हैं। अतएव तृतीय भूमि के द्वारा ही निरपराधपन होता है, यह सिद्ध होता है और उसकी प्राप्ति के लिए ही यह द्रव्य प्रतिक्रमणादिक हैं। इससे यह नहीं मानना कि श्रुति प्रतिक्रमणादिक का त्याग करा रही है किन्तु वह द्रव्य प्रतिक्रमणादिक को छोड़ नहीं रही है। इसके अतिरिक्त प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणादिक के अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप शुद्धात्मा की सिद्धि ही जिसका लक्षण है, ऐसे अनिर्वचनीय अत्यन्त दुष्कर कार्य को भी कराती है।

भावार्थ– अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है किन्तु द्रव्य प्रतिक्रमण भी निश्चयनय की अपेक्षा से विषकुम्भ है क्योंकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूप की सिद्धि नहीं होती। आत्मस्वरूप की सिद्धि प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण के विकल्प से रहित तृतीय भूमिका के आधीन है। इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि शास्त्र में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण का निषेध किया गया है। शास्त्र में यह बताया जा रहा है कि जब तक यह जीव अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण के कर्तृत्व से नहीं छूटता तब तक शुद्धात्मा की सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

प्रतिक्रमण का स्वरूप इसी ग्रन्थ से आगे सर्वविशुद्धिअधिकार में इस प्रकार कहा गया हैं—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।। इत्यादि

अर्थात् पूर्वकाल में किये हुए जो शुभ-अशुभ अनेक विस्तारविशेषरूप कर्म हैं उनसे जो चेतयिता अपने आत्मा को छुड़ाता है वह प्रतिक्रमणस्वरूप है।

[१]इस कथन से प्रतिक्रमण के विकल्प को छोड़कर प्रमादी बन सुख से बैठे हुए लोगों का निराकरण किया गया है, उनकी चपलता नष्ट की गई है, उनका परद्रव्यसम्बन्धी बाह्य आलम्बन उखाड़ कर दूर किया गया है और जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वरूप आत्मा की उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक चित्त को आत्मा में ही निबद्ध किया गया है।।३०६।३०७।।

यहाँ निश्चयनय से प्रतिक्रमणादिक को विषकुम्भ कहा है और अप्रतिक्रमण को अमृतकुम्भ कहा है। इसलिये कोई विपरीत बुद्धि प्रतिक्रमणादि को छोड़ प्रमादी हो जावे तो उसे समझाने के लिये कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः।।१८८।।

अर्थ– जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहां अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकता है? इसलिये यह मनुष्य नीचे-नीचे पड़ता हुआ प्रमाद क्यों करता है? प्रमादरहित होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ता है?

१. आत्मख्यातिकी इस गद्य को प्रचलित प्रकाशनों में कलशा में शामिलकर १८८वाँ नम्बर दे दिया गया है। पर वह कलशा नहीं है। आत्मख्याति का गद्यांश ही है—
'अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनताम्, प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम्, आत्मन्येवालानितं चित्तमासम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ– शुद्धात्मा के अभाव में कृत दोषों का निवारण करने के लिये व्यवहारचारित्र में प्रतिक्रमणादिक का करना आवश्यक बताया है। परन्तु निश्चय-चारित्र में उस विकल्प को हेय ठहराया गया है। इसका अर्थ कोई विपरीत बुद्धि यह समझे कि प्रतिक्रमण तो हेय है, विष के कलश के समान है। अत: प्रतिक्रमण नहीं करना ही श्रेयस्कर है तो उसे आचार्य महानुभाव ने समझया है कि हे भाई! प्रतिक्रमण को छोड़ अप्रतिक्रमण में आना तो ऊपर से नीचे उतरना है, निष्प्रमाद-दशा से च्युत होकर प्रमाददशा में आना है। जहाँ प्रतिक्रमण को विष का कलश कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत का कलश कैसे हो सकता है? अप्रतिक्रमण तो हेय है ही। उसकी चर्चा ही क्या करना है। परन्तु शुद्धात्मा की सिद्धि के अभाव में केवल द्रव्यप्रतिक्रमण से भी लाभ होनेवाला नहीं है। इसलिये उसका भी विकल्प छोड़ और ऊपर-ऊपर की ओर चढ़कर निष्प्रमाद दशा को प्राप्त होता हुआ उस उच्चभूमि को प्राप्त कर, जहाँ द्रव्यप्रतिक्रमण का भी विकल्प छूट जाता है।।१८८।।

आगे प्रमादी मनुष्य शुद्धभाव का धारक नहीं हो सकता, यह कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

प्रमादकलित: कथं भवति शुद्धभावोऽलस:
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यत:।
अत: स्वरसनिर्भरे नियमत: स्वभावे भवन्
मुनि: परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात्।।१८९।।

अर्थ– प्रमाद से युक्त जो आलसी मनुष्य है वह शुद्धभाव का धारक कैसे हो सकता है? क्योंकि कषाय के भार की गुरुता से जो आलस्य होता है वही तो प्रमाद कहलाता है। अतएव स्वरस से भरे हुए स्वभाव में स्थिर रहनेवाला मुनि परम शुद्धता को प्राप्त होता है और शीघ्र ही मुक्त होता है।

भावार्थ– जो मनुष्य 'प्रतिक्रमण विषकुम्भ है', निश्चयनय के इस कथन को सुनकर प्रतिक्रमण को छोड़ देता है और प्रमादी बनकर सदा आलस्य में निमग्न रहता है वह शुद्धभाव से युक्त नहीं हो सकता। अर्थात् उसका भाव शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कषाय की अधिकता से जो आलस्य होता है वह प्रमाद कहलाता है और प्रमाद के रहते हुए भाव की शुद्धता होना दुष्कर कार्य है। अत: 'प्रतिक्रमण विषकुम्भ है' निश्चयनय के इस कथन से यह अभिप्राय लेना चाहिये कि द्रव्य प्रतिक्रमण का विकल्प छोड़ आत्मीय रस से भरे हुए स्वभाव में लीन होना कल्याणकारी है। जो मुनि इस तरह नियमपूर्वक स्वभाव में स्थिर रहता है अर्थात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण दोनों का विकल्प छोड़ उच्चतम भूमिका में स्थिर होता है। वह अशुद्धता का कारण जो मोहकर्म है उसका क्षयकर परम शुद्धता को प्राप्त होता है और कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक देशोनकोटि वर्ष पूर्व में अवश्य ही मुक्त हो जाता है—

अब मुक्त कौन होता है, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

त्यक्त्वऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वे द्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितस्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते।।१९०।।

अर्थ– जो मनुष्य निश्चय से अशुद्धि को करनेवाले सम्पूर्ण परद्रव्य का स्वयं त्यागकर स्वद्रव्य में रति को प्राप्त होता है वह नियम से सम्पूर्ण अपराधों से छूट जाता है और बन्ध के ध्वंसको प्राप्त होकर नित्य उदय को प्राप्त स्वकीय ज्ञानज्योति में निर्मल उछलते हुए चैतन्यरूप अमृत के प्रवाह से पूर्ण है महिमा जिसकी, ऐसा शुद्ध होता हुआ मुक्त होता है—बन्धन से छूट जाता है।

भावार्थ– आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। परन्तु अनादि काल से उसके साथ कर्म-नोकर्मरूप परद्रव्य का जो सम्बन्ध लगा हुआ है उसके कारण यह अशुद्ध हो रहा है। उस अशुद्ध दशा में इसकी स्वरूप की ओर दृष्टि नहीं जाकर सदा परद्रव्यों में ही लीन रहती है तथा सब प्रकार के अपराधों से यह युक्त रहता है। उस सापराध अवस्था में नये-नये कर्मों का बन्ध करता है तथा स्वकीय ज्ञान-स्वभाव से च्युत हो संसार-भ्रमण का पात्र होता है। परन्तु जब इसे भान होता है कि यह समस्त परद्रव्य ही मेरी अशुद्धता के कारण हैं तब उनका संसर्ग छोड़कर स्वकीय आत्मद्रव्य में प्रीति करता है, आत्मद्रव्य में प्रीति होने से सब प्रकार के अपराधों से च्युत हो जाता है। रागादिक भाव ही वास्तविक अपराध हैं, उनसे छूट जाने पर नये-नये कर्मों का बन्ध स्वयं रुक जाता है तथा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने पर निरन्तर उदित रहनेवाली केवलज्ञान रूप ज्योति प्रकट हो जाती है। पहले रागादि का संमिश्रण रहने से ज्ञान-ज्योति में निर्मलता का अभाव था, पर अब रागादिक के सर्वथा दूर हो जाने से केवलज्ञानरूप ज्योति में अत्यन्त निर्मलता रहती है। इस समय निरन्तर छलकते हुए अर्थात् प्रतिसमय उल्लसित होते हुए चैतन्यरूपी अमृत से इसकी महिमा पूर्णता को प्राप्त हो जाती है और यह कर्मकलङ्क से सर्वथा रहित होने के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण शुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है—संसार के बन्धन से छूट जाता है।।१९०।।

आगे पूर्णज्ञान की महिमा का गान करते हुए कलशा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि।।१९१।।

अर्थ– कर्मबन्ध के छेद से जो अतुल तथा अविनाशी मोक्ष को प्राप्त हुआ है, जिसकी सहज स्वाभाविक अवस्था नित्य प्रकाश से प्रकट हुई है, जो अत्यन्त शुद्ध हैं, एकाकार स्वरस के भार से अत्यन्त गम्भीर है, धीर है, अपनी अचल महिमा में लीन है, ऐसा पूर्णज्ञान सदा देदीप्यमान रहता है।।१९१।।

इस प्रकार मोक्ष रङ्गभूमि से बाहर निकल गया।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयप्राभृत में मोक्ष का वर्णन करनेवाले आठवें अधिकार का प्रवचन पूर्ण हुआ।।८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

९. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।

प्रथम ही ज्ञानपुञ्ज आत्मा की महिमा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि—
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः।।१९२।।

अर्थ– जो कर्तृत्व-भोकृत्व आदि समस्त भावों को अच्छी तरह विनाश को प्राप्त करा कर प्रत्येक पद में—प्रत्येक पर्याय में बन्ध और मोक्ष की रचना से दूरीभूत है, द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के नष्ट हो जाने से जो अत्यन्त शुद्ध है, जो आत्मिक रस के समूह में पूर्ण, पवित्र तथा स्थिर प्रकाश से सहित है और जिसकी महिमा टङ्कोत्कीर्णरूप से—स्थायिरूप से प्रकट हुई है, ऐसा यह ज्ञान का पुञ्ज आत्मा देदीप्यमान है।

भावार्थ– सम्पूर्ण कर्तृ-कर्म आदि भावों से उत्तीर्ण सर्वविशुद्ध भावात्मक आत्मा का इस सर्वविशुद्ध अधिकार में वर्णन है। इसलिये सर्वप्रथम उस ज्ञानपुञ्ज आत्मा का इसमें स्तवन किया गया है, जिसने कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भावों का नाश कर दिया है। पहले अज्ञान अवस्था में यह आत्मा कर्मों का कर्ता और भोक्ता बनता था, परन्तु सम्यग्ज्ञान के प्रकट होने पर अब यह अपने आपको कर्मों का कर्ता और भोक्ता नहीं मानता। पहले अज्ञानदशा में कर्मों के बन्ध और मोक्ष के विकल्प में पड़ा हुआ था, पर अब निश्चयदृष्टि प्रकट होने पर बन्ध और मोक्ष के विकल्प से दूर हो गया है। पहले द्रव्यकर्म और भावकर्म के साथ सम्बन्ध होने से अशुद्ध हो रहा था,परन्तु अब उभयविध कर्मों का सम्बन्ध छूट जाने से अत्यन्त शुद्धता को प्राप्त हो गया है। पहले इसका क्षायोपशमिक ज्ञानरूपी प्रकाश रागद्वेष से संपृक्त होने के कारण अपवित्र तथा अस्थिर था, परन्तु अब इसका क्षायिकज्ञानरूपी प्रकाश राग द्वेष से सर्वथा रहित होने के कारण पवित्र और स्थिर है। पहले इसका ज्ञानादिरूप वैभव मेघमण्डल में छिपी विद्युल्लता के समान प्रकट होता और फिर तिरोहित होता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहता था, पर अब इसका ज्ञानादिरूप वैभव टाँकी से उकेरे हुए के समान सदा के लिये प्रकट हो चुका है। ऐसा यह ज्ञानपुञ्ज—अनन्तज्ञान की राशिस्वरूप आत्मा प्रकट हो रहा है।।१९२।।

अब आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभाव सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुपछन्द

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः।।१९३।।

अर्थ– भोक्तापन के सदृश कर्तापन भी आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। अज्ञान से ही आत्मा कर्ता भासमान होता है और अज्ञान के अभाव से अकारक ही है—कर्ता नहीं है।

भावार्थ– जीवत्व गुण के समान कर्तृत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि कर्तृत्व यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण होता तो मुक्तावस्था में भी इसका अस्तित्व पाया जाता। अतः यह प्रतीत होता है कि मोहादि विभावभावों का निमित्त पाकर अज्ञानी आत्मा कर्ता बनता है, परमार्थ से कर्ता नहीं है। जैसे मद्यपायी मद्य के नशा में उन्मत्त बनता है, स्वभाव से उन्मत्त नहीं होता। यहाँ पर इसे स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण है—

एक बार एक राजा हाथी पर बैठा हुआ मन्त्री के साथ वनक्रीडा के लिए जा रहा था। मार्ग में एक तन्तुवाय भी मद्यपान कर जा रहा था। राजा को देखकर वह कहता है कि क्यों रे हाथी बेचेगा? क्या मूल्य लेगा? राजा इस वाक्य को श्रवण कर एकदम क्रोधित हो, उसे दण्ड देने की आज्ञा देना ही चाहता था कि मन्त्री ने कहा महाराज! दो घण्टे के अनन्तर ही इसे दण्ड देने की आज्ञा दीजिये, अभी यह वराक अपने में नहीं है। राजा ने मन्त्री के वाक्य को श्रवणकर 'तथास्तु' कहा। अनन्तर वह राजा वनविहार से निवृत्त होकर जब राजसभा में सिंहासनारुढ हुआ तब मन्त्री की आज्ञा से वह मद्यपायी तन्तुवाय बुलाया गया। महाराज ने उससे प्रश्न किया हाथी खरीदोगे? वह बेचारा महाराज के वाक्य श्रवण कर कम्पित हो गया और कर मुकुलितकर नम्रीभूतमस्तक हो विनय के साथ उत्तर देता है— भो प्रभो! हाथी खरीदने वाला तो अभी नहीं है, वह भाव तभी तक था जब तक मद्य का नशा था। इसी तरह जब तक यह आत्मा मोह मदिरा के नशा में उन्मत्त रहता है तब तक ही परपदार्थों का कर्ता बनता है। उस नशा में संसार भर के पदार्थों का कर्ता आप तो बनता है सो ठीक ही है परन्तु निर्विकार आनन्दस्वरूप विज्ञानघन विकल्पजालमुक्त जो परमात्मा हैं उनमें भी इस अज्ञानदशा में जायमान कर्तापन का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आरोप करता है। अज्ञानावस्था में जो-जो विकार न हों, सो थोड़े हैं। इसीसे कल्याण मन्दिर में कहा है—

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण।।

अर्थात् हे विभो! अज्ञानान्धकार से रहित आपको ही अन्यवादीजन हरि, हर आदि की बुद्धि से प्राप्त हुए हैं- आपको हरि, हर आदि समझकर आपकी उपासना करते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि हे ईश! काच और कामलारोग से सहित लोगों के द्वारा सफेद शङ्ख भी क्या नानाप्रकार के विपरीत वर्णों से युक्त नहीं ग्रहण किया जाता? अवश्य किया जाता है।।१९३।।

अब आगे दृष्टान्तपूर्वक आत्मा का अकर्तापन सिद्ध करते हैं–

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह।।३०८।।
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि।।३०९।।
ण कुदो चि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होई।।३१०।।
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा।।३११।।

(चतुष्कम्)

अर्थ– जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है उसे उन गुणों से अभिन्न जानो। जैसे कि कटक आदि पर्यायों से उत्पन्न होता हुआ सुवर्ण उन पर्यायों से अभिन्न होता है।[१] आगम में जीव और अजीवद्रव्य के जो परिणाम—पर्याय कहे गये हैं

---

१. यही सिद्धान्त श्रीकुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार में कहा है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो।।८।।

जो द्रव्य जिस काल में जिस परिणाम कर परिणमता है वह उस काल में उससे तन्मय हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इसी से जब आत्मा धर्मरूप परिणमता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उस जीव और अजीवद्रव्य को उन परिणामों— पर्यायों से अभिन्न जानो, क्योंकि आत्मा किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिये कार्य नहीं है और किसी को उत्पन्न नहीं करता, इसलिये कारण भी नहीं है। कर्म की अपेक्षा कर्ता और कर्ता की अपेक्षा कर्म उत्पन्न होते हैं, ऐसा नियम है। इस नियम को उल्लंघकर अन्य किसी प्रकार कर्ता और कर्म की सिद्धि नहीं होती।

विशेषार्थ– निश्चय से जीव क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसी प्रकारन अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं, क्योंकि सब द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। जिस प्रकार कि कङ्कण आदि पर्यायों के साथ सुवर्ण का तादात्म्य रहता है। इस तरह अपने परिणामों से उत्पन्न होनेवाले जीव का अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि सभी द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है। उसके अभाव में अजीव के जीव का कर्मपन सिद्ध नहीं होता और उसके सिद्ध न होने पर जीव के अजीव का कर्तापन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कर्ता और कर्म अन्य की अपेक्षा सिद्ध न होकर स्वद्रव्य की अपेक्षा ही सिद्ध होते हैं। इससे जीव अकर्ता ठहरता है।

ऐसा सिद्धान्त कुन्दकुन्ददेव ने कर्तृकर्माधिकार में भी स्पष्ट रीति से कहा है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं।।

अर्थात् जो द्रव्य जिस स्वकीय द्रव्यस्वभाव में अथवा स्वकीय गुण में वर्तता है वह द्रव्य, अन्य द्रव्य और अन्य गुण में संक्रमण नहीं कर सकता। यहाँ पर ऐसा तात्पर्य जानना चाहिये कि निमित्त कारण को पाकर परिणमनशील जो पदार्थ है वह अन्यरूप नहीं होता है। जैसे कुम्भकार के योग और उपयोग के द्वारा मिट्टी का घटरूप परिणमन हो जाता है। एतावता कुम्भकार घटरूप नहीं होता, क्योंकि घटपर्याय का उपादान कारण मिट्टी है। अत: मिट्टी के अनुरूप घट होगा। उसी तरह जीव और पुद्गल में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जीव के परिणाम में उपादानकारण जीव और अजीव के परिणमन में उपादानकारण अजीव है। अत: जीव का परिणमन जीवरूप और अजीव का परिणमन अजीवरूप ही होगा।।३०८-३११।।

है तब उसे धर्म जानना चाहिये। जैसे लोहे का गोला जिस काल में अग्नि में तपाने से अग्निरूप परणिम जाता है उस काल में उसे अग्नि ही, कहते हैं, वैसे ही आत्मा जिस काल में सम्पूर्ण रागादिक विभावों से विहीन धर्मरूप परिणमता है उस काल में श्रीजिनदेव ने उसे धर्म कहा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी सिद्धान्त को श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशा द्वारा कहते हैं—

शिखरिणीछन्द

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः।।१९४।।

अर्थ– जो स्वभाव से शुद्ध है तथा देदीप्यमान चैतन्यरूप ज्योति के द्वारा जिसने संसार के विस्ताररूप भवन को व्याप्त कर लिया है, ऐसा यह आत्मा परद्रव्यों का अकर्ता है, यह निश्चित है। फिर भी इस संसार में कर्म प्रकृतियों के साथ इस जीव का जो बन्ध होता है वह निश्चय से अज्ञानी की कोई अनिर्वचनीय गहन महिमा है।

भावार्थ– जीव स्वभाव से शुद्ध है और केवलज्ञान रूपी ज्योति के द्वारा समस्त लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाला है, इसलिये वह कर्मों का कर्त्ता नहीं है। फिर भी अनादि से कर्मप्रकृतियों के साथ जो इसका बन्ध हो रहा है वह अज्ञान की ही बड़ी भारी महिमा है। निश्चयनय में उत्पाद्योत्पादकभाव की मुख्यता से कथन होता है और वह उत्पाद्योत्पादकभाव एक द्रव्य में ही बनता है, अन्य द्रव्य में नहीं। इसलिये निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नहीं है। परन्तु व्यवहारनय में निमित्त-नैमित्तिकभाव की मुख्यता से कथन होता है और वह निमित्त-नैमित्तिकभाव अन्य द्रव्यों में बनता है। इसलिये व्यवहारनय से जीव कर्मों का कर्ता है। इस प्रकार नयविवक्षा से कथन जानना चाहिये।।१९४।।

अब इस अज्ञान की महिमा को प्रकट करते हैं–

अनुष्टुप्छन्द

चेया उ पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।।३१२।।
एवं बंधो उ दुण्हं अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ।।३१३।।

(युग्मम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– चेतनागुण विशिष्ट आत्मा, ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के निमित्त से उत्पन्न होता है और विनाश को प्राप्त होता है तथा प्रकृति भी उसी रूप से— आत्मपरिणामभूत रागादिक के निमित्त से उत्पन्न होती है और विनशती है। इस प्रकार आत्मा और कर्म दोनों का परस्पर के निमित्त से बन्ध होता है तथा उस बन्ध से संसार होता है।

विशेषार्थ– यह आत्मा, अनादि संसार से प्रतिनियत जो पर और आत्मा के स्वलक्षण हैं उनका ज्ञान न होने से दोनों में एकत्व का निश्चय करने के कारण कर्ता होता हुआ प्रकृति के निमित्त से उत्पाद और विनाश को प्राप्त होता है और प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है। इस तरह आत्मा और प्रकृति में परमार्थ से कर्तृ-कर्मभाव का अभाव होने पर भी परस्पर के निमित्त-नैमित्तिकभाव से दोनों का बन्ध देखा गया है, उस बन्ध से संसार होता है और इसीसे उन दोनों में कर्तृ-कर्म का व्यवहार होता है।

यह बात आचार्य पहले भी कर्तृकर्माधिकार में दिखा चुके हैं—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ।।८०।।
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्नं पि।।८१।।
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।८२।।

अर्थात् पुद्गल जीव के रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणमन करते हैं और जीव भी पुद्गलकर्म का निमित्त पाकर रागादिभाव रूप परिणम जाता है, ऐसा परिणमन होने पर भी जीवद्रव्य कर्मों में कोई गुण नहीं करता है और पुद्गलकर्म जीव में कोई गुण नहीं करता है, किन्तु दोनों का परस्पर के निमित्त से परिणाम देखा जाता है। इस कारण से जीव अपने भावों का कर्ता है, पुद्गलकर्म कृत जो सम्पूर्ण भाव हैं उनका कर्ता नहीं हैं।।३१२।३१३।।

आगे कहते हैं कि जबतक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना और विनाश होना नहीं छोड़ता है तबतक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयमी हैं—

अनुष्टुप्छन्द

जा एस पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ।।३१४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जया विमुंचए चेया कम्मप्फलमणंतयं ।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ।।३१५।।

(युग्मम्)

अर्थ– यह आत्मा जबतक प्रकृति के निमित्त से जायमान उपजना और विनाश को नहीं त्यागता है तबतक अज्ञानी होता हुआ मिथ्यादृष्टि और असंयमी है तथा जब अनन्त कर्मफल को छोड़ देता है तब कर्मबन्ध से रहित होता हुआ ज्ञाता, द्रष्टा और संयमी होता है।

विशेषार्थ– जबतक यह आत्मा अपने-अपने प्रतिनियत लक्षणों का ज्ञान न होने से आत्मा के बन्ध का निमित्त जो प्रकृतिस्वभाव है उसे नहीं त्यागता है तबतक आत्मा और पर में एकपन का ज्ञान होने से अज्ञानी है, आत्मा और पर में एकपन के दर्शन से मिथ्यादृष्टि है तथा आत्मा और पर में एकपन की परिणति से असंयत है और तभी तक पर तथा आत्मा में एकपन का निश्चय करने से कर्ता होता है। परन्तु जिस काल में यही आत्मा अपने-अपने प्रतिनियत लक्षणों का ज्ञान होने से आत्मा के बन्ध का निमित्त जो प्रकृतिस्वभाव है उसे छोड़ देता है उस काल में आत्मा और परपदार्थ के भेदज्ञान से ज्ञायक होता है, आत्मा और परको भिन्न-भिन्न देखने से दर्शक होता है, आत्मा और पर की भिन्न-भिन्न परिणति होने से संयम होता है और उसी समय पर और आत्मा में एकपन का अध्यवसाय न करने से अकर्ता होता है।।३१४-३१५।।

अब कर्तृत्व की तरह भोक्तृत्व भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह कलशा में दिखाते हैं—

अनुष्टुप्

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः।।१९५।।

अर्थ– जैसे कर्तापन आत्मा का स्वभाव नहीं है वैसे भोक्तापन भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। अज्ञान से ही आत्मा भोक्ता होता है और अज्ञान के अभाव में यह अभोक्ता ही है।

भावार्थ– जिस नय से आत्मा कर्मों का अकर्ता है उस नय से आत्मा कर्मों का अभोक्ता भी है और जिस नय से कर्मों का कर्ता है उस नय से भोक्ता भी है।।१९५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे यही भाव गाथा में कहते हैं–

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ।।३१६।।

अर्थ– अज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव में स्थित होता हुआ कर्मफल को वेदता है—भोगता है। परन्तु ज्ञानी जीव उदयागत कर्मफल को जानता तो है पर भोगता नहीं है।

विशेषार्थ– अज्ञानी जीव, शुद्धात्मज्ञान का अभाव होने के कारण निज और पर के एकत्व ज्ञान से, निज और पर के एकत्व दर्शन से तथा निज और पर में एकत्व की परिणति होने से प्रकृतिस्वभाव में— कर्मस्वभाव में स्थित है। अत: प्रकृतिस्वभाव का अहम्भाव से अनुभव करता हुआ वह कर्मफल का भोक्ता होता है। परन्तु ज्ञानी जीव शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण निज और पर में भेदज्ञान से, निज और पर में भेददर्शन से तथा निज और पर में भिन्न परिणति होने से प्रकृतिस्वभाव से दूर हट चुका है। इसलिये यह एक शुद्धात्मस्वभाव का ही अहम्भाव से अनुभव करता हुआ उदयागत कर्मफल को ज्ञेयमात्र पन से जानता ही है, किन्तु अहम्भाव से उसका अनुभव करना अशक्य होने से उसे भोगता नहीं है।

भावार्थ– अज्ञानी जीव शुद्धात्म स्वभाव का ज्ञान न होने से उदयागत कर्मफल को आत्मा का स्वभाव जानकर भोगता है और ज्ञानी जीव शुद्धात्मस्वभाव का ज्ञाता होने से उदयागत कर्मफल को जानता मात्र है, भोगता नहीं है। अज्ञानी जीव के अन्तरङ्ग में मिथ्यादर्शन के सद्भाव से यथार्थज्ञान का अभाव है, इसी से उसके स्वपर का भेदज्ञान नहीं है और भेदज्ञान के अभाव से निरन्तर परपदार्थों को अपने मानकर उनके परिणमन को अपने अनुकूल बनाने की वह चेष्टा करता है जो कि सर्वथा असंभव है। इसीसे जो कर्मफल उदय में आता है उसका भोक्ता बनता है। किन्तु ज्ञानी जीव के मिथ्यात्वभाव के अभाव से सम्यग्ज्ञान का उदय है। अत: वह भिन्न-भिन्न पदार्थों को जानता है और उनके परिणमन से अपने परिणमन को भी भिन्न जानता है। अत: उदय में आये कर्मफल को जानता है अर्थात् उनके द्वारा जो सुख-दु:ख होता है उसको जानता तो है पर वेदता नहीं है।।३१६।।

आगे यही भाव कलशा में कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदक:।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता।।१९६।।

अर्थ– अज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभाव में रत होने से नित्य ही भोक्ता है और ज्ञानी जीव प्रकृतिस्वभाव से विरत होने से कदाचित् भी भोक्ता नहीं होता है। इस प्रकार के नियम को जानकर ज्ञानी पुरुष अज्ञानीपन को छोड़े और शुद्ध एक आत्मस्वरूप तेज में स्थिर होकर ज्ञानीपन का सेवन करें।

भावार्थ– कर्मविपाक से जायमान विकार को अज्ञानी जीव आत्मा का स्वभाव जानता है, अत: वह उसका भोक्ता बनकर हर्ष-विषाद का अनुभव करता है। परन्तु ज्ञानी जीव एक ज्ञानदर्शन रूप चिन्मात्र ज्योति को ही आत्म का स्वभाव समझता है, इसलिये उसमें लीन रहता है, और कर्मविपाक से जायमान रागादि विकारीभावों को पर मानता है, इसलिये उनमें लीन नहीं रहता। ज्ञान का विषय होने से वह उन्हें जानता तो है, परन्तु उनका भोक्ता नहीं होता है।।१९६।।

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है, ऐसा नियम करते हैं–

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ।।३१७।।

अर्थ– अभव्य जीव सम्यक् प्रकार से शास्त्रों का अध्ययन करके भी कर्म की विपाकावस्था से जायमान विभावभावों को अपना मानने रूप स्वभाव को नहीं छोड़ता, सो ठीक ही है क्योंकि साँप गुड़ और दुग्ध का पान करते हुए भी निर्विष नहीं होते।

विशेषार्थ– जिस प्रकार विषधर सर्प स्वकीय विषपन को न तो अपने आप छोड़ता है और न विषमोचन में समर्थ शर्करा सहित दुग्धपान से ही छोड़ता है। इसी प्रकार अभव्य जीव प्रकृति निमित्त से जायमान रागादिक विकार भावों को न तो स्वयमेव छोड़ता है और रागादिक के अपहरण में समर्थ द्रव्यश्रुतज्ञान से भी उन्हें छोड़ता है, क्योंकि भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव से वह अज्ञानी ही है। अत: नियम किया जाता है कि प्रकृतिस्वभाव में स्थित होने से अज्ञानी भोक्ता ही है।।३१७।।

आगे ज्ञानी अभोक्ता ही है, ऐसा नियम करते हैं–

णिव्वेय समावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई ।।३१८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ-- वैराग्यभाव को प्राप्त जो ज्ञानी आत्मा है वह बहुत प्रकार के मधुर और कटुक भेद रूप कर्मफल को जानता है, इसलिये अभोक्ता है।

विशेषार्थ-- ज्ञानी जीव अभेदरूप भावश्रुतज्ञान नामक शुद्धात्मज्ञान का सद्भाव होने से परपदार्थ से अत्यन्त विरक्त है, इसलिये वह प्रकृति स्वभाव को स्वयमेव त्याग देता है, ज्ञाता होने के कारण उदय में आये हुए अमधुर और मधुर-अनिष्ट और इष्ट कर्मफल को केवल जानता ही है, क्योंकि इस प्रकार का ज्ञान होने पर परद्रव्य का अहंभाव से अनुभव नहीं किया जा सकता, इसलिये भोक्ता नहीं है। अतएव प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने के कारण ज्ञानी अभोक्ता ही है।।३१८।।

अब यही भाव कलशा में दिखाते हैं---

वसन्ततिलकाछन्द

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावाच्
छुद्धस्वभावनियत: स हि मुक्त एव।।१९७।।

अर्थ-- ज्ञानी न तो कर्म का कर्ता है और न भोक्ता है, केवल उनके स्वभाव को निश्चय से जानता ही है। परपदार्थ को जानने वाले ज्ञानी जीव के परपदार्थ के प्रति कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभाव होने से वह अपने शुद्धस्वभाव में नियत है, अत: मुक्त ही है।

भावार्थ-- निश्चयनय से ज्ञानी जीव अपने स्वभाव का ही कर्ता और भोक्ता होता है। अत: वह कर्मरूप परद्रव्य का न तो कर्ता है और न भोक्ता है, केवल ज्ञाता ही है, इसलिये वह अपने शुद्धस्वभाव में लीन रहता है। शुद्धस्वभाव में लीन रहने से वह मुक्त ही कहा जाता है।।१९७।।

आगे इसी अर्थ को फिर भी कहते हैं--

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च।।३१९।।

अर्थ-- ज्ञानी जीव बहुत प्रकार के कर्मों को न करता है, न भोक्ता है, किन्तु कर्मफल को जानता है, बन्ध को जानता है, पुण्य और पाप को जानता है।

विशेषार्थ-- निश्चय से ज्ञानी जीव कर्म चेतना और कर्मफल चेतना से रहित होने के कारण स्वयं न कर्ता है और न भोक्ता है। अतएव वह न तो कर्म को करता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है और न भोगता है। किन्तु ज्ञानचेतना में तन्मय होने के कारण केवल ज्ञाता ही है। अतएव कर्मबन्ध और शुभ-अशुभ कर्मफल को केवल जानता ही है।।३१९।।

आगे इसी बात को दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं–

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।

जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।३२०।।

अर्थ– जैसे नेत्र देखने योग्य पदार्थों को देखता है, न तो उनका करनेवाला है और न ही उनका भोगनेवाला है, वैसे ही ज्ञान बन्ध को, मोक्ष को कर्म के उदय को और निर्जरा को जानता है, न तो उनका करनेवाला है और न भोगनेवाला है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार इस संसार में नेत्र देखने योग्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्न होने के कारण उसके करने और भोगने में असमर्थ है। अतः वह देखने योग्य पदार्थ को न करता है और न भोगता है किन्तु देखता ही है। यदि ऐसा न माना जावे तो जिस प्रकार धोंकने वाला अग्नि का कर्ता है और लोहपिण्ड जिस प्रकार स्वयं ही उष्णता का अनुभव करने वाला है उसी प्रकार नेत्र भी अग्नि के देखने से उसका कर्ता हो जावेगा और स्वयं ही उष्णता का अनुभव करने लगेगा, परन्तु ऐसा होता नहीं है। देखने मात्र का स्वभाव होने से वह समस्त पदार्थों को केवल देखता ही है। उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं द्रष्टा होने के कारण कर्मों से अत्यन्त भिन्न है। अतः वह परमार्थ से कर्मों के करने और भोगने में असमर्थ होने से न कर्मों को करता है और न भोगता है। किन्तु केवल, ज्ञानमात्र स्वभाव होने से कर्मबन्ध को, मोक्ष को, कर्मोदय को और निर्जरा को केवल जानता ही है।।३२०।।

आगे आत्मा कर्मों का कर्ता है, ऐसा मानना मोक्ष में बाधक है, यह भाव कलशा में दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ।।१९८।।

अर्थ– अज्ञानान्धकार से आच्छादित हुए जो पुरुष आत्मा को पर का कर्ता देखते हैं। सामान्य मनुष्यों की तरह मोक्ष की इच्छा रखते हुए भी उन पुरुषों को मोक्ष नहीं होता है।

आगे इसी अर्थ को गाथाओं में प्रकट करते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोयस्स कुणइ विह्णु सुर-णारय-तिरिय-माणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा कुव्वइ छव्विहे काये ।।३२१।।
लोगसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विह्णु समणाण वि अप्पओ कुणइ ।।३२२।।
एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोय-समणाण दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ।।३२३।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– लौकिक मनुष्यों की ऐसी श्रद्धा है कि देव, नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्य इन प्राणियों को विष्णु करता है और इसी तरह यदि मुनियों की श्रद्धा हो कि षट्काय के जीवों को करनेवाला आत्मा है तो लौकिक मनुष्य और मुनियों का एक ही सिद्धान्त हुआ, कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, क्योंकि लौकिक मनुष्यों के मत में विष्णु करता है और मुनियों के मत में आत्मा करता है। इसप्रकार लौकिक मनुष्य और मुनि इन दोनों का कोई भी मोक्ष दिखाई नहीं देता, क्योंकि दोनों ही देव, मनुष्य और असुरों सहित लोकों को नित्य ही करते हुए प्रवर्तते हैं।

विशेषार्थ– जो आत्मा को कर्ता ही मानते हैं वे लोकोत्तर (मुनि) होकर भी लौकिकपन का उल्लंघन नहीं करते हैं अर्थात् लौकिक ही है, क्योंकि लौकिकजनों का परमात्मा विष्णु, देव-नारकी आदि कार्यों को करता है और लोकोत्तरजनों का स्वात्मा देव, नारकी आदि कार्यों को करता हैं। इस तरह यह खोटा सिद्धान्त दोनों का एक समान है। इसलिये आत्मा को नित्य-कर्ता मानने से लौकिकजनों के समान उन लोकोत्तरपुरुषों को भी मोक्ष नहीं हो सकता।।३२१।३२३।।

अब आत्मा और परद्रव्य में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, यह दिखाने के लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः।।१९९।।

अर्थ– परद्रव्य और आत्मा में परस्पर समस्त सम्बन्ध नहीं हैं, अतः कर्तृ-कर्मत्व सम्बन्ध का भी अभाव है और उसके अभाव में आत्मा परद्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है? ।।१९९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे परद्रव्य मेरा नहीं है, यह दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं–

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमिच्चमवि किंचि।।३२४।।
जह को वि णरो जंपइ अह्मं गामविसयणयररट्ठं।
ण य होंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा।।३२५।।
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ।।३२६।।
तह्मा ण मे त्ति णिच्चा दोह्नं वि एयाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं।।३२७।।

(चतुष्कम्)

अर्थ– जिन लोगों ने पदार्थ के स्वरूप को नहीं जाना है वे व्यवहार की भाषा से ऐसा कथन करते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है'। परन्तु जो निश्चय से पदार्थ के स्वरूप को जानते हैं वे कहते हैं कि परमाणुमात्र भी 'परद्रव्य मेरा नहीं है'[१]। जिस प्रकार लोक में कोई मनुष्य ऐसा कहता है कि हमारा ग्राम है, देश है, नगर है, तथा राष्ट्र है। पर वे ग्रामादिक उसके नहीं हैं, वह मोह से उन्हें अपना मानता है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परद्रव्य को जानता हुआ 'यह मेरा है' इस तरह उसे अपना मानने लगे तो वह मिथ्यादृष्टि ही है, इसमें शङ्का के लिये स्थान नहीं है। इसलिये ज्ञानी जीव 'परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर लौकिकजन और मुनि इन दोनों का परद्रव्य के विषय में जो कर्तृत्व का व्यवसाय है उसे मिथ्यादृष्टियों का ही व्यवसाय जानता है।

विशेषार्थ– अज्ञानी जीव ही केवल व्यवहार में विमूढ होकर 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा देखते हैं। परन्तु निश्चयनय के द्वारा प्रतिबोध को प्राप्त हुए ज्ञानी जीव परद्रव्य के कणिकामात्र को भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते हैं। इसलिये जिस प्रकार इस लोक में व्यवहार द्वारा विमुग्ध परकीय ग्रामवासी कोई मनुष्य दूसरे के ग्राम को 'यह हमारा ग्राम है' ऐसा देखता हुआ मिथ्यादृष्टि है, उसी प्रकार यदि ज्ञानी जीव भी किसी तरह व्यवहार में मुग्ध होकर 'यह परद्रव्य हमारा है' ऐसा यदि देखने लगे तो उस समय वह भी निःसन्देह परद्रव्य को अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही

---

१. अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होगा। इसलिये तत्त्व को जाननेवाले पुरुष को, 'सम्पूर्ण परद्रव्य मेरा द्रव्य नहीं है' ऐसा जानकर लौकिकजन और मुनि दोनों का जो यह परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय है वह उनके सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण ही हो रहा है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये।।३२४।३२७।।

अब इसी भाव को कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्।।२००।।

अर्थ– यतः इस संसार में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सभी सम्बन्ध निषद्ध किया गया है, इसलिये वस्तुभेद के रहते हुए अर्थात् दो पृथक् द्रव्यों में कर्तृ-कर्मव्यवहार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव हे मुनियो! और हे लौकिकजनों! तुम तत्त्व अकर्तृरूप देखो।

भावार्थ– संसार के सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लिये हुए स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। कोई अपने चतुष्टय को पर के चतुष्टय के साथ परिवर्तित करने के लिए समर्थ नहीं हैं, इसलिये किसी अन्य पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह दो पृथक् सिद्ध पदार्थों में जब सभी प्रकार के सम्बन्ध का निषेध हो गया तब उनमें कर्तृ-कर्म सम्बन्ध कैसे बन सकता है? निश्चय से कर्तृ-कर्मसम्बन्ध सदा एक ही वस्तु में बनता है क्योंकि जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और जो उसका परिणाम है वह कर्म कहलाता है। इस स्थिति में आत्मा परपदार्थों का कर्ता नहीं हो सकता और परपदार्थ आत्मा का कर्म नहीं हो सकता। इसलिये आचार्य महानुभाव ने मुनियों तथा लौकिकजनों— दोनों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम आत्मतत्त्व को परद्रव्य का अकर्ता ही समझो।।२००।।

अब भावकर्म का कर्ता चेतन ही है, यह दिखाने के लिए कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः।।२०१।।

अर्थ– आचार्य खेदपूर्वक कहते हैं कि जो पुरुष वस्तुस्वभाव के इस नियम को अङ्गीकार नहीं करते हैं तथा जिनका आत्मतेज अज्ञान में डूब गया है वे दीन हुए कर्म करते हैं। इसलिये भावकर्म का कर्ता चेतन ही है, अन्य नहीं है।

भावार्थ– निश्चयनय दो विभिन्न द्रव्यों में कर्तृ-कर्मभाव का निषेध करता है, इसलिये आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है, इतना तो निश्चित हो चुका। अब रागादिक भावकर्म के कर्ता का विचार है, सो यह रागादिक भावकर्म उपादानोपादेय सम्बन्ध की अपेक्षा आत्मा की ही परिणति है क्योंकि आत्मा ही रागादिकरूप परिणमन करता है। अतः जब वे आत्मा के ही परिणमन हैं तब आत्मा ही इनका कर्ता हो सकता है, अन्य द्रव्य नहीं। परन्तु ये रागादिक आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, परद्रव्य के सम्बन्ध से होने वाले अशुद्धभाव हैं। अज्ञानदशा में ही आत्मा इनका कर्ता होता है, ज्ञानी दशा में नहीं।।२०१।।

आगे इसी कथन को युक्ति द्वारा पुष्ट करते हैं–

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो।।३२८।।
अवहा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो।।३२९।।
अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तह्मा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं।।३३०।।
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा।।३३१।।

(चतुष्कम्)

अर्थ– यदि मिथ्यात्वनामक प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है अर्थात् मिथ्यात्वरूप भावकर्म को करती है तो हे सांख्यमती[1]। तुम्हारे सिद्धान्त में अचेतन

१. सांख्यमत में आत्मा को तो अकर्ता ही माना है और प्रकृति को ही कर्ता माना है। उसी अभिप्राय को लेकर आचार्य का कहना है कि यदि आत्मा को सर्वथा शुद्ध माना जावे और मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता प्रकृति को ही माना जावे, तो ऐसा मानने वाला सांख्यमत का ही अनुयायी होगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृति कारकपन को प्राप्त हो जावेगी अथवा यह जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को करता है, ऐसा मानोगे तो पुद्गल द्रव्य मिथ्यादृष्टि हुआ, जीव तो मिथ्यादृष्टि नहीं हुआ अथवा जीव और प्रकृति दोनों ही मिलकर पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को करते हैं तो दोनों के द्वारा जो कार्य किया गया है, उसके फल को दोनों ही भोगेंगे, परन्तु ऐसा बन नहीं सकता क्योंकि भोक्तृपन चेतन का धर्म होने से जीव में ही हो सकता है, जड़ प्रकृति में नहीं। कदाचित् यह मानों कि प्रकृति और जीव दोनों ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यादृष्टि नहीं करते हैं तो पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहना क्या मिथ्या नहीं है?

विशेषार्थ– जीव ही मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता है क्योंकि यदि उसे अचेतन प्रकृति का कार्य माना जावेगा तो उसमें अचेतनपन का प्रसङ्ग आ जावेगा। जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है अर्थात् जीव में जो मिथ्यात्वादि भावकर्म रूप परिणति होती है उसी का कर्ता जीव है। पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्वादि भावकर्म जीव के द्वारा किये जाते हैं, यदि ऐसा माना जावे, तो पुद्गलद्रव्य में चेतनपन का प्रसङ्ग आ जावेगा। जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्वादि भावकर्म के कर्ता हैं, यदि ऐसा माना जावे, तो जीव के समान अचेतन प्रकृति के भी उसका फल भोगने का प्रसङ्ग आ जावेगा। यदि यह कहा जावे कि जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्वादि भावकर्म के कर्ता नहीं हैं तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस पक्ष में पुद्गलद्रव्य से मिथ्यात्वादि भावकर्म का प्रसङ्ग स्वभाव से ही मानना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिक भावकर्म जीव के ही हैं, जीव ही इनका कर्ता है और ये जीव के ही कर्म हैं।

भावकर्म रागादिक हैं, यह अज्ञानावस्था में, मिथ्यात्व के सद्भाव से जीव के होते हैं, जीव ही इनका कर्ता है, यही भाव संसार के कारण हैं। जीवाजीवाधिकार में जो यह कहा है कि ये वर्णादिक व रागादिक भाव जीव के नहीं है, सो उसका यह तात्पर्य है—उस अधिकार में जीव को परद्रव्य से सर्वथा पृथक् जानने का उपदेश है, अत: वहाँ पर उन्हीं भावों का ग्रहण है जो जीव की सर्व अवस्थाओं में पाये जावें। अत: ज्ञानदर्शन ही ऐसे हैं जो जीवत्व के साथ व्यापक होकर रहते हैं, रागादिकभाव इस तरह के नहीं है, वे कारणजन्य होने से औपाधिक भाव हैं, अत: जीव की सर्व अवस्थाओं में उनकी व्याप्ति नहीं है। वस्तु के ऊपर विचार किया जावे तो जो-जो अवस्थायें वस्तु की होती हैं उन-उन अवस्थाओं का उसके साथ अभेद सम्बन्ध रहता है। जो वस्तु जिस काल में जिस रूप परिणमती है उस काल में वह तन्मय हो जाती है। तब जिस समय आत्मा रागादिरूप परिणमता है उस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय आत्मा का रागादिक के साथ अभेद है और तज्जन्य जो आकुलता होती है उसका भोक्ता भी यही आत्मा होता है। अतः आत्मा को सर्वथा रागादि रहित मानना संसार और मोक्ष दोनों के स्वरूप का अपलाप करना है और इसका फल अनन्त संसार ही है।।३२८-३२९-३३०-३३१।।

अब यही भाव कलशा में प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात् कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः।।२०२।।

अर्थ– रागादिक भावकर्म, कार्य होने से बिना किया हुआ नहीं हो सकता, अर्थात् जब वह कार्य है तब किसी न किसी का किया हुआ अवश्य होगा। जीव और प्रकृति इन दोनों का वह कार्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर जीव की तरह अचेतन जो प्रकृति है उसके भी उस कार्य के फल के भोगने का प्रसङ्ग आता है। केवल एक प्रकृति का भी कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति अचेतन है, अचेतन से चेतन की उत्पत्ति हो नहीं सकती। इसलिये जीव ही उसका कर्ता है और जीव का ही यह कर्म है क्योंकि यह रागादिक भावकर्म चैतन्यानुगामी अर्थात् चेतन है और पुद्गल जड़ रूप है, जड़रूप होने से पुद्गल इसका कर्ता नहीं हो सकता।।२०२।।

भावार्थ– रागादिक चेतन हैं, अतः उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। पौद्गलिक द्रव्यकर्म अचेतन है, अतः वह उनका कर्ता नहीं हो सकता। यह कथन उपादान कारण की अपेक्षा है, निमित्तकारण की अपेक्षा नहीं। रागादिक का उपादान कारण आत्मा है और निमित्तकारण पौद्गलिक द्रव्य।

आगे कर्म ही रागादिक भावकर्म का कर्ता है, इसका निराकरण करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः क्षिप्त्वात्मनो कर्तृतां
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते।।२०३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– कितने ही आत्मघाती पुरुषों ने आत्मा के कर्तापन का निराकरण कर तथा 'कर्म ही रागादिक भावों का कर्ता है' ऐसी तर्कणा कर 'यह आत्मा कथञ्चित् रागादिक भावों का कर्ता है' इस निर्बाध श्रुति को कुपित किया है। प्रचण्ड मोह से जिनकी बुद्धि आवृत हो गई, ऐसे उन पुरुषों के ज्ञान की शुद्धि के लिये स्याद्वाद के प्रतिबन्ध से विजय प्राप्त करनेवाली वस्तुस्थिति कही जाती है।

भावार्थ– सांख्यमत का अनुसरण करने वाले कितने ही पुरुष आत्मा को सर्वथा अकर्ता मान द्रव्यकर्म को ही रागादिक भावों का कर्ता मानते हैं। सो ऐसा माननेवाले पुरुष 'आत्मा कथंचित् रागादिक भावों का कर्ता है' इस निर्बाध जिनवाणी को कुपित करते हैं—उसके विरुद्ध आचरण करते हैं। वैभाविक शक्ति के कारण आत्मा में रागादिरूप परिणमन करने की योग्यता है, इस योग्यता की अपेक्षा रागादिक का कर्ता आत्मा है। परन्तु यह योग्यता द्रव्यकर्म के विपाक के बिना विकसित नहीं होती। इसलिये निमित्त प्रधान दृष्टि में रागादिक का कर्ता आत्मा नहीं है किन्तु द्रव्यकर्म का विपाक है। ऐसा जिनवाणी का कथन निर्बाध है—उसका कोई खण्डन नहीं कर सकता। जिन पुरुषों की बुद्धि तीव्र मिथ्यात्व के उदय से आवृत हो गई है उन्हें वस्तु का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता, अतएव उनके ज्ञान की शुद्धि के लिये यहाँ स्याद्वाद के द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्ध से— स्वच्छन्द मान्यताओं की रुकावट से विजय प्राप्त करनेवाली वस्तुस्थिति कही जाती है।।२०३।।

आगे उसी वस्तुस्थिति को कहते हैं–

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।।३३२।।
कम्मेहिं सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ।।३३३।।
कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य ।
कम्मेहिं चेव किज्जइ सुहासुहं जित्तियं किंचि।।३३४।।
जह्मा कम्मं कुव्वइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि ।
तह्मा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा।।३३५।।
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसइ ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई।।३३६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तह्मा ण को वि जीवो अबंभचारी उ अम्ह उवएसे।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं।।३३७।।
जह्मा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी।
एएणच्छेण किर भण्णइ परघायणामित्ति।।३३८।।
तह्मा ण को वि जीवो वघायओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं।।३३९।।
एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे।।३४०।।
अवहा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स।।३४१।।
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
ण वि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे।।३४२।।
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणइ दव्वं।।३४३।।
अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं।
तह्मा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ।।३४४।।

(त्रयोदशकम्)

अर्थ– जिस प्रकार जीव कर्मों से अज्ञानी किया जाता है उसी प्रकार कर्मों से ज्ञानी किया जाता है, जिस प्रकार कर्मों से सुलाया जाता है, उसी प्रकार कर्मों से जगाया जाता है, जिस प्रकार कर्मों से सुखी किया जाता है, उसी प्रकार कर्मों से दु:खी किया जताा है। कर्मों से मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है, कर्मों से असंयम को भी प्राप्त कराया जाता है, कर्मों से जीव ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में भ्रमाया जाता है तथा शुभ-अशुभ जितने कुछ भाव हैं वे सब कर्मों से किये जाते हैं, क्योंकि कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, जो कुछ है उसे कर्म ही करता है, इससे सम्पूर्ण जीव अकर्ता ठहरे। जब पुंवेद का उदय आता है उस काल में पुरुष स्त्रीरमण की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद के उदय में आत्मा पुरुषरमण की अभिलाषा करता है। यह आचार्य परम्परा से आई हुई श्रुति है, इसलिये कोई भी जीव हमारे सिद्धान्त के अनुकूल अब्रह्मचारी नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है क्योंकि कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है, ऐसा कहा है। जिस कारण पर को घातता है अथवा पर के द्वारा घाता जाता है, यह भी प्रकृति है, इसी अर्थ को लेकर कहते हैं कि परघात नामा प्रकृति है। इसलिये हमारे सिद्धान्त के उपदेश से कोई जीव पर का घात करनेवाला नहीं है क्योंकि कर्म ही कर्म को घातता है ऐसा कहा गया है। इस प्रकार जो श्रमण इस परिपाटी से सांख्यमत के उपदेश का प्रतिपादन करते हैं उनके मत में प्रकृति ही करनेवाली है और सम्पूर्ण आत्मा अकारक हैं। अब आत्मा को कर्ता मानने के लिये आपका यह अभिमत है कि हमारा आत्मा स्वकीय आत्मा को करता है तो तुम्हारा ऐसा मानना मिथ्या है क्योंकि आत्मा आगम में नित्य और असंख्यातप्रदेशी कहा गया है, उससे न तो कोई उसे अधिक कर सकता है और न हीन कर सकता है। जीव का जीवरूप विस्तार से लोक प्रमाण जानो, ऐसा जो जीवद्रव्य है उससे हीन और अधिक कोई कैसे कर सकता है? अथवा ऐसा माना जावे कि ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से स्थित है तो इसी कारण से आत्मा अपने आत्मा को नहीं करता है।

विशेषार्थ– कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के उदय के बिना आत्मा में अज्ञान की अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्मा को ज्ञानी बनाता है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के बिना आत्मा में ज्ञान का विकास नहीं होता है। कर्म ही आत्मा को सुलाता है क्योंकि निद्रा नामक कर्म के उदय के बिना आत्मा में शयनक्रिया की उत्पत्ति नहीं होती है। कर्म ही आत्मा को जगाता है क्योंकि निद्रा नामक दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम के बिना आत्मा में जागरणरूप क्रिया की उपपत्ति असंभव है। कर्म ही आत्मा को सुखी करता है क्योंकि सातावेदनीय-कर्म के उदय के अभाव में सुख का लाभ असम्भव है, कर्म ही आत्मा को दु:खी करता है क्योंकि असातावेदनीयकर्म के उदय के बिना दु:ख की अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाता है क्योंकि मिथ्यात्व नामक दर्शनमोह के उदय के अभाव में आत्मा में मिथ्यादर्शन पर्याय की अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्मा को असंयमी बनाता है क्योंकि चारित्र मोह कर्म के उदय बिना आत्मा में असंयमभाव नहीं होता है। कर्म ही आत्मा को ऊर्द्ध, अधो और मध्यलोक में ले जाता है क्योंकि आनुपूर्वीकर्म के उदय बिना आत्मा का इन स्थानों में गमन असिद्ध है[१] और इनके सिवाय अन्य भी जो कुछ शुभ अथवा अशुभ रूप जितने भाव हैं उन सभी को कर्म ही करता

१. ग्रन्थान्तरों में आनुपूर्व्यनामकर्म का कार्य विग्रहगति में आत्मा के प्रदेशों का पूर्वपर्याय के आकार रखना बतलाया गया है। क्षेत्रान्तर में ले जाना नहीं। यह कार्य गतिमानकर्म का है। आनुपूर्व्यनामकर्म का उदय विग्रहगति में होता है क्योंकि वह क्षेत्रविपाकी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है क्योंकि प्रशस्तराग और अप्रशस्त राग नामक कर्म के उदय बिना आत्मा में इन भावों का अस्तित्व नहीं पाया जाता। जिस कारण इस पद्धति से स्वतन्त्र होकर कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही हरता है, उस कारण सभी जीव नित्य ही एक एकान्त से अकर्ता ही हैं ऐसा हम निश्चय करते हैं।

इसके सिवाय श्रुति भी, जो हमने कहा है, इसी अर्थ को कहती है—पुरुषवेद नामक कर्म के उदय से यह जीव स्त्री की अभिलाषा करता है, इन वाक्यों से कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है, इसका समर्थन होने से और जीव अब्रह्म का कर्ता है, इसका असमर्थन होने से जीव के अब्रह्म के कर्तापन का निषेध अपने आप आ जाता है। तथा जो पर को मारता है और पर के द्वारा मारा जाता है वह परघात नाम का कर्म है ऐसा जो वाक्य है उससे कर्म ही कर्म का घात करता है, इसका समर्थन होने से तथा जीव में परघात के कर्तापन का प्रतिषेध होने से जीव सर्वथा ही अकर्ता है, इस बात को सिद्ध किया गया है। इस प्रकार इस सांख्यसमय को स्वीय प्रज्ञा के अपराध से सूत्र के अर्थ को नहीं जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं, सो उन श्रमणाभासों ने एकान्त से प्रकृति को ही स्वीकार किया है। अत: समस्त जीवों के एकान्त रूप से अकर्तापन की आपत्ति आती है और इसीसे 'जीव कर्ता है' इस श्रुति के कोप का परिहार करना अशक्य है।

यहाँ पर कोई तटस्थ यह कहता है कि कर्म आत्मा के पर्यायरूप अज्ञान आदि समस्त भावों को करता है और आत्मा द्रव्यरूप एक आत्मा को ही करता है, इसलिये 'जीव कर्ता है' इस श्रुति का कोप नहीं हो सकता है। सो उसका यह अभिप्राय मिथ्या ही है, क्योंकि जीव द्रव्य रूप से नित्य है तथा लोक के बराबर असंख्येय प्रदेशी है। इनमें जो नित्य है वह कार्यरूप नहीं हो सकता क्योंकि कृतकपन और नित्यपन का परस्पर विरोध है। और न अवस्थित असंख्येय प्रदेशवाले जीव के एतादृश पुद्गल स्कन्ध के समान प्रदेशों के प्रक्षेपण और अपकर्षण के द्वारा कार्यपन हो कसता है, क्योंकि प्रदेशों के प्रक्षेपण और अपकर्षण के रहते हुए उसके एकपन में व्याघात होता है। और न समस्त लोकरूपी भवन के विस्तार के बराबर जिसका विस्तार है, ऐसा जीव के प्रदेशों के संकोच और विस्तार के द्वारा भी कार्यपन बन सकता है, क्योंकि प्रदेशों का संकोच और विस्तार भी सूखे और गीले चमड़े के समान अपने निश्चित विस्तार से हीनाधिक नहीं किया जा सकता है।

और जो कोई ऐसा मानता है कि वस्तु के स्वभावका अपोहन करना सर्वथा अशक्य है, अत: जीवका जो ज्ञायकभाव है वह ज्ञानस्वभाव से सदा ही विद्यमान रहता है। और उस तरह विद्यमान रहता हुआ ज्ञायकभाव मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं होता, क्योंकि ज्ञायकपन और कर्तापन में अत्यन्त विरोध है तथा मिथ्यात्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि भाव होते अवश्य हैं, पर उनका कर्ता कर्म ही है। आचार्य कहते हैं कि वासना का जो उन्मेष है वह 'आत्मा आत्माको करता है' इस मान्यता का सर्म्पूण रूप से खण्डन ही करता है। इसलिये ऐसा मानना उचित है कि आत्मा का जो ज्ञायकभाव है वह सामान्य की अपेक्षा ज्ञानस्वभाव में अवस्थित होने पर भी कर्मजन्य मिथ्यात्वदि भावों को जिस समय जान रहा है उस समय आनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान में भेदविज्ञान न होने से पर को आत्मा जानने लगता है, इस विशेष की अपेक्षा अज्ञानरूप ज्ञानपरिणामों के करने से वह कर्ता है। परन्तु आत्मा का यह कर्तापन तभी तक मानना चाहिये जब तक कि उस समय से लेकर ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान की पूर्णता नहीं हो। पूर्णता होने पर आत्मा आत्मा को ही जानने लगता है।अतएव विशेषकी अपेक्षा भी मात्र ज्ञानरूप ज्ञान के परिणाम से परिणमन करनेवाले स्वद्रव्य का केवल ज्ञाता रह जाता है, अत: साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ– स्याद्वाद के मर्म को अच्छी तरह न जानने के कारण कितने ही जैन मुनि भी वस्तु–स्वभाव का अन्यथा निरूपण करते हैं सो उनका यह निरूपण सांख्यमत के आशय के सदृश ही जानना चाहिये। उनका कहना है कि ये जो रागादिक भावकर्म होते हैं इनका कर्ता आत्मा नहीं है, यह तो मोहादिक कर्मप्रकृति के उदय का कार्य है। इसी तरह ज्ञान, अज्ञान, सोना, जागना सुख, दु:ख, मिथ्यात्व, असंयम, चारों गतियों में भ्रमण तथा शुभ–अशुभभाव आदि जो भी भाव हैं उन सब भावों का कर्म ही कर्ता है, जीव अकर्ता है। यही जैनशास्त्रों का मत है कि पुरुषवेद के उदय से स्त्री रमण की अभिलाषा होती है और स्त्रीवेद के उदय से पुरुष रमण की इच्छा होती है तथा उपघातादि प्रकृतियों के निमित्त से ही परस्पर घात होता है। सांख्यमतवाले भी यही कहते हैं कि पुरुष अर्थात् आत्मा अकर्ता है और प्रकृति ही कर्त्री है।

इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा माननेवालों के ऊपर स्याद्वाद-वाणी का , जो आत्मा को कथञ्चित् कर्ता मानती है, कोप अवश्य होगा। उस कोपका वारण करने के लिये 'आत्मा तो अपने आपका कर्ता है और इन मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता कर्म ही है' यह कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि आत्मा तो द्रव्य की अपेक्षा नित्य है तथा असंख्यातप्रदेशी है, इसलिये यहाँ तो कुछ करने के लिये है ही नहीं। भावरूप रागादिक परिणामों का कर्ता कर्म ही है, अत: आत्मा तो अकर्ता ही रहा। इस स्थिति में भी स्याद्वादवाणी का कोप तो पूर्ववत् ही रहा, अत: आत्मा को कथञ्चित् अकर्ता और कथञ्चित् कर्ता मानना ही स्याद्वाद है। सामान्य ज्ञायकभाव अपेक्षा से तो आत्मा अकर्ता है परन्तु विशेषाकी अपेक्षा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से जो ये रागादिकभाव होते हैं, अज्ञानावस्था में उनका कर्ता ही है। यही श्री कुन्दकुन्द स्वामी का मत है ।।३३२-३४४।।

यही भाव श्री अमृतचन्द्रस्वामी कलशामें प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछंद

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हता:
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादध:।
ऊर्द्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ।।२०४।।

अर्थ– सांख्यों के सदृश ये जैन-मुनि भी आत्मा को सर्वथा अकर्ता मत मानें, भेदज्ञान के पहले उसे सदा कर्ता मानें और भेदज्ञान होने के ऊपर उत्कृष्ट ज्ञानमन्दिर में निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को कर्तृत्व से रहित, अचल और एक परम ज्ञाता ही देखें।

भावार्थ– जिस प्रकार सांख्य मतवाले आत्मा को एकान्त से अकर्ता मानते हैं उस प्रकार जैन मुनि भी उसे सर्वथा अकर्ता मत समझें, क्योंकि भेदज्ञान के पूर्व अज्ञानदशा में आत्मा रागादिभावों का कर्ता है और भेदज्ञान के अनन्तर आत्मा एक ज्ञाता ही रह जाता है, उसका कर्तापन स्वयं छूट जाता है। इसलिये स्याद्वाद की दृष्टि से ऐसा ही श्रद्धान करना उचित है।।२०४।।

आगे क्षणिक होने से कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, बौद्धों की इस मान्यता का निराकरण करते हुए कलशा कहते हैं—

मालिनीछन्द

क्षणिकमिदमिहैक: कल्पयित्वात्मतत्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतोघै:
स्वयमयमभिषिञ्चँश्चिच्चमत्कार एव ।।२०५।।

अर्थ– इस संसार में इस आत्मतत्व को क्षणिक मानकर एक बौद्ध अपने मन में कर्ता और भोक्ता में भेद मानता है। सो यह चैतन्य का चमत्कार ही कथञ्चित् नित्यरूप अमृत के प्रवाहों से स्वयं सींचता हुआ उसके उस विमोह को दूर करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ– पर्यायदृष्टि से विचार किया जावे तो कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है। और जब द्रव्यदृष्टि से विचार किया जावे तब जो कर्ता है वही भोक्ता है। क्षणिकवादी बौद्ध कर्ता और भोक्ता में सर्वदा भेद मानते हैं। उनका कहना है कि जो प्रथम क्षण था वह दूसरे क्षणों में नहीं है क्योंकि परिणमन सर्वदा बदलता रहता है। बौद्धों का यह कहना सर्वथा संगत नहीं है क्योंकि वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य है तथा ऐसा प्रत्यभिज्ञान भी होता है। कहा भी है—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्धय संचरदोषतः ।।५६।।-आप्तमीमांसा

यही जो प्रत्यभिज्ञान है वह सर्वथा अनित्य के व्यामोह को दूर करता है। यदि वस्तु सर्वथा क्षणिक मानी जावे तो 'यह वही देवदत्त है जिसे पहले देखा था' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता ।।२०५।।

आगे इस क्षणिकवाद का युक्ति के द्वारा निराकरण करते हैं—

अनुष्टप्छन्द

वृत्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा।।२०६।।

अर्थ– वृत्त्यंशों के सर्वथा भिन्न होने से वृत्तिमान् के नाशकी कल्पना कर अन्य करता है, अन्य भोगता है, ऐसा एकान्त सुशोभित न हो।

भावार्थ– प्रतिसमय जो पदार्थों की अवस्था होती है उसे वृत्त्यंश कहते हैं। उनको सर्वथा भिन्न मानकर वृत्तिमान् पदार्थ के नाश की कल्पना द्वारा अन्य करता है, अन्य भोगता है, ऐसा जो एकान्त है सो सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि पर्याय के नाश से यदि पर्यायी का नाश माना जावे तो जिसने हिंसा का अभिप्राय किया वह तो क्षणिकपन से नष्ट हो गया और जिस चित् ने हिंसा का अभिप्राय नहीं किया वही घात करनेवाला हुआ और जिसने घात किया वह नष्ट हो गया और इस हिंसाकर्म से जिसे बन्ध हुआ वह भिन्न है तथा वह चित् जो बन्ध अवस्था को प्राप्त हुआ था वह क्षणिकपन से नष्ट हो गया। अतः अन्य चित् की ही मुक्ति हुई, इत्यादि अनेक दोषों का इस पक्ष में सद्भाव है, इसलिये क्षणिकपक्ष हेय है ।।२०६।।

अब अनेकान्तद्वारा क्षणिकवाद का निषेध करते हैं–

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

केहिंच दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४६।।
जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४७।।
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४८।।
(चतुष्कम्)

अर्थ– क्योंकि जीव नामक पदार्थ कितनी ही पर्यायों के द्वारा विनाश को प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायों के द्वारा विनाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिये वही जीव करता अथवा अन्य जीव करता है, ऐसा एकान्त नहीं है। क्योंकि जीव नामक पदार्थ कितनी ही पर्यायों से नाश को प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायों से नाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिये वही जीव भोगता है या अन्य जीव भोगता है, एसा एकान्त नहीं है। जो जीव करता है वही नहीं भोगता है, ऐसा जिसका सिद्धान्त है, उस जीव को मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्त के मत से बाह्य जानना चाहिये। इसी तरह अन्य जीव करता है और अन्य जीव भोगता है, यह जिसका सिद्धान्त है, उस जीव को मिथ्यादृष्टि तथा अर्हन्त के मत से बहिर्भूत जानना चाहिये।

विशेषार्थ– क्योंकि प्रत्येक समय संभवते हुए अगुरूलघुगुण के परिणाम द्वारा जीव क्षणिक है और अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण के द्वारा नित्य है, इसलिये जीव कितनी ही पर्यायों के द्वारा नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों के द्वारा नष्ट नहीं होता है। इस तरह जीव का स्वभाव दो स्वाभाववाला है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो करता है वही भोगता है और अन्य भी भोगता है। जो भोगता है वही करता है अथवा अन्य भी करता है, ऐसा एकान्त नहीं है। पर्यायदृष्टि से जिसने कार्य किया था वह पर्याय तो भोगने के समय नहीं रही, अत: यह कहना असंगत नहीं कि करनेवाला अन्य था और भोगनेवाला अन्य है। और जब द्रव्यदृष्टि देखते हैं तब जो जीव करने के समय था वही तो भोगने के समय द्रव्यरूप से नित्य है अत: जो करता है वही भोगता है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं,क्योंकि जीव नामक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। इसी अभिप्राय को लेकर आचार्य महाराज का कहना है कि जो भोगता है वही जीव करता है अथवा अन्य ही करता है ऐसा एकान्त नहीं है। अनेकान्त से ऐसी वस्तुव्यवस्था होने पर भी बौद्धसिद्धान्ती का कहना है कि जो वर्तमान क्षण में है, उसी में परमार्थ सत्त्व की अपेक्षा वस्तुत्व है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् वही वस्तु है। इस प्रकार वस्तु के अंश में भी वस्तुपन का आरोप कर शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकान्त में स्थिर होकर 'जो जीव करता है वही नहीं भोगता है,अन्य जीव करता है और अन्य भोगता है' ऐसा अवलोकन करता है, उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना चाहिये। वृत्तिमान् पदार्थ के जो वृत्तिरूप अंश है उनमें क्षणिकपन होने पर भी वृत्तिमान जो चैतन्यचमत्कार है उसका टङ्कोत्कीर्ण रूप से ही अन्तरङ्ग में प्रतिभास होता रहता है ।।३४५-३४८।।

अब इसी अर्थ को कलशा में दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिवशादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितै[१]-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ।।२०७।।

अर्थ– सर्वथा शुद्ध आत्मा की इच्छा करनेवाले अज्ञानी बौद्धों ने अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर तथा कालकी उपाधि के बल से उस आत्मा में भी अधिक अशुद्धता आती है ऐसा मानकर शुद्ध ऋजुसूत्रनय से प्रेरित हो चैतन्य क्षणिक ही है ऐसी कल्पना की है। सो जिस प्रकार सूत्ररहित केवल मोतियों को देखनेवाले मनुष्य जिस प्रकार हार को छोड़ देते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में मोती ही आते हैं, हार नहीं, उसी प्रकार आश्चर्य है कि उन बौद्धों ने इस आत्मा को छोड.दिया है। अर्थात् उनकी दृष्टि में आत्मा की शुद्धि ऋजुसूत्रनय की विषयभूत समयमात्र-व्यापी पर्याय ही आती है, सर्वपर्यायों में अन्वयरूप से व्याप्त रहनेवाला आत्मा नहीं आता।

भावार्थ– आत्मा को सम्पूर्ण रूप से शुद्ध अर्थात् परनिरपेक्ष मानने के इच्छुक बौद्धों ने विचार किया कि यदि आत्मा को नित्य माना जावे तो उसमें काल की अपेक्षा आती है, इसलिये काल की उपाधि के बल से उसमें अधिक अशुद्धता आ जावेगी और ऐसी अशुद्धता आत्मातिरिक्त द्रव्यों में भी पाई जाती है। अतः अतिव्याप्ति दोष आवेगा, इस भय से उन्होंने शुद्ध ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान पर्याय है उतना ही क्षणिक चैतन्य है, ऐसी कल्पना की है। इस कल्पना से उन्होंने मात्र पर्यायों को तो ग्रहण किया है परन्तु उन पर्यायों का आधारभूत जो आत्मा है उसे छोड़ दिया है। जिस प्रकार अनेक मोतियों का एक सूत्र में गुम्फनकर हार बनाया जाता है, यहाँ जो मनुष्य केवल मोतियों को देखते हैं, सूत्र को नहीं देखते, वे हार

१. शुद्धर्जुसूत्रे रतैः इत्यपि पाठः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के लाभ से वञ्चित रहते हैं क्योंकि सूत्र के बिना केवल मोतियों से हार की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य आत्मा की समय-समयव्यापी पर्यायों को तो देखते हैं परन्तु उन सब पर्यायों में अनुस्यूत रहनेवाले द्रव्य को नहीं देखते वे आत्मा से वञ्चित हैं। दृश्यमान पुद्गलद्रव्य के समान आत्मा भी द्रव्य और पर्यायरूप ही प्रत्येक ज्ञानी जीव के अनुभव में आ रहा है, फिर भी बौद्धों की दृष्टि इस परमार्थसत्य की ओर नहीं जाती। अतएव आचार्य ने उन्हें 'अन्धक' और 'पृथुक' (बालक-अज्ञानी) जैसे शब्दों से निर्दिष्ट किया है तथा प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुस्वरूप का अपलाप करने के कारण 'अहो' शब्द के द्वारा आश्चर्य प्रकट किया है ।।२०७।।

शार्दूलाविक्रीडितछन्द

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ।।२०८।।

अर्थ– कर्ता और भोक्ता में युक्ति के वश से भेद हो अथवा अभेद हो, जो कर्ता है वह भोक्ता होवे अथवा न होवे, मात्र वस्तु का ही विचार किया जावे, चतुर मनुष्यों के द्वारा सूत में गुम्फित मणियों की माला के समान जो कहीं भेदी नहीं जा सकती, ऐसी ज्ञानी मनुष्यों के द्वारा आत्मा में गुम्फित यह एक चैतन्य रूप चिन्तामणिरत्नों की माला ही मेरे सब ओर सुशोभित हो।

भावार्थ– वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है। आत्मा भी वस्तु है, अतः वह भी द्रव्यपर्यायस्वरूप है। जब द्रव्य की अपेक्षा विचार किया जाता है तब जो कर्ता है वही भोक्ता है, यह विकल्प आता है और जब पर्याय की अपेक्षा विचार किया जाता है तब जो कर्ता है वह भोक्ता नहीं है, ऐसा विकल्प आता है। आचार्य कहते हैं कि नयविवक्षा से वस्तु जैसी है वैसी रहे, उस विकल्प में न पड़कर मात्र वस्तु का चिन्तन करना चाहिये। जिस प्रकार चतुर मनुष्यों के द्वारा सूत में पिरोये हुए मणियों की माला भेदरूप न होकर अभेदरूप से एक माला ही मानी जाती है उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्यों के द्वारा आत्मा में अनुभूत जो चैतन्यगुणरूप चिन्तामणिरत्नों की माला है वह भेदरूप न होकर अभेदरूप एक चेतनद्रव्य ही है। आचार्य इच्छा प्रकट करते हैं कि यह एक अखण्ड चेतनद्रव्य ही मेरे लिये उपलब्ध हो अर्थात् तथाभूत ही मेरी परिणति हो ।।२०८।।

अब व्यवहार और निश्चयदृष्टि से कर्ता-कर्म का प्रतिपादन करने के लिये कलशा कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रथोद्धताछन्द

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृकर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृकर्म च सदैकमिष्यते।।२०९।।

अर्थ– केवल व्यवहारनय की दृष्टि से ही कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। यदि निश्चयनय से वस्तु का विचार किया जाता है तो कर्ता और कर्म सदा एक ही माने जाते हैं।

भावार्थ– पर्यायाश्रित होने से व्यवहारनय भेद को विषय करता है और द्रव्याश्रित होने से निश्चयनय अभेद को विषय करता है। इसलिये व्यवहारनय की दृष्टि से जब निरूपण होता है तब कर्ता और कर्म पृथक्-पृथक् कहे जाते हैं, जैसे कुलाल घटका कर्ता है। और निश्चयनय की दृष्टि से जब कथन होता है तब कर्ता और कर्म एक ही कहे जाते हैं, जैसे मिट्टी घटका कर्ता है ।।२०९।।

आगे इसी कथन को गाथाओं में करते हैं–

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ।।३४९।।
जहसिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ।।३५०।।
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण य सो उ तम्मोओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ य तम्मओ होइ।।३५१।।
जह सिप्पिओ उ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ।।३५२।।
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई।।३५३।।
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से।।३५४।।
जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो।।३५५।।

(सप्तकम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जैसे सुनार आदि कारीगर कटक, केयूर आदि आभूषणों को बनाता है परन्तु वह कारीगर उन कटक, केयूरादि आभूषणरूप नहीं हो जाता, वैसे ही जीव भी ज्ञानावरणादि पुद्‌गलकर्मों को करता है परन्तु उन कर्मोंरूप नहीं हो जाता।

जिस प्रकार शिल्पकार हथौड़ा, संडासी आदि करणों के द्वारा आभूषणों को बनाता है किन्तु उन करणोंरूप नहीं परिणमता है। इसी प्रकार जीव मन-वचन-कायके व्यापाररूप करणों के द्वारा पुद्‌गलकर्म को करता है किन्तु उन करणोंरूप नहीं हो जाता है।

जिस तरह शिल्पी हथौड़ा आदि करणों को ग्रहण करता है किन्तु उन करणों स्वरूप नहीं हो जाता। उसी तरह जीव भी मन-वचन-काय के व्यापाररूप करणों को ग्रहण करता है, किन्तु तन्मय नहीं हो जाता है।

जैसे सुनार उन आभूषणों के फलस्वरूप ग्राम, धन आदि फलको भोगता है किन्तु उस फलस्वरूप नहीं होता है। वैसे ही यह जीव साता-असाता आदि कर्मों के उदय से प्राप्त सुख-दुःखादिको भोगता है परन्तु तन्मय नहीं हो जाता है।

इस प्रकार व्यवहारनय का सिद्धान्त संक्षेप से कहा गया। अब निश्चयनय के सिद्धान्त को सुनो, जो अपने परिणाम से किया जाता है।

जैसे शिल्पी आभूषण बनाने के लिये चेष्टा करता है और उस चेष्टा से तन्मय हो जाता है। वैसे ही जीव भी अपने परिणामस्वरूप चेष्टा को करता है और उस चेष्टा से तन्मय हो जाता है, उससे अन्य नहीं होता।

और जैसे शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरन्तर दुःखी होता है और उस दुःख से वह अभिन्न रहता है। वैसे ही अपने परिणामस्वरूप चेष्टा को करता हुआ जीव भी दुःखी होता है और उस दुःख से वह कथंचित् अभिन्न रहता है।

भावार्थ– जिस प्रकार सुवर्णकार आदि शिल्पी कुण्डलादि परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म को करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यात्मक करणों के द्वारा करता है, परद्रव्यात्मक हथौड़ा आदि करणों को ग्रहण करता है और उन कुण्डलादि आभूषणों के बनाने से जो ग्राम-धन आदि फल मिलता है उसको भोगता है परन्तु वह अनेक द्रव्यरूप होने के कारण उन करणादि परद्रव्यों से भिन्न ही है और इसी से तन्मय नहीं होता। अतएव वहाँ पर निमित्त-नैमित्तिकभावमात्र से ही कर्ता, कर्म, भोक्ता और भोग्य का व्यवहार होता है। उसी प्रकार आत्मा भी पुण्य-पापादिस्वरूप पुद्‌गलपरिणामात्मक कर्म को करता है, पुद्‌गलद्रव्य के परिणामस्वरूप काय, वचन और मनरूप करणों के द्वारा करता है, पुद्‌गलपरिणामात्मक काय, वचन और मनरूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करणों के द्वारा करता है, पुद्गलपरिणामात्मक काय, वचन और मनरूप करणों को ग्रहण करता है और पुद्गलद्रव्यात्मक पुण्यपाप से जन्य सुख-दु:खस्वरूप पुद्गलकर्मफल को भोगता है, परन्तु अनेक द्रव्यपन से उनसे अन्य है, इसी से तन्मय नहीं होता, अतएव उसमें निमित्त-नैमित्तिकभावमात्र से ही कर्ता, कर्म भोक्ता और भोग्य का व्यवहार होता है।

और जिस प्रकार कार्य करने की इच्छा करनेवाला वही शिल्पी चेष्टा के अनुकूल आत्म-परिणामरूप कर्म को करता है और उस चेष्टा के अनुरूप सुख-दु:ख लक्षण आत्मपरिणामात्मक जो फल है उसको भोगता है, यहाँ चेष्टा करनेवाला शिल्पी उस चेष्टा से भिन्नद्रव्य नहीं, किन्तु वह चेष्टा उसी का व्यापार है, इसलिये उससे तन्मय है। अतएव उन्हीं में परिणाम-परिणामी भाव से कर्ता, कर्म, भोक्ता और भोग्यपन का निश्चय है। उसी प्रकार कार्य की इच्छा करनेवाला आत्मा भी चेष्टास्वरूप आत्मपरिणामात्मक कर्म को करता है और दु:ख रूप आत्मपरिणामात्मक चेष्टानु रूप कर्मफलको भोगता है तथा उस चेष्टा से एक द्रव्य होनेके कारण आत्मा भिन्न द्रव्य नहीं है। अतएव उससे तन्मय हो जाता है। इसलिये परिणाम-परिणामीभाव से उन्हीं में कर्ता, कर्म, भोक्ता और भोग्यपन का निश्चय है ।।३४९-३५५।।

अब यही भाव कलशा में दिखाते हैं—

नर्दटकछन्द

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयत:
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव तत: ।।२१०।।

अर्थ– निश्चय से परिणाम ही कर्म है और वह परिणाम दूसरे का नहीं है किन्तु परिणामी का ही है। जो कर्म है वह कर्ता के बिना नहीं होता और वस्तु की स्थिति एक अवस्थारूप नहीं रहता, इसलिये वस्तु का कर्ता वही वस्तु है।

भावार्थ– निश्चयनय से जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और उसका जो परिणाम है वह कर्म कहलाता है। वह जो परिणाम है सो अपने आश्रयभूत परिणामी द्रव्य का है, अन्य परिणामी द्रव्य का नहीं है क्योंकि जो जो परिणाम होता है वह अपने-अपने उपादान से तन्मय रहता है। इसी से वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक माना है। अतएव वस्तु न तो कूटस्थ नित्य ही है और न सर्वथा एकक्षणस्थायी क्षणिक ही है। अपने परिणामरूप कर्म का आप ही स्वयं कर्ता है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह निश्चय सिद्धान्त है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय से कर्तृ-कर्मभाव एक ही द्रव्य में होता है ।।२१०।।

पृथ्वीछन्द

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ।।२११।।

अर्थ– यद्यपि वस्तु की स्वयं प्रकट होनेवाली अनन्त शक्तियाँ बाहर लोट रही हैं अर्थात् यह स्वयं अनुभव में आ रहा है कि वस्तु अनन्त शक्तियों का भण्डार है तो भी अन्य वस्तु किसी अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नहीं करती है क्योंकि सम्पूर्ण वस्तु अपने-अपने स्वभाव में नियत मानी जाती है। जब सब वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में नियत हैं तब इस संसार में अज्ञानी जीव वस्तु को उसके स्वभाव से विचलित करने में आकुल होता हुआ खेदखिन्न क्यों होता है?

भावार्थ– वस्तु में अनन्त शक्तियाँ होती अवश्य हैं। पर उनमें ऐसी एक भी शक्ति नहीं है जिसके आधार पर एक वस्तु दूसरी वस्तु के भीतर प्रवेश कर सके, अर्थात् उस रूप हो सके। जबकि संसार की समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में नियत हैं अर्थात् अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य वस्तु के स्वभाव को ग्रहण नहीं करतीं तब यह जीव आत्मा को अपने स्वभाव से विचलित कर पुद्‌गलकर्म स्वरूप हो उसके कर्तृत्व का अहंकार क्यों धारण करता है? जान पड़ता है कि उसके इस क्लेश का कारण अनादिकाल से हाथ लगा हुआ मोह ही है ।।२११।।

रथोद्धताछन्द

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि।।२१२।।

अर्थ– क्योंकि इस संसार में एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है, इसलिये वह वस्तु उसी वस्तुरूप रहती है, यह निश्चय है, फिर बाहर लोटता हुआ भी अन्य पदार्थ अन्य पदार्थ का क्या करता है? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ– यहाँ वस्तु का अर्थ द्रव्य है। संसार का प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना चतुष्टय पृथक्-पथक् लिए हुए है, इसलिये एकद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप त्रिकाल में नहीं हो सकता। एकद्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव है, यह नियम है। निश्चय की दृष्टि से कर्ता वही हो सकता है जो कर्मरूप परिणत हो सके। यदि जीवद्रव्य को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुद्‌गलकर्म का कर्ता माना जाय तो जीवद्रव्य को पुद्‌गलकर्म रूप परिणमन करना चाहिये, पर ऐसा हो नहीं सकता। इसलिये जीव और पुद्‌गलकर्म का परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग सम्बन्ध होने पर भी उनमें कर्तृ-कर्मभाव सिद्ध नहीं होता है। व्यवहारनय निमित्त-नैमित्तिकभाव को ग्रहण करता है, इसलिये उस नयकी दृष्टि से जीव, पुद्‌गल-कार्मणवर्गणाओं में कर्मरूप परिणमन कराने में निमित्त होने से उनका कर्ता होता है और पुद्‌गलकर्म उसके कार्य होते हैं ।।२१२।।

रथोद्धताछन्द

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किंचनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्।।२१३।।

अर्थ– स्वयं परिणमन करनेवाली अन्य वस्तु का अन्य वस्तु कुछ करती है, यह जो मत है, वह व्यावहारिक दृष्टि से ही सम्पन्न होनेवाला मत है। निश्चयनय से इस जगत में अन्य वस्तु का अन्य कुछ भी नहीं है।

भावार्थ– संसार के प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है। उनके उस परिणमन में अन्य पदार्थ निमित्त होते हैं, इसलिये निमित्तप्रधान दृष्टि को अङ्गीकृत कर व्यवहारनय ऐसा कथन करता है कि अमुक वस्तु अमुक वस्तु की कर्ता है। परन्तु जब निश्चयनय से विचार होता है तब एक वस्तु दूसरी वस्तु रूप नहीं होती, इसीलिये वह उसका कर्ता नहीं है, यह सिद्धान्त प्रकट होता है। निश्चयनय उपादानप्रधार दृष्टि को अङ्गीकृत कर कथन करता है ।।२१३।।

आगे इसी कथन को दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं–

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ सो दु।।३५६।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु।।३५७।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया दु सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु।।३५८।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ।।३५९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण।।३६०।।
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण।।३६१।।
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ जीवो वि सयेण भावेण।।३६२।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ णाया वि सयेण भावेण।।३६३।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मादिट्ठी सहावेण।।३६४।।
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो।।३६५।।

अर्थ– जैसे सेटिका (श्वेतिका) सफेदी करनेवाले कलई-चूना अथवा खड़िया मिट्टी आदि सफेद पोतनी भित्ती आदि परद्रव्य की नहीं है किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है अर्थात् भित्ति आदि को सफेद करने से सेटिका सेटिका नहीं है, किन्तु सेटिका स्वयं शुक्लगुणविशिष्ट सेटिका है। वैसे ही ज्ञायक जो आत्मा है वह स्वकीय स्वरूप से भिन्न परपदार्थों को जानने से ज्ञायक नहीं है किन्तु स्वयं ज्ञायक है।

जिस प्रकार सेटिका, भित्ति आदि परद्रव्य की नहीं है। किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है उसी प्रकार दर्शक जो आत्मा है वह पर के अवलोकन से दर्शक नहीं है किन्तु स्वयं दर्शक है।

जिस तरह सेटिका, भित्ति आदि परद्रव्य की नहीं है किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है उसी तरह संयत जो आत्मा है सो परपदार्थ के त्याग से संयत नहीं है स्वयं ही संयत है-संयमी है।

जैसे सेटिका परवस्तु के सफेद करने से सेटिका नहीं है किन्तु सेटिका स्वयं सेटिका है वैसे ही परद्रव्य के श्रद्धान से दर्शन नहीं है किन्तु दर्शन स्वयं ही दर्शन है।

इस प्रकार से निश्चयनय का ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में वक्तव्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। अब इस विषय में व्यवहारनय का जो वक्तव्य है, उसे संक्षेप से कहते हैं, सो सुनो।

जैसे सेटिका अपने स्वभाव से ही भित्ति आदि परद्रव्य को सफेद करती है वैसे ही ज्ञाता आत्मा भी अपने ज्ञायकस्वभाव से परद्रव्य को जानता है।

जिस तरह सेटिका अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है उसी तरह जीव भी अपने स्वभाव से परद्रव्य का अवलोकन करता है।

जिस प्रकार सेटिका अपने स्वभाव से ही परद्रव्य को सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भी अपने स्वबाव से परद्रव्यों का त्याग करता है अर्थात् परद्रव्यों का त्यागकर संयत होता है।

जिस तरह सेटिका अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मा भी अपने स्वभाव से परद्रव्य का श्रद्धान करता है।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में व्यवहारनयका जो मत है वह कहा गया। इसी पद्धति से अन्य पर्यायों के विषय में भी व्यवहारनय का निर्णय जानना चाहिये।

विशेषार्थ-- यहाँ सेटिका श्वेतगुण से पूरित स्वभाव वाला द्रव्य है और उसके व्यवहार से सफेद करने योग्य जो भित्ति आदिक हैं वह परद्रव्य हैं। अब यहाँ पर इसी का विचार करते हैं—

सफेद करनेवाली जो सेटिका है वह सफेद करने के योग्य भित्ति आदि परद्रव्य की है या नहीं है? इस प्रकार श्वैत्य और श्वेतिका इन उभय तत्त्वों की मीमांसा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदिकी है तो ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका होता है वह वही होता है अर्थात् उसी रूप होता है जैसे ज्ञान आत्मा का है तो वह आत्मा ही होता है। इस सिद्धान्त के रहते हुए सेटिका यदि भित्ति आदि की है ऐसा माना जाय तो उसे भित्ति आदि रूप ही होना चाहिये और ऐसा होने पर सेटिका के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जावेगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदि से पृथक् कोई द्रव्य नहीं रहेगा और ऐसा होता नहीं, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमण का पहले ही निषेध कर चुके हैं। अतएव सेटिका भित्ति आदि की नहीं है।

अब फिर आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदि की नहीं है तो किसकी है? इस आशङ्का का यह उत्तर है कि सेटिका की ही है। इस पर पुन: आशङ्का होती है कि वह अन्य सेटिका कौन-सी है, जिसकी कि यह सेटिका है? इसका उत्तर यह है कि सेटिका से अन्य सेटिका नहीं है किन्तु आप ही में स्व और आप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही में स्वामित्व अंश मानकर व्यवहार से उपपत्ति कर लेनी चाहिये। जब कोई पुनः पूछता है कि यहाँ स्व और स्वामि अंश के व्यवहार से साध्य क्या है? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है? उसका उत्तर देते हैं कि कुछ भी नहीं। तब यही निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्य की नहीं है किन्तु सेटिका सेटिका ही है। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है उसी प्रकार इस दृष्टान्त से प्रतिफलित होने वाले दृष्टान्तिक अर्थ को जान लेना चाहिये।

यहाँ पर जो चेतायिता है वह ज्ञानगुण से पूरित स्वभाव वाला द्रव्य है और व्यवहार से पुद्‍गलादिक परद्रव्य उसके ज्ञेय हैं। अब यहाँ पर ज्ञायक जो चेतयिता है वह ज्ञेयरूप पुद्‍गलादिक परद्रव्य का है अथवा नहीं है? इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक इन उभय तत्त्वों के सम्बन्ध पर विचार किया जाता है—यदि ऐसा माना जावे कि चेतयिता पुद्‍गलादिक परद्रव्य का है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्मा का होता हुआ आत्मरूप ही होता है' इस तत्त्वसम्बन्ध के जीवित रहते हुए चेतयिता को यदि पुद्‍गलादिकका माना जावे तो उसे पुद्‍गलादि रूप ही हो जाना चाहिये और ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा अर्थात् चेतयिता अन्यरूप होकर अपने अस्तित्व को ही समाप्त कर देगा, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमण का पहले ही निषेध कर आये हैं, अतः द्रव्य का उच्छेद हो नहीं सकता। तब यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्‍गलादिक परद्रव्य का नहीं है। इस स्थिति में यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि चेतयिता पुद्‍गलादिकका नहीं है तो किसका है? इसका उत्तर यह है कि चेतयिता चेतयिता का ही है। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका कि चेतयिता होता है? तो उसका उत्तर है कि चेतयिता से अन्य चेतयिता नहीं है किन्तु आप ही स्व और आप ही स्वामी है। इस प्रकार आप ही में अंश-अंशी की कल्पना से ऐसा व्यवहार होता है। कोई फिर पूछता है कि यहाँ स्व-स्वामी अंश के इस व्यवहार से क्या साध्य है? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है? तो उसका उत्तर है कि कुछ भी साध्य नहीं है। तब यही निश्चय हुआ कि ज्ञायक जो चेतयिता है वह किसी का नहीं है किन्तु ज्ञायक ज्ञायक का ही अथवा चेतयिता चेतयिता का ही है अर्थात् ज्ञायक अथवा चेतयिता है—वह स्वरूप से ही ज्ञायक अथवा चेतयिता है।

अब यही पद्धति आत्मा के दर्शक होने के विषय में ग्राह्य है। जैसे—

यहाँ पर सेटिका श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव वाला पुद्‍गलद्रव्य है, और व्यवहार से सफेद करने के योग्य भित्ति आदि उसके परद्रव्य हैं। अब यहाँ सफेद करने वाली सेटिका, सफेद करने के योग्य जो भित्ति आदि परद्रव्य हैं उनकी है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा नहीं है? इस प्रकार श्वैत्य और श्वेतक इन दोनों तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध की मीमांसा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदि परद्रव्य की है ऐसा माना जावे तो 'जो जिसका होता है, वह उसी रूप होता है, जैसे कि आत्मा का ज्ञान आत्मा रूप ही है' इस तत्त्वसम्बन्ध के जीवित रहते हुए यदि सेटिका को भित्ति आदिकी मानी जावे तो उसे भित्ति आदिरूप ही होना चाहिए। और ऐसा होने पर स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदिरूप होकर अपनी सत्ता ही समाप्त कर देगी, परन्तु द्रव्य का उच्छेद होता नहीं है क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमण का अर्थात् एकद्रव्य का दूसरे द्रव्यरूप होने का निषेध पहले ही किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सेटिका भित्ति आदि की नहीं है। यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदि की नहीं है तो किसकी है? इसका उत्तर है कि सेटिका सेटिका की है। इस स्थिति में पुनः आशङ्का होती है कि वह अन्य सेटिका कौन है, जिसकी कि यह सेटिका है? इसका उत्तर यह ले कि अन्य सेटिका नहीं है किन्तु स्व और स्वामी के अंश ही अन्य हैं अर्थात् आप ही स्व है और आप ही अपना स्वामी है। जैसे देवदत्त के एक ही पुत्र था, उससे किसी ने पूछा—आपका बड़ा पुत्र कौन है? उसने कहा, यही। मध्यम कौन है? उसने कहा—यही और जघन्य कौन है? यही। उसी प्रकार आप में ही अंश-अंशी की कल्पना से इस व्यवहार की उपपत्ति कर लेना चाहिये। कोई पूछता है कि इस स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से साध्य क्या है? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है? इसका उत्तर है कि कुछ भी नहीं। तब यही निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्य की नहीं किन्तु सेटिका सेटिका की ही है। जैसा यह दृष्टान्त है वैसा ही दृष्टान्त से प्रतिफलित होनेवाला दृष्टान्तिक है। जैसे—

यहाँ चेतयिता दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और व्यवहार से उसका दृश्य अर्थात् देखने के योग्य पुद्गलादि परद्रव्य है। अब यहाँ दर्शक जो चेतयिता है वह दृश्यरूप पुद्गलादि परद्रव्य का है अथवा नहीं है? इस प्रकार दृश्य और दर्शक दोनों तत्त्वों के सम्बन्ध की मीमांसा की जाती है—

यदि चेतयिता अर्थात् दर्शक आत्मा पुद्गलादिका है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्मा का होता हुआ आत्मा ही होता है।' इस प्रकार के तत्त्व-सम्बन्ध के जीवित रहते हुए चेतयिता को यदि पुद्गलादिक का माना जावे तो उसे पुद्गलादि रूप ही हो जाना चाहिये और ऐसा होने पर चेतयिता का स्वद्रव्योच्छेद हो जावेगा अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिरूप होकर अपनी सत्ता ही समाप्त कर देगा। परन्तु द्रव्य का उच्छेद कभी होता नहीं है क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमण का पहले ही निषेध किया जा चुका हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गलादिक का नहीं है। यहाँ आशङ्का होती है कि यदि चेतयिता पुद्गलादिक का नहीं तो किसका है? इसका उत्तर है कि चेतयिता चेतयिता का ही है। फिर आशङ्का होती है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका कि चेतयिता होता है? तो उसका उत्तर है कि चेतयिता से अन्य चेतयिता नहीं है किन्तु स्व-स्वामी अंश ही अन्य है अर्थात् आप ही स्व है और आप ही स्वामी है, इस प्रकार की कल्पना से स्व-स्वामी व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। यहाँ कोई पुनः पूछता है कि स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से साध्य क्या है? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है? तो उत्तर यह है कि कुछ भी नहीं है। इससे यह निश्चय हुआ कि दर्शक आत्मा किसीका नहीं है किन्तु दर्शकदर्शका का ही है। चेतयिता तात्त्विकदृष्टि से किसी का दर्शक नहीं है किन्तु स्वयमेव दर्शक है ऐसा निश्चय सिद्धान्तहै। जिस प्रकार काष्ठादि पदार्थों को जलाने से अग्नि दाहक है सो नहीं, किन्तु स्वयमेव अग्नि दाहक है। इसी प्रकार घटपटादि पदार्थों के देखने से आत्मा दर्शक है सो नहीं, किन्तु आत्मा परनिरपेक्ष स्वयं दर्शक है।

यह पद्धति चारित्रगुण के विषय में स्वीकार्य है। जैसे—

यहाँ साटिका श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और व्यवहार से श्वेत करने योग्य भित्ति आदि उसके परद्रव्य हैं। यहाँ सफेद करनेवाली सेटिका भित्ति आदि परद्रव्य की है अथवा नहीं? इस प्रकार श्वैत्य और श्वेतक दो पदार्थों के सम्बन्ध की मीमांसा की जाती है। यदि सेटिका भित्ति आदि परद्रव्य की मानी जावे तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होकर रहता है, जैसे ज्ञान आत्मा का होता हुआ आत्मा रूप ही होता है' इस तत्त्वसम्बन्ध के जीवित रहते हुए सेटिका यदि भित्ति आदि की है तो उसे भित्ति आदि रूप ही होना चाहिये और ऐसा होने पर सेटिका के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जावेगा अर्थात् सेटिका भित्ति आदि रूप होकर अपनी सत्ता नष्ट कर देगी। परन्तु द्रव्य का उच्छेद हो नहीं सकता, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमण का निषेध पहले किया जा चुका है। इससे यह निश्चय हुआ कि सेटिका भित्ति आदि की नहीं है। तब आशङ्का होती है कि यदि सेटिका भित्ति आदि की नहीं है तो किसकी है? इसका उत्तर है कि सेटिका की ही सेटिका है। फिर आशङ्का होती है कि वह अन्य सेटिका कौन है जिसकी कि सेटिका होती है? इसका उत्तर है कि सेटिका से अन्य सेटिका नहीं है किन्तु स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं। कोई फिर पूछता है कि यहाँ स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है? उसका उत्तर है कि कुछ भी नहीं। इससे यह निश्चय हुआ कि सेटिका किसी अन्य की नहीं है, किन्तु सेटिका सेटिका की ही है। जिस प्रकार यह दृष्टान्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है उसी प्रकार इससे प्रतिफलित होनेवाला दृष्टान्तिक है। जैसे—

यहाँ पर चेतयिता जो आत्मद्रव्य है सो ज्ञान-दर्शन गुण से परिपूर्ण और परद्रव्य के अपोहन रूप चारित्र गुण को धारण करनेवाला है तथा उसी आत्मद्रव्य के अपोह्यरूप रुप पुद्गलादि परद्रव्य हैं। अब अपोहक अर्थात् पर पदार्थ का त्याग करनेवाला चेतयिता अपोह्य अर्थात् त्याग करने योग्य पुद्गलादिक परद्रव्य का है अथवा नहीं? इस प्रकार अपोह्य और अपोहक इन दो तत्त्वों के सम्बन्ध की मीमांसा की जाती है।

यदि चेतयिता पुद्गलादिक' का है तो 'जो जिसका होता है वह उसी रूप होता है, जैसे ज्ञान आत्मा का होता हुआ आत्मा रूप होता है' इस तत्त्वसम्बन्ध के जीवित रहते हुए चेतयिता पुद्गलादिक का होता हुआ पुद्गलादि रूप ही हो जावेगा और ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जावेगा अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि रूप होकर अपना अस्तित्व समाप्त कर देगा, सो द्रव्य का उच्छेद कभी हो नहीं सकता, क्योंकि द्रव्यान्तर-संक्रमण का निषेध पहले कर आये हैं। इससे सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादिक का नहीं है। अब यह आशंका होती है कि यदि चेतयिता पुद्गलादिक का नहीं है तो फिर किसका है? इसका उत्तर यह है कि चेतयिता चेतयिता का ही है। पुन: प्रश्न होता है कि वह अन्य चेतयिता कौन है जिसका वह चेतयिता होता है? इसका उत्तर यह है कि चेतयिता से अन्य कोई दूसरा चेतयिता नहीं है किन्तु स्व-स्वामी के अंश ही अन्य हैं। कोई फिर पूछता है कि यहाँ स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है? कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? उसका उत्तर यह है कि कुछ भी नहीं। इससे यह निश्चय हुआ कि चेतयिता किसी का अपोहक नहीं है, अपोहक अपोहक ही है। इस प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्य-दर्शक और अपोह्य-अपोहक सम्बन्ध का विचार निश्चयनय की अपेक्षा किया। अब व्यवहारनय की अपेक्षा इन सम्बन्धों पर विचार किया जाता है—

जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव वाली सेटिका स्वयं भित्ति आदि परद्रव्य रूप नहीं परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्य को अपने रूप नहीं परिणमाती, किन्तु भित्ति आदि परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्य को, जो सेटिका निमित्तक अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभाव से सफेद करती है, ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव से नहीं परिणमता है और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभाव रूप नहीं परिणमाता है, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने ज्ञानगुण के परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्य को, जो कि चेतयिता के निमित्त से होनेवाले अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभाव से जानता है, ऐसा व्यवहार होता है।

इसी प्रकार दर्शनगुण के साथ योजना करना चाहिये। जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही सेटिका स्वयं भित्ति आदि परद्रव्य के स्वभाव से नहीं परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्य को अपने स्वभाव से नहीं परिणमाती, किन्तु भित्ति आदि परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्य को, जो कि सेटिका के निमित्त से होनेवाले अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभाव से सफेद करती है, ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव वाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव से नहीं परिणमता और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभाव रूप नहीं परिणमाता, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्य को, जो कि चेतयिता के निमित्त से जायमान अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभाव से देखता है, ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसी प्रकार चारित्र गुण के विषय में भी यही योजना करना चाहिये। जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही सेटिका स्वयं भित्ति आदि परद्रव्य के स्वभाव रूप नहीं परिणमती और भित्ति आदि परद्रव्य को अपने स्वभाव रूप नहीं परिणमाती, किन्तु भित्ति आदि परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होती हुई भित्ति आदि परद्रव्य को, जो कि सेटिका के निमित्त से जायमान अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभाव से सफेद करती है, ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार ज्ञानदर्शनगुण से परिपूर्ण तथा परपदार्थ के अपोहन—त्यागरूप स्वभाव से चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव रूप नहीं परिणमता और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभाव रूप नहीं परिणमाता, किन्तु पुद्गलादि परद्रव्य के निमित्त से जायमान अपने ज्ञान दर्शन गुण से परिपूर्ण तथा परद्रव्य के अपोहनत्याग रूप स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्य को, जो कि चेतयिता के निमित्त से होने वाले अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हो रहा है, अपने स्वभाव से अपोहित करता है—छोड़ता है, ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार यह आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप पर्यायों के निश्चय तथा व्यवहार का प्रकार है। इसी तरह अन्य सभी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायों के निश्चय और व्यवहार का प्रकार जानना चाहिये।

भावार्थ—जानना, देखना, श्रद्धान करना और त्याग करना ये सब आत्मा के चैतन्य गुण के परिणाम हैं। निश्चयनय से विचार करने पर आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक नहीं है, परद्रव्य का दर्शक नहीं है, परद्रव्य का श्रद्धायक नहीं है और परद्रव्य का अपोहक नहीं है। उसके ये सब भाव आप ही हैं क्योंकि आत्मा का परिणमन आत्माश्रित है और परद्रव्य का परिणमन पराश्रित है। 'सेटिका भित्ति आदि को सफेद करती है' यहाँ विचार करने पर भित्ति का परिणमन भित्ति रूप हो रहा है और सेटिका का परिणमन सेटिका रूप हो रहा है अर्थात् भित्ति भित्तिरूप ही रहती है और सेटिका सेटिका रूप ही रहती है। परन्तु व्यवहारनय से विचार करने पर आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक है, परद्रव्य का दर्शक है, परद्रव्य का श्रद्धायक है और परद्रव्य का अपोहक है, क्योंकि परपदार्थ का जो ज्ञेय, दृश्य, श्रद्धेय और अपोह्यरूप परिणाम है वह आत्मा के ज्ञायक, दर्शक, श्रद्धायक और अपोहक भाव के निमित्त से जायमान है और आत्मा में जो ज्ञायक भाव आदि रूप परिणाम है वह परपदार्थ के ज्ञेयभाव आदि रूप परिणाम के निमित्त से उत्पद्यमान है। 'सेटिका भित्ति को सफेद करती है' यही भित्ति का श्वेतगुण रूप परिणाम है वह सेटिका के निमित्त से उत्पन्न हुआ है, इसलिये निमित्त-नैमित्तिक भाव की प्रधानता से तथोक्त व्यवहार होता है। इस तरह निश्चय और व्यवहार की पद्धति को यथार्थ रूप से जानकर वस्तु स्वरूप का श्रद्धान करना चारिये ।।३५६-३६५।।

अब यही भाव कलशा में दिखाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदय:
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जना: ।।२१४।।

अर्थ– शुद्ध द्रव्य के निरूपण में जिसने बुद्धि लगाई है तथा जो सम्यक् प्रकार से तत्त्व का अनुभव कर रहा है ऐसे पुरुष के एक द्रव्य में प्राप्त दूसरा कुछ भी द्रव्य कभी भी प्रतिभासित नहीं होता।'ज्ञान ज्ञेयको जानता है' यह जो कहा जाता है सो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। ये लोक अन्य द्रव्य के ग्रहण से आकुलित बुद्धि होते हुए तत्त्व से क्यों चिगते हैं?

भावार्थ– जब शुद्ध निश्चयनय से तत्त्व का यर्थाथ विचार किया जाता है तब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह अनुभव होता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कभी प्रवेश नहीं करता है। 'ज्ञान ज्ञेय को जानता है', ऐसा जो व्यवहार होता है वहाँ ज्ञान के भीतर ज्ञेय का प्रवेश नहीं है और ज्ञेय के भीतर ज्ञान का प्रवेश नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय यथास्थान अपने-अपने स्वभाव रूप परिणम रहे हैं फिर भी ज्ञान की स्वच्छता के कारण ऐसा प्रतिभास होता है कि ज्ञान में ज्ञेय आ रहा है। जब यह वस्तुस्थिति है तब संसार के ये प्राणी अन्य द्रव्य की प्राप्ति के लिये व्यग्र होते हुए तत्त्व से विचलित क्यों होते हैं? उनकी इस अज्ञानमूलक प्रवृत्ति पर आचार्य आश्चर्य प्रकट करते हैं ।।२१४।।

मन्दाक्रान्ताछन्द

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात् किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ।।२१५।।

अर्थ– शुद्ध द्रव्य जो चेतन है उसका स्वभाव रूप परिणमन होता है। उससे अतिरिक्त स्वभाव का शेष क्या रह जाता है अर्थात् कुछ नहीं। यदि यह कहा जाये कि ज्ञेयरूप अन्य द्रव्य चेतन में प्रतिफलित होते हैं तो क्या इससे वे उसके स्वभाव हो गये? चाँदनी का धवल रूप पृथिवी को नहला देता है तो क्या इससे पृथिवी चाँदनी हो जाती है? अर्थात् नहीं। इसी तरह ज्ञान ज्ञेयको जानता है परन्तु ज्ञेय कभी ज्ञान का नहीं होता।

भावार्थ– यहाँ शुद्ध द्रव्य से प्रयोजन आत्मद्रव्य से है। उसका स्वरस अर्थात् निज स्वभाव चैतन्य है। वह आत्मद्रव्य सदा निज स्वभाव रूप परिणमन कर रहा है। इस परिणमन से शेष क्या बच रहता है जो उस स्वभाव कहा जावे? यदि अन्य द्रव्य आत्मा में होते भी हैं अर्थात् ज्ञान की स्वच्छता के कारण उसमें प्रतिफलित होते भी हैं तो इससे वे अन्य द्रव्य आत्मा के स्वभाव नहीं हो सकते। जिस प्रकार चाँदनी पृथिवी को सफेद कर देती है तो क्या इससे पृथिवी चाँदनी की हो जाती है? नहीं, इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है तो इससे क्या ज्ञेय ज्ञान का हो जाता है? नहीं, सदा ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है। यह प्रकरण निश्चयनय से ज्ञायक और ज्ञेय के सम्बन्ध का है। यहाँ आचार्य ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि निश्चय से ज्ञायक आत्मा स्वयं ही ज्ञायक है, परद्रव्य को जानने के कारण ज्ञायक नहीं है क्योंकि परद्रव्य जो पुद्गलादि द्रव्य हैं वे कभी आत्मद्रव्य रूप नहीं परिणमते। इसमें दृष्टान्त चाँदनी का दिया है। जिस प्रकार प्रकाशित करने मात्र से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथिवी चाँदनी की नहीं हो जाती, उसी प्रकार जानने मात्र से ज्ञेय ज्ञान के नहीं हो जाते ।।२१५।।

अब ज्ञान में राग-द्वेष का उदय कहाँ तक रहता है, यह दिखाने के लिये कलशा कहते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावज्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन्येन पूर्णस्वभावः ।।२१६।।

अर्थ– राग और द्वेष ये दोनों तब तक उदित होते रहते हैं जब तक कि यह ज्ञान ज्ञान नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञेयपन को नहीं प्राप्त हो जाता। इसलिये आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि अज्ञानभाव को दूर करनेवाला यह ज्ञान ही रहे, जिससे कि भाव और अभाव को अर्थात् चतुर्गति सम्बन्धी उत्पाद-व्यय को दूर करता हुआ आत्मा पूर्ण स्वभाव से युक्त हो जावे।

भावार्थ– ज्ञान ज्ञेयरूप होता है और ज्ञेय ज्ञानरूप होता है, इस प्रकार का संमिश्रण मिथ्यात्व दशा में ही होता है और जब तक यह मिथ्यात्वदशा रहती है तब तक रागद्वेष नियम से उत्पन्न होते रहते हैं। मिथ्यात्व के कारण यह जीव परपदार्थ को सुख-दुःख का कारण मानता है, इसलिये उनकी दृष्टानिष्ट परिणति में रागद्वेष का होना सुलभ है। अतः आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि ज्ञान ज्ञान ही रहे तथा वह 'ज्ञान ज्ञेयरूप होता हैं और ज्ञेय ज्ञानरूप होता है' इस अज्ञानभाव को नष्ट कर दे। जब तक एतादृश ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक आत्मा पूर्ण स्वभाव प्राप्त नहीं होता और जब तक पूर्ण स्वभाव को प्राप्त नहीं होता तब तक इसका चुतर्गति सम्बन्धी उत्पाद-व्यय—जन्म-मरण नष्ट नहीं होता। अतएव आत्मा का पूर्ण स्वभाव प्राप्त करने के लिये ज्ञान का ज्ञानरूप होना आचार्य को अभीष्ट है।।२१६।।

आगे राग-द्वेष-मोह जीव से अभिन्न परिणाम हैं, यह कहते हैं–

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसयेसु।।३६६।।
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तह्मि कम्मम्मि।।३६७।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे काये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ।।३६८।।
णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पुग्गलदव्वस्स को वि घाओ उ णिद्दिट्ठो ।।३६९।।
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तह्मा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु।।३७०।।
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ।।३७१।।

अर्थ– दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों अचेतन विषय में कुछ भी नहीं हैं, इसलिये चेतयिता उन विषयों में क्या घात करे?

दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों अचेतन ज्ञानावरणादि कर्मों में कुछ भी नहीं हैं, इसलिये चेतयिता उन कर्मों में क्या घात करे?

इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों अचेतन काय में कुछ भी नहीं हैं, इसलिये चेतयिता उस काय में क्या घात करे? जैसा दर्शन, ज्ञान और चारित्र का घात कहा गया है वैसा पुद्‌गलद्रव्य का कोई भी घात नहीं कहा गया है। जीव के जो कोई गुण हैं वे निश्चय से परद्रव्यों में नहीं रहते, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव के विषयों में राग नहीं होता।

राग, द्वेष और मोह ये जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। अर्थात् जीव के साथ इनका अनित्य तादात्म्य है। यही कारण है कि शब्दादिक विषयों में ये रागादिक नहीं हैं।

विशेषार्थ– निश्चय से जो धर्म जहाँ होता है उस वस्तु के घातने से वह धर्म भी घाता जाता है। जैसे प्रदीप के घात से प्रकाश भी घाता जाता है। उसी तरह जिसमें जो होता है उसका घात होने पर भी घाता जाता है। जैसे प्रकाश का घात होने पर प्रदीप का भी घात होता है। अर्थात् प्रदीप में प्रकाश रहता है और प्रकाश में प्रदीप रहता है, इसलिये एक दूसरे का घात होने पर दोनों घाते जाते हैं। परन्तु जो जिसमें नहीं होता वह उसका घात होने पर नहीं घाता जाता, जैसे घटका घट में रखा हुआ दीपक नहीं घाता जाता। उसी तरह जो जिसमें नहीं होता वह उसका घात होने पर नहीं घाता जाता, जैसे घटके भीतर स्थित प्रदीप का घात होने पर घट नहीं घाता जाता। उसी प्रकार आत्मा के धर्म जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वे पुद्गलद्रव्य का घात होने पर भी नहीं घाते जाते और न दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर भी पुद्गलद्रव्य घाता जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं क्योंकि यदि ऐसा होता तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य का घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात दुर्निवार होता, परन्तु ऐसा नहीं है। जिस कारण ऐसा है उस कारण जो जितने कुछ भी जीव के गुण हैं वे सभी परद्रव्यों में नहीं हैं, इस प्रकार हम सम्यक् देखते हैं। अन्यथा यहाँ पर भी जीव के गुणों का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य का घात होने पर जीव के गुणों का घात दुर्निवार हो जाता, पन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ आशङ्का होती है कि यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि के विषयों में राग किसी कारण से होता है? इसका उत्तर है कि न किसी कारण से । तब फिर राग की खान क्या है? अर्थात् राग की उत्पत्ति किससे होती है? इसका उत्तर यह है कि राग-द्वेष-मोह जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं, इसलिये वे परद्रव्यादि विषयों में नही होते। अज्ञान का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि जीव के रागादिक नहीं होते। इस प्रकार वे राग-द्वेष-मोह विषयों में न होते हुए सम्यग्दृष्टि के नहीं होते, यह नियम है ।।३६६-३७१।।

अब यही भाव कलशा में दिखाते हैं—

मन्दाक्रान्ताछन्द

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्त्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ।।२१७।।

अर्थ– निश्चय से इस आत्मा में अज्ञान भाव के कारण ज्ञान ही राग-द्वेष रूप परिणत होता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर संलग्न दृष्टि से देखे जाने पर वे राग-द्वेष कुछ भी नहीं है। इसलिये प्रकट होते हुए उन रागद्वेषों को सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टि से—वस्तु के परमार्थ स्वरूप का विचार कराने वाली बुद्धि से नष्ट करे, जिससे कि पूर्ण और अविनाशी किरणों से युक्त स्वाभाविक ज्ञान ज्योति प्रकाशमान हो।

भावार्थ– राग-द्वेष आत्मा की ही अशुद्ध परिणति है। उसकी उत्पत्ति में आत्मा का अज्ञानभाव कारण है। जब आत्मतत्त्व के शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि डालते हैं तब उसमें राग-द्वेष की सत्ता दिखाई नहीं देती अर्थात् परमार्थ से आत्मा राग-द्वेष से रहित है। इसलिये वर्तमान में जो राग-द्वेष प्रकट हो रहे हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि जीव निज में पर के निमित्त जायमान विकारीभाव समझकर नष्ट करने का पुरुषार्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करे, क्योंकि राग-द्वेष के नष्ट हो चुकने पर ही पूर्ण तथा अविनाशी केवल ज्ञान रूपी ज्योति प्रकट हो सकती है ।।२१७।।

अब राग-द्वेष का उत्पादक परद्रव्य नहीं है, यह भाव कलशा में दिखाते हैं—

शालिनीछन्द

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ।।२१८।।

अर्थ– तत्त्वदृष्टि से देखने पर रागद्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य कुछ भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि सब द्रव्यों की उत्पत्ति अपने ही निज स्वभाव से अपने ही भीतर प्रकट होती हुई अत्यन्त सुशोभित होती है।

भावार्थ– यहाँ उपादानदृष्टि की प्रमुखता से कथन है, इसलिये रागद्वेष की उत्पत्ति बाह्य पदार्थों से न बताकर आत्मा के स्वस्वभाव से ही बतलाई है। इसलिये रागद्वेष को नष्ट करने के लिये अपने अज्ञानभाव को ही सर्वप्रथम नष्ट करना चाहिये।।२१८।।

अब सर्व द्रव्य स्वभाव से ही उपजते हैं, यह कहते हैं–

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण।।३७२।।

अर्थ– अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का उत्पाद नहीं होता, इसलिये सब द्रव्य स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ– परद्रव्य जीव के रागादिकों को उत्पन्न कराता है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अन्य द्रव्य के अन्य द्रव्य सम्बन्धी गुणों के उत्पन्न करने की असमर्थता है। सभ द्रव्यों का अपने स्वभाव से ही उत्पाद होता है, इसी बात को दिखाते हैं—

जैसे मिट्टी का घड़ा बनता है। यहाँ घटरूप से उत्पन्न होती हुई मिट्टी क्या कुम्भकार के स्वभाव से घटरूप उत्पन्न होती है अथवा मिट्टी के स्वभाव से? यदि कुम्भकार के स्वभाव से घटरूप उत्पन्न होती है, ऐसा माना जावे तो घट बनाने के अहंकार से पूरित पुरुष अधिष्ठित तथा घट निर्माण में व्यापृत हाथों से युक्त पुरूष का जो शरीर है उसके आकार घट होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्य द्रव्य के स्वभाव से अन्य द्रव्य में परिणाम का उत्पाद नहीं देखा जाता। यदि ऐसा है तो यह निश्चित हो गया कि मिट्टी का घटाकार परिणमन कुम्भकार के स्वभाव से नहीं होता, किन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही होता है क्योंकि द्रव्य में परिणाम का उत्पाद स्वकीय स्वभाव से ही देखा जाता है तथा ऐसा होने पर मिट्टी अपने स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकती। इसलिये घटका उत्पादक कुम्भकार नहीं है किन्तु मिट्टी ही कुम्भकार के स्वभाव का स्पर्श न करती हुई स्वकीय स्वभाव से घटरूप उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार सभी द्रव्य स्वकीय परिणाम रूप पर्याय से उत्पन्न होते हैं। सो उस तरह उत्पन्न होते हुए वे द्रव्य क्या निमित्तभूत द्रव्यान्तर के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं या स्वकीय स्वभाव से? यह आशङ्का होती है। यदि निमित्तभूत द्रव्यान्तर के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं तो उनका वह परिणाम निमित्तभूत परद्रव्य के आकार होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि द्रव्यान्तर के स्वभाव से द्रव्य में परिणाम नहीं देखा जाता। यदि ऐसा है तो यह निश्चय हुआ कि सर्वद्रव्य निमित्तभूत परद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु स्वकीय स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि द्रव्य में जो परिणाम का उत्पाद है वह स्वकीय स्वभाव से ही देखा जाता है और ऐसा होने पर सर्वद्रव्य अपने स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकते, इसलिये निमित्तभूत अन्य द्रव्य उनके परिणाम के उत्पादक नहीं हैं किन्तु सर्वद्रव्य ही निमित्तभूत द्रव्यान्तर के स्वभाव का स्पर्श न करते हुए स्वकीय स्वभाव से अपने-अपने परिणाम रूप से उत्पन्न होते हैं। इसलिये हम परद्रव्य को जीव के रागादिक भावों का उत्पादक नहीं देखते हैं, जिसके लिये कुपित हों अर्थात् क्रोध प्रकट करें।

यहाँ उपादानकारण की प्रधानता से कथन किया गया है, इसलिये निमित्तकारण का सर्वथा निषेध समझना चाहिये ।।३७२।।

अब कहते हैं कि रागादिक की उत्पत्ति में आत्मा ही अपराधी है अन्य द्रव्य नहीं—

मालिनीछन्द

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूति:
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोध: ।।२१९।।

अर्थ– इस आत्मा में जो रागादिक की उत्पत्ति होती है उसमें परद्रव्य का किञ्चिनमात्र भी दूषण नहीं है। यह आत्मा स्वयं अपराधी होता है और अपराध के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण इसका अज्ञान फैलता है, यह बात सबको विदित हो, अत: अज्ञान अस्त को प्राप्त हो जावे, क्योंकि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ।

भावार्थ– रागादिक की उत्पत्ति का उपादान कारण आत्मा स्वयं है, इसलिये परपदार्थ को क्या दोष दिया जाय? अज्ञानभाव के कारण आत्मा में रागादिकभाव उत्पन्न होते हैं। इसलिये आचार्य आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि मेरा वह अज्ञानभाव नष्ट हो, क्योंकि मैं ज्ञानरूप हूँ। अज्ञानी जीव रागद्वेष की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही निमित्त मानकर उनके ऊपर क्रोध करता है। यह व्यर्थ है क्योंकि रागद्वेष का उपादान कारण अज्ञानी जीव स्वयं है। अत: उनके ऊपर क्रोध करना जलताड़न के सदृश व्यर्थ है। अपने अज्ञान भाव को त्यागो, आप से आप इनका विलय हो जावेगा।।२१९।।

आगे रागादिक की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही निमित्त मानने का निषेध करते हैं—

रथोद्धताछन्द

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनी शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय: ।।२२०।।

अर्थ– जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तपन मानते हैं वे मोहरूपी नदी को नहीं उतर सकते, क्योंकि शुद्धनय का विषयभूत जो आत्मा उसके बोध से शून्य होने के कारण वे अन्ध बुद्धिवाले हैं।

भावार्थ– आत्मा के अज्ञानरूप रागादिक परिणाम मोहकर्म के उदय में होते हैं। जो केवल परद्रव्य की निमित्तता की मुख्यता से ही उनका अस्तित्व मानते हैं वे शुद्धवस्तु स्वरूप के ज्ञान से रहित अन्धे हैं तथा कभी भी मोहनदी के पार नहीं जा सकते ।।२२०।।

आगे शब्द, रस, गन्ध आदिक बाह्य पदार्थ रागद्वेष के कारण नहीं हैं, यह दिखाते हैं—

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ।।३७३।।
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो।
तह्मा ण तुमं भणिओ किंचि वि किं रूससि अबुद्धो।।३७४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविषयमागयं सद्दं ।।३७५।।
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ।।३७६।।
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एव विगिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं।।३७७।।
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं।।३७८।।
असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं।।३७९।।
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं।।३८०।।
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं।।३८१।।
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।।३८२।।

(दशकम्)

अर्थ– अनेक प्रकार के जो निन्दा और स्तुति के वचन हैं। पुद्गलद्रव्य उन रूप परिणमता हैं। उन्हें सुनकर 'ये शब्द मुझसे कहे गये हैं' ऐसा समझकर अज्ञानी जीव रुष्ट होता है तथा संतुष्ट होता है। अर्थात् निन्दा के वचन सुरकर रूष्ट होता है और स्तुति के वचन सुनकर संतुष्ट होता है।

परन्तु यहाँ पुद्गलद्रव्य ही शब्दरूप परिणत हुआ है। यदि उसका गुण अन्य है अर्थात् तुझसे भिन्न है तो तुझसे कुछ भी नहीं कहा गया है। तूँ अज्ञानी हुआ क्यों रूष्ट होता है?

अशुभ और शुभ शब्द तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे सुन, और न श्रोत्रइन्द्रिय के विषय को प्राप्त हुए शब्द को ग्रहण करने के लिये आत्मा ही आता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार अशुभ और शुभ रूप तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे देख और न नेत्रइन्द्रिय के विषय को प्राप्त हुए रूप को ग्रहण करने के हिए आत्मा ही आता है।

इसी तरह अशुभ और शुभ गन्ध तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे सूँघ, और न घ्राण इन्द्रिय के विषयो को प्राप्त हुए गन्ध को ग्रहण करने के लिये आत्मा ही आता है।

इसी पद्धति से अशुभ और शुभ रस तुझसे नहीं कहता है कि तूँ मुझे चख, और न रसना इन्द्रिय के विषय को प्राप्त रस को ग्रहण करने के लिये आत्मा ही आता है।

इसी विंधि से अशुभ और शुभ स्पर्श तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे स्पर्श कर, और न स्पर्शन इन्द्रिय के विषय को प्राप्त हुए स्पर्श को ग्रहण करने के लिए आत्मा ही आता है।

इसी प्रकार अशुभ और शुभ गुण तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे जान, और न बुद्धि के विषय को प्राप्त हुए गुण को ग्रहण करने के लिए आत्मा ही आता है।

तथा इसी तरह अशुभ और शुभ द्रव्य तुझसे नहीं कहता कि तूँ मुझे जान, और न बुद्धि के विषय को प्राप्त हुए द्रव्य को ग्रहण करने के लिए आत्मा ही आता है।

जो परको ग्रहण करने का मन करता है तथा स्वयं कल्याणकारी बुद्धि को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसा मूढ जीव इस प्रकार जानकर भी उपशमभाव को प्राप्त नहीं होता है।

विशेषार्थ– इस लोक में जिस प्रकार देवदत्त यज्ञदत्त का हाथ पकड़कर उसे किसी कार्य में लगाता है उसी प्रकार ये घटपटादि बाह्य पदार्थ दीपक को हाथ में लेकर 'मुझे प्रकाशित करो' इस तरह कहते हुए अपने आप के प्रकाशन में उसे प्रेरित नहीं करते और न दीपक भी चुम्बक से खिंची हुई लोह की सुई के समान अपने स्थान से च्युत होकर उन घटपटादि पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए आता है क्योंकि वस्तु का स्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता तथा पर भी वस्तु स्वभाव के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इसलिये जिस प्रकार दीपक पर के सन्निधान में स्वरूप से ही प्रकाशित होता है उसी प्रकार पर के असंन्निधान में भी स्वरूप से ही प्रकाशित होता है। वस्तु स्वभाव से ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होते हुए सुन्दर या असुन्दर जो घटपटादि पदार्थ हैं वे स्वरूप से ही प्रकाशित होनेवाले

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दीपक की किञ्चिन्मात्र भी विक्रिया (विकार) करने के लिए समर्थ नहीं हैं। उसी प्रकार बाह्य पदार्थ जो शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गुण और द्रव्य हैं वे यज्ञदत्त को देवदत्त के समान हाथ में पकड़कर मुझे सुनो, मुझे देखो, मुझे सूँघो, मुझे चखो, मुझे स्पर्श करो और मुझे जानो, इस तरह अपने ज्ञान के लिए आत्मा को प्रेरित नहीं करते हैं, किन्तु वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता और वस्तु स्वभाव के द्वारा पर उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इसलिये जिस प्रकार आत्मा उन शब्दादिक के असन्निधान में उन्हें जानता है उसी प्रकार उनके सन्निधान में भी स्वरूप से ही उन्हें जानता है। वस्तु स्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त होते हुए सुन्दर या असुन्दर जो शब्दादिक बाह्यपदार्थ हैं वे स्वरूप से ही जानने वाले आत्मा में किञ्चिन्मात्र भी विक्रिय (विकार) उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं हो सकते। इस तरह यह आत्मा दीपक के समान परपदार्थ के प्रति नित्य ही उदासीन रहता है। यह वस्तु की स्थिति है तो भी जो रागद्वेष उत्पन्न होते हैं वह अज्ञान है।

भावार्थ– शुभ-अशुभ शब्द आदि का परिणमन उनके स्वाधीन है, वे आत्मा में रागद्वेष उत्पन्न करने के लिये समर्थ नहीं हैं। फिर भी आत्मा में जो रागद्वेष होता है वह उसका अज्ञान है ।।३७३-३८२।।

आगे यही भाव कलशा में कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधबन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ।।२२१।।

अर्थ– जिस प्रकार प्रकाशित करने योग्य घटपटादि पदार्थों से दीपक कुछ भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार पूर्ण, एक, अच्युत तथा शुद्ध ज्ञान की महिमा से युक्त यह बोद्धा अर्थात् आत्मा, ज्ञान के विषयभूत शब्दादि पदार्थों से कुछ भी विक्रिया को प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिये वस्तु स्थिति के ज्ञान से शून्य बुद्धिवाले ये अज्ञानी जीव रागद्वेषरूप क्यों हो रहे हैं तथा अपनी सहज उदासीनता—वीतराग परिणतिको क्यों छोड़ रहे हैं?

भावार्थ– जिस प्रकार बाह्यपदार्थ दीपक में कुछ भी विकार करने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् पदार्थ अच्छा या बुरा किसी प्रकार का रहे, दीपक उसे मध्य स्वभाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से प्रकाशित ही करता है, उस पदार्थ के निमित्त से स्वयं हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करता। उसी प्रकार ज्ञानी जीव अच्छे या बुरे पदार्थों को जानता मात्र है, उनके निमित्त से हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करता। इस तहर बाह्यपदार्थ ज्ञानी जीव में कुछ भी विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। फिर भी वस्तु स्वभाव के यथार्थ विचार से रहित ये अज्ञानी प्राणी शुभ-अशुभ शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि का निमित्त पाकर रागद्वेष युक्त होते हैं तथा अपनी सहज जो उदासीनता है उसे छोड़ देते हैं यह आश्चर्य की बात है ।।२२१।।

अब राग-द्वेष से रहित जीव ही ज्ञान चेतना को प्राप्त होते हैं, यह कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनाम् ।।२२२।।

अर्थ– जो रागद्वेषरूप विभाव से रहित तेज के धारक हैं, जो नित्य ही स्वभाव का स्पर्श करते हैं, जो अतीत और अनागत सम्बन्धी समस्त कर्मों से रहित हैं तथा जो वर्तमानकाल सम्बन्धी कर्मोदय से भिन्न हैं ऐसे ज्ञानी जीव, अत्यन्त गाढ़रूप से धारण किये हुए चारित्र के वैभव के बल से उस ज्ञानचेतना को प्राप्त होते हैं, जो चमकती हुई चैतन्यज्योति से तन्मय है तथा जिसने स्वकीय ज्ञानरूप रस से तीनों लोकों को सींचा है।

भावार्थ– जिनका आत्मतेज रागद्वेष से रहित है अर्थात् अविरतसम्यग्दृष्टि आदि की अवस्था में अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियों के उदय से जायमान रागादिक के रहते हुए भी जो अपने आत्मतेज को उससे रहित अनुभव करते हैं और आगे चलकर मोहकर्म का अभाव होने से परामर्थ रुप से जिनका आत्मतेज रागद्वेष से रहित हो गया तथा रागद्वेष से रहित होने के लिये जो निरन्तर स्वकीय ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव का स्पर्श करते हैं अर्थात् सदा ऐसी भावना रखते हैं कि मेरा स्वभाव पदार्थों को जानना-देखना मात्र है रागी-द्वेषी होना नहीं। जो अतीत और अनागत सम्बन्धी कर्म से रहितहैं अर्थात् कर्मचेतना से मुक्त हैं और वर्तमान में उदय को प्राप्त कर्मफल से भिन्न हैं अर्थात् कर्मफलचेतना से रहित हैं ऐसे जीव अतिशय दृढ़ता के साथ धारण किये हुए रागद्वेष की निवृत्तिरूप चारित्र के विभव की सामर्थ्य से अर्थात् यथाख्यातचारित्र के बल से ज्ञान की उस समीचीन चेतना को प्राप्त होते हैं जिसमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक चैतन्य का चमत्कार ही विद्यमान है। उसी से जो तन्मय है तथा जिसने स्वकीय केवल ज्ञानरूप परिणति से समस्त भुवन को व्याप्त किया है अर्थात् लोकालोक को अपना विषय बना लिया है। तात्पर्य यह है कि जिनका रागद्वेष चला जाता है, तथा जो अतीत, अनागत और वर्तमान कर्मोदय से भिन्न आत्मा का अनुभव करते हैं उन्हीं महापुरुषों के चारित्र के वैभव का उदय होता है, जिसके बल से वे कर्मचेतना और कर्मफल चेतना से भिन्न ज्ञानचेतना का अनुभवन करते हैं तथा उस शुद्ध चेतना की ऐसी महती शक्ति है कि जिसमें अखिल लोक एक समय में प्रतिभासित होने लगाता है ।।२२२।।

अब प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचना का स्वरूप बताते हैं–

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।३८३।।
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया।।३८४।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडिय अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया।।३८५।।
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया।।३८६।।

(चतुष्कम्)

अर्थ– पूर्वकाल में किये हुए अनेक विस्तार विशेष से युक्त जो शुभ-अशुभ कर्म हैं उनसे अपने आप को जो निवृत्त करता है वह प्रतिक्रमण है।

जिस भाव के रहते हुए भविष्यकाल में जो शुभ-अशुभ कर्म बन्ध को प्राप्त होनेवाले हैं उस भाव से जो चेतयिता निवृत्त होता है वह प्रत्याख्यान हैं।

और जो वर्तमानकाल में अनेक प्रकार के विस्तार विशेष से युक्त शुभ-अशुभ कर्म उदय में आया है उसके दोष का जो चेतयिता चिन्तन करता है वह आलोचना है।

इस पद्धति से जो चेतयिता नित्य ही प्रत्याख्यान करता है, नित्य ही प्रतिक्रमण करता है और नित्य ही आलोचना करता है निश्चय से वही चारित्र है अर्थात् वही चारित्र गुण का धारक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– निश्चय से जो चेतयिता (आत्मा) पुद्गलकर्म के विपाक से होनेवाले भावों से स्वीय आत्मा को निवृत्त करता है वह उन भावों के कारण भूत पूर्वकर्मों का प्रतिक्रमण करता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण रूप होता है। वही आत्मा उन भावों के कार्यभूत अर्थात् उन भावों से बँधनेवाले उत्तरकर्म को त्यागता हुआ प्रत्याख्यान रूप होता है और वही आत्मा वर्तमान कर्मविपाक को आत्मा से अत्यन्त भेद रूप जानता हुआ आलोचना रूप होता है। इस तरह यह आत्मा नित्य ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना करता हुआ, पूर्वकर्म के कार्य और उत्तरकर्म के कारणरूप भावों से अत्यन्त निवृत्त होता हुआ और वर्तमान कर्मविपाक को आत्मा से अत्यन्त भिन्न जानता हुआ स्वकीय ज्ञानस्वभाव से निरन्तर आचरण करने से चारित्र होता है। और चारित्ररूप होता हुआ ज्ञानमात्र जो स्वीय स्वरूप है उसका अनुभवन करने से स्वयमेव ज्ञानचेतना हो जाती है।

भावार्थ– यहाँ पर प्रधानता से निश्चय चारित्र का कथन है। जहाँ पर चारित्र का वर्णन होता है वहाँ पर प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का वर्णन होता है। परन्तु यह सब प्रक्रिया मोहोदय में होती है। जैसे अपराध जो होता है वह मोह के तीव्रोदय में होता है और उसका जो प्रतिक्रमणादि होता है वह मोह के मन्द उदय में होता है। जिस प्रकार लोक में कोई व्याख्यान देने का उद्यम करता है और व्याख्यान समाप्ति के अनन्तर उपस्थित सभासदों से नम्र शब्दों में यह निवेदन करता है कि यदि हमसे अज्ञान और प्रमाद के कारण किसी प्रकार का अनुचित भाषण हुआ हो तो उसे आप महानुभाव क्षमा करें। उसी प्रकार मोही आत्मा से अतीत में मोह के वश जो अपराध हुए हैं उनके दूर करने के लिये वह पश्चात्ताप करता हुआ अपने आप को धिक्कारता है। अब आगामी काल में ऐसे अपराध के कारण जो भाव हैं उन्हें नहीं करूँगा अर्थात् ऐसे भावों से अपनी आत्मा का निवारण करता है। इसी का नाम प्रत्याख्यान है तथा जो कर्मोदय वर्तमान में आ रहा है उसे साम्यभाव से सहन करता हुआ भोगता है और यह विचार करता है कि यह कर्मोदय हमारे ज्ञानस्वभाव से अत्यन्त भिन्न है, इसीका नाम आलोचना है। निश्चयनय से विचार किया जाय तो यहाँ पर आत्मा ही प्रतिक्रमण है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही आलोचना है और आत्मा ही परमार्थ से चारित्र है। जब आत्मा ही स्वयं चारित्ररूप हो जाता है तब उसका ज्ञानमात्र जो स्वकीय स्वरूप है उसी का अनुभव रह जाता है, इसलिये कर्मचेतना और कर्मफल चेतना से निवृत्ति होकर मात्र ज्ञानचेतना रह जाती है।।३८३।३८६।।

अब ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना (कर्मचेतना और कर्मफल चेतना) का फल दिखाते हुए कलशा कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपजातिछन्द

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः।।२२३।।

अर्थ– ज्ञान के संचेतन से ही अत्यन्त शुद्ध ज्ञान प्रकाशित होता है और अज्ञान के संचेतन से बन्ध दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धि को रोक लेता है।

भावार्थ– पदार्थों का जानना ही मेरा स्वभाव है, उनका कर्ता या भोक्तापन मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार निरन्तर ज्ञानस्वभाव का चिन्तन करने से ज्ञान शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसमें मोहोदय से होनेवाले पर के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का जो भ्रम (विकारी अंश) था वह दूर हो जाता है। तथा इसके विपरीत अज्ञान का चिन्तन करने से अर्थात् ज्ञानस्वभाव से भिन्न जो कर्तृत्व (कर्मचेतना) और भोक्तृत्व (कर्मफलचेतना) भाव है उसका विचार करने से ज्ञान की शुद्धि रुक जाती है और कर्मों का बन्ध होने लगता है।।२२३।।

अब अज्ञानचेतना बंध का कारण है, यह गाथाओं में स्पष्ट करते हैं–

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।३८७।।
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।३८८।।
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।३८९।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– जो आत्मा कर्मफल का अनुभव करता हुआ कर्मफल को अपनाता है अर्थात् कर्मफल से भिन्न आत्मा को नहीं मानता वह आत्मा दुःखों के बीजस्वरूप आठ कर्मों का फिर भी बन्ध करता है।

जो आत्मा कर्मफल का वेदन करता हुआ यह कर्मफल मेरे द्वारा किया हुआ है, ऐसा मानता है वह दुःख के बीजस्वरूप आठ प्रकार के कर्मों का फिर भी बन्ध करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और जो आत्मा कर्मफल का अनुभव करता हुआ सुखी-दु:खी होता है वह दु:ख के बीज स्वरूप आठ प्रकार के कर्मों का फिर भी बन्ध करता है।

विशेषार्थ– ज्ञान से भिन्न पदार्थ में 'यह मैं हूँ' इस प्रकार जो जानना है वह अज्ञान चेतना है। यह अज्ञानचेतना कर्मचेतना और कर्मफल चेतना के भेद से दो भेदवाली है। इन दोनों में ज्ञान से भिन्न पदार्थों में 'मैं इसे करता हूँ' ऐसा जो ज्ञान है इसी को कर्मचेतना कहते हैं तथा ज्ञान से भिन्न पदार्थों में 'मैं इसको भोगता हूँ' ऐसा जो आत्मा का अनुभवन है, इसी का नाम कर्मफल चेतना है। यह अज्ञान चेतना सम्पूर्णरूप से संसार का बीजभूत है क्योंकि संसार का बीज जो आठ प्रकार का कर्म है उसका यह बीज है। अत: मोक्षार्थी पुरुष के द्वारा अज्ञानचेतना के प्रलय (विनाश के) लिये सकल कर्मत्याग की भावना और सकल कर्मफलत्याग की भावना को प्रकट कर स्वभावभूत भगवती एक ज्ञानचेतना को ही निरन्तर प्रकट करना चाहिये।

इन दोनों में सकल कर्मत्याग की भावना को कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

आर्याछन्द

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायै:।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे।।२२४।।

अर्थ– कृत, कारित, अनुमोदन और मन-वचन-काय के द्वारा तीन काल सम्बन्धी जो कर्म मेरे द्वारा किये गये हैं उन सबका परिहार कर मैं परम निष्कर्मभाव का आलम्बन करता हूँ।

आगे इन्हीं के भङ्गों का वर्णन करते हैं—मन, वचन और काय ये तीन हैं तथा कृत, कारित और अनुमोदना भी तीन हैं। इनमें मन, वचन, काय इनके स्वतन्त्र एक-एक के द्वारा जो किया जावे वह तीन प्रकार का होता है तथा मनवचन, मनकाय और वचनकाय इस तरह दो-दो को मिलाकर तीन भङ्ग हुए तथा मन, वचन काय इन तीनों के द्वारा भी मिलकर एक भङ्ग हुआ, इस तरह सात भङ्ग होते हैं। इसी तरह कृत, कारित और अनुमोदना इन तीन के भी सात भङ्ग होते हैं। इन दोनों सात-सात भङ्गों को परस्पर गुणित करने से ४९ भङ्ग होते हैं। इस तरह प्रतिक्रमण ४९ तरह का होता है। इन्हीं भेदों को स्पष्ट करते हैं—प्रतिक्रमण करने वाला कहता है कि जो पाप मैंने अतीतकाल में किया था, अन्य के द्वारा कराया था तथा अन्य के द्वारा किये गये पाप की अनुमोदना की थी, वह मन, वचन और काय से मिथ्या हो१, जो पाप अतीतकाल में मैंने किया अन्य के द्वारा कराया था, तथा अन्य के द्वारा किये गये पाप की अनुमोदना की थी, वह मन और वचन से मिथ्या हो२,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुए की अनुमोदना की थी, वह मन और काय से मिथ्या हो३, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुए की अनुमोदना की थी, वह वचन और काय से मिथ्या हो४, जो पाप मैंने किया था, कराया था और किये हुए की अनुमोदना की थी, वह मन से मिथ्या हो५, जो पाप मैंने किया था, कराया था और जिसकी अनुमोदना की थी, वह वचन से मिथ्या हो६, जो पाप मैंने किया था, कराया था और जिसकी अनुमोदना की थी, वह काय से मिथ्या हो७, जो पाप मैंने किया था और कराया था, वह मन, वचन और काय से मिथ्या हो८, जो पाप मैने किया था और किये हुए की अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप, मन, वचन, काय से मिथ्या हो९, जो पाप मैने कराया था और दूसरे से किये हुए की अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप मन से, वचन से और काय से मिथ्या हो१०, जो मैंने किया था और दूसरे से कराया था, वह मेरा पाप मन से मिथ्या हो११, जो मैंने किया था और जिसे करते हुए की अनुमोदना की थी, मेरा वह पाप मन से तथा वचन से मिथ्या हो१२, जिसे मैंने दूसरे से कराया था और जिसे करते हुए की अनुमोदना की थी, वह मेरा पाप मन से और वचन से मिथ्या हो१३, जिसे मैंने किया था और दूसरे से कराया था वह मेरा पाप मन से और काय से मिथ्या हो १४, जिसे मैंने किया था और जिसे करते हुए को अनुज्ञा दी थी वह मेरा पाप मन से और काय से मिथ्या हो १५, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुए को अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप मन से तथा काय से मिथ्या हो १६, जिसे मैंने किया था और जिसे कराया था, वह मेरा पाप वचन और काय से मिथ्या हो १७, जिसे मैंने किया था और जिसे करते हुए को अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप वचन और काय से मिथ्या हो १८, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुए को अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप वचन और काय से मिथ्या हो १९, जिसे मैंने किया था और जिसे कराया था, वह मेरा पाप मन से मिथ्या हो २०, जिसे मैंने किया था और जिसे करते हुए दूसरे को अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप मन से मिथ्या हो २१, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुए को अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप मन से मिथ्या हो २२, जिसे मैंने किया था और जिसे दूसरे से कराया था, वह मेरा पाप वचन से मिथ्या हो २३, जिसे मैने किया और जिसे करते हुए अन्य को अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप वचन से मिथ्या हो २४, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते हुए अन्य को अनुज्ञा दी थी वह मेरा पाप वचन से मिथ्या हो २५, जिसे मैंने किया था और जिसे कराया था, वह मेरा पाप काय से मिथ्या हो २६, जिसे मैंने किया था और जिसे करते हुए दूसरे को अनुज्ञा दी थी, वह मेरा पाप काय से मिथ्या हो २७, जिसे मैंने कराया था और जिसे करते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुए अन्य को अनुज्ञा दी थी वह मेरा पाप काय से मिथ्या हो २८, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मन, वचन और काय से मिथ्या हो २९, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप मन, वचन और काय से मिथ्या हो ३०, जिस पाप को करते हुए दूसरे को मैंने अनुज्ञा दी थी, मेरा वह पाप मन, वचन और काय से मिथ्या हो ३१, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मन से तथा वचन से मिथ्या हो ३२, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप मन और वचन से मिथ्या हो ३३, जिस पाप को करते हुए अन्य पुरुष को मैंने अनुज्ञा दी थी, मेरा वह पाप मन और वचन से मिथ्या हो ३४, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मन और काय से मिथ्या हो ३५, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप मन और काय से मिथ्या हो ३६, जिस पाप को करते हुए अन्य को मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप मन और काय से मिथ्या हो ३७, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप वचन और काय से मिथ्या हो ३८, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप वचन और काय से मिथ्या हो ३९, जिस पाप को करते हुए अन्य को मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप वचन और काय से मिथ्या हो ४०, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप मन से मिथ्या हो ४१, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप मन से मिथ्या हो ४२, जिसे करते हुए अन्य को मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप मन से मिथ्या हो ४३, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप वचन से मिथ्या हो ४४, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप वचन से मिथ्या हो ४५, जिसे करते हुए दूसरे को मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप वचन से मिथ्या हो ४६, जिसे मैंने किया था मेरा वह पाप काय से मिथ्या हो ४७, जिसे मैंने कराया था मेरा वह पाप काय से मिथ्या हो ४८, जिसे करते हुए अन्य को मैंने अनुज्ञा दी थी मेरा वह पाप काय से मिथ्या हो।४९।[१]

---

१. इन ४९ भंगों के भीतर पहले भंग में कृत, कारित, अनुमोदना, ये तीन लिये हैं और उन पर मन, वचन, काय ये तीन लगाये हैं, इसलिये इस भङ्ग का सांकेतिक नाम ३३ है। २ से ४ तक के भंग में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं। इस प्रकार बने हुए इन तीन भंगों को ३२ की संज्ञा है। ५ से ७ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन तीनों भंगों को ३१ की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं। इन तीनो भंगों को २३ की संज्ञा से जाना जा सकता है। ११ से १९ तक के भंगों में कृत कारित, अनुमोदना में दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगों को २२ की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तक के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आर्याछन्द

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२५।।

अर्थ– मैंने मोह से कर्म किये थे उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण कर मैं समस्त कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में अपने आप के द्वारा निरन्तर वर्त रहा हूँ।।२२५।।

इस तरह प्रतिक्रमण कल्प समाप्त हुआ।

अब आलोचना सम्बन्धी ४९ भङ्ग कहे जाते हैं—

मैं वर्तमान में कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ और न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से, वचन से, काय से १, मैं कर्म को न करता हूँ, न करता हूँ, न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से और वचन से २, मैं कर्म को न करता हूँ, न कराता हूँ, न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन और काय से ३, मैं कर्म को न करता हूँ, न कराता हूँ, न करते हुए अन्य को अन्य की अनुमति देता हूँ वचन और काय से ४, मैं कर्म को न करता हूँ, न कराता हूँ, न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से ५, मैं कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ वचन से ६, मैं कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ काय से ७, मैं कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ मन से, वचन से, काय से ८, मैं कर्म को न करता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मनसे, वचन से, काय से ९, मैं कर्म को न कराता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से, काय से १०, मैं कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ मन से, वचन से ११, मैं कर्म को न करता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से, वचन से १२, मैं कर्म को न करवाता हूँ न

भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, काय में से १-१ लगाया है। इन नौ भंगों को २१ की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं। इन तीन भंगों को १३ की संज्ञा से जाना जा सकता है। ३२ से ४० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना मं से एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, काय में दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगों को १२ की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४९ तक के भंग में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन ९ भंगों की संज्ञा ११ है। इस प्रकार सब मिलाकर ४९ भंग हुए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से, वचन से १३, मैं कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ मन से, काय से १४, मैं कर्म को न करता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से, काय से १५, मैं कर्म को न कराता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से, काय से १६, मैं कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ वचन से, काय से १७, मैं कर्म को न करता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ वचन से, काय से १८, मैं कर्म को न कराता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ वचन से, काय से १९, मैं कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ मन से २०, मैं कर्म को न करता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से २१, मैं कर्म को न कराता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ मन से २२, मैं कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ वचन से २३, मैं कर्म को न करता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ वचन से २४, मैं कर्म को न कराता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ वचन से २५, मैं कर्म को न करता हूँ न कराता हूँ काय से २६, मैं कर्म को न करता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ काय से २७, मैं कर्म को न कराता हूँ न करते हुए अन्य को अनुमति देता हूँ काय से २८, मैं कर्म को न कराता हूँ मन से, वचन से, काय से २९, मैं कर्म को न कराता हूँ मन से, वचन से, काय से ३०, मैं कर्म को करते हुए अन्य को अनुमति नहीं देता हूँ मन से, वचन से, काय से ३१, मैं कर्म को न करता हूँ मन से, वचन से ३२, मैं कर्म को न करता हूँ मन से, वचन से ३३, मैं करते हुए अन्य को अनुमति नहीं देता हूँ मन से, वचन से ३४, मैं कर्म को न करता हूँ मन से, काय से ३५, मैं कर्म को न कराता हूँ मन से, काय से ३६, मैं करते हुए अन्य को अनुमति नहीं देता हूँ मन से, काय से ३७, मैं कर्म को नहीं करता हूँ वचन से, काय से ३८, मैं कर्म को नहीं कराता हूँ वचन से, काय से ३९, मैं कर्म को करते हुए अन्य को अनुमति नहीं देता हूँ वचन से काय से ४०, मैं कर्म को न करता हूँ मन से ४१, मैं कर्म को नहीं कराता हूँ मन से ४२, मैं करते हुए अन्य को अनुमति नहीं देता हूँ मन से ४३, मैं कर्म को न करता हूँ वचन से ४४, मैं कर्म को नहीं कराता हूँ वचन से ४५, मैं करते हुए अन्य को अनुमति नहीं देता हूँ वचन से ४६, मैं कर्म को न करता हूँ काय से ४७, मैं कर्म को नहीं कराता हूँ काय से ४८, मैं करते हुए अन्य को अनुमति नहीं देता हूँ काय से ४९।

आर्याछन्द

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्मसकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– मोहविलास के विस्तार स्वरूप, उदयागत समस्त कर्मसमूह की आलोचना कर मैं कर्मरहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में अपने आप निरन्तर वर्तता हूँ।

भावार्थ– वर्तमान काल में उदय में आते हुए कर्मों के विषय में ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि यह सब मोह के विलास का विस्तार है अर्थात् अज्ञान से जायमान है, यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो समस्त कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप हूँ, उसी में मुझे लीन रहना चाहिये।।२२६।।

इस तरह आलोचना कल्प समाप्त हुआ।

अब प्रत्याख्यान सम्बन्धी ४९ भङ्ग कहते हैं—

मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से, वचन से, काय से १, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से, वचन से २, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से, काय से ३, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा वचन से, काय से ४, मैं कर्म को न करूँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से ५, मैं कर्म को न करँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा वचन से ६, मैं कर्म को न करँगा न करवाऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा काय से ७, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा मन से, वचन से ८, मैं कर्म को न करूँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से, वचन से काय से ९, मैं कर्म को न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से, वचन से काय से १०, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा मन से, वचन से ११, मैं कर्म को न करूँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से, वचन से १२, मैं कर्म को न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से, वचन से १३, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा मन से, काय से १४, मैं कर्म को न करूँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से, काय से १५, मैं कर्म को न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से, काय से १६, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा वचन से, काय से १७, मैं कर्म को न करूँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा वचन से, काय से १८, मैं कर्म को न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा वचन से, काय से १९, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा मन से २०, मैं कर्म को न करूँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से २१, मैं कर्म को न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा मन से २२, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा वचन से २३, मैं कर्म को न करूँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा वचन से २४, मैं कर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा वचन से २५, मैं कर्म को न करूँगा न कराऊँगा काय से २६, मैं कर्म को न करते हुए अन्य को भी अनुमति दूँगा काय से २७, मैं कर्म को न कराऊँगा न करते हुए अन्य को अनुमति दूँगा काय से २८, मैं कर्म को न करूँगा मन से, वचन से, काय से २९, मैं कर्म को न कराऊँगा मन से, वचन से, काय से ३०, मैं करते हुए अन्य को अनुमति नहीं दूँगा मन से, वचन से, काय से ३१, मैं कर्म को न करूँगा मन से, वचन से ३२, मैं कर्म को न कराऊँगा मन से, वचन से ३३, मैं करते हुए अन्य को भी अनुमति नहीं दूँगा मन से, वचन से ३४, मैं कर्म को न कराऊँगा मन से, काय से ३५, मैं कर्म को न कराऊँगा मन से, काय से, ३६, मैं करते हुए अन्य को अनुमति नहीं दूँगा मन से, काय से ३७, मैं कर्म को न करूँगा वचन से, काय से ३८, मैं कर्म को नहीं कराऊँगा वचन से, काय से ३९, मैं करते हुए अन्य को अनुमति नहीं दूँगा वचन से, काय से ४०, मैं कर्म को नहीं करूँगा मन से ४१, मैं कर्म को नहीं कराऊँगा मन से ४२, मैं करते हुए अन्य को भी अनुमति नहीं दूँगा मन से ४३, मैं कर्म को नहीं करूँगा वचन से ४४, मैं कर्म को नहीं कराऊँगा वचन से ४५, मैं करते हुए अन्य को भी अनुमति नहीं दूँगा वचन से ४६, मैं कर्म को न करूँगा काय से ४७, मैं कर्म को न कराऊँगा काय से ४८, मैं करते हुए अन्य को अनुमति नहीं दूँगा काय से।।४९।।

आर्याछन्द

प्रत्याख्याय भविष्यत् कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२७।।

अर्थ-- भविष्य काल के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान कर जिसका मोह नष्ट हो चुका है ऐसा मैं कर्मरहित चैतन्य स्वरूप आत्मा में अपने आप निरन्तर वर्त रहा हूँ।

भावार्थ-- ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है कि कर्मचेतना मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये जिस प्रकार अतीतकाल और वर्तमानकाल सम्बन्धी कर्मों का कर्तृत्व मेरे ऊपर नहीं है उसी प्रकार भविष्यकाल सम्बन्धी कर्मों का कर्तृत्व भी मुझ पर नहीं है। मैं कृत, कारित और अनुमोदना और मन, वचन, काय से भविष्यत्काल सम्बन्धी समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान कर कर्मरहित तथा चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा में ही अपने आपके पुरुषार्थ से निरन्तर लीन रहता हूँ।।२२७।।

इस तरह प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब ज्ञानी जीव की भावना प्रकट करने के लिये कलशा कहते हैं—

उपजातिछन्द

समस्तमित्येकमपास्य कर्म
त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारै-
श्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे।।२२८।।

अर्थ– इस प्रकार तीन काल सम्बन्धी समस्त कर्मों का त्यागकर मैं शुद्धनय का अवलम्बी होता हुआ मोहरहित हो विकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन लेता हूँ।

भावार्थ– प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान के द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यकाल सम्बन्धी समस्त कर्मों के त्याग से अर्थात् उनके प्रति कर्तृत्व का भाव छोड़ने से जिसका समस्त मोह नष्ट हो गया है ऐसा शुद्धनय का अवलम्बन करने वाला जीव विचार करता है कि मेरी आत्मा तो समस्त विकारों से रहित चैतन्यमात्र स्वरूप का धारक है, वही मेरा स्वीयद्रव्य है, उसीमें मुझे लीन होना चाहिये, ऐसा विचार कर वह मात्र ज्ञान चेतना का आलम्बन लेकर निरन्तर आत्मस्वरूप में लीन रहता है।।२२८।।

अब समस्त कर्मफल के त्याग की भावना को प्रकट करते हैं—

आर्याछन्द

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्।।२२९।।

अर्थ– कर्मफल चेतना का त्यागी ज्ञानी जीव विचार करता है कि कर्मरूपी विषवृक्ष के फल मेरे भोगे बिना ही खिर जावें, मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही निश्चल रूप से अनुभव करता हूँ।

भावार्थ– मैं कर्मफलों को केवल जानने-देखनेवाला हूँ, भोगनेवाला नहीं हूँ, इसलिये वर्तमान में जो कर्म अपना फल दे रहे हैं उनके प्रति मेरा कोई ममत्वभाव नहीं है। फल देते हुए भी वे मेरे लिये फल न देते हुए के समान है। मेरा स्वकीय द्रव्य तो चैतन्यलक्षणवाला आत्मा है अतः उसी का निरन्तर चिन्तन करता हूँ।।२२९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मों की जितनी भी उत्तरप्रकृतियाँ हैं उन सबके फल को भोगनेवाला मैं नहीं हूँ, यह क्रम से प्रकट करते हैं—

मैं मतिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ १, मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ २, मैं अवधिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ३, मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ४, मैं केवलज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ५, मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप ६, मैं अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७, मैं अवधिदर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८, मैं केवलदर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप०९, मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप०१०, मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११, मैं प्रचलादर्शनावरणीय कर्म को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२, मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३, मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४, मैं सातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य० १५, मैं असातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १६, मैं सम्यक्त्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप १७, मैं मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १८, मैं सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप १९, मैं अनन्तानुबन्धी क्रोधकषायवेदनीय मोहनीय के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप २०, मैं अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीय मोहनीय के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २१, मैं प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीय मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २२, मैं संज्वलन क्रोधवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २३, मैं अनन्तानुबन्धी मानकषाय वेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २४, मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मानकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २५, मैं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीय मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २६, मैं संज्वलनमानकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २७, मैं अनन्तानुबन्धी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मायाकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप० २८, मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मायाकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० २९, मैं प्रत्याख्यानावरणीय मायाकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३०, संज्वलनमायाकषायवेदनीय मोहकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३१, मैं अनन्तानुबन्धी लोभकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३२, मैं अप्रत्याख्यानावरणीय लोभकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३३, मैं प्रत्याख्यानावरणीय लोभकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३४, मैं संज्वलन लोभकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३५, मैं हास्यनोकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप ३६, मैं रतिनोकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३७, मैं अरतिनोकषायवेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३८, मैं शोकनोकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ३९, मैं भयनोकषायवेदनीय मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४०, मैं जुगुप्सानोकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४१, मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४२, मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ४३, मैं नपुंसवेदनोकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४४, मैं नरकायुः कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४५, मैं तिर्यगायुःकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४६, मैं मानुषायुःकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४७, मैं देवायुःकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४८, मैं नरकगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ४९, मैं तिर्यग्गतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५०, मैं मनुष्यगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५१, मैं देवगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५२, मैं एकेन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५३, मैं द्वीन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५४, मैं त्रीन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५५, मैं चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५६, मैं पञ्चेन्द्रियजातिनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ५७, मैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

औदारिकशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५८, मैं वैक्रियिकशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ५९, मैं आहारकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६०, मैं तैजसशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६१, मैं कार्माणशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६२, मैं औदारिकशरीरराङ्गोपाङ्गनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६३, मैं वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६४, मैं आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६५, मैं औदारिकशरीरबन्धननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६६, वैक्रियिकशरीरबन्धननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६७, मैं आहारकशरीरबन्धननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६८, मैं तैजसशरीरबन्धननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ६९, मैं कार्मणशरीरबन्धननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७०, मैं औदारिकशरीरसंघातनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७१, मैं वैक्रियिकशरीरसंघातनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७२, मैं आहारकशरीरनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७३, मैं तैजसशरीरसंघातनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७४, मैं कार्मणशरीरसंघातनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७५, मैं समचतुरस्रसंस्थाननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ चैतन्यस्वरूप० ७६, मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७७, मैं स्वातिसंस्थाननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७८, मैं कुब्जकसंस्थाननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ७९, मैं वामनसंस्थाननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८०, मैं हुण्डकसंस्थाननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८१, मैं वज्रर्षभनाराचसंहनननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८२, मैं वज्रनाराचसंहनननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८३, मैं नाराचसंहनननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप ८४, मैं अर्धनाराचसंहनननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८५, मैं कीलकसंहनननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८६, मैं असंप्राप्तसृपाटिकासंहनननाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८७, मैं स्निग्धस्पर्शनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८८, मैं रूक्षस्पर्शनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ८९, मैं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शीतस्पर्शनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९०, मैं उष्णस्पर्शनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९१, मैं गुरुस्पर्शनाम कर्म के फल नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९२, मैं लघुस्पर्शनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९३, मैं मृदुस्पर्शनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९४, मैं कर्कशस्पर्शनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९५, मैं मधुररसनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९६, मैं अम्लरसनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९७, मैं तिक्तरसनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९८, मैं कटुकरसनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ९९, मैं कषायरसनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १००, मैं सुरभिगन्धनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०१, मैं असुरभिगन्धनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०२, मैं शुक्लवर्णनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०३, मैं रक्तवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०४, मैं पीतवर्णनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०५, मैं हरितवर्णनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०६, मैं कृष्णवर्णनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०७, मैं नरकगत्यानुपूर्वीनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०८, मैं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १०९, मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११०, मैं देवगत्यानुपूर्वीनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १११, मैं निर्माणनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११२, मैं अगुरुलघुनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११३, मैं उपघातनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११४, मैं परघातनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११५, मैं आतपनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११६, मैं उद्योतनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११७, मैं उच्छ्वासनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११८, मैं प्रशस्तविहायोगतिनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० ११९, मैं अप्रशस्तविहायोगति नाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२०, मैं साधारण शरीनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२१, मैं प्रत्येकशरीरनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२२, मैं स्थावरनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२३, मैं त्रसनामकर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२४, मैं सुभगनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२५, मैं दुर्भगनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२६, मैं सुस्वरनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२७, मैं दु:स्वरनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२८, मैं शुभनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १२९, मैं अशुभनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३०, मैं सूक्ष्मशरीरनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३१, मैं बादरशरीरनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३२, मैं पर्याप्तनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३३, मैं अपर्याप्तनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३४, मैं स्थिरनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३५, मैं अस्थिरनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३६, मैं आदेयनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३७, मैं अनादेयनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३८, मैं यश:कीर्तिनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १३९, मैं अयश:कीर्तिनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४०, मैं तीर्थंकरत्वनाम कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४१, मैं उच्चगोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४२, मैं नीचगोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४३, मैं दानान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४४, मैं लाभान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४५, मैं भोगान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४६, मैं उपभोगान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४७, मैं वीर्यान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप० १४८।

यहाँ आशङ्का होती है कि जब ऊपर लिखे अनुसार कर्मों का फल आत्मा नहीं भोगता है तो फिर कौन भोगता है? क्या जड़ शरीर भोगता है? इसका उत्तर यह है कि जड़ शरीर नहीं भोगता, क्योंकि जड़ शरीर में स्वयं सुख-दु:ख का वेदन करने का सामर्थ्य नहीं है। फलत: आत्मा ही भोगता है। परन्तु कर्मों के उदय से आत्मा की जो अशुद्ध दशा होती है वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो चैतन्यरूप है, अत: ज्ञानी जीव उसी चैतन्यस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है। कर्मोदय से होनेवाली अवस्थाओं को परजन्य होने से आत्मस्वभाव से पृथक् अनुभव करता है। जिस प्रकार अग्नि के सम्बन्ध से 'पानी उष्ण हो गया' यहाँ व्यवहार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो यही होता है कि पानी उष्ण है। परन्तु परमार्थ से विचार करने पर उष्णता अग्नि की ही है, पानी की नहीं। कुछ समय के अनन्तर अग्नि का सम्बन्ध दूर होने पर पानी शीतल हो जाता है। इससे प्रतीत होता है कि शीतलता पानी का स्वकीय धर्म है और उष्णता परजन्य। स्वभाव की चर्चा में परजन्य विभाव का स्थान नहीं है। निश्चयनय स्वभाव का ही वर्णन करता है। अत: उसकी दृष्टि में आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव का ही भोक्ता है। परन्तु व्यवहारनय से आत्मा कर्मों का कर्त्ता तथा उनके फल का भोक्ता कहलाता है, निश्चय की दृष्टि से न कर्त्ता है न भोक्ता है।।३८७।३८९।।

आगे निखिल कर्मफलों का त्याग करने से आत्मा चैतन्यत्त्व को प्राप्त होता है यह दिखाने के लिये कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

नि:शेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता।।२३०।।

अर्थ– इस प्रकार समस्त कर्मों के फल का परित्याग करने से जिसकी अन्य समस्त क्रियाओं सम्बन्धी विहार से वृत्ति दूर हट गई है तथा जो स्वरूप में अचल है, ऐसी मेरी यह अनन्तकाल की परम्परा अतिशयरूप से चैतन्यलक्षणवाले आत्मतत्त्व की उपासना करते हुए ही व्यतीत हो।

भावार्थ– जब ज्ञानी जीव पूर्वोक्त प्रकार से समस्त कर्मफलों का त्याग कर चुकता है तब उसकी कर्मोदय से जायमान अन्य क्रियाओं सम्बन्धी उपभोग से वृत्ति स्वयं हट जाती है तथा वह स्वकीय स्वरूप में निश्चल हो जाता है। उस दशा में उसकी चैतन्य लक्षण वाले आत्मतत्त्व पर ही दृष्टि रुकती है। उसी की उसे बार-बार अनुभूति होती है और उस अनुभूति में वह ऐसा अद्भुत आनन्द निमग्न होता है कि उसकी ऐसी भावना होने लगती है कि मेरा अनन्तकाल इसी आत्मतत्त्व की उपासना करते-करते ही व्यतीत हो, एकक्षण के लिये भी मेरा उपयोग अन्य विषयों में न जावे।।२३०।।

वसन्ततिलकाछन्द

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः।।२३१।।

अर्थ– जो निश्चय से आत्मस्वरूप में तृप्त होता हुआ पूर्वकाल के अज्ञानमय भावों से किये हुए कर्मरूपी विषवृक्षों के फलों को नहीं भोगता है अर्थात् उन फलों का स्वामी नहीं होता है वह तत्काल में रमणीय और भविष्यत्काल में रमणीय, कर्मों से रहित स्वाधीन सुखरूप अन्य अवस्था को जो आज तक संसार में प्राप्त नहीं हुई, ऐसी मोक्ष अवस्था को प्राप्त होता है।

भावार्थ– ज्ञानी मनुष्य अपने चैतन्यस्वरूप में ही संतुष्ट रहता है, इसलिये पूर्व अवस्था में अज्ञानमय भावों से बाँधे हुए कर्मों का जो उसे पुल प्राप्त होता है उससे वह पूर्ण उदासीन रहता है, उस फल के प्रति उसके हृदय में कुछ भी स्वामित्व नहीं रहता है। इस स्वरूप संतोष का उसे फल यह प्राप्त होता है कि वह कर्म से रहित स्वाधीन सुख से तन्मय ऐसी मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है, जो कि तत्काल में रमणीय है और आगामी अनन्तकाल में भी रमणीय ही रहेगी।।२३१।।

अब ज्ञानीजन अज्ञानचेतना को नष्ट कर ज्ञान चेतना को पूर्ण करते हुए सदा शान्त रस का पान करें, ऐसी भावना आचार्य प्रकट करते हैं—

स्रग्धराछन्द

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तुः।।२३२।।

अर्थ– ज्ञानीजन कर्म और उसके फल से निरन्तर अत्यन्त विरक्ति की भावना को पाकर, सम्पूर्ण अज्ञानचेतना का स्पष्ट ही नाश कर, निज रस को प्राप्त स्वभाव को पूर्ण कर स्वकीय ज्ञान चेतना को बड़े आनन्द के साथ नाचते हुए इस समय से लेकर आगे निरन्तर प्रशमरस का पान करें।

भावार्थ– अज्ञानचेतना और ज्ञान चेतना के भेद से चेतना दो प्रकार की है। उसमें अज्ञानचेतना के कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ऐसे दो भेद हैं। अज्ञानी जीव स्वरूप से च्युत हो अनादिकाल से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की ही भावना करते हुए निरन्तर अशान्ति का अनुभव करते आ रहे हैं। ज्ञानचेतना की ओर उनका किञ्चिन्मात्र भी लक्ष्य नहीं जाता। इसीलिये परमदयालु अमृतचन्द्र स्वामी करुणाभाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से आकांक्षा प्रकट करते हैं कि संसार के प्राणी कर्म और कर्मफल से अत्यन्त विरक्त हों, अज्ञानचेतना को समूल नष्ट करें और आत्मीय रस से युक्त स्वभाव को पूर्णरूप से प्राप्त कर अपनी ज्ञानचेतना को बड़े उल्लास के साथ प्रकट करें और उसके फलस्वरूप लोकोत्तर शान्त रस का सदाकाल पान करें।।२३२।।

अब आगे एक निराकुल ज्ञान ही शेष रहता है, यह दिखाने के लिये कलशा कहते हैं—

वंशस्थछन्द

इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्
विनाकृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ।।२३३।।

अर्थ– अब इसके आगे पदार्थ समूह के आलम्बन से होनेवाली आकृति के बिना जो एकरूपता को प्राप्त है, आकुलता रहित है, देदीप्यमान है और समस्त वस्तुओं के भिन्नत्व के निश्चय से जो पृथक् किया गया है ऐसा ज्ञान ही यहाँ अवस्थित रहता है।

भावार्थ– 'यह घटज्ञान है' 'यह पटज्ञान है' इस तरह पदार्थसमूह के आलम्बन से जो ज्ञान पहले नानाज्ञेयों के आकार होने से नाना आकृतियों को धारण करता हुआ अनेकरूप अनुभव में आता था, अब अज्ञानचेतना के नष्ट हो जाने के अनन्तर वह ज्ञान, ज्ञेय के आकार का विकल्प हट जाने से एकरूप हो जाता है, पहले जो ज्ञान मोहविपाक से जायमान रागादि विकारों से संपृक्त होने के कारण आकुलता का उत्पादक था, पर अब वह मोहजन्य विकारों का संपर्क छूट जाने से आकुलता से रहित हो जाता है। पहले जो ज्ञान क्षायोपशमिक अवस्था में ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उदयानुसार उदयास्त को प्राप्त होता था—हीनाधिक अवस्था को प्राप्त होता था, परन्तु अब वह ज्ञानावरण का क्षय हो जाने से सदा दैदीप्यमान रहता है। पहले जो ज्ञान ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के कारण ज्ञेयरूपता को प्राप्त था, पर अब सब पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा निश्चय हो जाने के कारण सबसे पृथक् अनुभव में आता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानचेतना के फलस्वरूप अन्त में ऐसा ज्ञान ही अवस्थित रहता है जिससे अन्य ओर से ज्ञानी का उपयोग हट जाता है।।२३३।।

आगे शास्त्र आदि से ज्ञान भिन्न है, यह वर्णन करने के लिये गाथाएँ कहते हैं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति।।३९०।।
सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति।।३९१।।
रूवं णाणं ण हवइ जह्मा रूवं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति।।३९२।।
वण्णो णाणं ण हवइ जह्मा वण्णो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति।।३९३।।
गंधो णाणं ण हवइ जह्मा गंधो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति।।३९४।।
ण रसो दु हवदि णाणं जह्मा दु रसो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं रसं दु अण्णं जिणा विंति।।३९५।।
फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति।।३९६।।
कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति।।३९७।।
धम्मो णाणं ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति।।३९८।।
णाणमधम्मो ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति।।३९९।।
कालो णाणं ण हवइ जह्मा कालो ण याणए किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति।।४००।।
आयासं पि ण णाणं जह्मायासं ण याणए किंचि।
तह्मायास अण्णं अण्णं णाण जिणा विंति।।४०१।।
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जह्मा।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।।४०२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जह्मा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठि दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा।।४०४।।

(पञ्चदशकम्)

अर्थ– शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता है, इससे ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है, ऐसा जिन भगवान् जानते हैं।

शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ नहीं जानता है, इससे ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं।

रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप किंचिन्मात्र भी नहीं जानता है, इससे ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् जानते हैं।

वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ नहीं जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है, ऐसा जिनेन्द्र प्रभु जानते हैं।

गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध कुछ भी नहीं जानता है, इसीलिये ज्ञान अन्य और गन्ध अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव जानते हैं।

रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस कुछ भी नहीं जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और रस अन्य है, ऐसा जिनस्वामी जानते हैं।

स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ भी नहीं जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है, ऐसा भगवान् केवली जानते हैं।

कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ भी नहीं जानता है, इसलिये ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है, ऐसा भी जिनेश जानते हैं।

धर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म अस्तिकाय कुछ भी नहीं जानता है, इसीसे धर्म अस्तिकाय अन्य है और ज्ञान अन्य है, ऐसा अनन्तज्ञानी जानते हैं।

अधर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मास्तिकाय कुछ भी नहीं जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और अधर्मास्तिकाय अन्य है, ऐसा सर्वज्ञदेव जानते हैं।

काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ भी नहीं जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और काल अन्य है, ऐसा सकलपरमात्मा जानते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ भी नहीं जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है, ऐसा जिनेन्द्र जानते हैं।

अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान कुछ भी नहीं जानता है, इसीसे ज्ञान अन्य है और अध्यवसान अन्य है, ऐसा सर्वज्ञ परमेष्ठी जानते हैं।

यत: जीव नित्य जानता है ही इसलिये वह ज्ञायक तथा ज्ञानी है। ज्ञान ज्ञायक से अभिन्न है, ऐसा जानना चाहिये।

और ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अङ्गपूर्वगतसूत्र है, तथा ज्ञान, धर्म, अधर्म और प्रव्रज्या है ऐसा पण्डित लोग स्वीकार करते हैं।

विशेषार्थ– द्रव्यश्रुत ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, इसलिये द्रव्यश्रुत और ज्ञान में भिन्नता है। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, इसीसे शब्द और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, अत: ज्ञान और रूप में परस्पर भिन्नता है। वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, अत: ज्ञान और वर्ण भिन्न-भिन्न है। गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, अत: ज्ञान और गन्ध में भेद है। रस ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, इसलिये ज्ञान और रस में भिन्नता है। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, इसीसे ज्ञान और स्पर्श भिन्न-भिन्न हैं। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, इसीसे ज्ञान और कर्म में व्यतिरेक है। धर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, इसलिये ज्ञान और धर्मद्रव्य में भिन्नता है। अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, इसलिये ज्ञान और अधर्मद्रव्य में पृथक्पन है। काल ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है इससे ज्ञान और काल भिन्न-भिन्न हैं। आकाश ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, इसलिये ज्ञान और आकाश पृथक्-पृथक् हैं। अध्यवसानभाव ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है, इससे ज्ञान और अध्यवसानभाव भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ निश्चय से सिद्ध किया हुआ भेद देखने योग्य है। इस प्रकार शास्त्र आदि के साथ ज्ञान की भिन्नता दरशा कर अब जीव के साथ उसकी अभिन्नता दिखाते हैं—

केवल जीव ही एक ज्ञान है क्योंकि वह चेतन है इसलिये ज्ञान और जीव में अभेद है। जीव स्वयं ज्ञानरूप है इसलिये ज्ञान और जीव में कोई भेद है, ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिये क्योंकि उन दोनों में गुणगुणी का भेद होने पर भी नित्य तादात्म्य रहता है। ऐसा होने पर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म है, और ज्ञान ही प्रवज्या है। इस तरह ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ निश्चय से सिद्ध किया हुआ अभेद द्रष्टव्य है—देखने योग्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। इस प्रकार समस्त परद्रव्यों से भिन्नपन तथा समस्त दर्शन ज्ञानादि जीव स्वभाव से अभिन्नपन के कारण जो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों का परिहार कर रहा है, तथा अनादि विभ्रम जिसका मूलकारण है ऐसे पुण्य-पापरूप परसमय का त्याग कर जो स्वयमेव प्रव्रज्या को धारण करता हुआ दर्शनज्ञान चारित्र में स्थिर होने रूप स्वसमय को प्राप्त हुआ है, जिसने मोक्षमार्ग को अपने आप में परिणत किया है, सम्पूर्ण निज्ञानघनभाव को जिसने प्राप्त किया है, जो ग्रहण और त्याग के विकल्प से शून्य है तथा साक्षात् समयसारभूत हैं, ऐसा परमार्थ रूप एक शुद्ध ज्ञान ही स्थित रह जाता है, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ– यहाँ परद्रव्यों से भिन्न और अपने स्वरूप से अभिन्न आत्मा का स्वभाव ज्ञान दिखाया है। इससे न तो अतिव्याप्ति है और न सव्याप्ति है क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है, उपयोग ज्ञानदर्शनस्वरूप ही है, यह अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता, इससे अतिव्याप्ति नहीं, है और आत्मा की सर्व अवस्था में पाया जाता है, इससे अव्याप्ति भी नहीं है। यहाँ पर ज्ञान कहने से आत्मा ही जानना चाहिये क्योंकि अभेददृष्टि से गुणगुणी में भिन्नदेशता नहीं होती। यहाँ पर ज्ञान को ही मुख्य कहा है, उसका यह तात्पर्य है कि आत्मा अनन्तधर्मात्मक है, उनमें कोई धर्म तो हमारे अनुभव में ही नहीं आते, अत: उनके द्वारा आत्मा को जानना असम्भव है और कोई अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्वादि अनुभवगोचर भी हैं। परन्तु वे अजीवादि द्रव्य साधारणहोने से अतिव्याप्तिरूप हैं उनसे भी आत्मा का परिचय होना कठिन है। कोई भाव परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, जैसे रागादिक। ये भाव अव्याप्तरूप हैं, अत: उनसे भी आत्मा का ज्ञान होना असंभव है तथा कोई भाव कर्म के क्षय से होते हैं, जैसे केवलज्ञानादि। यह भाव यद्यपि असाधारण हैं तथापि सर्व अवस्थाओं में न रहने से अव्याप्त हैं। अतएव केवलज्ञानादि पर्यायों के द्वारा आत्मा का निर्णय करना अशक्य है। इसी तरह क्षायोपशमिक भाव भी आत्मा के निर्णायक नहीं हैं क्योंकि ये भाव भी आत्मा की सर्व अवस्थाओं में नहीं रहते। अत: सामान्यरूप से उपयोग ही आत्मा का लक्षण है, यही सब अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहता है, अत: यही लक्षण आत्मा का इतर पदार्थों से भेद कराता है क्योंकि यह आत्मा की सब अवस्थाओं में व्यापक है। इस ज्ञान में अनादि काल से मिथ्यात्व तथा रागादिक परिणाम के योग से शुभाशुभ प्रवृत्ति का सद्भाव चला आ रहा है, उसे निजस्वरूप की श्रद्धा के बल से दूर कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय स्व-समयरूप जो मोक्षमार्ग है उसमें अपनी आत्मा को लीन कर जब ज्ञान की शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है तब आत्मा कृतकृत्य हो जाता है, त्याग और ग्रहण का वहाँ विचार ही नहीं होता, ऐसा साक्षात् समयसाररूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्णज्ञान ही परमार्थ से शुद्ध है, यही आत्मा की साक्षात् प्राप्ति है, उसी को देखना-जानना और आचरण में लाना चाहिये।

आत्मा का यह देखना आदि तीन प्रकार से होता है—एक तो जब आत्मा में मिथ्यात्व का अभाव होता है तब उसकी श्रद्धा परोक्षज्ञान तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से आंशिक स्वरूपचर्या की उद्भूति रूप होती है और तभी से यह आत्मा चरणानुयोगशास्त्र की पद्धति से मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी होता है। दूसरा प्रकार यह है कि ज्ञान-श्रद्धान होने के अनन्तर निखिल परिग्रह का त्याग कर इसी तत्त्व का अभ्यास करना, अपने उपयोग को निखिल पदार्थों से हटा कर आपमें ही स्थिर करना। इसका यह तात्पर्य है कि ज्ञान में कोई भी ज्ञेय आवे, राग-द्वेष से उसकी रक्षा करना। अर्हद्भक्ति में अर्हन्त भावना के गुणों का विचार होता है और स्वाध्याय के समय भी अर्हन्त परमेष्ठी के गुणों का विचार होता है परन्तु अर्हद्भक्ति बन्ध का कारण है और स्वाध्याय निर्जरा का कारण होता है। यह अन्तर रागांश के सद्भाव और असद्भाव से ही पड़ता है अत: उपयोग किसी ज्ञेय में जावे, उसमें राग-द्वेष न होना ही महत्त्वपद की जड़ है। यहाँ पर ज्ञान की मुख्यता का कथन है सो जैसा शुद्धनय के द्वारा आत्मस्वरूप को सिद्ध समान जान श्रद्धान किया था, वैसा ही ध्यान में लाकर चित्त को स्थिर करना और निरन्तर इसी का अभ्यास करना चाहिये। यह देखना अप्रमत्त दशा में होता है। इसलिये केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त ऐसा अभ्यास करना चाहिये। तीसरा प्रकार यह है कि शुक्लध्यान के द्वारा घातिचतुष्क का क्षय कर जब केवलज्ञान प्राप्त होता है तब जिस आत्मा का पहले परोक्षरूप से भान होता था वही अब साक्षात् भासमान होने लगता है, यही पूर्णज्ञान का देखना है और जो ज्ञान है वही आत्मा है। अभेदविवक्षा में आत्मा कहो या ज्ञान कहो, एक ही है, कोई विरोध नहीं है।।३९०।४०४।।

अब यही भाव कलशा में व्यक्त करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुर:
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति।।२३४।।

अर्थ— जो अन्य पदार्थों से भिन्न है, आत्मस्वरूप में निश्चल है, पृथक् वस्तुपन को धारण कर रहा है, ग्रहण और त्याग के विकल्प से शून्य है तथा निर्मल है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा यह ज्ञान उस तरह अवस्थित होता है जिस तरह कि मध्य, आदि और अन्त के विभाग से रहित स्वाभाविक सातिशय प्रभाव से देदीप्यमान और शुद्ध ज्ञान से सान्द्र इसकी महिमा नित्य उदित रहती है।

भावार्थ-- अन्त में आत्मा जिस ज्ञानरूप होकर अवस्थित रहता है वह कैसा है? इसकी चर्चा इस काव्य में की गई है—वह ज्ञान, शास्त्र, रूप, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श तथा धर्मास्तिकाय आदि अन्य पदार्थों से भिन्न है, आत्मस्वरूप में नियत है अर्थात् योग और कषाय के कारण पहले जो उसकी चञ्चलता रहती थी वह समाप्त हो जाती है, वह पृथग् वस्तुता को धारण करता है अर्थात् ज्ञेयों से मिश्रित होने पर भी उनसे पृथक् अपना अस्तित्व रखता है। पहले मोह के उदय से ज्ञान में ग्रहण और त्याग के विकल्प उठा करते थे, परन्तु अब मोह का अभाव हो जाने पर उसमें वे विकल्प अस्तमित हो जाते हैं। पहले रागादिक के संपर्क से ज्ञान में जो मलिनता थी अथवा क्षायोपशमिक अवस्था के कारण पूर्ण स्पष्टता नहीं थी, अब उसका अभाव हो जाने से वह ज्ञान पूर्ण निर्मल हो जाता है। पहले यह ज्ञान बाह्य साधन सापेक्ष होने के कारण उपजता और तिरोहित होता रहता था, इसलिये आदि मध्य और अन्त से सहित था। परन्तु अब बाह्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण सर्वदा प्रकाशमान रहता है, इसलिये उसमें आदि, मध्य और अन्त का कुछ भी विकल्प नहीं रहता। रागादिक का सर्वथा क्षय हो जाने से उसकी शुद्धता कभी नष्ट होनेवाली नहीं, इसलिये वह शुद्ध ज्ञान से घन है तथा पहले ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अधीन रहने से मेघमाला के मध्य स्थित विद्युत् के समान प्रकट होता और फिर तिरोहित हो जाता था। परन्तु अब ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय हो जाने से नित्य उदयरूप रहता है अर्थात् उसका अन्त कभी नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा केवलज्ञान रूप से अवस्थित रहता है।।२३४।।

अब आत्म की कृतकृत्यदशा का वर्णन करते हुए कलशा कहते हैं—

उपजातिछन्द

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्

तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।

यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः

पूर्णस्य संधारणमात्मनीह।।२३५।।

अर्थ– जिसने रागादि विभावरूप परिणमन करने वाली सर्व शक्तियों का संकोच कर लिया है तथा केवलज्ञानादि गुणों के पूर्ण हो जाने से जो पूर्णता को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त हो चुका है ऐसे आत्मा को जो आत्मा में ही—अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप में ही समीचीनरूप से धारण करना है वही इसमें जो कुछ छोड़ने योग्य था उसे सम्पूर्णरूप से छोड़ दिया और जो ग्रहण करने योग्य था उसे सम्पूर्णरूप से ग्रहण कर लिया।

भावार्थ– जिस काल में आत्मा सब ओर से अपनी शक्तियों का संकोच कर अपने ही स्वरूप में लय हो जाता है उस काल में जो त्यागने योग्य था वह सब विशेषरूप से त्याग दिया और जो ग्रहण करने योग्य था वह सब ग्रहण कर लिया। अब आत्मा को न कुछ छोड़ना शेष है और न कुछ ग्रहण करना अवशिष्ट है, इसलिये आत्मा कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त होता है।।२३५।।

अब यह ज्ञान देहरहित है, यह दिखाने के लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते।।२३६।।

अर्थ– इस प्रकार ज्ञान जब परद्रव्य से पृथक् अवस्थित है तब वह आहारककर्म और नोकर्म को ग्रहण करनेवाला कैसे हो सकता है, जिससे इसके देह की शङ्का की जा सके।

भावार्थ– देह पुद्गल का कार्य है, ज्ञान का नहीं, अतः ज्ञान के देह है, ऐसी आशंका ही नहीं करना चाहिये।।२३६।।

आगे यही भाव गाथाओं में कहते हैं–

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ उ।।४०५।।
ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परदव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि।।४०६।।
तह्मा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णे विमुंचइ किंचि वि जीवाजीवाणं दव्वाणं।।४०७।।

(त्रिकलम्)

अर्थ– इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है वह निश्चय से आहारक नहीं है क्योंकि आहार मूर्तिक है तथा पुद्गलमय है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो परद्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है सो वह आत्मा का कोई प्रायोगिक अथवा स्वाभाविक गुण है।

इसलिये जो विशुद्ध चेतयिता है वह जीवाजीव द्रव्यों में न तो कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता ही है।

विशेषार्थ– ज्ञान नामक जो गुण है वह न तो परद्रव्य को किञ्चितन्मात्र ग्रहण करता है और न परवस्तु को किञ्चिन्मात्र त्यागता है क्योंकि उसमें प्रयोगिक अथवा वैस्रसिक-स्वाभाविक गुण का ऐसा ही समर्थ्य है। उस सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य न ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है। अमूर्त आत्मप्रत्ययरूप जो ज्ञान है उसका परद्रव्य आहार नहीं हो सकता, क्योंकि आहार मूर्तपुद्गलद्रव्य रूप है। इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है, अतएव ज्ञान के देह है, ऐसी शङ्का नहीं करना चाहिये।।४०५-४०७।।

अब आगामी गाथाओं की अवतणिका रूप कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम्।।२३७।।

अर्थ– इस तरह जब शुद्ध ज्ञान के देह ही नहीं है तब देहरूप जो लिङ्ग है वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं हो सकता।।२३७।।

अब यही भाव गाथाओं में कहते हैं—

पाखडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति।।४०८।।
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरिताणि सेयंति।।४०९।।

(युग्मम्)

अर्थ– मुनिलिङ्ग अथवा बहुत प्रकार के गृहस्थलिङ्गों को ग्रहण कर अज्ञानी जन कहते हैं कि यह लिङ्ग मोक्षमार्ग है, परन्तु लिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि शरीर से ममत्व रहित अरहंतदेव लिङ्ग को छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– कितने ही जन अज्ञान से द्रव्यलिङ्ग को ही मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्य लिङ्ग को ही ग्रहण करते हैं, सो वह मानना संगत नहीं है क्योंकि समस्त भगवान् अरहन्तदेवों ने शुद्ध ज्ञान से तन्मय होने के कारण द्रव्यलिङ्ग के आश्रयभूत शरीर से ममकार का त्याग किया है तथा शरीराश्रित द्रव्यलिङ्ग भिन्न आत्मस्थित दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ही मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है।।४०८।४०९।।

अनन्तर इसी को सिद्ध करते हैं–

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ।।४१०।।

अर्थ– जो मुनि और गृहस्थरूप लिङ्ग हैं वे मोक्षमार्ग नहीं हैं क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् दर्शन, ज्ञान और चारित्र को ही मोक्षमार्ग कहते हैं।

विशेषार्थ– निश्चय से द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि शरीराश्रित होने से वह परद्रव्य है। इसलिये र्दान-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है क्योंकि आत्माश्रित होने से वे स्वद्रव्य हैं। यहाँ पर द्रव्यलिङ्ग का मोह छुड़ाकर सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र में लगाने का उपदेश है। सो इसका आशय यह है कि द्रव्यलिङ्ग शरीराश्रित है उसी को कोई मोक्षमार्ग मान ले तथा आत्माश्रित जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र हैं उनकी ओर लक्ष्य न दे तो उसे वास्तविक वस्तुस्वरूप बतलाने के लिये आचार्य महाराज का उपदेश है कि द्रव्यलिङ्ग के ममकार को त्यागकर आत्माश्रितगुणों का सेवन करो, वही मोक्षमार्ग है। कुछ देशव्रत और महाव्रत के छुड़ाने का उपदेश नहीं है क्योंकि बिना मुनिलिङ्ग धारण किये मोक्ष की प्राप्ति शक्य नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि यावती प्रवृत्ति है वह बन्ध का कारण है अत: ज्ञानी जीव देशव्रत तथा महाव्रत पालते हैं और उनके निर्दोष पालने का यत्न भी करते हैं। परन्तु उस प्रवृत्ति को बन्धमार्ग ही समझते हैं, मोक्षमार्ग नहीं।।४१०।।

फिर भी इसी अर्थ को दृढ़ करने का उपदेश है–

तह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे।।४११।।

अर्थ– इसलिये गृहस्थ—प्रतिमाधारियों और गृहत्यागी—मुनियों के द्वारा गृहीत लिङ्गों को छोड़कर आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में युक्त करो। ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ– यत: द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है इसलिये सभी द्रव्यलिङ्गों से व्यामोह को छोड़कर दर्शनज्ञानचारित्र में ही आत्मा को लगाना चाहिये, क्योंकि यही मोक्षमार्ग है यह जिनागम की आज्ञा है।

अब दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है, यह कलशा में दिखाते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मन:।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा।।२३८।।

अर्थ– दर्शन, ज्ञान ओर चारित्र इन तीनरूप ही आत्म का तत्त्व है, यही मोक्षमार्ग है, इसलिये मोक्ष के अभिलाषी पुरुष के द्वारा यही एक मार्ग सदा सेवन करने योग्य है।।२३८।।

आगे इसी मोक्षमार्ग में आत्मा को लगाओ, ऐसा उपदेश करते हैं–

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहरणिच्चं मा विहरसु अण्ण दविएसु।।४१२।।

अर्थ– उसी मोक्षमार्ग में आत्मा को लगाओ, उसी का ध्यान करो, उसी में नित्य विहार करो, अन्यद्रव्यों में विहार न करो।

विशेषार्थ– आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे भव्य! यद्यपि यह आत्मा अनादिकाल से अपनी बुद्धि के दोष से राग-द्वेष के वशीभूत होकर प्रवृत्त हो रहा है तो भी अपनी ही बुद्धि के गुण से उस आत्मा को वहाँ से निवृत्त कर दर्शनज्ञानचारित्र में नित्य ही अत्यन्त निश्चलरूप से स्थापित करो तथा अन्य पदार्थ सम्बन्धी चिन्ताओं को त्यागकर अत्यन्त एकाग्र हो दर्शन ज्ञानचारित्र का ही ध्यान करो। तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफल चेतना का त्याग कर शुद्ध ज्ञानचेतनामय दर्शनज्ञानचारित्र का ही अनुभव करो। तथा द्रव्यस्वभाव के वश से प्रत्येक क्षण में बढ़ते हुए परिणामपन से तन्मय परिणाम होकर दर्शनज्ञानचारित्र में ही विहार करो तथा एक निश्चल ज्ञानस्वरूप का ही अवलम्बन ज्ञेयरूप उपाधि के कारण सभी ओर से दौड़कर आते हुए सभी परद्रव्यों में किञ्चिन्मात्र भी विहार मत करो।।४१२।।

आगे यही भाव कलशा में दर्शाते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति।।२३९।।

अर्थ– जो यह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र स्वरूप एक मोक्ष मार्ग निश्चित है उसी में जो पुरुष स्थिति को प्राप्त होता है, उसी का निरन्तर चित्त में ध्यान करता है, और अन्य द्रव्यों का स्पर्शन न करता हुआ उसी में निरन्तर विहार करता है वह अवश्य ही नित्य उदित रहनेवाले समयसार को आत्मा की शुद्ध परिणति रूप मोक्ष को शीघ्र ही प्राप्त होता है।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रय की जो एकता है वह मोक्ष का निश्चित एक ही मार्ग है, इसके अतिरिक्त अन्य मार्गों से मोक्ष की प्राप्ति अशक्य है। इसलिये जो इसी मोक्षमार्ग में स्थित है, इसीका रातदिन अपने हृदय में ध्यान करता है तथा अन्य द्रव्यों को अपने उपयोग का विषय न बनाकर इसी रत्नत्रय को तथा उसके आधारभूत जीवद्रव्य को ही अपने उपयोग का विषय बनाता है वह नियम से शीघ्र ही जिसका नित्य उदय रहता है ऐसे समयसार को प्राप्त होता है। व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय का साधक होने से मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चय से रहित मात्र व्यवहाररत्नत्रय से मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ है।।२३९।।

अब जो मात्र व्यवहारमार्ग का आश्रय करते हैं वे समयसार के दर्शन से वञ्चित रहते हैं, यह भाव कलशा में प्रकट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते।।२४०।।

अर्थ– और तत्त्वज्ञान से च्युत हुए जो पुरुष इस निश्चय मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहार मोक्षमार्ग में प्रस्थान करने वाले अपने आपके द्वारा मात्र द्रव्यलिङ्ग में ममता को धारण करते हैं अर्थात् उसे ही मोक्षमार्ग मानते हैं वे उस निर्मल समयसार का आज भी अवलोकन नहीं कर रहे हैं जो नित्य उदयरूप है, अखण्ड हैं, एक है, अनुपम प्रकाश से युक्त है तथा स्वभाव की प्रभा का प्राग्भार है।

भावार्थ– आत्मा की शुद्ध परिणति को समयसार कहते हैं, इसी को परमात्मपद कहते हैं, यह समयसार निरन्तर उदयरूप रहता है अर्थात् एकबार प्राप्त होने पर फिर कभी भी नष्ट नहीं होता, और जो अखण्ड है अर्थात् गुणगुणी के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भेद से रहित है, द्रव्यदृष्टि होने से एक है, केवलज्ञान रूप ऐसे प्रकाश से सहित है जिसकी सूर्य, चन्द्रमा आदि के प्रकाश से कभी तुलना नहीं कर सकते, ज्ञान-दर्शनरूप जो आत्मा का स्वभाव है उसी के पूर्ण विकास से सहित है तथा रागादिक का अभाव हो जाने से निर्मल है ऐसे समयसार के दर्शन उन पुरुषों को आज भी दुर्लभ हैं जो मात्र व्यवहारमार्ग में चलकर केवल द्रव्यलिंग में ही ममताभाव रखते हैं—उसीको मोक्षमार्ग मानते हैं। वास्तव में ऐसे पुरुष तत्त्वज्ञान से रहित है, इसीलिये वे इस संसार में अनन्तबार मुनिपद धारण करके भी संसार के ही पात्र बने रहते हैं।।२४०।।

आगे यही अर्थ गाथा में कहते हैं–

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति ज ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं।।४१३।।

अर्थ– जो मुनियों के लिङ्ग में तथा नानाप्रकार के गृहस्थों के लिङ्ग में ममता करते हैं उन्होंने समयसार को नहीं जाना है।

विशेषार्थ– निश्चय से जो पुरुष 'मैं श्रमण हूँ' अथवा 'श्रमणों का उपासक हूँ' इस प्रकार द्रव्यलिङ्ग की ममता से मिथ्या अहंकार करते हैं वे अनादिकाल से चले आये व्यवहार में विमूढ हैं तथा उत्कृष्ट भेदज्ञान से युक्त निश्चय को अप्राप्त हैं ऐसे जीव परमार्थ सत्यरूप भगवान् समयसार को नहीं देखते हैं।

भावार्थ– जो पुरुष मुनिवेष अथवा गृहस्थों के नानाप्रकार के वेष को धारण कर यह मानते हैं कि मैं मुनि हूँ अथवा ऐलक, क्षुल्लक आदि हूँ तथा मेरा यही वेष मुझे मोक्ष की प्राप्ति करा देनेवाला है, इस प्रकार मात्र व्यवहार में मूढ़ रहकर निश्चय मोक्षमार्ग की ओर लक्ष्य नहीं देते। आचार्य कहते हैं कि ऐसे पुरुषों ने समयसार को जाना भी नहीं है, उसकी प्राप्ति होना तो दुर्लभ ही है।।४१३।।

आगे यही भाव कलशा में प्रकट करते हैं—

वियोगिनीछन्द

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्।।२४१।।

अर्थ– जिनकी बुद्धि व्यवहार में ही विमूढ है ऐसे मनुष्य परमार्थ को नहीं प्राप्त करते हैं क्योंकि जिनकी बुद्धि तुषज्ञान में ही विमुग्ध हो रही है ऐसे पुरुष इस संसार में तुष को ही प्राप्त करते हैं, चावल को नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ– यद्यपि तुष और चावल जबसे धान के पौधे में उत्पन्न हुए तभी से साथ-साथ हैं तो भी तुष पृथक् वस्तु है और उसके भीतर रहनेवाला चावल पृथक् वस्तु है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा अनादिकाल से साथ-साथ रहने से यद्यपि एक दिखते हैं तो भी शरीर अलग है और आत्मा अलग है। शरीर रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को लिये हुए पुद्गलद्रव्य की परिणति है और आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव को लिये हुए स्वतन्त्र जीवद्रव्य है। मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थलिङ्ग शरीर के परिणमन हैं और समयसार आत्मा की परिणति है। इस भेद-विज्ञान को न समझकर जो केवल शरीर की परिणति से समयसार को प्राप्त करना चाहते हैं वे समयसार के लाभ से वञ्चित रहते हैं। जैसे कोई तुष को ही सर्वस्व समझ मात्र उसी की संभाल में संलग्न रहे और उसके भीतर रहनेवाले चावल की ओर लक्ष्य न दे, तो वह तुष को ही प्राप्त करता है चावल को नहीं, वैसे ही जो शरीर को ही सर्वस्व समझ उसी की संभाल में संलग्न रहे तथा ज्ञान-दर्शनस्वभाव की ओर लक्ष्य न दे तो उसे शरीर की ही प्राप्ति होगी, आत्मा की नहीं, अर्थात् वह इसी संसार में बार-बार जन्म मरण का पात्र होता रहेगा।।२४१।।

स्वागताछन्द

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः।।२४२।।

अर्थ– द्रव्यलिङ्ग के ममकार से जिनके आभ्यन्तर नेत्र मुद्रित हो गये हैं उनके द्वारा समयसार नहीं देखा जाता है क्योंकि इस लोक में जो द्रव्यलिङ्ग है वह निश्चय से अन्याश्रित है और यह जो एक ज्ञान है वह निश्चय से स्वतः है अर्थात् स्वाश्रित है।

भावार्थ– जो मात्र द्रव्यलिङ्ग से मोक्ष मानते हैं वे अन्धे हैं। जैसे कोई चश्मा ही को देखने का उपकरण समझ आँख की परवाह न करे तो उसे नेत्रशक्ति के बिना पदार्थ अवलोकन नहीं होता वैसे ही कोई द्रव्यलिङ्ग को ही मोक्षप्राप्ति का साधक मान निश्चयरत्नत्रय की परवाह न करे तो उसे आभ्यन्तर की निर्मलता के बिना द्रव्यलिङ्ग से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।।२४२।।

आगे व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों से मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं–

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।४१४।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– व्यवहारनय, मुनिलिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग दोनों लिङ्गों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय सभी लिङ्गों को मोक्षमार्ग में नहीं चाहता है।

विशेषार्थ– निश्चय से श्रमण और श्रमणोपासक अर्थात् मुनि और श्रावक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग है यह जो कथन करने का प्रकार है वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं है क्योंकि व्यवहारनय स्वयं अशुद्ध द्रव्य के अनुभवनरूप है अतः उसमें परमार्थपन का अभाव है। और श्रमण तथा श्रमणोपासक के विकल्प से रहित, दर्शनज्ञानचारित्र की प्रवृत्तिमात्र शुद्ध ज्ञान ही एक है इस प्रकार का निस्तुष अर्थात् परद्रव्य से रहित जो अनुभव है वह निश्चयनय है, क्योंकि निश्चयनय ही स्वयं शुद्ध द्रव्य के अनुभवरूप होने से परमार्थ है। इसलिये जो व्यवहार का ही परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं वे समयसार का अनुभव ही नहीं करते और जो परमार्थ का—निश्चय का ही परमार्थबुद्धि से अनुभव करते हैं वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

भावार्थ– व्यवहारनय की अपेक्षा साक्षात् मुनिलिङ्ग और परम्परा से गृहस्थलिङ्ग मोक्षमार्ग है और निश्चयनय की अपेक्षा दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रवृत्तिरूप एक ज्ञान ही मोक्षमार्ग है।।४१४।।

आगे आचार्य एक परमार्थ के ही अनुभव करने का उपदेश देते हुए कलशा कहते हैं—

मालिनीछन्द

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति।।२४३।।

अर्थ– आचार्य कहते हैं कि बहुत कथन तथा बहुत प्रकार के दुर्विकल्पों से रुको, उनसे क्या प्रयोजन है? इस जगत् में निरन्तर इसी एक परमार्थ का चिन्तन किया जाय, क्योंकि निज रस के समूह से परिपूर्ण ज्ञान के विकासरूप समयसार से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है।

भावार्थ– आत्मा का जो ज्ञान मोह की उपाधि से कलङ्कित होकर परपदार्थ में निजत्व की कल्पना से दुःखी हो रहा था, जब उस उपाधि के अभाव से वह परमार्थरूप हो गया, इससे उत्तम और क्या होगा।।२४३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब ज्ञान पूर्णता को प्राप्त होता है, यह कलशा द्वारा प्रकट करते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ।।२४४।।

अर्थ– जो विकल्पातीत होने के कारण एक है, जगत् के पदार्थों को प्रकट करने के लिये नेत्रस्वरूप है, अविनाशी है, तथा जो विज्ञानघन और आनन्दमय आत्मा की प्रत्यक्षता को प्राप्त करा रहा है, ऐसा यह ज्ञान पूर्णता को प्राप्त होता है।

भावार्थ– विज्ञानघन तथा परमानन्दमय जो आत्मा है उसका प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञान के द्वारा ही होता है। यह ज्ञान विकल्पातीत होने से एक है तथा अविनाशी है और जगत् के पदार्थों को प्रकट करने के लिये चक्षुःस्वरूप है। ऐसा यह ज्ञानपूर्णता को प्राप्त होता है।।२४४।।

अब श्रीकुन्दकुन्दस्वामी समयप्राभृत को पूर्ण करते हुए उसके फल का प्रतिपादन करते हैं–

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ।।४१५।।

अर्थ– जो आत्मा इस समयप्राभृत को पढ़कर तथा अर्थ और तत्त्व से उसे अवगत कर इसके अर्थ में स्थिर होगा वह उत्तम सुखस्वरूप होगा।

विशेषार्थ– निश्चय से जो पुरुष समयसारभूत भगवान् परमात्मा का, जो कि विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय कहा जाता है, प्रतिपादन करने से शब्दब्रह्म के समान आचरण करनेवाले इस समयप्राभृत नामक शास्त्र को पढ़कर समस्त पदार्थों के प्रकाशन में समर्थ परमार्थभूत चैतन्यप्रकाशस्वरूप परमात्मा का निश्चय करता हुआ अर्थ और तत्त्व से इसे जानकर इसी के अर्थभूत एक, पूर्ण तथा विज्ञानघन परमब्रह्म में सम्पूर्ण आरम्भ के साथ अर्थात् पूर्ण प्रयत्न द्वारा स्थित होगा वह साक्षात् तथा उसी समय विकसित एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में अच्छी तरह स्थित तथा निराकुल आत्मस्वरूप होने से परमानन्दशब्द के वाच्य, उत्तम तथा अनाकुलता लक्षण से युक्त सुखस्वरूप स्वयं हो जावेगा।

भावार्थ– यह समयप्राभृत नामक शास्त्र, समय अर्थात् आत्मा की सारभूत अवस्था जो परमात्मपद है उसका प्रतिपादन करता है, इसलिये शब्दब्रह्म के समान है। इसका जो महानुभाव अच्छी तरह अध्ययन कर 'समस्त पदार्थों के प्रकाशन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करने में समर्थ परमार्थभूत चैतन्यप्रकाशमय परमात्मा है' ऐसा निश्चय करता हुआ इसी समयप्राभृत शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयभूत विज्ञानघन एक परमब्रह्म में अर्थात् शुद्धात्म-परिणति में पूर्ण उद्यम के साथ स्थित होता है अर्थात् उसी में अपना उपयोग स्थिर करेगा वह स्वयं निराकुल सुखस्वरूप होगा। इस तरह निराकुल सुख की प्राप्ति ही इस समयप्राभृत शास्त्र के अध्ययन का फल है। अतएव हे भव्यात्माओ! अपने कल्याण के अर्थ इस शास्त्र का अध्ययन करो, कराओ, सुनो, सुनाओ, मनन करो। इसी पद्धति से अविनाशी सुख के पात्र होओगे, ऐसा श्रीगुरु का उपदेश है।।४१५।।

अब ज्ञान ही आत्मा का तत्त्व है, यह बतलाने के लिये कलशा कहते हैं—

अनुष्टुप्छन्द

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमवस्थिम्।।२४५।।

अर्थ– इस प्रकार यह आत्मा का तत्त्व ज्ञानमात्र निश्चित हुआ। यह ज्ञान अखण्ड है, एक है, अचल है, स्वसंवेदन के योग्य है तथा अविनाशी है।

भावार्थ– आत्मा का निजरूप ज्ञानमात्र ही कहा है। आत्मा अनन्तधर्मों का पिण्ड है, उनमें कई धर्म तो साधारण और कितने ही असाधारण हैं। उन असाधारण धर्मों में भी कई ऐसे हैं जो सर्वसाधारण के गोचर नहीं हैं। चैतन्यसामान्य भी, दर्शनज्ञान पर्यायों के बिना अनुभव में नहीं आता। इन दर्शन-ज्ञान में भी जो ज्ञानगुण है वह साकार है और इसी की महिमा है क्योंकि यही सर्व पदार्थों की व्यवस्था योग्य रीति से करता है। इसी कारण मुख्यता से ज्ञानमात्र आत्मा को कहा है सो यही परमार्थ है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य गुण मिथ्या हैं। यदि कोई ज्ञान को ही मान अन्य को कुछ भी नहीं माने, जो कुछ है सो ज्ञान ही का विकार है ऐसे विज्ञानाद्वैतवादी अथवा ब्रह्मवादी की तरह श्रद्धा कर लेवे तो वह मुनिव्रत पालन करके भी मोक्ष का पात्र नहीं हो सकता है। मन्दकषाय से स्वर्ग चला जावे तो चला जावे, कुछ यथार्थ लाभ नहीं हुआ। इसलिये स्याद्वाद के द्वारा वस्तुतत्त्व को यथार्थ जानना चाहिये।।२४५।।

इस प्रकार कुन्दकुन्दस्वामी विरचित समयप्राभृत में सर्वविशुद्धज्ञान नामक नौवें अधिकार का प्रवचन पूर्ण हुआ।

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१०. स्याद्वादाधिकार

अनुष्टुप्

अथ स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति:।
उपायोपेयभावश्च मनाग् भूयोऽपि चिन्त्यते ।।२४६।।

अर्थ– अब स्याद्वाद की शुद्धि के लिये वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपायोयभाव का फिर भी कुछ विचार किया जाता है ।।२४६।।

निश्चय से स्याद्वाद, वस्तुतत्त्व को सिद्ध करनेवाला अर्हन्त भगवान् का एक अस्खलित शासन है, अर्थात् इसका कोई खण्डन नहीं कर सकता है। यह स्याद्वाद 'सम्पूर्ण पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं' ऐसा उपदेश देता है क्योंकि सभी वस्तुएँ अनेकान्तस्वभाववाली हैं। यद्यपि इस समयप्राभृतग्रन्थ में आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है तो भी इससे स्याद्वाद का कोप नहीं होता है अर्थात् स्याद्वाद की मान्यता में कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि ज्ञानमात्र जो आत्मा नामक वस्तु है वह स्वयं अनेकान्तरूप है। यहाँ जो वस्तु तत्रूप है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है। इस तरह एक ही वस्तु के वस्तुत्व को सिद्ध करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशन करना अनेकान्त है। आत्मा में इसी अनेकान्त की पद्धति से ऊपर कही हुई परस्पर विरुद्ध शक्तियों का समन्वय इस प्रकार होता है—

यही स्वकीय आत्मा नामक वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र है तथापि आभ्यन्तर में प्रकाशमान ज्ञान स्वरूप की अपेक्षा तो तत्रूप अर्थात् ज्ञानरूप है और बाहर में प्रकट होनेवाले अनन्तज्ञेयों, जो कि स्वरूप से अतिरिक्त परद्रव्य हैं, उनरूप न होने के कारण अतत्रूप भी है अर्थात् ज्ञानरूप नहीं है। यह आत्मा सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चेतन के अंशों के समुदायरूप अखण्ड द्रव्य की अपेक्षा एक है और अखण्ड एक द्रव्य में व्याप्त होकर रहनेवाले सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चेतन के अंशरूप पर्यायों की अपेक्षा अनेकरूप है। स्वकीय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के परिणमन की शक्तिरूप स्वभाव से युक्त होने के कारण सत्रूप है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अपरिणमन की शक्तिरूप स्वभाव से युक्त होने के कारण असत्रूप है। अनादिनिधन अविभागी एकवृत्तिरूप परिणत होने से नित्य है और क्रम-क्रम से एक-एक समय में प्रवर्तनेवाले अनेक पर्यायांशों में परिणत होने से अनित्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह आत्मा में तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, तथा नित्य-अनित्यरूप परस्पर विरोधी धर्मों का पुञ्ज प्रकाशमान होता ही है।

यहाँ कोई आशङ्का करता है कि आत्मवस्तु के ज्ञानमात्र होने पर भी यदि स्वयं ही अनेकान्त प्रकाशमान रहता है तो फिर अर्हन्त भगवान् के द्वारा उस ज्ञानमात्र की सिद्धि के लिये अनेकान्त का उपेदश किसलिये दिया जाता है? इस आशङ्का का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी जीवों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की सिद्धि के अर्हन्त भगवान् के द्वारा अनेकान्त का उपदेश दिया जाता है, हम ऐसा कहते हैं, क्योंकि अनेकान्त के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होती। उसी को स्पष्ट करते हैं---

स्वभाव से ही अनेकभावों से भरे हुए विश्व में सब भावों के स्वभाव से अद्वैतपन होने पर द्वैतपन का निषेध नहीं किया जा सकता, इसलिये समस्त वस्तुएँ स्वभाव में प्रवृत्ति और परभाव से व्यावृत्ति रूप होने के कारण दो भावों से युक्त हैं, ऐसा नियम है उन सर्व वस्तुओं में जब यह ज्ञानमात्रभाव अर्थात् आत्मा, शेषभावों के साथ निजरसके भार से प्रवर्तित ज्ञातृ-ज्ञेय-सम्बन्ध के कारण अनादिकाल से ज्ञेयरूप परिणमन होने से ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है तब स्वरूप से तत्त्व अर्थात् ज्ञानरूपता को प्रकट करके ज्ञातारूप से परिणमन के कारण उसे ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही उसका उद्धार करता है--- उसे उज्जीवित करता है—नष्ट होने से बचाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी दर्पण में सम्मुख स्थित मयूर का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और उस प्रतिबिम्ब के कारण दर्पण मयूर रूप ही दिख रहा है। यहाँ प्रतिबिम्ब की अपेक्षा कोई दर्पण को 'यह मयूर है' ऐसा कहता है तो इसके इस कथन में दर्पण का अभाव प्रकट होता है। उसी प्रकार स्वच्छता के कारण ज्ञानमात्र आत्मा में अनादिकाल से ज्ञेयों के आकार प्रतिबिम्बित हो रहे हैं और उन प्रतिबिम्बों के कारण ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञेयाकार जान पड़ता है। यहाँ ज्ञेयाकार परिणति के कारण कोई ज्ञानमात्र आत्मा को 'यह अमुक ज्ञेय है' ऐसा कहता है, तो इस कथन में आत्मा का अभाव प्रकट होता है। परन्तु अनेकान्त आकर कहता है—नहीं भाई! यह मयूर नहीं है किन्तु दर्पण है, स्वच्छता के कारण इसमें मयूर का प्रतिबिम्बमात्र पड़ रहा है, इस प्रतिबिम्ब की अपेक्षा इसे मयूर भले ही कहते रहो, परन्तु दर्पणपन का नाश नहीं हो सकता, दर्पण ही है। इसी तरह ज्ञान का ज्ञेयाकार परिणमन होने पर भी अनेकान्त कहता है---नहीं भाई! यह ज्ञेय नहीं है किन्तु ज्ञान है, स्वच्छता के कारण इसमें ज्ञेय का प्रतिबिम्बमात्र पड़ रहा है, इस प्रतिबिम्ब की अपेक्षा इसे ज्ञेय भले ही कहते रहो परन्तु ज्ञानपन का नाश नहीं हो सकता, ज्ञान ज्ञान ही है ।।१।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब यह ज्ञानमात्रभाव, 'निश्चय से यह सब आत्मा है' इस प्रकार अज्ञानतत्त्व को ज्ञान स्वरूप से स्वीकार कर विश्व के ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है अर्थात् अपने आप को विश्वरूप मानकर अपनी ज्ञानरूपता को नष्ट करता है तब अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता क्योंकि वह दिखलाता है कि ज्ञान में जो अतद्रूपता है वह पररूप की अपेक्षा है अर्थात् विश्वाकार परिणमन की अपेक्षा है। स्वरूप की अपेक्षा जो ज्ञान विश्व से भिन्न ही है, उसकी ज्ञानरूपता को कौन नष्ट कर सकता है? ।।२।।

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनेक ज्ञेयों के आकार से सकल एक ज्ञानाकार को खण्डित करता हुआ नाश को प्राप्त होता है तब द्रव्य की अपेक्षा एकपन को प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सामने रखे हुए दर्पण सेना का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, उस प्रतिबिम्ब से दर्पण, हाथी, घोड़ा, रथ आदि पदार्थरूप दिखता है उन पदार्थों को देखकर एक ही दर्पण को हाथी, घोड़ा, रथ आदि नानारूप कहा जाता है उसी प्रकार एक ही ज्ञान में अनेक पदार्थों के आने से ज्ञान को अनेकरूप कहा जाता है। तब अनेकान्त कहता है कि जिस प्रकार दर्पण में हाथी, घोड़ा, रथ आदि के प्रतिबिम्ब के कारण अनेकरूपता है दर्पण की अपेक्षा नहीं, दर्पण तो एक ही है। इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा में अनेक ज्ञेयाकार परिणमन होने से अनेकरूपता है, द्रव्य की अपेक्षा नहीं, द्रव्य तो एक ही है। इस तरह अनेकान्त ही आत्मा की एकरूपता को जीवित रखता है।।३।।

जब वह ज्ञानमात्र भाव, एक ज्ञान का आकार ग्रहण करने के लिये अनेक ज्ञेयों के आकार के त्याग से अपने आप को नष्ट करता है तब पर्यायों की अपेक्षा अनेकपन को प्रकाशित करता हुआ। अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता है। तात्पर्य यह है कि एक ज्ञानाकार की अपेक्षा ज्ञानमात्रभाव एक है उसमें अनेक ज्ञेयों के आकार प्रतिबिम्बित होने से जो अनेकरूपता दिखाती है वह नहीं है। इस तरह जब एकरूपता के एकान्त का पक्ष लेकर ज्ञानभाव की अनेकरूपता का नाश किया जाता है तब अनेकान्त कहता है कि एक ज्ञानाकार की अपेक्षा ज्ञानभाव में एकरूपता भले ही रहे परन्तु अनेक ज्ञेयाकारों के प्रतिबिम्ब पड़ने से उसमें जो अनेकरूपता अनुभव में आती है उसका निषेध कौन कर सकता है? इस तरह ज्ञानभाव की अनेकरूपता को सिद्ध कर अनेकान्त ही उसे नष्ट होने से बचाता है ।।४।।

जब ज्ञान के विषयभूत परद्रव्य परिणमन करने से ज्ञाता द्रव्य को परद्रव्यरूप मानकर नाश को प्राप्त होता है तब स्वद्रव्य की अपेक्षा सत्त्व को सिद्ध करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानमात्रभाव जो ज्ञाताद्रव्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(आत्मा) है वह जिस काल में जिस पदार्थ को जानता है उस काल में उस पदार्थरूप हो जाता है। जैसे घटको जाननेवाला आत्मा घटरूप हो जाता है। ऐसा कथन करनेवाला एकान्ती ज्ञाता को ज्ञेयरूप स्वीकार कर अपना नाश करता है। परन्तु अनेकान्त कहता है कि आत्मा घटरूप होने पर भी स्वरूप की अपेक्षा नाश को प्राप्त नहीं हो सकता, वह स्वद्रव्य की अपेक्षा सदा सत्त्वरूप रहता है। इस तरह अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है ।।५।।

जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्वद्रव्य मैं ही हूँ' इस तरह परद्रव्य को ज्ञातृद्रव्य रूप से स्वीकृत कर अपने आप को नष्ट करने लगता है तब आत्मद्रव्य में परद्रव्य की सत्ता नहीं है ऐसा सिद्ध करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता। तात्पर्य यह है कि आत्मा में जिन द्रव्यों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वे सब द्रव्य में ही हूँ ऐसी श्रद्धा से जब यह आत्मा परद्रव्य को ज्ञाता द्रव्य मानकर अपने आप का नाश करने लगता है तब अनेकान्त कहता है कि परद्रव्यों का तुझ में प्रवेश हुआ ही कब है? जानने मात्र से परद्रव्य तेरा नहीं हो सकता। इस तरह परद्रव्य के असत्त्व को बताकर आत्मा को अनेकान्त ही नष्ट होने बचाता है ।।६।।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेय पदार्थों के आकार परिणमन करने से पर क्षेत्ररूप होते हुए ज्ञान को स्वीकार कर नाश को प्राप्त होता है तब स्वक्षेत्र की अपेक्षा अस्तित्व को बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित रखता है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान पर क्षेत्र सम्बन्धी पदार्थों को जानने से अपने को परक्षेत्ररूप मान कर नष्ट होने लगता है तब अनेकान्त यह कहता हुआ उसकी रक्षा करता है कि ज्ञान स्वक्षेत्र की अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है केवल परक्षेत्रगत पदार्थों का आकार पड़ने से वह नष्ट नहीं होता ।।७।।

जब वह ज्ञानमात्र भाव, स्वक्षेत्र में रहने के लिये परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकार के त्याग से ज्ञान को तुच्छ करता हुआ अपने आप को नष्ट करता है क्योंकि स्वक्षेत्र में रहकर ही परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकार परिणमन करना ज्ञान का स्वभाव है, इसलिये परक्षेत्र की अपेक्षा नास्तित्व को प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता। तात्पर्य यह है कि जब जब ज्ञान परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेयों के आकाररूप परिणमन को छोड़कर स्व-क्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेयों के आकार परिणमन करता है तब ज्ञान का नाश होता हुआ जान पड़ता है उस समय अनेकान्त यह कहता हुआ उसकी रक्षा करता है कि स्वक्षेत्र में रहता हुआ ही ज्ञान परक्षेत्रसम्बन्धी ज्ञेयों के आकाररूप परिणमन करता है क्योंकि ऐसा उसका स्वभाव है। अतः परक्षेत्र की अपेक्षा ही ज्ञान में नास्तित्व का व्यवहार होता है।।८।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब यह ज्ञानमात्रभाव, पूर्वालम्बित पदार्थों के विनाशकाल में ज्ञान का असत्त्व स्वीकार कर नाश को प्राप्त होता है तब स्वकाल की अपेक्षा सत्त्व को बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित रखता है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान पूर्व में आलम्बित पदार्थों को छोड़कर नवीन पदार्थों का आलम्बन लेता है तब पूर्वालम्बित पदार्थों के आकार का विनाश हो जाता है। इस दशा में कोई यह मानता है कि ज्ञान असद्भाव को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है उसके लिये अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि पूर्वालम्बित पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान स्वकाल की अपेक्षा अस्तित्वरूप ही रहता है ।।९।।

जब वह ज्ञानमात्रभाव, 'पदार्थ के आलम्बनकाल में ही ज्ञान का सत्त्व रखता है अन्य काल में नहीं' ऐसा स्वीकार कर अपने आप को नष्ट करता है तब परकाल की अपेक्षा ज्ञान के असत्त्व को प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता। तात्पर्य यह है—किसी का कहना है कि जिस समय ज्ञान पदार्थों को जानता है उसी समय सत्त्व रहता है अन्य समय में नहीं। इस तरह जानने के अतिरिक्त समय में ज्ञान का नाश हो जाता है इस स्थिति में अनेकान्त ही यह प्रकट करता हुआ उसे नष्ट होने से बचाता है कि परकाल की अपेक्षा ही ज्ञान का असत्त्व हो सकता है स्वकाल की अपेक्षा नहीं।

जब वह ज्ञानमात्रभाव, ज्ञान के विषयभूत परभावरूप परिणमन करने से ज्ञायकभाव को परभावरूप से स्वीकार कर नाश को प्राप्त होता है तब स्वभाव से सत्त्व को प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है—जब ज्ञान में परभाव का विचार आता है तब परभावरूप उसका परिणमन होता है, एतावता ज्ञान परभाव होकर नाश को प्राप्त होने लगता है। उस समय अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि स्वभाव से ज्ञान का सदा सत्त्व ही रहता। जानने की अपेक्षा परभावरूप होने पर भी ज्ञान का स्वभाव की अपेक्षा कभी नाश नहीं हो सकता ।।११।।

जब वह ज्ञानमात्रभाव, 'सर्व भाव मैं ही हूँ' इस प्रकार परभाव को ज्ञायकभावरूप से मानकर अपने आपको नष्ट करने लगता है तब परभाव की अपेक्षा असत्त्व को बतलाता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय परभाव ज्ञान में आते हैं उस समय उन भावों का ज्ञानरूप परिणमन होता है। एतावता ज्ञान का परभावरूप परिणाम स्वीकार करने से ज्ञान के नाश का प्रसङ्ग आता है तब अनेकान्त यह कहकर उसे नष्ट होने से बचाता है कि ज्ञानका असत्त्व परभाव की अपेक्षा है, स्वभाव की अपेक्षा नहीं ।।१२।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब वह ज्ञानमात्रभाव, अनित्य ज्ञानविशेषों के द्वारा खण्डित हो गया है नित्य सामान्यज्ञान जिसका, ऐसा होता हुआ नाश को प्राप्त होता है तब ज्ञानसामान्य की अपेक्षा नित्यपन को प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे उज्जीवित करता है। तात्पर्य यह है—एक तो सामान्यज्ञान है जो सदा विद्यमान रहने से नित्य कहलाता है और एक घटपटादिक का विशेषज्ञान है जो उत्पन्न होता और विनशता रहता है इसलिये अनित्य कहलाता है। जिस समय ज्ञान का अनित्य ज्ञानविशेषरूप परिणमन होता है उस समय नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हो जाता है एतावता ज्ञान के नाश का अवसर आता है तब अनेकान्त यह कहता हुआ उसे जीवित रखता है कि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा ज्ञान नित्य है अर्थात् उसका नाश नहीं होता। विशेष ज्ञान उत्पन्न होता और विनशता रहता है, इसलिये उसकी अपेक्षा नाश भले ही हो, पर सामान्यज्ञान की अपेक्षा नहीं हो सकता ।।१३।।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव, नित्यज्ञान सामान्य को ग्रहण करने के लिये अनित्यज्ञानविशेष के त्यागद्वारा अपने आप का नाश करता है तब ज्ञानविशेषरूप से अनित्यता को प्रकट करता हुआ अनेकान्त ही उसे नष्ट नहीं होने देता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान का, ज्ञानसामान्य और ज्ञानविशेष के भेद से दो प्रकार का परिणमन होता है। इनमें ज्ञानसामान्य नित्य है और ज्ञानविशेष अनित्य है। जिस समय ज्ञान, ज्ञानसामान्यरूप परिणमन को ग्रहण करने के लिये ज्ञानविशेषरूप परिणमन का त्याग करता है उस समय ज्ञान के नाश का प्रसङ्ग आता है परन्तु अनेकान्त यह प्रकट करता हुआ उसे नष्ट नहीं होने देता कि ज्ञानविशेष की अपेक्षा ही ज्ञान में अनित्यता हो सकती है, ज्ञानसामान्य की अपेक्षा नहीं। अर्थात् ज्ञानसामान्य की अपेक्षा उसका कभी नाश नहीं होता ।।१४।।

भावार्थ– यहाँ तत्-अतत् के २ भङ्ग, एक-अनेक के २ भङ्ग, सत्-असत् के द्रव्यक्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा ८ भङ्ग और नित्य-अनित्य के २ भङ्ग, इस प्रकार सब मिलकर १४ भङ्ग होते हैं। इन सभी भङ्गों में यह बताया गया है कि एकान्त से ज्ञानमात्र (आत्मा) का अभाव होता है और अनेकान्त से आत्मा जीवित रहता है। अर्थात् एकान्त से आत्मा का यथार्थ बोध नहीं होता और अनेकान्त से यथार्थ बोध होता है।

अब इन १४ भङ्गों के १४ कलशा कहते हैं। उनमें प्रथम भङ्ग का कलशा इस प्रकार है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शार्दूलविक्रीडितछन्द

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ।।२४७।।

अर्थ– जो बाह्य ज्ञेय पदार्थों के द्वारा सब ओर से पिया गया है, अपनी प्रकटता छूट जाने से जो रिक्त हुआ है, तथा जो सम्पूर्ण से पररूप में ही विश्रान्त हुआ है ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी का ज्ञान नष्ट होता है और 'जो तत् है वह स्वरूप से ही तत् है' ऐसा स्याद्वादी का जो ज्ञान है वह अतिशयरूप से प्रकट घनस्वभाव के भार से पूर्ण होता हुआ उन्मग्न होता है—उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ– कोई अज्ञानी एकान्तवादी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान अनादिकाल से ज्ञेयाकार ही परिणम रहा है और इस तरह परिणम रहा है कि उसकी निजकी प्रकटता छूट गई है अर्थात् ज्ञेय ज्ञेय ही अनुभव में आता है, ज्ञान अनुभव में नहीं आता तथा वह पर से उत्पन्न होने के कारण सर्वथा पररूप में ही विश्रान्त रहता है अर्थात् सर्वथा पराधीन ही रहता है। आचार्य कहते हैं कि पशु के समान अज्ञानी एकान्तवादी का जो तथाकथित ज्ञान है वह नष्ट हो जाता है। परन्तु स्याद्वादी ऐसा मानते हैं कि जो तत् है वह स्वरूप से ही तत् है अर्थात् ज्ञान स्वकीय स्वभाव से ज्ञेयाधीन नहीं है। इसलिये वह अतिशयरूप से प्रकट अपने घनस्वभाव से परिपूर्ण होता हुआ सदा उदित रहता है। यह प्रथम तत्स्वरूप भङ्ग है ।।२४७।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो नो तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ।।२४८।।

अर्थ– विश्व, ज्ञान है अर्थात् समस्त ज्ञेय ज्ञानमय हैं ऐसा विचारकर समस्त जगत् को निजतत्त्व की आशा से देखकर विश्वरूप हुआ अज्ञानी एकान्तवादी, पशु के समान स्वच्छन्द चेष्टा करता है। परन्तु स्याद्वाद को देखने वाला ज्ञानी पुरुष, जो तत् है वह पररूप से तत् नहीं है अर्थात् ज्ञान पररूप से ज्ञान नहीं है किन्तु स्वरूप से ज्ञान है, वह ज्ञान विश्व से भिन्न है और समस्त विश्व से घटित नहीं है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् समस्त ज्ञेयवस्तुओं से घटित होने पर ज्ञेयस्वरूप नहीं है, इस तरह ज्ञान के स्वतत्त्व—निजस्वरूप का अनुभव करता है।

भावार्थ– संसार के समस्त पदार्थ ज्ञान के विषय हैं, इसलिये 'समस्त विश्व ज्ञान है' ऐसा समझ एकान्तवादी अपने आपको विश्वमय मानता है समस्त संसार को स्वतत्त्व मानकर पशु की तरह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। परन्तु स्याद्वादी उस ज्ञानतत्त्व के निजस्वरूप को अच्छी तरह समझता है, वह जानता है कि ज्ञान, स्वरूप की अपेक्षा तद्रूप है, परस्वरूप की अपेक्षा तत्रूप नहीं है। इसीलिये ज्ञान, ज्ञेयों के आकार परिणमन हुआ भी उनसे भिन्न है। यह अतत्स्वरूप का द्वितीय भङ्ग है।।२४८।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लसज्
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ।।२४९।।

अर्थ– बाह्य पदार्थों से ग्रहणरूप स्वभाव के भार से सब ओर से उल्लसित होनेवाले नाना ज्ञेयों के आकार से जिसकी शक्ति खण्ड-खण्ड हो गई है तथा इसी कारण जो सब ओर से टूट रहा है ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी नाश को प्राप्त होता है और सदा उदित रहनेवाले एक द्रव्यस्वभाव से भेद के भ्रम को नष्ट करनेवाला अनेकान्त का जाननेवाला, जिसका निर्बाध अनुभव हो रहा है ऐसे ज्ञान को एक देखता है।

भावार्थ– पदार्थों को ग्रहण करना ज्ञान का स्वभाव है उस स्वभाव के कारण उसमें सब ओर से अनेक ज्ञेयों के आकार उल्लसित होते रहते हैं इसलिये सर्वता एकान्तवादी अज्ञानी ज्ञान को अनेक खण्ड-खण्डरूप देखता हुआ ज्ञानमय आत्मा का नाश करता है परन्तु स्याद्वादी ज्ञान को ज्ञेयाकारों की अपेक्षा अनेकरूप होने पर भी सदा उदित रहनेवाले द्रव्यस्वरूप की अपेक्षा एक देखता है तथा इस एक ज्ञान के अनुभवन में कोई बाधा भी नहीं आती। यह एकस्वरूप तृतीय भङ्ग है।।२४९।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयन्
एकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ।।२५०।।

अर्थ– ज्ञेयों के आकार रूप कलङ्क से मलिन ज्ञान में प्रक्षालन की कल्पना करता हुआ अज्ञानी एकान्तवादी एकाकार करने की इच्छा से यद्यपि ज्ञान स्पष्ट ही अनुभव में आ रहा है फिर भी उसकी इच्छा नहीं करता है अर्थात् उसे नष्ट करना चाहता है। वास्तव में जो ज्ञान ज्ञेयाकारों की विचित्रता के होने पर भी अविचित्रता को प्राप्त है तथा स्वतः क्षालित है— उज्जवल है वह ज्ञान पर्यायों की अपेक्षा अनेकता का भी स्पर्श कर रहा है ऐसा अनेकान्त का ज्ञाता देखता है।

भावार्थ– ज्ञेयों के आकार के कारण ज्ञान में जो अनेकरूपता दिखती है उसे कलङ्क समझ एकान्ती धो डालना चाहता है। वह ज्ञान को एकरूप ही करना चाहता है इसलिये अनेकरूपता से युक्त ज्ञान यद्यपि प्रकट अनुभव में आता है तो भी एकान्तवादी उसे नहीं मानता है, उसका नाश करना चाहता है। परन्तु अनेकान्त का ज्ञाता स्याद्वादी ऐसा जानता है कि ज्ञान में यद्यपि ज्ञेयाकारों की विभिन्नता से जायमान अनेकरूपता है तो भी वह एकरूपता को प्राप्त है और इस ज्ञेयाकाररूप कलङ्क से स्वयं रहित है फिर भी पर्यायों की अपेक्षा अनेकरूपता को भी प्राप्त हो रहा है। भिन्न-भिन्न ज्ञेयों को जानने से ज्ञान में जो भिन्न-भिन्न आकार अर्थात् विकल्प आते हैं वे सब ज्ञान की पर्यायें हैं। उन पर्यायो के ऊपर जब लक्ष्य दिया जाता है तब वह ज्ञान अनेकरूप मालूम होता है। यह चौथा अनेकस्वरूप भङ्ग है ।।२५०।।

शार्दूलविक्रीडित

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ।।२५१।।

अर्थ– प्रत्यक्षरूप से चित्रित स्फुट और निश्चल परद्रव्य के अस्तित्व से ठगाया हुआ अज्ञानी एकान्तवादी स्वद्रव्य के न दिखने से सम्पूर्णरूप से शून्य हुआ नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी शीघ्र ही प्रकट होनेवाले निर्मल ज्ञानरूप तेज के द्वारा अच्छी तरह देखकर स्वद्रव्य के अस्तित्व से पूर्ण होता हुआ जीवित रहता है।

भावार्थ– एकान्तवादी अज्ञानी, ज्ञान में ज्ञेय रूप से प्रतिबिम्बित परद्रव्य के अस्तित्व को देखकर ज्ञान को परद्रव्यरूप ही समझने लगता है। ज्ञेय के अतिरिक्त ज्ञान भी कोई द्रव्य है, इस ओर उसका लक्ष्य नहीं जाता। एतावता ज्ञानरूप स्वीय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य के अस्तित्व से शून्य हुआ वह अज्ञानी नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी ज्ञानी जीव के, ज्ञान में प्रतिबिम्बित ज्ञेय को देखते ही तत्काल ऐसा निर्मल ज्ञान प्रकट होता है कि जिसके प्रभाव से उसे ज्ञेय के अतिरिक्त ज्ञानरूप स्वीय द्रव्य का अस्तित्व स्पष्ट ही प्रतीत होने लगता है। फलस्वरूप वह स्वीय द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकृत करता हुआ सदा जीवित रहता है। यह स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तित्व का पञ्चम भङ्ग है।।२५१।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ।।२५२।।

अर्थ– मिथ्यावासना से वासित अज्ञानी एकान्तवादी, आत्मा को सर्व द्रव्यमय स्वीकार कर स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्राम करता है। परन्तु निर्मल शुद्धज्ञान की महिमा का धारक स्याद्वादी समस्त वस्तुओं में परद्रव्यरूप से नास्तिता को जानता हुआ स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है।

भावार्थ– ज्ञानकी स्वच्छता के कारण ज्ञेयरूप से उसमें सर्व द्रव्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता है एतावता उन प्रतिबिम्बित परद्रव्यों को स्वद्रव्य समझ कर अज्ञानी जीव उन्हीं में लीन रहता है अर्थात् वह ज्ञान को परद्रव्य रूप मानता है परन्तु जिनागम के अध्ययन से जिसके ज्ञान की महिमा निर्मल है ऐसा स्याद्वादी ज्ञानी पुरुष समस्त वस्तुओं में परद्रव्य के नास्तित्व को स्वीकृत करता हुआ सदा स्वद्रव्य में लीन रहता है। तात्पर्य यह है कि जीव समस्त पदार्थों को स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तिरूप और परद्रव्य की अपेक्षा नास्तिरूप श्रद्धान करता है। यह परद्रव्य की अपेक्षा नास्तित्व का षष्ठ भङ्ग है ।।२५२।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिःपतन्तमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्।।२५३।।

अर्थ– जो भिन्न क्षेत्र में स्थित ज्ञेय पदार्थों के निश्चित व्यापार में स्थित है अर्थात् जो ऐसा मानता है कि ज्ञानरूप पुरुष (आत्मा) परक्षेत्र में स्थित पदार्थों को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जानता है ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी पुरुष (आत्मा) को सब ओर से बाह्य पदार्थों में ही पड़ता हुआ देख निरन्तर दुःखी होता है—नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वाद को जाननेवाला ज्ञानी, स्वक्षेत्र के अस्तित्व से जिसका वेग रुक गया है तथा जिसके जाननेरूप व्यापार की शक्ति स्वक्षेत्र में स्थित ज्ञेय पदार्थों में नियत है, ऐसा होता हुआ विद्यमान रहता है—नष्ट नहीं होने पाता।

भावार्थ– अज्ञानी एकान्तवादी, भिन्न क्षेत्र में स्थित ज्ञेय पदार्थों के जाननेरूप व्यापार में प्रवृत्त पुरुष को सब ओर से बाह्य पदार्थों में पड़ता हुआ देख नाश को प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वाद का ज्ञाता मानता है कि पुरुष (आत्मा) स्वक्षेत्र में स्थित रहकर अन्य क्षेत्र में स्थित ज्ञेयों को जानता है। अज्ञानी के मत में जिस प्रकार पुरुष बाह्य पदार्थों में वेग से पड़ता है वैसे स्याद्वादी के मत में नहीं पड़ता, स्वक्षेत्र के अस्तित्व से उसका वेग रुक जाता है, वह अपने आप में प्रतिबिम्बित जो ज्ञेय हैं उन्हीं को जानता है। ऐसा जानता हुआ स्याद्वादी नाश को प्राप्त नहीं होता। यह स्वक्षेत्र में अस्तित्व का सप्तम भंग है।।२५३।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झना-
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान्सहार्थैर्वमन्
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्।।२५४।।

अर्थ– अज्ञानी एकान्तवादी स्वक्षेत्र में ठहरने के लिये परक्षेत्र में स्थित नानाप्रकार के ज्ञेय पदार्थों के छोड़ने से तुच्छ होकर ज्ञेय पदार्थों के साथ चिदाकारों को भी छोड़ता हुआ नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी स्वक्षेत्र में बसता हुआ तथा परक्षेत्र में अपनी नास्तिता को जानता हुआ यद्यपि परक्षेत्रगत बाह्य ज्ञेयों को छोड़ता है तो भी तुच्छता का अनुभव नहीं करता—नाश को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि स्वक्षेत्र में स्थित रहता हुआ भी परक्षेत्रगत परपदार्थों को आकार द्वारा खींचता रहता है अर्थात् उनका आकार ज्ञान में प्रतिभासित होता रहता है।

भावार्थ– स्वक्षेत्र में स्थित ज्ञान में परक्षेत्रगत पदार्थों का आकार प्रतिफलित होता है। एतावता एकान्तवादी अज्ञानी यह समझकर कि यदि चैतन्य के आकारों को अपना मानूँगा तो अपना क्षेत्र छूट जायगा, इसलिये जिस प्रकार ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता है उसी प्रकार ज्ञान में पड़े हुए उनके आकारों को भी छोड़ता है। इस तरह तुच्छ होकर वह एकान्तवादी नाश को प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी समझता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि हमारा ज्ञान स्वक्षेत्र में अस्तिरूप है तथा परक्षेत्र में नास्तिरूप है। जब परक्षेत्र में नास्तिरूप है तब उसका परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेयों के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इस तरह बाह्य ज्ञेयों का यदि वह त्याग करता है तो भी अपनी स्वच्छता से परक्षेत्र सम्बन्धी ज्ञेयों के आकारों को ग्रहण करता रहता है। उन आकारों की अपेक्षा वह ज्ञान नाश को प्राप्त नहीं होता। इस विवेचन से स्पष्ट है कि एकान्तवादी तो नष्ट होता है और स्याद्वादी जीवित रहता है। यह परक्षेत्र की अपेक्षा नास्तित्व का आठवाँ भङ्ग है।।२५४।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छ: पशु:।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन:
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहूर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि।।२५५।।

अर्थ– अज्ञानी एकान्तवादी जिनका पूर्वकाल में आलम्ब लिया गया था, ऐसे ज्ञेय पदार्थों के नाश के समय ज्ञान का नाश जानता हुआ समझता है कि हमारे पास कुछ भी नहीं रहा, इस तरह अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नियम से नाश को प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वाद को जाननेवाला पुरुष निजकाल की अपेक्षा ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इसलिये बाह्य वस्तुओं के बार-बार होकर नष्ट हो जाने पर भी पूर्ण ही ठहरता है अर्थात् नाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ– एकान्तवादी अज्ञानी पदार्थों के आलम्बन से ज्ञान होता है, ऐसा मानता है। एतावता जब पूर्णकाल में आलम्बित पदार्थों का नाश हो जाता है तब विवश होकर उसे मानना पड़ता है कि ज्ञान का भी नाश हो जाता है। इस तरह ज्ञान का नाश होने पर वह कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकता। तब अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नाश को प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी ज्ञान और ज्ञेय के अस्तित्व को पृथग्-पृथग् मानता है, इसलिये पूर्वालम्बित ज्ञेयों का नाश होने पर उनके अस्तित्व को नष्ट हुआ मानता है, न कि ज्ञान के अस्तित्व को। ज्ञान स्वकाल की अपेक्षा अपने अस्तित्व को सदा सुरक्षित रखता है। बाह्य ज्ञेय अपने-अपने चतुष्टय की अपेक्षा उत्पन्न होते हैं तथा नाश को भी प्राप्त होते हैं, परन्तु इससे ज्ञान का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। इस वस्तु-विवेचन को स्वीकृत करनेवाला स्याद्वादी सदा स्थित रहता है—नष्ट नहीं होता। यह स्वकाल की अपेक्षा अस्तित्व का नौवाँ भङ्ग है।।२५५।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन्।।२५६।।

अर्थ– एकान्तवादी अज्ञानी पदार्थों के आलम्बनकाल में ही ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करता हुआ बाह्य ज्ञेयों के आलम्बन की इच्छा से युक्त मन से भ्रमण करता है अर्थात् इस विचार में निमग्न रहता है कि बाह्य ज्ञेयों का आलम्बन मिले तो हमारे ज्ञान उत्पन्न हो। ऐसी विचारधारा वाला एकान्तवादी अज्ञानी अर्थालम्बन-काल के अतिरिक्तकाल में ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार न करता हुआ नष्ट होता है। परन्तु स्याद्वादी परकाल की अपेक्षा ज्ञन के नास्तित्व को स्वीकार करता हुआ भी आत्मा में अतिशयरूप से गड़े हुए अर्थात् तादात्म्यभाव से स्थित नित्य सहज ज्ञान का एक पुञ्ज होता हुआ सदा स्थित रहता है अर्थात् कभी नष्ट नहीं होता।

भावार्थ– एकान्तवादी का कहना है कि ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेयपदार्थों के आलम्बनकाल में ही रहता है अन्यकाल में नहीं। एतावता जब ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं रहता तब ज्ञान भी नहीं रहता, इस तरह ज्ञान के नाश को स्वीकार करता हुआ एकान्तवादी अज्ञानी नाश को प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी कहता है कि परकाल की अपेक्षा ही ज्ञान का नास्तित्व है स्वकाल की अपेक्षा नहीं। ज्ञान का आत्मा के साथ नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है अत: आत्मा निरन्तर नित्य साहजिक ज्ञान का एक पुञ्जरूप होता हुआ सदा विद्यमान रहता है। यह परकाल की अपेक्षा नास्तित्व का दशवाँ भङ्ग है।।२५६।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

विश्रान्त: परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु।
नश्यत्येव पशु: स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतन:।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी, तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्यय:।।२५७।।

अर्थ– जो परभाव को ही अपना भाव समझकर निरन्तर बाह्य वस्तुओं में विश्राम को प्राप्त है तथा स्वभाव की महिमा में एकान्तरूप से निश्चेतन है— जड़ है- स्वभाव की महिमा से अपरिचित है, ऐसा अज्ञानी एकान्तवादी नियम से नष्ट होता है। परन्तु जिसका स्वभावरूप परिणमन निश्चित है ऐसे ज्ञान की अपेक्षा समस्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परभावों से भिन्न होता हुआ स्याद्वादी अपने सहज स्वभाव की श्रद्धा से युक्त हो नाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ– अज्ञानी जीव, परभावों को अपना भाव समझकर उन्हीं में लीन रहता हुआ स्वभाव की महिमा से बिलकुल अपरिचित रहता है, अत: नाश को प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी समझता है कि अपने ज्ञानस्वभाव के कारण आत्मा समस्त परभावों से पृथक् है। वास्तव में ज्ञान, ज्ञेयाकार होने पर भी उससे पृथक् वस्तु है। इस प्रकार सहज स्वभाव की प्रतीति को दृढ़ करता हुआ स्याद्वादी नाश को प्राप्त नहीं होता है। यह स्वकीय भाव की अपेक्षा अस्तित्व का ग्यारहवाँ भङ्ग है।।२५७।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युत:
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभय: स्वैरं पशु: क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढ: परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पित:।।२५८।।

अर्थ– अज्ञानी एकान्तवादी, अपनी आत्म में सब भावों का होना मानकर शुद्ध-स्वभाव से च्युत होता हुआ सब पदार्थों में स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भय हो बिना किसी प्रतिबन्ध के क्रीडा करता है। परन्तु स्याद्वादी अपने स्वभाव में ही सर्वथा आरूढ हुआ परभाव के अभाव का निश्चय होने से निश्चल दशा को प्राप्त हो शुद्ध ही सुशोभित होता है।

भावार्थ– अज्ञानी परभावों को निजभाव मानता है इसलिये वह अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ सभी परभावों में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवर्तता है। परभाव बन्ध के कारण हैं, ऐसा उसे भय नहीं होता। परभावों में प्रवृत्ति करने से उसे कोई रोक नहीं सकता। परन्तु स्याद्वाद का ज्ञाता ज्ञानी पुरुष ऐसा समझता है कि मुझमें परभाव का अभाव है यद्यपि मैं परभावों को जानता हूँ तो भी वे मुझमें प्रविष्ट नहीं है, मेरे साथ उनका नित्य तादात्म्य नहीं है। इस प्रकार के दृढ़ श्रद्धान से वह सदा निष्कम्प रहता है और सदा शुद्ध ही शोभायमान रहता है। यह परभाव की अपेक्षा नास्तित्व का बारहवाँ भङ्ग है।।२५८।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मता
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतित: प्राय: पशुर्नश्यति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमाज्ञानं भवन् जीवति।।२५९।।

अर्थ– अज्ञानी एकान्तवादी, उत्पाद-व्यय से मुद्रित-युक्त होने के कारण प्रवर्तमान ज्ञानांशों की नानारूपता का निश्चय होने से क्षणभङ्ग के सङ्ग में पड़ा प्रायः नाश को प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी चैतन्यस्वरूप से चैतन्य वस्तु का अनुभव करता हुआ नित्योदित तथा टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावमहिमा से युक्त जो ज्ञान है उस रूप होता हुआ जीवित रहता है।

भावार्थ– एकान्तवादी कहता है कि जिस प्रकार ज्ञेय के आकार उत्पाद और व्यय से सहित हैं अर्थात् उपजते और विनशते हैं, उसी प्रकार प्रवर्तमान जो नाना ज्ञान के अंश हैं वे भी उत्पाद-व्यय से युक्त हैं अर्थात् उपजते और विनशते हैं। एतावता ज्ञान को क्षणभङ्गुर मानता हुआ अज्ञानी नाश को प्राप्त होता है। परन्तु स्याद्वादी कहता है कि ज्ञान क्षणभङ्गुर होने पर भी अपने चैतन्यस्वरूप से चिद्वस्तु का स्पर्श करता हुआ नित्य उदयरूप रहता है तथा टङ्कात्कीर्ण घनस्वभाव की महिमा से युक्त होता है। एतावता इस ज्ञानरूप होता हुआ स्याद्वादी जीवित रहता है। यह नित्यपन का तेरहवाँ भङ्ग है।।२५९।।

शार्दूलविक्रीडितछन्द

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात्।।२६०।।

अर्थ– एकान्तवादी अज्ञानी, टङ्कोत्कीर्ण निर्मल ज्ञान के प्रवाह रूप आत्मत्त्व की आशा से ज्ञान को उछलती हुई निर्मल चैतन्यपरिणति से भिन्न कुछ अन्य ही नित्यद्रव्य मानता है। परन्तु स्याद्वादी, चिद्वस्तु (आत्मा की) परिणतियों के क्रम से उस ज्ञान की अनित्यता का अनुभव करता हुआ ऐसे ज्ञान को प्राप्त होता है जो अनित्यता से युक्त होने पर भी उज्ज्वल–निर्मल रहता है।

भावार्थ– अज्ञानी एकान्तवादी, ज्ञान को द्रव्यरूप मानकर नित्य ही स्वीकार करता है। परन्तु स्याद्वादी उपजते और विनशते हुए ज्ञेयाकार रूप पर्यायों की अपेक्षा उसे अनित्य स्वीकार करता है, ऐसा ज्ञान पर्यायों के उपजने और विनशने की अपेक्षा अनित्य होने पर भी उज्ज्वल रहता है क्योंकि पर्यायों का उपजना और विनशना वस्तु का स्वभाव है। यह अनित्यपन का चौदहवाँ भङ्ग है।।२६०।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुष्टुप्

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते।।२६१।।

अर्थ– इस प्रकार अज्ञान से विमूढ़ प्राणियों के लिये ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को सिद्ध करता हुआ अनेकान्त स्वयं ही अनुभव में आता है।।२६१।।

अनुष्टुप्

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलङ्घ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः।।२६२।।

अर्थ– इस प्रकार तत्त्व की व्यवस्था के द्वारा जो स्वयं अपने आप को व्यवस्थित कर रहा है ऐसा यह व्यवस्थित अनेकान्त जिनेन्द्र भगवान् का अलङ्घ्य शासन है।

भावार्थ– यह अनेकान्त स्वयं व्यवस्थित है तथा तत्त्व की उत्तम व्यवस्था करनेवाला है। इसीलिये यह जिनेन्द्र भगवान् का अलंघनीय शासन माना गया है।।२६२।।

यहाँ कोई कहता है कि जब आत्मा अनेक धर्ममय है तब उसका ज्ञानमात्र से कथन क्यों किया है? उसका उत्तर देते हैं—लक्षण की प्रसिद्धि द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि के लिये आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है। वास्तव में ज्ञान आत्मा का लक्षण है क्योंकि वह आत्मा का असाधारण गुण है। अतएव ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा उसके लक्ष्यभूत आत्मा की प्रसिद्धि होती है। फिर प्रश्न है कि इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है, लक्ष्य ही सिद्ध करना चाहिये? उत्तर देते हैं कि जिसे लक्षण प्रसिद्ध नहीं है उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती; इसके विपरीत जिसे लक्षण प्रसिद्ध है उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। फिर प्रश्न है कि वह लक्ष्य है क्या वस्तु, जो कि ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा उससे भिन्न सिद्ध किया जाता है? उत्तर देते हैं कि ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है क्योंकि ज्ञान और आत्मा में द्रव्यपन की अपेक्षा अभेद है। पुनः प्रश्न है—तब लक्ष्य-लक्षण का विभाग किसके द्वारा किया गया है? उत्तर देते हैं कि—प्रसिद्ध-प्रसाध्यमान के द्वारा किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है क्योंकि ज्ञानमात्र स्वसंवेदन से सिद्ध है। उन प्रसिद्ध ज्ञान के द्वारा प्रसाध्यमान है उससे अविनाभूत अनन्त धर्मों का समुदायरूप आत्मा। इसलिये ज्ञानमात्र में निश्चलरूप से गड़ी हुई दृष्टि के द्वारा क्रमप्रवृत्त और अक्रमप्रवृत्त ज्ञान से अविनाभूत जितना जो कुछ अनन्त धर्मों का समूह दिखाई देता है वह सम्पूर्ण ही निश्चय से एक आत्मा है। इसीलिये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ इस आत्मा का ज्ञानमात्र से कथन किया है। फिर प्रश्न है कि जब क्रम और अक्रम से प्रवृत्त होनेवाले अनन्त धर्मों से आत्मा तन्मय है तब उसमें ज्ञानमात्रपन कैसे रह सकता है? इसका उत्तर है कि—परस्पर एक दूसरे से भिन्न अनन्त धर्मों के समुदायरूप परिणत एक ज्ञानक्रियारूप से आत्मा स्वयं परिणम रहा है। इसीलिये इस आत्मा के ज्ञानमात्र एकभाव के भीतर पड़नेवाली अनन्त शक्तियाँ उदित होती हैं। नीचे उन्हीं शक्तियों में से कुछ का वर्णन किया जाता है : —

(१) आत्मद्रव्य के कारणभूत चैतन्यमात्र भावप्राण को धारण करना जिसका लक्षण है ऐसी पहली जीवत्वनामा शक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा चैतन्यरूप भावप्राण को धारण करता है।

(२) अजड़त्व अर्थात् चेतना जिसका स्वरूप है ऐसी दूसरी चितिशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा, ज्ञान और दर्शन चेतनारूप परिणमन करता है।

(३) अनाकार उपयोगरूप तीसरी दृष्टि शक्ति है। इस शक्ति से आत्मा पदार्थों को निर्विकल्परूप से देखता है।

(४) साकार उपयोगरूप चौथी ज्ञानशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा पदार्थों को विकल्पसहित जानता है।

(५) अनाकुलतारूप लक्षण से युक्त पाँचवीं सुखशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा सुख का अनुभव करता है।

(६) आत्मस्वरूप की रचना की सामर्थ्यरूप छठवीं वीर्यशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा के सब गुण अपने-अपने स्वभावरूप प्रवर्तन करते हैं।

(७) अखण्डित प्रताप से युक्त जो स्वाधीनपन उससे सुशोभित होना जिसका लक्षण है ऐसी सातवीं प्रभुत्वशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा अपने स्वभाव के धारण में परनिरपेक्ष रहता है।

(८) सब भावों में व्यापक जो एक ज्ञानभाव तद्रूप आठवीं विभुत्वशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा का ज्ञानगुण अन्य सब भावों में व्यापक होकर रहता है।

(९) समस्त विश्व के सामान्य भावरूप परिणत आत्मदर्शन से तन्मय नौवीं सर्वदर्शित्व शक्ति है। इस शक्ति से आत्म केवलदर्शन से सहित होता है।

(१०) समस्त विश्व के विशेषभावरूप परिणत आत्मज्ञान से तन्मय दशवीं सर्वज्ञत्वशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा केवलज्ञान से सहित होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(११) अरूपी आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोक-अलोक के आकार से चित्रित उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी ग्यारहवीं स्वच्छत्वशक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मप्रदेशों में लोक-अलोक का आकार प्रतिबिम्बित होता है।

(१२) स्वयं प्रकाशमान निर्मल स्व-संवेदन से तन्मय बारहवीं प्रकाशशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा सदा स्व-संवेदनशील रहता है।

(१३) क्षेत्र और काल से अमर्यादित चैतन्य के विलासरूप तेरहवीं असंकुचित विकासत्वशक्ति है। इस शक्ति की महिमा से आत्मा का चिद्विलास सर्वक्षेत्र और सर्वकाल में व्याप्त रहता है।

(१४) अन्य के द्वारा न किये जानेवाले तथा अन्य को न करनेवाले एक द्रव्यस्वरूप चौदहवीं अकार्यकारण शक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा न किसी अन्य द्रव्य के द्वारा की जाती है और न किसी अन्य द्रव्य को करती है।

(१५) पर और आप के निमित्त से होनेवाले ज्ञेयाकार और ज्ञानकारों के ग्रहण करने-कराने के स्वभावरूप पन्द्रवहीं परिणम्य-परिणामकत्व शक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा ज्ञेय तथा ज्ञनरूप परिणमता है।

(१६) हीनाधिकता से रहित स्वरूप में नियत रहना जिसका लक्षण है ऐसी सोलहवीं त्यागोपदानशून्यत्व शक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मस्वरूप में न किसी अतिरिक्त तत्त्व का त्याग होता है और न किसी न्यून तत्त्व का ग्रहण होता है।

(१७) षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप परिणत स्वरूप की प्रतिष्ठा का कारण जो विशिष्ट गुण है तद्रूप सतरहवीं अगुरुलघुत्वशक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा के गुणों में न सर्वथा वृद्धि होती है और न सर्वथा हानि ही है।

(१८) क्रमवृत्तिपन तथा अक्रमवृत्तिपन जिसका लक्षण है ऐसी अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा में क्रम से प्रवृत्त होनेवाला उत्पाद-व्यय तथा अक्रम से प्रवृत्त होने वाला ध्रौव्य विद्यमान रहता है।

(१९) द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य, व्यय और उत्पाद से आलिङ्गित समान तथा असमान परिणामरूप एक अस्तित्वमात्र से तन्मय उन्नीसवीं परिणामशक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन होता रहता है और वह परिणमन समान तथा असमान के भेद से दो प्रकार का होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२०) कर्मबन्ध के अभाव से प्रकट, सहज तथा स्पर्शादि शून्य आत्मप्रदेश स्वरूप बीसवीं अमूर्तत्वशक्ति है। इस शक्ति की महिमा से आत्मा के प्रदेश स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से शून्य रहते है। आत्मप्रदेशों की अमूर्तावस्था कर्मबन्ध के नष्ट हो जाने पर व्यक्त होती है।

(२१) सकल कर्मों से किये गये, ज्ञातापन मात्र से अतिरिक्त-अन्य परिणामों के कर्तृत्व से विरत होना जिसका लक्षण है ऐसी इक्कीसवीं अकर्तृत्वशक्ति है। इस शक्ति के कारण ज्ञातारूप परिणाम के सिवाय आत्मा में जो कर्मनिमित्तक रागादिक परिणाम होते हैं उनका आत्मा कर्ता नहीं होता है।

(२२) सकल कर्मों से किये गये, ज्ञातापनमात्र से अतिरिक्त अन्य परिणामों के अनुभव से विरत होना बाईसवीं अभोक्तृत्वशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा ज्ञातृत्वस्वभाव से अतिरिक्त, कर्मकृत अन्य सकल भावों का भोक्ता नहीं होता है।

(२३) समस्त कर्मों के अभाव से प्रवृत्त हुआ आत्मप्रदेशों का निश्चलपन जिसका स्वरूप है ऐसी तेईसवीं निष्क्रियत्वशक्ति है। इस शक्ति के प्रभाव से कर्मों का क्षय होने पर आत्मा में निष्क्रियता आ जाती है। समस्त कर्मों का क्षय होने पर ऊर्ध्वगमन स्वभाव से यह आत्मा एक समय में सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाता है, फिर अनन्त काल तक उसमें कोई क्रिया नहीं होती।

(२४) अनादि संसार से जिनमें संकोच-विस्तार होता रहा है तथा मुक्त अवस्था में चरम शरीर से किञ्चित् न्यून परिमाण में जो अवस्थित रहते हैं ऐसे लोकाकाश के बराबर असंख्यात आत्मप्रदेशों का होना जिसका लक्ष्ण है ऐसी चौबीसवीं नियत प्रदेशत्वशक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा के प्रदेश सदा लोकाकाश के बराबर असंख्यात ही रहते हैं उनमें पुद्गलस्कन्ध के प्रदेशों के समान अनियतपन नहीं रहता।

(२५) सब शरीरों में एकस्वरूप होकर रहना जिसका लक्षण है ऐसी पच्चीसवीं स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति है। इस शक्ति से आत्मा किसी भी शरीर में रहे अपने ज्ञानदर्शनादि धर्मों में व्याप्त होकर ही रहता है अर्थात् शरीर की विचित्रता से आत्मा अपने धर्मों का परित्याग नहीं करता।

(२६) स्व-परके समान, असमान तथा समानासमान के भेद से तीन प्रकार के भावों को धारण करना जिसका स्वरूप है ऐसी छब्बीसवीं साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा ऐसे धर्मों को धारण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करता है जो अन्य द्रव्यों के समान होते हैं, जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि। कुछ ऐसे भावों को धारण करता है जो अन्य द्रव्यों के समान नहीं होते हैं, जैसे ज्ञान-दर्शनादि, तथा कुछ ऐसे भावों को धारण करता है जो समान-असमान दोनों प्रकार के होते हैं, जैसे अमूर्तत्व।

(२७) परस्परभिन्न लक्षण वाले अनन्त स्वभावों से मिला हुआ एकभाव जिसका लक्षण है ऐसी सत्ताईसवीं अनन्तधर्मत्वशक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा अनन्त धर्मों को धारण करता है।

(२८) तत्स्वरूप और अतत्स्वरूप से तन्मयपन जिसका लक्षण है ऐसी अट्ठाईसवीं विरुद्धधर्मत्वशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा विवक्षावश नित्यत्वरूप तथा अनित्यत्वरूप आदि विरुद्ध धर्मों को धारण करता है।

(२९) तत्त्वस्वरूप होना जिसका लक्षण है ऐसी उनतीसवीं तत्त्वशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा सदा आत्मरूप ही रहता है।

(३०) अतत्स्वरूप न होना जिसका लक्षण है ऐसी तीसवीं अतत्त्वशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा अनात्मरूप नहीं होता।

(३१) अनेक पर्यायों में व्याप्त होकर रहनेवाला एक द्रव्यरूप होना जिसका लक्षण है ऐसी इकतीसवीं एकत्वशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा अपनी अनेक पर्यायों में व्याप्त होकर भी एक द्रव्यरूप रहता है।

(३२) एक द्रव्य में व्याप्त होकर रहनेवाली अनेक पर्यायों से तन्मय होकर रहना जिसका लक्षण है ऐसी बत्तीसवीं अनेकत्वशक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा, द्रव्य की अपेक्षा एक होकर भी अनेक पर्यायों में व्याप्त रहने से अनेकरूप होता है।

(३३) भूतावस्थापन जिसका स्वरूप है ऐसी तेतीसवीं भावशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा की कोई न कोई अवस्था विद्यमान रहती ही है।

(३४) शून्यावस्थापन जिसका स्वरूप है ऐसी चौतीसवीं अभावशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा में वर्तमान पर्याय के सिवाय अन्य अतीत और अनागत पर्यायों का अभाव रहता है।

(३५) वर्तमान पर्याय का व्यय जिसका स्वरूप है ऐसी पैंतीसवीं भावाभावशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा में वर्तमान पर्याय का नाश होता है।

(३६) जो पर्याय वर्तमान में नहीं है उसका उदय होनेरूप छत्तीसवीं अभावाभाव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति है। इस शक्ति से आत्मा में अभावरूप अनागत पर्याय का उदय होता है।

(३७) वर्तमान पर्याय के होने रूप सैंतीसवीं भावाभावशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा अपनी वर्तमान पर्याय में वर्तता है।

(३८) न होने वाली पर्याय के न होनेरूप अड़तीसवीं अभावाभावशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा में अविद्यमान पर्याय का अभाव रहता है।

(३९) कर्ता-कर्म आदि कारकों से अनुगत क्रिया से रहित होकर होना ही जिसका स्वरूप है ऐसी उनतालीसवीं भाव शक्ति है। इस शक्ति से आत्मा कर्ता-कर्म आदि कारकों से रहित होकर ही प्रवर्तता है।

(४०) कारकों से अनुगत होकर होना जिसका स्वरूप है ऐसी चालीसवीं क्रियाशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा कारकों का विकल्प साथ में लेकर प्रवर्तता है।

(४१) प्राप्त होते हुए सिद्धरूप भाव से तन्मय इकतालीसवीं कर्मशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा स्वयं सिद्ध (प्रकट) होता हुआ कर्मरूप होता है।

(४२) होनेरूप जो सिद्धरूप भाव उसके भावकपन से तन्मय ब्यालीसवीं कर्तृत्व-शक्ति है। इस शक्ति से आत्मा की जो सिद्धरूप दशा है उसका करनेवाला वह स्वयं होता है।

(४३) होते हुए भाव के होने में जो साधकतमपन है उससे तन्मय तेतालीसवीं करणशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा में जो भाव हो रहा है उसका अतिशय साधक वह स्वयं होता है।

(४४) स्वयं दिये जानेवाले भाव के उपेयपन से तन्मय चवालीसवीं सम्प्रदानशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा के द्वारा जो भाव दिया जा रहा है उसके द्वारा उपेय-प्राप्त करने योग्य आत्मा स्वयं होता है।

(४५) उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव के अपाय में जो हानि से रहित ध्रुवपन (अवधिपन) है उससे तन्मय पेंतालीसवीं अपादान शक्ति है। इस शक्ति के कारण आत्मा से जब उत्पाद-व्यय से युक्त भाव का अपाय होने लगता है अर्थात् ऐसा भाव जब आत्मा से पृथक् होने लगता है तब उसका अवधिभूत-अपादान आत्मा स्वयं होता है।

(४६) भाव्यमान भाव के आधारपन से तन्मय छयालीसवीं अधिकरणशक्ति है। इस शक्ति से आत्मा भावने योग्य भावों का आधार स्वयं होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(४७) **अपने** भावमात्र के स्वस्वामीपन से तन्मय सेंतालीसवीं सम्बन्धशक्ति है। इस **शक्ति** से आत्मा अपने समस्त भावों का स्वामी स्वयं होता है।

अब इन शक्तियों का संकोच करते हुए आचार्य कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु।।२६३।।

अर्थ– इस प्रकार जो सैंतालीस शक्तियाँ ऊपर कहीं गई हैं उन्हें आदि लेकर अनेक निजशक्तियों से अच्छी तरह भरा हुआ होने पर भी जो भाव ज्ञानमात्रभाव से तन्मयता को नहीं छोड़ता ऐसा क्रमवर्ती पर्यायों और अक्रमवर्ती गुणों से चित्रित तथा द्रव्य और पर्यायों से तन्मय चैतन्यरूप वस्तु इस संसार में है।

भावार्थ– आत्मा यद्यपि अनेक शक्तियों से परिपूर्ण है तो भी वह ज्ञानमात्र भाव से तन्मय है अर्थात् वे समस्त शक्तियाँ आत्मा के ज्ञानमात्रभाव में अन्तःप्रविष्ट हैं। यह चैतन्यरूप आत्मद्रव्य क्रमवर्ती पर्यायों और अक्रमवर्ती गुणों से तन्मय है तथा द्रव्य और पर्यायरूप है। एकान्तवादियों के अनुसार न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप।।२६३।।

आगे स्याद्वाद की महिमा रूप काव्य कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिरिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्तः।।२६४।।

अर्थ– एकान्तदृष्टि से वस्तुत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती, इस प्रकार स्वयं ही अवलोकन करनेवाले सत्पुरुष जिननीति का जिनेन्द्रदेव के द्वारा प्रतिपादित नयसरणि का उल्लङ्घन न करते हुए स्याद्वाद की अधिक शुद्धि को प्राप्त कर ज्ञानरूप हो जाते हैं—मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ– वस्तु का जो वास्तविक स्वरूप है उसकी व्यवस्था अनेकान्त से ही होती है एकान्त से नहीं, ऐसा विचार कर जो स्याद्वाद की अधिक शुद्धि को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त करते हैं तथा जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रतिपादित नीति का— **नयमार्ग** का जो कभी उल्लङ्घन नहीं करते ऐसे वे सत्पुरुष ज्ञानी होते हैं अर्थात् अनादि कर्मबन्धन को काटकर मुक्त होते हैं।।२६४।।

उपायोपेयभाव

अब इस ज्ञानमात्रभाव के उपायोपेयभाव का चिन्तन करते हैं—

पाने योग्य वस्तु जिससे प्राप्त की जा सके वह उपाय है और उस उपाय के द्वारा जो वस्तु प्राप्त की जावे वह उपेय है। आत्मारूप वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र है तो भी उसमें उपायोपेयभाव विद्यमान है; क्योंकि उस आत्मवस्तु के एक होने पर भी उसमें साधक और सिद्ध के भेद से दोनों प्रकार का परिणाम देखा जाता है अर्थात् आत्मा ही साधक है और आत्म ही सिद्ध है। उन दोनों परिणामों में जो साधकरूप है वह उपाय कहलाता है और जो सिद्धरूप है वह उपेय कहा जाता है। इसलिये अनादिकाल से साथ लगे हुए मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्र के कारण स्वरूप से च्युत होने से जो चतुर्गति संसार में परिभ्रमण कर रहा है, ऐसा यह आत्मा जब अत्यन्त निश्चल भाव से ग्रहण किये हुए व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के पाकप्रकर्ष की परम्परा के द्वारा क्रम से स्वरूप को प्राप्त होता है तब अन्तर्मग्न निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की विशेषता से उसका साधक रूप परिणमन होता है। तथा परमप्रकर्ष की उत्कृष्ट दशा को प्राप्त रत्नत्रय के अतिशय से प्रवृत्त होने वाले जो समस्त कर्मों का क्षय उसमें प्रज्वलित तथा कभी नष्ट नहीं होनेवाला जो स्वभाव भाव उसकी अपेक्षा सिद्धरूप परिणमन होता है। इस तरह साधक और सिद्धरूप परिणमन करनेवाले आत्मा का जो ज्ञानमात्र भाव है वह एक ही उपायोपेयभाव को सिद्ध करता है अर्थात् आत्मा का ज्ञानमात्रभाव ही उपाय है और वही उपेय है।

तात्पर्य ऐसा है—यह आत्म अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। जब तक व्यवहाररत्नत्रय को निश्चल रूप से अंगीकृत कर अनुक्रम से अपने स्वरूप के अनुभव की वृद्धि करता हुआ निश्चयरत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त होता है तबतक तो साधक रूप भाव है और निश्चयरत्नत्रय की पूर्णता से समस्त कर्मों को क्षय होकर जो मोक्ष प्राप्त होता है वह सिद्धरूप भाव है। इन दोनो भावरूप परिणमन ज्ञान का ही परिणमन है, इसलिये वही उपाय है और वही उपेय है।

इस प्रकार साधक और सिद्ध दोनों प्रकार के परिणमनों में ज्ञानमात्र की अनन्यता—अभिन्नता से निरन्तर अस्खलित जो आत्मारूप एक वस्तु उसके निश्चल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण से उन मुमुक्षुजनों को, जिन्हें अनादि संसार से लेकर अभी तक संसारसागर से संतरण करानेवाली ज्ञानमात्र भूमिका का लाभ नहीं हुआ, भी उस भूमिका का लाभ हो जाता है। तदनन्तर उस भूमिका में निरंतर लीन रहनेवाले वे सत्पुरुष, स्वयं ही क्रम तथा अक्रम से प्रवृत्त होनेवाले अनेक धर्मों की मूर्तिरूप होते हुए साधकभाव से उत्पन्न होनेवाले परमप्रकर्ष की उच्चतम अवस्थास्वरूप सिद्धभाव के पात्र होते हैं। परन्तु जो पुरुष, अन्तर्नीत अर्थात् भीतर समाये हैं अनेक धर्म जिसमें ऐसी ज्ञानमात्र एकभावरूप इस भूमि को नहीं प्राप्त करते हैं वे निरन्तर अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भाव के स्वरूप से नहीं होने तथा पररूप होने को देखते-जानते तथा अनुचरण करते हुए मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्र के धारक होते हैं तथा उपायोपेयभाव से सर्वथा भ्रष्ट होकर निरन्तर भटकते ही रहते हैं।

आगे यही भाव कलशा में कहते हैं—

वसन्ततिलका

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा:
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति।।२६५।।

अर्थ– जिसका किसी तरह मोह (मिथ्यात्व) नष्ट हो गया है ऐसे जो सत्पुरुष, ज्ञानमात्र निजभावरूप निश्चल भूमिका आश्रय करते हैं वे साधकपन को प्राप्तकर सिद्ध होते हैं। पर जो मूढ मिथ्यादृष्टि हैं वे इस भूमि को न पाकर परिभ्रमण करते हैं।

भावार्थ– स्वभाव से अथवा परके उपदेश आदि से जिनका मिथ्यात्व दूर हो जाता है ऐसे जो जीव इस ज्ञानमात्र भूमि को प्राप्त करते हैं वे साधक अवस्था को प्राप्त होकर अन्त में सिद्ध होते हैं और इनके विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव इस भूमि को न पाकर चतुर्गति संसार में जन्म-मरण करते हुए निरन्तर घूमते रहते हैं।।२६५।।

आगे इस भूमि की प्राप्ति कैसे होती है, यह कहते हैं—

वसन्ततिलका

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः।।२६६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ– जो स्याद्वाद की कुशलता तथा अत्यन्त निश्चल संयम के द्वारा निरन्तर इसी ओर उपयोग लगाता हुआ अपने ज्ञानरूप आत्मा की भावना करता है—आत्मा का चिन्तन करता है वही एक ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मित्रता का पात्र हुआ इस ज्ञानमयी भूमि को प्राप्त होता है।

भावार्थ– जो पुरुष, मात्र ज्ञाननय को स्वीकार कर क्रियानय को छोड़ देता है अर्थात् चरणानुयोग की पद्धति से चारित्र का पालन नहीं करता वह स्वच्छन्द हुआ इस ज्ञानमयी भूमि को नहीं पाता और जो क्रियानय को ही स्वीकार कर मात्र बाह्य आचरण में लीन रहता है तथा आस्रव और बन्ध आदि के योग्य भावों के परिज्ञान से रहित होता है वह भी इस भूमि को नहीं प्राप्त करता। किन्तु जो इन दोनों नयों को अंगीकार कर ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र का पालन करता है वही इस भूमि को प्राप्त होता है।।२६६।।

अब ज्ञानमयी भूमि को प्राप्त करनेवाले को ही आत्मा का उदय होता है, यह कहने के लिये कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलकाछन्द

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः
　　शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
　　स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा।।२६७।।

अर्थ– जिसका विकासरूपी हास चैतन्यपिण्ड के तेज से विलसित है—शोभायमान है, जो शुद्धप्रकारश के समूह से अच्छी तरह सुशोभित है, जो अनन्त सुख में अच्छी तरह स्थित और निरन्तर न चिगनेवाले एक-अद्वितीयरूप से युक्त है तथा जिसकी ज्ञानरूपी ज्योति अचल है ऐसा यह आत्मा उसी ज्ञानमात्र भूमिका को प्राप्त करनेवाले महानुभाव के उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ– यहाँ चित्पिण्ड आदि विशेषण से अनन्तदर्शन का प्रकट होना बतलाया है, शुद्धप्रकाश आदि विशेषण से अनन्तज्ञान का प्रकट होना बतलाया है, आनन्दसुस्थित आदि विशेषण से प्रकट होना सूचित किया है और अचलार्चिः इस विशेषण से अनन्तवीर्य का सद्भाव जताया है। इस तरह अनन्तचतुष्टय से तन्मय आत्मा उसी महानुभाव के उदयरूप होता है जो ज्ञानमात्र भूमि को प्राप्त हो चुकता है।।२६७।।

Jain Education International　　For Personal & Private Use Only　　www.jainelibrary.org

आगे आचार्य स्वभाव के प्रकट होने की आकांक्षा दिखलाते हुए कलशा कहते हैं—

वसन्ततिलका

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः।।२६८।।

अर्थ– जिसका लहलहाट करता तेज स्याद्वाद से देदीप्यमान है, तथा जिसमें शुद्धस्वभाव की महिमा विद्यमान है ऐसा ज्ञानरूप प्रकाश जब मुझमें उदय को प्राप्त हो चुका है तब मुझे बन्ध और मोक्ष के मार्ग में गिरनेवाले अन्यभावों से क्या प्रयोजन है? मैं तो चाहता हूँ कि मेरा नित्य ही उदयरूप रहनेवाला यह स्वभाव ही अतिशयरूप से स्फुरायमान हो।

भावार्थ– शुद्धस्वभाव की महिमा से युक्त यथार्थ ज्ञान के प्रकट होने पर बन्ध और मोक्ष के विकल्प उठानेवाले अन्य भावों से ज्ञानी जीव को कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, इसलिये वह सदा यही चाहता है कि मेरा जो ज्ञानमात्र स्वभाव है वही सदा उदित रहे।।२६८।।

आगे ज्ञानी एक-अखण्ड आत्मा की भावना करता है, यह दिखाने के लिये कलशा कहते हैं—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि।।२६९।।

अर्थ– अनेक प्रकार की आत्मशक्तियों का समुदाय रूप यह आत्मा नय की दृष्टि से खण्ड-खण्ड होता हुआ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, इसलिये मैं अपने आत्मा का ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं तो वह चैतन्यरूप तेज हूँ जो अखण्ड है अर्थात् प्रदेशभेद न होने से जो सदा अखण्ड रहता है, फिर भी शक्तियों की विभिन्नता के कारण जिसके खण्ड दूर नहीं किये जा सकते, जो एक है, अत्यन्त शान्त है तथा अचल है अर्थात् अपने स्वभाव से कभी चिगता नहीं है।

भावार्थ– आत्मा नाना प्रकार की जिन आत्मशक्तियों का समुदाय है वे शक्तियाँ नयों पर अवलम्बित हैं। इसलिये जब नयदृष्टि से आत्मा का चिन्तन किया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता है तब एक आत्मा खण्ड-खण्डरूप अनुभव में आता है, केवल अंश ही सामने आता है, अंशीरूप से उसका नाश हो जाता है। अतएव ज्ञानी पुरुष नयचक्र से परे रहनेवाले एक अखण्ड आत्मा का ही चिन्तन करता है। यद्यपि प्रारम्भ में, ज्ञान में, नय, प्रमाण और निक्षेप के विकल्प आते हैं, परन्तु आगे चलकर वे विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं।।२६९।।

ज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मैं न तो द्रव्य के द्वारा आत्मा को खण्डित करता हूँ, न क्षेत्र के द्वारा खण्डित करता हूँ, न काल के द्वारा खण्डित करता हूँ और न भाव के द्वारा खण्डित करता हूँ। मैं तो अत्यन्त विशुद्ध एक ज्ञानमात्र हूँ। यद्यपि वस्तुस्वरूप के विवेचन में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विकल्प आता है, परन्तु अभेदनय से विचार करने पर इन चारों में प्रदेशभेद नहीं है। अत: उक्त विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं और वस्तु एकरूप अनुभव में आने लगती है।

शालिनीछन्द

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्र: स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्र:।।२७०।।

अर्थ– जो यह मैं ज्ञानमात्र भाव हूँ उसे ज्ञेय का ज्ञानमात्र नहीं जानना, किन्तु ज्ञेयों के आकाररूप ज्ञान की कल्लोलों से चञ्चल, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ऐसे तीन भेदों से युक्त वस्तुमात्र जानना।

भावार्थ– ऊपर आत्मा को ज्ञानमात्र भाव कहा है, सो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि आत्मा केवल ज्ञेयों के ज्ञानमात्र ही है, किन्तु ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इस प्रकार तीन भेदों को लिये हुए वस्तुमात्र है अर्थात् आत्मा ज्ञान भी है, ज्ञेय भी है और ज्ञाता भी है। उस आत्मा में ज्ञेयों के आकार प्रतिफलित होते हैं, वे आकार ही ज्ञान के कल्लोल कहलाते हैं। इन ज्ञान की कल्लोलों के द्वारा वह आत्मा चञ्चल रहता है अर्थात् उसमें ज्ञेयाकाररूप ज्ञान के विकल्प सदा उठते रहते हैं।।२७०।।

अब आत्मा की अनेकरूपता ज्ञानियों के मन में भ्रम उत्पन्न नहीं करती, यह दिखलाने के लिये कलशा कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मन:
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत्।।२७१।।

अर्थ– ज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि मेरा जो सहज आत्मतत्त्व है, वह यद्यपि कहीं तो मेचक–अशुद्ध, कहीं मेचकामेचक—शुद्धाशुद्ध और कहीं अमेचक—शुद्ध ही सुशोभित होता है। तथापि वह निर्मल बुद्धि के धारक पुरुषों के मन को भ्रान्तियुक्त नहीं करता, क्योंकि वह परस्पर अच्छी तरह मिलकर प्रकट हुई शक्तियों के समूह से युक्त तथा स्फुरायमान—अनुभवगोचर है।

भावार्थ– जिस प्रकार नाटक में एक ही पात्र नानारूपों को धारण करने के कारण नानारूप दिखाई देता है, परन्तु परमार्थ से वह एक ही होता है, इसलिये ज्ञानी पुरुषों को भ्रम नहीं होता वे स्पष्ट समझ लेते हैं कि नाना वेषों को धारण करने वाला एक ही पात्र है। उसी प्रकार यह आत्मा भी नानारूप धारण करने के कारण नानारूप दिखाई देता है। जैसे कर्मोदय की तीव्रता में यह आत्मा रागादिक विकारों से अशुद्ध दिखाई देता है, फिर कुछ कर्मोदय दूर होने पर रागादिक विकारों में न्यूनता होने पर शुद्धाशुद्ध अनुभव में आता है और तदनन्तर कर्मों का सर्वथा क्षय हो जानेपर रागादिक विकारों से सर्वथा रहित होता हुआ शुद्ध दिखाई देता है। इस तरह आत्मा यद्यपि नानारूपों में अनुभवगोचर होता है परन्तु निर्मल भेदज्ञान को धारण करनेवाले पुरुषों को इससे आत्मा में अनेक रूपता का भ्रम नहीं होता। वे समझते हैं कि एक ही आत्मा की ये नाना अवस्थाएँ हैं। भ्रम उत्पन्न न होने का कारण यह है कि आत्मा परस्पर मिली हुई अनेक शक्तियों के समूह से युक्त एक ही अनुभव में आती है। उन शक्तियों के कारण आत्मा में अशुद्धता, शुद्धताशुद्धता और शुद्धता रूप परिणमन करने की योग्यता विद्यमान है।।२७१।।

आगे आत्मा के आश्चर्यकारी सहज वैभव को दिखलाने के लिए कलशा कहते हैं—

पृथ्वीछन्द

इतो गतमनेकतां दधदित: सदाप्येकता-
मित: क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमित: सदैवोदयात् ।
इत: परमविस्तृतं धृतमित: प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्।।२७२।।

अर्थ– अहो! आत्मा का वह सहज वैभव बड़ा आश्चर्यकारी है क्योंकि इस ओर अनेकता को प्राप्त है तो इस ओर सदा एकता को धारण कर रहा है, इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ओर क्षणभङ्गुर है तो इस ओर निरन्तर उदयरूप रहने से ध्रुव है, इस ओर परम विस्तृत है तो इस ओर स्वकीय प्रदेशों से धारण किया हुआ है।

भावार्थ– यहाँ पर अनेक दृष्टियों को हृदय में रखकर अमृतचन्द्र स्वामी आत्मा के विभव का वर्णन कर रहे हैं। पर्यायदृष्टि से आत्मा अनेकता को प्राप्त है, द्रव्यदृष्टि से एकता को प्राप्त है, क्रमभावी पर्याय की दृष्टि से आत्मा क्षणभङ्गुर है, सहभावी गुण की दृष्टि से ध्रुवरूप है, ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत दृष्टि से आत्मा परम विस्तार को प्राप्त है और स्वकीय प्रदेशों की अपेक्षा आत्मप्रदेशों के परिमाण है। इन विविध शक्तियों के कारण आत्मा में परस्पर विरुद्ध धर्मों का समावेश भी सिद्ध हो जाता है।।२७२।।

आगे आत्मा की उसी आश्चर्यकारक महिमा का वर्णन फिर भी करते हैं—

पृथ्वीछन्द

कषायकलिरेकत: स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकत: स्पृशति मुक्तिरप्येकत:।
जगत्त्रितयमेकत: स्फुरति चिच्चकास्त्येकत:
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुत:।।२७३।।

अर्थ– एक ओर कषाय से उत्पन्न कलह स्खलित हो रहा है—स्वरूप से भ्रष्ट हो रहा है तो एक ओर शान्ति विद्यमान है। एक ओर संसार की बाधा है तो एक ओर मुक्ति स्पर्श कर रही है। एक ओर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं तो एक ओर चैतन्यमात्र ही सुशोभित होता है। आचार्य कहते हैं कि अहो! आत्मा के स्वभाव की महिमा अद्भुत से अद्भुत—अत्यन्त आश्चर्यकारी विजयरूप प्रवर्त रही है—सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान है।

भावार्थ– जब विभावशक्ति की अपेक्षा विचार करते हैं तब आत्मा में कषाय का उपद्रव दिखाई देता है, और जब स्वभाव दशा का विचार करते हैं तो शान्ति का प्रसार अनुभव में आता है। कर्मबन्ध की अपेक्षा जन्म-मरणरूप संसार की बाधा दिखाई देती है और शुद्धस्वरूप का विचार करने पर मुक्तिस्पर्श अनुभव में आता है। स्व-परज्ञायकभाव की अपेक्षा विचार करने पर आत्मा लोकत्रय का ज्ञाता है और स्वज्ञायकभाव की अपेक्षा एक चैतन्यमात्र अनुभव में आता है। इस तरह अनेक विरुद्ध धर्मों के समावेश के कारण आत्मस्वभाव की महिमा अद्भुतों में भी अद्भुत—अत्यन्त आश्चर्यकारी जान पड़ती है।।२७३।।

आगे चिच्चमत्कार का स्तवन करते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मालिनीछन्द

जयति सहजतेज:पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूप:।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भ:
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एष:।।२७४।।

अर्थ– अपने स्वभावरूप तेज के पुञ्ज में निमग्न होते हुए तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों से जिसमें अनेक विकल्प दिखाई देते हैं तो भी जो स्वरूप की अपेक्षा एक है, जिसे निजरस के समूह से पूर्ण अबाधित तत्त्व की उपलब्धि हुई है तथा जिसकी दीप्ति बलपूर्वक नियमित की गई है अर्थात् जो अपने स्वरूप में निष्कम्प है ऐसा यह चैतन्यचमत्कार जयवंत प्रवर्तता है—सर्वोत्कृष्टरूप से प्रवर्तमान है।

भावार्थ– यहाँ अन्तमङ्गलरूप से आचार्य चैतन्यचमत्कार का विजय-गान कर रहे हैं। जिस चैतन्यचमत्कार में स्वच्छता के कारण प्रतिभासित तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों के निमित्त से अनेक विकल्प स्खलित हो रहे हैं—रुकते हुए अनुभव में आ रहे हैं और उन विकल्पों के कारण जो अनेक रूप दिखाई देता है तो भी स्वरूप की अपेक्षा एक ही है, जिसे निजरस के प्रसार से भरे अखण्ड आत्मतत्त्व की उपलब्धि हुई है और अनन्तवीर्य के कारण जिसकी दीप्ति स्वकीय स्वभाव में बलात् नियमित की गई है, ऐसा चैतन्य चमत्कार सदा जयवंत प्रवर्ते।।२७४।।

अब अमृतचन्द्र स्वामी श्लेषालंकार से अपना नाम प्रकट करते हुए आत्मज्योति के देदीप्यमान रहने की आकांक्षा प्रकट करते हैं—

मालिनीछन्द

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ताज्-
ज्वलतु विमलपूर्णं नि:सपत्नस्वभावम्।।२७५।।

अर्थ– जो निश्चल चैतन्यस्वरूप से युक्त आत्मा में निरन्तर निमग्न आत्मा को आत्मा के द्वारा धारण कर रही है, जिसने मोह को नष्ट कर दिया है, जो सब ओर से उदय को प्राप्त है, विमल है, पूर्ण है तथा जिसका स्वभाव प्रतिपक्षी कर्म से रहित है, ऐसी यह कभी नष्ट न होनेवाली अमृतमय चन्द्रमा की ज्योति के समान आह्लाद दायक आत्मज्योति सदा देदीप्यमान रहे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ– यहाँ लुप्तोपमालंकार से आत्मा को अमृतचन्द्रज्योति कहा है क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' ऐसा समास करने से 'वत्' शब्द का लोप हो जाता है तब 'अमृतचन्द्रज्योतिः' बनता है। यदि 'अमृतचन्द्ररूपज्योति' ऐसा विग्रह किया जाय तो भेदरूपक अलंकार होता है। अथवा 'अमृतचन्द्रज्योतिः' ऐसा ही कहा जाय, आत्मा का नाम न कहा जाय तब अभेदरूपक अलंकार होता है। इसके विशेषणों के द्वारा चन्द्रमा से व्यतिरेक भी है क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानान्धकारक का दूर होना बतलाता है, 'विमलपूर्ण' विशेषण लाञ्छनरहितपन तथा पूर्णता बतलाता है, 'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब तथा मेघ आदि से आच्छादित न होना बतलाता है तथा 'समन्तात् ज्वलतु'—विशेषण सब क्षेत्र और सब काल में प्रकाश करना बतलाता है। चन्द्रमा ऐसा नहीं है। यहाँ टीकाकार ने 'अमृतचन्द्र' ऐसा श्लेष से अपना नाम भी सूचित किया है।।२७५।।

अनुष्टुप्

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादितः।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमाम्यहम्।।१।।

अर्थ– जो कर्मों से मुक्त है तथा ज्ञनादिगुणों से अमुक्त है उस अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

अब द्रव्य की अपेक्षा सप्तभङ्गी का अवतार करते हैं—

(१) स्यादस्ति द्रव्यम्। (२) स्यान्नास्ति द्रव्यम्। (३) स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यम्। (४) स्यादवक्तव्यं द्रव्यम्। (५) स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्। (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्। (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्।

इनमें सर्वथापन का निषेध करनेवाला, अनेकान्त अर्थ का द्योतक, कथञ्चित् अर्थवाला निपातसंज्ञक 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन सातों भङ्गों का सार इस प्रकार है—

(१) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से द्रव्य है।

(२) परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से द्रव्य नहीं है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव का द्रव्य में अभाव है।

(३) क्रम से स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से द्रव्य है और नहीं है।

(४) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से युगपद् कहे जाने की अशक्यता की अपेक्षा से द्रव्य अवक्तव्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से द्रव्य है तथा अवक्तव्य है।

(६) परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है।

(७) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के क्रम की अपेक्षा से तथा युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से द्रव्य है और नहीं है तथा अवक्तव्य है।

भावार्थ– द्रव्य में अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यत्व के भेद से तीन धर्म हैं। इन तीन धर्मों का पृथक्-पृथक् तथा संयोगरूप से कथन करने पर सात भङ्ग होते हैं। जिस समय स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से द्रव्य के अस्तित्व का कथन होता है उस समय 'स्यादस्ति द्रव्यम्' ऐसा पहला भङ्ग होता है अर्थात् स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से द्रव्य है। जब परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से द्रव्य का कथन होता है तब 'स्यान्नास्ति द्रव्यम्', ऐसा दूसरा भङ्ग होता है। जब क्रम से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से कथन करते हैं तब 'स्यात् अस्तिनास्ति द्रव्यम्' यह तीसरा भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य है और नहीं है। जब स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से एक साथ कहना चाहते हैं तब कथन न किये जा सकने के कारण 'स्यात् अवक्तव्यं द्रव्यम्' ऐसा चौथा भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य अवक्तव्य है। जब स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और एक साथ स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से कथन करते हैं तब 'स्यादस्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यं' यह पाचवाँ भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य है और अवक्तव्य है। जब परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा एक साथ स्व-परद्रवय-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा कथन करते हैं तब 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्' यह छठवाँ भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है। तथा जब क्रम से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा एक साथ स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से कथन करते हैं तब 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्' यह सातवाँ भङ्ग होता है अर्थात् द्रव्य है, नहीं हैं और अवक्तव्य है। तीन धर्मों के पृथक्-पृथक् तीन और दो-दो के संयोगी तीन तथा तीन संयोगी एक सब मिलाकर धर्म सात से अधिक नहीं होते, इसलिये सब भङ्ग सात ही होते हैं अधिक नहीं, 'सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी' इस तरह समास करने पर 'सप्तभङ्गी' शब्द निष्पन्न होता है।

इस तरह स्याद्वादाधिकार पूर्ण हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शार्दूलविक्रीडितछन्द

यस्माद् द्वैतमभूत् पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियाया फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्खलु।।२७६।।

अर्थ– जिस अज्ञानभाव से पहले तो स्व और पर का द्वैतरूप एक भाव हुआ, फिर उस द्वैतपन से अपने में अन्तर हुआ, उस अन्तर के पड़ने से राग-द्वेष का परिग्रहण हुआ, उसके होने पर क्रिया और कारकों का भेद उत्पन्न हुआ और क्रिया-कारकों के भेद से आत्मा की अनुभूति क्रिया के सम्पूर्ण फल को भोगती हुई खेद को प्राप्त हुई, वह अज्ञान इस समय विज्ञानघन के समूह में निमग्न हो गया है अर्थात् ज्ञानरूप में परिणत हो गया है, इसलिये अब कुछ भी नहीं है।

भावार्थ– अज्ञान के कारण जीव और कर्म का संयोगरूप द्वैतभाव होता है। उस द्वैत से स्वरूप में अन्तर आता है, उस अन्तर से आत्म में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, उन रागद्वेषों के कारण आत्मा में क्रिया-कारक का भाव आता है, अर्थात् आत्मा पर का कर्ता बनता है, जब आत्मा पर का कर्ता बन गया तब आत्मा की अनुभूति स्वरूप से च्युत हो अपनी क्रिया के फल का भोक्ता बनती है, इस स्थिति में आत्मा की अनुभूति देख खिन्न होती है। इस तरह समस्त अनर्थों की जड़ अज्ञानभाव था, मेरा वह अज्ञानभाव अब विज्ञानघन के समूह में निमग्न हो गया है, इसलिये उपर्युक्त सब विकल्प स्वयं समाप्त हो गये हैं। मैं इस ग्रन्थ का कर्ता हूँ, अतः इसके फल को भोगूँ, ऐसा जो भाव था वह अज्ञानमूलक था, अब वह अज्ञान समाप्त हो गया है, इसलिये मैं इस ग्रन्थ का कर्ता और इसके फल का भोक्ता हूँ, ऐसा मेरा भाव नहीं है।।२७६।।

अब ग्रन्थकर्ता दूसरे ढंग से ग्रन्थ के प्रति अपना अकर्तृत्व सूचित करते हैं—

उपजातिछन्द

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः।।२७७।।

अर्थ– अपनी शक्ति से वस्तुतत्त्व को सूचित करनेवाले शब्दों के द्वारा यह समयप्राभृत आगम की व्याख्या की गई है। आत्मस्वरूप में लीन रहनेवाले अमृतचन्द्रसूरि का इसमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ टीकाकार अमृतचन्द्रस्वामी ने अपनी लघुता प्रकाशित की है। साथ ही अपने आपको 'स्वरूपगुप्तस्य' विशेषण देकर यह सिद्धान्त भी प्रकट किया है कि जब यह जीव आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है तब उसका परपदार्थों के प्रति कर्तृत्व का भाव नष्ट हो जाता है। अर्थात् वह परपदार्थों का कर्ता नहीं बनाता। इस समयप्राभृत ग्रन्थ की व्याख्या प्रारम्भ करते समय सूरि ने कहा था कि परपरिणति का कारण जो मोह है उसके प्रभाव से मलिन मेरी चिन्मात्रमूर्ति में इस समयसार की व्याख्या से परम विशुद्धता होवे। अब ग्रन्थ के अन्त में प्रकट करते हैं कि मेरा अज्ञान विज्ञानघन में विलीन हो गया तथा मैं स्वरूप में लीन हो गया, इस तरह मुझमें परम विशुद्धता आई है, उसके फलस्वरूप मेरा पर के प्रति कर्तृत्वभाव निकल चुका है। अत: मैं इस ग्रन्थ का कर्ता नहीं हूँ। तो फिर इस व्याख्या को किसने बना दिया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि अपनी अभिधाशक्ति के सद्भाव से सब शब्दों में वस्तु-स्वरूप के कहने का सामर्थ्य रहता है। अत: शब्दों के द्वारा ही यह व्याख्या बनाई गई है।।२७७।।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यविरचित समयप्राभृत के अमृतचन्द्रसूरि रचित स्याद्वादाधिकार का प्रवचन पूर्ण हुआ।

•

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट १

तात्पर्यवृत्ति में व्याख्यात और आत्मख्याति में अव्याख्यात गाथाओं का अर्थ –

(१०वीं और ११वीं गाथा के बीच)

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।

ते पुण तिण्णि वि आदा तम्हा कुण भावणं आदे।।

अर्थ– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में भावना करना चाहिये और वे तीनों चूँकि आत्मा हैं, इसलिए आत्मा में करना चाहिये।

भावार्थ– पूर्वार्ध में गुण और गुणी का भेद स्वीकृतकर सम्यग्दर्शनादि तीन गुणों का पृथक् निर्देश किया है और उत्तरार्ध में गुण-गुणी का अभेद स्वीकृत कर कहा गया है कि जिस कारण सम्यग्दर्शनादि तीनों गुण आत्मा ही हैं इसलिए आत्मा की ही भावना करना चाहिये।

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।।

अर्थ– जो मुनि निरन्तर उसी ओर उपयोग लगाकर इस आत्म-भावना को करता है वह थोड़े ही समय में समस्त दुःखों से छुटकारा पा जाता है।

भावार्थ– आत्मध्यानकी अपूर्वम महिमा है। निरन्तर तन्मयीभाव से जो आत्मध्यान करता है— सब ओर से विकल्प-जाल को हटाकर आत्मस्वरूप में स्थिर होता है वह शीघ्र ही मोक्ष का पात्र होता है।

(१५वीं और १६वीं गाथा के बीच में)

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दसणे चरित्ते य।

आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।।

अर्थ– निश्चय से मेरा आत्मा ज्ञान में है, दर्शन में है, चारित्र में है, प्रत्याख्यान में है, संवर में है और योग-निर्विकल्पक समाधि में है।

भावार्थ– गुण-गुणी में अभेद-विवक्षा से कथन है कि मेरा आत्मा ही ज्ञानदर्शनादिरूप है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१९वीं और २०वीं गाथा के बीच)

जीवे व अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंधमोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो।।

अर्थ– आत्मा वर्तमान समय में जिस जीव अथवा अजीव में उपयुक्त होता है— तन्मयीभाव से उन्हें उपादेय मानता है उसी में बन्ध और मोक्ष होता है, ऐसा संक्षेप में कहा गया है।

भावार्थ– जब शरीरादिक अजीव पदार्थ में तन्मय होकर उन्हें ही उपादेय मानता है, तब बन्ध होता है और जब जीव-शुद्ध आत्मस्वरूप में तन्मय होकर उसे ही उपादेय मानता है तब मोक्ष होता है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ।।

अर्थ– आत्मा निश्चयनय से जिस भाव को करता है वह उसी भाव का कर्त्ता होता है और व्यवहार से पुद्गलकर्मों का कर्त्ता है।

भावार्थ– शुद्ध निश्चयनय से आत्मा अपने ज्ञानादिभावों का कर्त्ता है, अशुद्धनिश्चयनय से रागादिक अशुद्धभावों का कर्त्ता है और अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से पुद्गलरूप द्रव्यकर्मादिक का कर्ता है।

(७५ और ७६वीं गाथा के बीच)

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण।
धम्मादि परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी।।

अर्थ— आत्मा कर्त्ता कहा गया है और कर्त्ता नहीं कहा गया है सो किस उपाय से? इसे जो जानता है तथा धर्म-अधर्म रूप परिणामों को जो जानता है वह ज्ञानी है।

भावार्थ— निश्चयनय से आत्मा कर्ता नहीं है और व्यवहारनय से कर्ता है, ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी है। इसी तरह जो पुण्य-पापरूप परिणामों को समझता है वह ज्ञानी है।

(८६ और ८७वीं गाथा के बीच)

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ— आत्मा उदयागत द्रव्य कर्म का निमित्त पाकर जिस प्रकार अपने भाव को करता है उसी प्रकार द्रव्य कर्म का निमित्त पाकर अपने भाव का वेदन करता है।

भावार्थ— निश्चयनय से आत्मा अपने ही भाव का कर्त्ता है और अपने ही भाव का भोक्ता है।

(१२५ और १२६वीं गाथा के बीच)

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।।

अर्थ— जो साधु बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर उपयोग लक्षण से युक्त अपने शुद्ध आत्मा को जानता है उसे परमार्थ का ज्ञाता निःसंग-निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ।।

अर्थ—जो साधु समस्त चेतन-अचेतन एवं शुभ-अशुभ परद्रव्यों से मोह छोड़कर ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण आत्मा को जानता है उसे परमार्थ के ज्ञाता पुरुष जितमोह कहते हैं।

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति।।

अर्थ—जो साधु शुद्धोपयोग परिणामरूप धर्म अर्थात् पुण्यशक्ति को छोड़कर उपयोग लक्षण से युक्त शुद्ध आत्मा को जानता है उसे परमार्थ के ज्ञाता पुरुष धर्मसंग से मुक्त कहते हैं।

(१८९ और १९० के बीच)

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि।
भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य।

अर्थ—परोक्ष आत्मा का ध्यान किस प्रकार होता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष किसी के उपदेश से परोक्ष रूप को देखकर कहता है कि मैंने उसे देख लिया, जान लिया। इसी प्रकार आगम के उपदेश से जीव को ग्रहण कर लिया, देख लिया तथा जान लिया, ऐसा कहा जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को वि दिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं।।

अर्थ—छद्मस्थावस्था में आत्मा का परोक्षज्ञान होता है। इसके विपरीत यदि किसी का ऐसा कथन हो कि मैं आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करता हूँ तो उससे हम पूछते हैं—जिसने पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं जाना है ऐसा कौन साधु इस समय कह सकता है कि मैंने इस आत्मस्वरूप को प्रत्यक्ष ही देखा है जब कि वह आत्मा परोक्ष श्रुतज्ञान का विषय हो रहा है। अर्थात् कोई नहीं कह सकता।

भावार्थ—स्वसंवेदनज्ञान की अपेक्षा आत्मा का प्रत्यक्ष जानना कहा जाता है। परन्तु इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान नहीं होता, एतावता परोक्ष कहलाता है। यद्यपि आत्मा परोक्ष है तथापि उसका ध्यान निषिद्ध नहीं है।।

(१९९ और २००वीं गाथा के बीच)

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी।।

अर्थ—यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यह नाना प्रकार का कर्मोदय के फल का विपाक तेरा क्यों नहीं है? इसके उत्तर में कहते हैं कि जिस कारण यह कर्मोदय का विपाकफल तेरे साथ लगे हुए कर्मरूप परद्रव्य का उपयोग अर्थात् उदयरूप है, इसलिये तेरा नहीं है। यह कर्मोदय के फल का विपाक तेरा नहीं है। इसी तरह यह शरीर भी तेरा नहीं है क्योंकि यह अज्ञानी है—ज्ञानदर्शन से रहित है।

भावार्थ—भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म तेरे नहीं है।

(२११ और २१२वीं गाथा के बीच)

धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तभंगपुव्वेसु।
संगं च तहा णेयं देव-मणुअ-तिरिय-णेरइयं।।

अर्थ—जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा नहीं है वह अपरिग्रह—परिग्रह से रहित कहा गया है। ऐसा जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, अङ्गपूर्वगतश्रुत, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह तथा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक पर्याय की इच्छा नहीं करता अर्थात् इन सबको अपने शुद्धात्मद्रव्य से पृथक् मानता है।

(२१९ और २२०वीं गाथा के बीच)

णागफलीए मूलं णाइणितोयेण गब्भणागेण।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं मत्थवाएण।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—अशुद्ध आत्मा शुद्ध कैसे हो जाता है, इसका दृष्टान्तपूर्वक कथन करते हैं—जिस प्रकार संपाफनी की जड़, हस्तिनी का मूत्र और सिन्दूर के साथ शीशा धोंकनी की वायु से गलाने पर सुवर्ण बन जाता है उसी प्रकार अशुद्ध आत्मा शुद्ध बन जाता है।

कम्मं हवेई किट्टं रागादी कालिया अह विभावो ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ।।
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं मत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं ।।

अर्थ—कर्म कीट है, रागादिक विभाव कालिमा है, सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र परम औषधि है, ऐसा जानो। ध्यान अग्नि है, तपश्चरण मातली—पात्र कहा गया है और आत्मा लोहा है। परम योगीश्वरों को इसे तपाना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी पात्र में रखकर लोहे को परम औषधि के साथ अग्नि में तपाने से वह सुवर्ण बन जाता है तथा उसकी कीट और कालिमा भस्म हो जाती है। इसी प्रकार तपश्चरणरूपी पात्र में जीवरूपी लोहे को सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परम औषध के साथ ध्यानरूपी अग्नि में तपाने से यह जीव शुद्ध हो जाता है तथा उसकी द्रव्यकर्म रूपी कीट और रागादिकभाव-कर्मरूप कालिमा भस्म हो जाती है।

(२६९ और २७० के बीच)

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वा वि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।
कायेण च वाया वा मणेण सुहिदे करेमि सत्ते ति।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—मैं शरीर के द्वारा जीवों को दु:खी करता हूँ, यदि ऐसी तू बुद्धि करता है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योंकि कर्म के द्वारा ही जीव दु:खी होते हैं।

मैं वचन के द्वारा जीवों को दु:खी करता हूँ, यदि ऐसी बुद्धि करता है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योंकि कर्म के द्वारा ही जीव दु:खी होते हैं।

मैं मन के द्वारा जीवों को दु:खी करता हूँ, यदि ऐसी तेरी बुद्धि है तो तेरी यह सब बुद्धि मिथ्या है क्योंकि कर्मों के द्वारा जीव दु:खी होते हैं।

मैं शस्त्र के द्वारा जीवों को दु:खी करता हूँ यदि ऐसी तेरी बुद्धि है तो यह सब मिथ्या है क्योंकि जीव कर्म से ही दु:खी होते हैं।

मैं शरीर, वचन और मन के द्वारा जीवों को सुखी करता हूँ, ऐसी यदि तेरी बुद्धि है तो यह सब मिथ्या है क्योंकि कर्म से ही जीव सुखी होते हैं।

(२७० और २७१ वीं गाथा के बीच)

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ।।

अर्थ—जब तक बाह्य पदार्थों में संकल्प और विकल्प करता है तथा जब तक हृदय में आत्मस्वरूप ऋद्धि प्रस्फुरित नहीं होती है तब तक शुभ-अशुभ को उत्पन्न करनेवाले कर्म को करता है।

भावार्थ—स्त्री, पुत्र तथा शरीर आदि पदार्थों में 'ये मेरे हैं' इस प्रकार के भाव को संकल्प कहते हैं, और अन्तरङ्ग में हर्ष-विषादरूप परिणति को विकल्प कहते हैं। जब तक ये दोनों विद्यमान रहते हैं तब तक पुण्य-पाप कर्मों का बन्ध होता है। परन्तु जब हृदय में शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान जागृत होता है और उपर्युक्त संकल्प-विकल्प दूर हो जाते हैं तब सब प्रकार का बन्ध रुक जाता है।

(२८५ और २८६ के बीच)

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा।।
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं।।

अर्थ—अध:कर्म आदिक जो ये पुद्गलद्रव्य के दोष हैं उन्हें तू आत्मा के कैसे मानता है क्योंकि ये दूसरे के द्वारा—गृहस्थ के द्वारा किये हुए पर के आहाररूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल के गुण हैं।

अध:कर्म और उद्देश्य से बनाया गया जो आहार है वह पुद्गलद्रव्यमय है वह मेरा कराया हुआ कैसे हो सकता है क्योंकि वह तो नित्य अचेतन कहा गया है।

(३१६ और ३१७वीं गाथा के बीच)

जो पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि।
आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो।।

अर्थ—जो अज्ञानी जीव सापराध है वह तो सशङ्कित होता हुआ कर्मफल को तन्मय होकर भोगता है। परन्तु जो निरपराध ज्ञानी पुरुष है वह कर्मोदय होने पर क्या करता है, यह इस गाथा में बताते हुए कहा है कि—

जो ज्ञानी पुरुष निरपराध है वह नि:शङ्कित रहता है और 'मैं ज्ञान-दर्शन-स्वरूप आत्मा हूँ', ऐसा जानता हुआ निरन्तर उसकी आराधना में तत्पर रहता है।

(३३१ और ३३२वीं गाथा के बीच)

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो।।

अर्थ—यदि सम्यक्त्वप्रकृति आत्मा को सम्यग्दृष्टि करती है, ऐसा माना जाय, तो तेरे मत में अचेतन प्रकृति सम्यक्त्व को करनेवाली हुई।

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट २

समयप्राभृत की अकारादि क्रम से गाथानुक्रमणी

	गाथा संख्या
अ	
अज्झवसाणणिमित्तं	२६७
अज्झवसिदेण बंधो	२६२
अट्ठवियप्पे कम्मे	१८२
अट्ठविहं पि य कम्मं	४५
अण्णदवियेण	३७२
अण्णाणमओ भावो	१२७
अण्णाणमया भावा	१२९
अण्णाणमया भावा	१३१
अण्णाणमोहिदमदी	२३
अण्णास्स स उदओ	१३२
अण्णाणी कम्मफलं	३१६
अण्णाणी पुण रत्तो	२१९
अण्णो करेइ अण्णो	३४८
अत्ता जस्सामुत्तो	४०५
अपडिक्कमणं दुविहं	२८३
अपडिक्कमणं दुविहं	२८४
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१०
अपरिग्गहो अणिच्छो	२११
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१२
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१३
अपरिणमंतम्हि सयं	१२२
अप्पडिकमणं अप्पडिसरणं	३०७
अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण	१८७
अप्पाणमयाणंता	३९
अप्पाणमयाणंतो	२०२
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो	३४२
अप्पाणं झायंतो	१८९
अरसमरूवमगंधं	४९
अवरे अज्झवसाणेसु	४०
असुहं सुहं व दव्वं	३८१
असुहं सुहं व रूवं	३७६
असुहो सुहो व गंधो	३७७
असुहो सुहो व गुणो	३८०
असुहो सुहो व फासो	३७९
असुहो सुहो व सद्दो	३७५
असुहो सुहो व रसो	३७८
अह जाणओ उ भावो	३४४
अह जीवो पयडी तह	३३०
अह ण पयडी ण जीवो	३३१
अह दे जण्णो कोहो	११५
अहमिक्को खलु सुद्धो	३८
अहमिक्को खलु सुद्धो	७३
अहमेदं एदमहं	२०
अहवा एसो जीवो	३२९
अहवा मण्णसि मज्झं	३४१
अह सयमप्पा परिणमदि	१२४
अह संसारत्थाणं	६३
अह सयमेव हि परिणमदि	११९
आ	
आउक्खयेण मरणं	२४८
आउक्खयेण मरणं	२४९
आऊदयेण जीवदि	२५१
आउदयेण जीवदि	२५२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	गाथा संख्या
आदह्मि दव्वभावे	२०३
आदा खु मज्झ णाणं	२७७
आधाकम्मं उद्देसियं	२८७
आधाकम्माईया	२८६
आभिणिसुदोहि	२०४
आयारादी णाणं	१७६
आयासं पि णाणं	४०१
आसि मम पुव्वमेदं	२१
इ	
इणमण्णं जीवादो	२८
इय कम्मबंधणाणं	२९०
उ	
उदओ असंजमस्स दु	१३३
उदयविवागो विविहो	१९८
उप्पण्णोदयभोगो	२१५
उप्पादेदि करेदि य	१०७
उम्मग्गं गच्छंतं	२३४
उवओगस्स अणाई	८९
उवओए उवओगो	१८१
उपघायं कुव्वंतस्स	२३९
उवघायं कुव्वंतस्स	२४४
उवभोगमिंदियेहिं	१९३
ए	
एएण कारणेण दु	८२
एए सव्वे भावा	४४
एएसु य उवओगो	९०
एएहिं य संबंधो	५७
एक्कं च दोण्णि तिण्णि	६५
एक्कस्स दु परिणामो	१३८
एक्कस्स दु परिणामो	१४०
एदम्हि रदो णिच्चं	२०६

	गाथा संख्या
एदाणि णत्थि जेसि	२७०
एदे अचेदणा खलु	१११
एदेण कारणेण दु	१७६
एदेण दु सो कत्ता	९७
एदेसु हेदुभूदेसु	१३५
एदाहि य णिव्वत्ता	६६
एमादिए दु विविहे	२१४
एमेव कम्मपयडी	१४९
एमेव जीवपुरिसो	२२५
एमेव मिच्छदिट्ठी	३२६
एमेव य ववहारो	४८
एमेव सम्मदिट्ठी	२२७
एयं तु अविवरीदं	१८३
एयं तु जाणिऊण	३८२
एयत्तणिच्छयगओ	३
एयं तु असंभूदं	२२
एवमलिये अदत्ते	२६३
एवमिह जो दु जीवो	११४
एवं हि सावराहो	३०३
एवं जाणदि णाणी	१८५
एवं ण को वि मोक्खो	३२३
एवं णाणी सुद्धो	२७९
एवं तु णिच्छयणयस्स	३६०
एवं पराणि दव्वाणि	९६
एवं पुग्गलदव्वं	६४
एवं बंधो उ दुण्हं वि	३१३
एवं मिच्छादिट्ठी	२४१
एवं ववहारणओ	२७२
एवं ववहारस्स उ	३५३
एवं ववहारस्स दु	३६५
एवंविहा बहुविहा	४३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	गाथा संख्या
एवं संखुवए सं	३४०
एवं सम्मद्दिट्ठी	२००
एवं सम्मादिट्ठी	२४६
एवं हि जीवराया	१८
एसा दु जा मई दे	२५९
क	
कणयमया भावादो	१३०
कम्मइयवग्गणासु य	११७
कम्मं जं पुव्वकयं	३८३
कम्मं जं सुहमसुहं	३८४
कम्मं णाणं ण हवइ	३९७
कम्मं पडुच्च कत्ता	३११
कम्मं बद्धमबद्धं	१४२
कम्ममसुहं कुसीलं	१४५
कम्मस्स य परिणामं	७५
कम्मस्साभावेण य	१९२
कम्मस्सुदयं जीवं	४१
कम्मे णोकम्मम्हि य	१९
कम्मेहिं दु अण्णाणी	३३२
कम्मेहिं भमाडिज्जइ	३३४
कम्मेहिं सुहाविज्जइ	३३३
कम्मोदएण जीवा	२५४
कम्मोदएण जीवा	२५५
कम्मोदएण जीवा	२५६
कह सो घिप्पई अप्पा	२९६
कालो णाणं ण हवइ	४००
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४५
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४६
को णाम भणिज्ज बुहो	२०७
को णाम भणिज्ज बुहो	३००
कोहादिसु वट्टंतस्स	७०

	गाथा संख्या
कोहुवजुत्तो कोहो	१२५
ग	
गंधरसफासरूवा	६०
गंधो णाणं ण हवइ	३९४
गुणसण्णिदा दु एदे	११२
च	
चउविह अणेयभेयं	१७०
चारित्तपडिणिबद्धं	१६३
चेया उ पयडिअट्ठं	३१२
छ	
छिंददि भिंददि य तहा	२३८
छिंददि भिंददि य तहा	२४३
छिज्जदु वा भिज्जदु वा	२०९
ज	
जइ जीवेण सहच्चिय	१३९
जइ णवि कुणइ छेदं	२८९
जइया इमेण जीवेण	७१
जइया स एव संखो	२२२
जं कुणइ भावमादा	९१
जं कुणइ भावमादा	१२६
जं भावं सुहमसुहं	१०२
जं सुहमसुहमुदिण्णं	३८५
जदि जीवो ण सरीरं	२६
जदि पुग्गलकम्ममिणं	८५
जदि सो परदव्वाणि य	९९
जदि सो पुग्गलदव्वी	२५
जम्हा कम्मं कुव्वइ	३३५
जम्हा घाएइ परं	३३८
जम्हा जाणइ णिच्चं	४०३
जम्हा दु अत्तभावं	८६
जम्हा दु जहण्णादो	१७१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	गाथा संख्या
जया विमुंचए चेया	३१५
जह कणयमग्गितवियं	१८४
जह को वि णरो जंपइ	३२५
जह चिट्ठं कुव्वंतो	३५५
जह जीवस्स अणण्णुवओगो	११३
जह ण वि सक्कमणज्जो	८
जह णाम को वि पुरिसो	१७
जह णाम को वि पुरिसो	३५
जह णाम को वि पुरिसो	१४८
जह णाम को वि पुरिसो	१३७
जह णाम को वि पुरिसो	२८८
जह परदव्वं सेडदि	२६१
जह परदव्वं सेडदि	२६२
जह परदव्वं सेडदि	२६३
जह परदव्वं सेडदि	२६४
जह पुण सो चिय	२२६
जह पुण सो चेव णरो	२४२
जह पुरिसेणाहारो	१७९
जह फलिहमणी सुद्धो	२७८
जह बंधे चिंतंतो	२९१
जह बंधे घितूण य	२९२
जह मज्जं पिबमाणो	१९६
जह राया ववहारा	१०८
जह विसमुवभुंजंतो	१९५
जह सिप्पिओ उ कम्मफलं	३५२
जह सिप्पिओ उ कम्मं	३४९
जह सिप्पिओ उ करणाणि	३५१
जह सिप्पिओ उ करणेहिं	३५०
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं	३५४
जह सेडिया दु	३५६
जह सेडिया दु	३५७
जह सेडिया दु	३५८
जह सेडिया दु	३५९
जा एस पयडीयट्ठं चेया	३१४
जावं अपडिक्कमणं	२८५
जाव ण वेदि विसेसंतरं	६९
जिदमोहस्स दु जइया	३३
जीवणिबद्धा एए	७४
जीवपरिणामहेदु	८०
जीवम्हि हेदुभूदे	१०५
जीवस्स जीवरूवं	३४३
जीवस्स जे गुणा केइ	३७०
जीवस्स णत्थि केइ	५३
जीवस्स णत्थि रागो	५१
जीवस्स णत्थि वग्गो	५२
जीवस्स णत्थि वण्णो	५०
जीवस्स दु कम्मेण य	१३७
जीवस्साजीवस्स दु	३०९
जीवादिसद्दहणं	१५५
जीवे कम्मं बद्धं	१४१
जीवे ण सयं बद्धं	११६
जीवो कम्मं उहयं	४२
जीवो चरित्त-दंसण	२
जीवो चेव हि एदे	६२
जीवो ण करेदि घडं	१००
जीवो परिणामयदे	११८
जीवो बंधो य तहा	२९४
जीवो बंधो य तहा	२९५
जे पुग्गलदव्वाणं	१०१
जो अप्पणा दु मण्णदि	२५३
जो इंदिये जिणित्ता	३१
जो कुणदि वच्छलत्तं	२३५

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

	गाथा संख्या
जो चत्तारि वि पाए	२२९
जो चेव कुणइ	३४७
जो जम्हि गुणे दव्वे	१०३
जो ण करेदि जुगुप्पं	२३१
जो ण कुणइ अवराहे	३०२
जो ण मरइ ण य दुहिदो	२५८
जो दु ण करेदि कंखं	२३०
जोधेहिं कदे जुद्धे	१०६
जो पस्सदि अप्पाणं	१४
जो पस्सदि अप्पाणं	१५
जो पुण णिरवराधो	३०५
जो मण्णदि जीवेमि य	२५०
जो मण्णदि हिंसामि य	२४७
जो मरइ जो य दुहिदो	२५७
जो मोहं तु णिणित्ता	३२
जो वेददि वेदिज्जदि	२१६
जो समयपाहुडमिणं	४१५
जो सव्वसंगमुक्को	१८८
जो सिद्धभत्तिजुत्तो	२३३
जो सुयणाणं सव्वं	१०
जो सो दु णेहभावो	२४०
जो सो अणेहभावो	२४५
जो हवइ असंमूढो	२३२
जो हि सुएणहिगच्छइ	९
ण	
ण उ होइ मोक्खमग्गो	४०९
ण कुदो चि वि उप्पण्णो	३१०
ण ज्झवसाणं णाणं	४०२
णत्थि दु आसवबंधो	१६६
णत्थि मम को वि मोहो	३६
णत्थि मम धम्म आदी	३७

	गाथा संख्या
ण मुयइ पयडिमभव्वो	३१७
णयरम्मि वण्णिदे जह	३०
ण य रायदोसमोहं	२८०
ण रसो दु हवइ णाणं	३९५
ण वि एस मोक्खमग्गो	४१०
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे	८१
ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ	३११
ण वि परिणमदि ण गिह्णदि	७६
ण वि परिणमदि ण गिह्णदि	७७
ण वि परिणमदि ण गिह्णदि	७८
ण वि परिमणदि ण गिह्णदि	७९
ण वि सक्कइ घित्तुं जं	४०६
ण वि होदि अप्पमत्तो	६
ण सयं बद्धो कम्मे	१२१
णाणं सम्मादिट्ठिं	४०४
णाणगुणेण विहीणा	२०५
णाणमधम्मो ण हवइ	३९९
णाणमया भावाओ	१२८
णाणस्स दंसणस्स य	३६९
णाणस्स पडिणिबद्धं	१६२
णाणावरणादीयस्स	१६५
णाणी रागप्पजहो	२१८
णादूण आसवाणं	७२
णिंदियसंथुयवयणाणि	३७३
णिच्चं पच्चक्खाणं	३८६
णिच्छयणयस्स एवं	८३
णियमा कम्मपरिणदं	१२०
णिव्वेयसमावण्णो	३१८
णेव य जीवट्ठाणा	५५
णो ठिदिबंधट्ठाणा	५४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	गाथा संख्या
त	
तं एयत्तविहत्तं	५
तं खलु जीवणिबद्धं	१३६
तं णिच्छये जुज्जदि	२९
तं जाण जोग उदयं	१३४
तत्थ भवे जीवाणं	६१
तम्हा उ जो विसुद्धो	४०७
तम्हा ण को वि जीवो	३३७
तम्हा ण को वि जीवो	३३९
तम्हा ण मेत्ति णिच्चा	३२७
तम्हा दु कुसीलेहि	१४७
तम्हा दु हित्तु लिंगे	४११
तह जीवे कम्माणं	५९
तह णाणिस्स दु पुव्वं	१८०
तह णाणिस्स वि विविहे	२२१
तह णाणी वि दु जइया	२२३
तह विय सच्चे दत्ते	२६४
तिविहो एसुवओगो	९४
तिविहो एसुवओगो	९५
तेसिं पुणो वि य इमो	११०
तेसिं हेऊ भणिया	१९०
थ	
थेयाइ अवराहे	३०१
द	
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६६
दंसणणाणचरित्ताणि	१६
दंसणाणचरित्तं	१७२
दंसणाणचरित्तं किंचि	३६७
दंसणाणचरित्तं किंचि	३६८
दवियं जं उप्पज्जइ	३०८
दव्वगुणस्स य आदा	१०४
दव्वे उवभुंजंते	१९४
दिट्ठी जहेव णाणं	३२०
दुक्खिदसुहिदे जीवे	२६६
दुक्खिदसुहिदे सत्ते	२६०
दोह्ण वि णयाण भणियं	१४३
ध	
धम्माधम्मं च तहा	२६९
धम्मो णाणं ण हवइ	३९८
प	
पंथे मुस्संतं पस्सिदूण	५८
पक्के फलम्हि पडिए	१६८
पज्जत्तापज्जत्ता	६७
पडिकमणं पडिसरणं	३०६
पणाए घित्तव्वो जो चेदा	२९७
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा	२९९
पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा	२९८
परमट्ठबाहिरा जे	१५४
परमट्ठम्हि दु अठिदो	१५२
परमट्ठो खलु समओ	१५१
परमप्पाणं कुव्वं	९२
परमप्पाणमकुव्वं	९३
परमाणुमित्तयं पि हु	२०१
पाखंडीलिंगाणि व	४०८
पाखंडीलिंगेसु व	४१३
पुग्गलकम्मं कोहो	१२३
पुग्गलकम्मं मिच्छं	८८
पुग्गलकम्मं रागो	१९९
पुढवी पिंडसमाणा	१६९
पुरिसित्थियाहिलासी	३३६
पुरिसो जह को वि	२२४
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं	३७४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	गाथा संख्या		गाथा संख्या
फ		**व**	
फासो ण हवइ णाणं	३९६	वंदित्तु सव्वसिद्धे	१
ब		वण्णो णाणं ण हवइ	३९३
बंधाणं च सहावं	२९३	वत्थस्स सेदभावो	१५७
बंधुवभोगणिमित्ते	२१७	वत्थस्स सेदभावो	१५८
बुद्धी ववसाओ वि य	२७१	वत्थस्स सेदभावो	१५९
भ		वत्थुं पडुच्च जं पुण	२६५
भावो रागादिजुदो	१६७	वदणियमाणि धरंता	१५३
भुंजंतस्स वि विविहे	२२०	वदसमिदीगुत्तीओ	२७३
भूयत्थेणाभिगदा	१३	ववहारणओ भासदि	२७
म		ववहारभासिएण उ	३२४
मज्झं परिग्गहो जइ	२०८	ववहारस्स दरीसण	४६
मारिमि जीवावेमि य	२६१	ववहारस्स दु आदा	८४
मिच्छत्तं अविरमणं	१६४	ववहारिओ पुण णओ	४१४
मिच्छत्तं जइ पयडी	३२८	ववहारेण दु आदा	९८
मिच्छत्तं पुण दुविहं	८७	ववहारेण दु एदे	५६
मोक्खं असद्दहंतो	२७४	ववहारेणुवदिस्सइ	७
मोक्खपहे अप्पाणं	४१२	ववहारोऽभूत्थो	११
मोत्तूण णिच्छयट्ठं	१५६	विज्जारहमारूढो	२३६
मोहणकम्मस्सुदया	६८	वेदंतो कम्मफलं	३८७
र		वेदंतो कम्मफलं	३८८
रत्तो बंधदि कम्मं	१५०	वेदंतो कम्मफलं	३८९
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव	३७१	**स**	
रागो दोसो मोहो य	१७७	संति दु णिरुवभोज्जा	१७४
रायम्हि य दोसम्हि य	२८१	संसिद्धिराधसिद्धं	३०४
रायम्हि य दोसम्हि य	२८२	सत्थं णाणं ण हवइ	३९०
राया हु णिग्गदोत्ति य	४७	सद्दहदि य पत्तियदि य	२७५
रूवं णाणं ण हवइ	३९२	सद्दो णाणं ण हवइ	३९१
ल		सम्मत्तपडिणिबद्धं	१६१
लोगसमणाणमेयं	३२२	सम्मद्दंसणणाणं	१४४
लोयस्स कुणइ विण्हू	३२१	सम्मद्दिट्ठी जीवा	२२८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	गाथा संख्या
सव्वह्णु णाणदिट्ठो	२४
सव्वे करेइ जीवो	२६८
सव्वे पुव्वणिबद्धा	१७३
सव्वे भावे जम्हा	३४
सामण्णपच्चया खलु	१०९
सुदपरिचिदाणुभूया	४
सुद्धं तु वियाणंतो	१८६
सुद्धो सुद्धादेशो	१२

	गाथा संख्या
सेवंतो वि ण सेवइ	१९७
सोवण्णियं पि णियलं	१४६
सो सव्वणाणदरिसी	१६०
ह	
हेउ अभावे णियमा	१९१
हेदू चदुव्वियप्पो	१७८
होदूण निरुवभोज्जा	१७५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ३

कलश-काव्यों की अनुक्रमणी

	काव्य-संख्या
अ	
अकर्ता जीवोऽयं	१९४
अखण्डितमनाकुलं	१४
अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव	१४४
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति	१४१
अज्ञानं ज्ञानमप्येवं	६१
अज्ञानतस्तु सतृष्णाभ्यवहार	५८
अज्ञानमयभवानामज्ञानी	६८
अज्ञानमेतदधिगम्य	१६९
अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया	५८
अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव	१९६
अतः शुद्धनयायत्तं	७
अत्यन्तं भावयित्वा विरति	२३२
अथ स्याद्वादशुद्ध्यर्थं	२४६
अथ महामदनिर्भरमन्थरं	११३
अद्वैतापि हि चेतना	१८३
अध्यास्य शुद्धनय	१२०
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं	२५८
अनन्तधर्मणस्तत्त्वं	२
अनवरतमनन्तै	१८७
अनाद्यनन्तमचलं	४१
अनेनाध्यवसायेन	१७१
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्म	२३४
अयि कथमपि मृत्वा	२३
अर्थालम्बनकाल एव कलयन्	२५६
अलमलमतिजल्पै	२४३

	काव्य-संख्या
अवतरति न यावद्	२९
अविचलितचिदात्म	२७५
अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेक	४४
आ	
आक्रामन्नविकल्पभावमचलं	९३
आत्मनश्चिन्तयैवालं	१९
आत्मभावान्करोत्यात्मा	५६
आत्मस्वभावं परभावभिन्न	१०
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं	६२
आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभि	२०७
आत्मानुभूतिरिति	१३
आसंसारत एव धावति	५५
आसंसारविरोधिसंवर	१२५
आसंसारान्प्रतिपदममी	१३८
इ	
इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनात्	२३३
इति परिचिततत्त्वै	२८
इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी	१७६
इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी	१७७
इति सति सह	३१
इतीदमात्मनस्तत्त्वं	२४५
इतो गतमनेकतां	२७२
इत्थं ज्ञानक्रकचकलना	४५
इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव	१४५
इत्यज्ञानविमूढानां	२६१
इत्याद्यनेकनिजशक्ति	२८३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	काव्य-संख्या
इत्यालोच्य विवेच्य	१७८
इत्येवं विरचय्य संप्रति	४८
इदमेकं जगच्चक्षु	२४४
इदमेवात्र तात्पर्यं	१२२
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्	९१
उ	
उदयति न नयश्री	९
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्	२३५
उभयनयविरोधध्वंसिनि	४
ए	
एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं	१६०
एकं ज्ञायकभावनिर्भर	१४०
एकः कर्ता चिदहमिह	४६
एकः परिणमति सदा	५२
एकत्वं व्यवहारतो न तु	१७
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो	६
एकमेव हि तत्स्वाद्यं	१३९
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो	१८४
एको दूरात्त्यजति मदिरां	१०१
एको मोक्षपथो य एष	२३९
एकस्य कर्ता न तथा परस्य	७४
एकस्य कार्यं न तथा परस्य	७९
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य	८६
एकस्य चैको न तथा परस्य	८१
एकस्य जीवो न तथा परस्य	७६
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य	८७
एकस्य द्विष्टो न तथा परस्य	७३
एकस्य नाना न तथा परस्य	८५
एकस्य नित्यो न तथा परस्य	८३
एकस्य बद्धो न तथा परस्य	७०

	काव्य-संख्या
एकस्य भातो न तथा परस्य	८९
एकस्य भावो न तथा परस्य	८०
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य	७५
एकस्य मूढो न तथा परस्य	७१
एकस्य रक्तो न तथा परस्य	७२
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण	२००
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य	८४
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य	८८
एकस्य शान्तो न तथा परस्य	८२
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य	७७
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य	७८
एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य	२३७
एवं तत्त्वव्यस्थित्या	२६२
एष ज्ञानघनो नित्य	१५
एषैकैव हि वेदना	१५६
क	
कथमपि समुपात्तत्रित्व	२०
कथमपि हि लभन्ते	२१
कर्ता कर्ता भवति न यथा	९९
कर्ता कर्मणि नास्ति	९८
कर्तारं स्वफलेन यत्किल	१५२
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो	२०८
कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९३
कर्म सर्वमपि सर्वविदो	१०३
कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः	२०३
कषायकलिरेकतः	२७३
कान्त्यैव स्नपयन्ति ये	२४
कार्यत्वादकृतं न कर्म	२०२
कृतकारितानुमननै	२२४
क्लिश्यन्तां स्वयमेव	१४२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	काव्य-संख्या
क्वचिल्लसति मेचकं	२७१
घ	
घृतकुम्भाभिधानेऽपि	४०
च	
चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्व	३६
चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकास	२६७
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयो	२६९
चिरमिति नवतत्त्व	८
चित्स्वभावभरभावितभावा	९२
चैद्रूप्यं जडरूपतां च	१२६
ज	
जयति सहजतेजः	२७४
जानाति यः स न करोति	१६७
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म	६३
जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा	३३
जीवादजीवमिति	४३
ट	
टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा	२६०
टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचित	१६१
त	
तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१३४
तथापि न निरर्गलं	१६६
तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो	१००
त्यक्तं येन फलं स कर्म	१५३
त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि	१९०
त्यजतु जगदिदानीं	२२
द	
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा	२३८
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वा	१६
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः	१७
दूरं भूरिविकल्पजालगहने	९४

	काव्य-संख्या
द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै	२४२
द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकच	१८०
ध	
धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने	१२३
न	
न कर्म बहुलं जगन्न	१६४
न जातु रागादि	१७५
ननु परिणाम एव किल	२१०
नमः समयसाराय	१
न हि विदधति बद्धस्पृष्ट	११
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्	१३५
नास्ति सर्वेऽपि सम्बन्धः	१९९
निजमहिमरतानां	१२८
नित्यमविकारसुस्थित	२६
निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्	३८
निःशेषकर्मफल	२३०
निषिद्धे सर्वस्मिन्	१०४
नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलं	१९२
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ	५४
नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु	२६४
नोभौ परिणमतः खलु	५३
प	
पदमिदं ननु कर्म दुरासदं	१४३
परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	१८६
परपरिणतिमुज्झत्	४७
परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावात्	३
परमार्थेन तु व्यक्त	१८
पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा	२२१
पूर्वबद्धनिजकर्म	१४६
पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये	२५५
प्रच्युत्य शुद्धनयतः	१२१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	काव्य-संख्या
प्रज्ञाछेत्री शितेयं	१८१
प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिर	२५१
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म	२२७
प्रमादकलितः कथं भवति	१८९
प्रकारकवलिताम्बर	२५
प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं	१५९
प्रादुर्भावविराममुद्रित	२५९
ब	
बन्धच्छेदात्कलयदतुलं	१९१
बहिर्लुठति यद्यपि	२११
बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो	२४९
बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झित	२४७
भ	
भावयेद्भेदविज्ञान	१३०
भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो	११५
भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो	११४
भित्वा सर्वमपि स्वलक्षण	१८२
भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्य	२५३
भूतं भान्तमभूतमेव	१२
भेदज्ञानोच्छलन	१३२
भेदविज्ञानतः सिद्धाः	१३१
भेदोन्मादभ्रमरसभरा	११२
भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९५
म	
मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा	१११
मज्जन्तु निर्भरममी	३२
मा कर्तारममी स्पृशन्तु	२०४
मिथ्यादृष्टे स एवास्य	१७०
मोक्षहेतुतिरोधानात्	१०८
मोहविलासविजृम्भित	२२६
मोहाद्यदहमकार्षं	२२५

	काव्य-संख्या
य	
यः करोति स करोति केवलं	९६
यः परिणमति स कर्ता	५१
यः पूर्वभावकृतकर्म	२३१
य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	६९
यत्तु वस्तु कुरुते	२१३
यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं	१५७
यदि कथमपि धारावाहिना	१२७
यदिह भवति रागद्वेष २१९	
यदेतज्ज्ञानात्मा	१०५
यत्र प्रतिक्रमणमेव	१८८
यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा	२७६
यादृक् तादृगिहास्ति	१५०
यावत्पाकमुपैति कर्मविरति	११०
ये तु कर्तारमात्मानं	१९८
ये तु स्वाभावनियमं	२०१
ये त्वेनं परिहृत्य	२४०
ये ज्ञानमात्रनिजभावमयी	२६५
योऽयं भावो ज्ञानमात्रो	२७०
र	
रागजन्मनि निमित्ततां पर	२२०
रागद्वेषद्वयमुदयते	२१६
रागद्वेषविभावमुक्तमहसो	२२२
रागद्वेषविमोहानां	११९
रागद्वेषाविह हि भवति	१२७
रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या	२१९
रागादयो बन्धनिदानमुक्ता	१७४
रागादीनां झगिति विगमात्	१२४
रागादीनामुदयमदयं	१७९
रागाद्यास्रवरोधतो	१३३
रागोद्गारमहारसेन सकलं	१६३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	काव्य-संख्या
रुन्धन् बन्धं नवमिति	१६२
ल	
लोकः कर्मततोऽस्तु	१६५
लोकः शाश्वत एक एष	१५५
व	
वर्णादिसामग्र्यमिदं	३९
वर्णाद्या वा रागमोहोदयो वा	३७
वर्णाद्यैः सहितस्तथा	४२
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो	२१२
विकल्पकः परं कर्ता	९५
विगलन्तु कर्मविषतरु	२२९
विजहति न हि सत्तां	११८
विरम किमपरेणाकार्यकोला	३४
विश्रान्तः परभावभावकलना	२५७
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य	२४८
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा	१७२
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन	१०७
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन	१०६
वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं	२०६
वेद्यवेदकविभावचलात्वाद	१४७
व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं	२३६
व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि	५
व्यवहारविमूढदृष्टयः	२४१
व्याप्यव्याप्यकता तदात्मनि	४९
व्यावहारिकदृशैव केवलं	२०९
श	
शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पित	२१४
शुद्धद्रव्यस्वरसभावनात्	२१५
स	
संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं	११६
संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि	१०९
संपद्यते संवर एष	१२९
सकलमपि विहायाह्राय	३५
समस्तमित्येवमपास्य कर्म	२२८
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं	१५४
सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं	१३७
सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं	१३६
सर्वं सदैव नियतं	१६८
सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं	३०
सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं	१७३
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य	२५२
सर्वस्यामेव जीवन्त्यां	११७
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्त	१८५
स्थितेति जीवस्य निरन्तराया	६५
स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य	६४
स्याद्वादकौशलसुनिश्चल	२६६
स्याद्वाददीपितलसन्महसि	२६८
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै	२७७
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध	२५४
स्वेच्छासमुच्छलदनल्प	९०
स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति	१५८
ह	
हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां	१०२
क्ष	
क्षणिकमिदमिहैकः	२०५
ज्ञ	
ज्ञप्तिः करोति न हि	९७
ज्ञानमय एव भावः	६६
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१४९
ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं	२२३
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो	६०
ज्ञानाद्विवेचकतया तु	५९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	काव्य-संख्या		काव्य-संख्या
ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं	१४८	ज्ञानी करोति न	१९७
ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः	६७	ज्ञानी जानन्नपीमां	५०
ज्ञानिन् कर्म न जातु	१५१	ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति	२५०

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ४
उद्धृत श्लोक और गाथाओं की अनुक्रमणी

श्लोक	पृष्ठ
अतः शुद्धनयायत्तं	२७
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः	७३ (टि०)
अपडिकमणं अपरिसरणं	३१४
इह घटरूपेण यथा	८
उच्चालिदम्हि पाए	८४ (टि०)
एएण कारणेण दु	११
एएण कारणेण दु	३२५
कम्मं जं पुव्वकयं	३१६
चारित्तं खलु धम्मो	४
जइ जिणमअं पवज्जइ	२४
जीवकृतं परिणामं	१२२
जीवपरिणामहेदुं	११
जीवपरिणामहेदुं	३२५
जीवो परिणमदि जदा	५४
जो जह्मि गुणे दव्वे	२५८
जो जह्मि गुणे दव्वे	३२३
णत्थि विणा परिणामं	११६
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे	११
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे	३२५
ण हि तस्स तण्णिमित्तो	८४ (टि०)
त्वामेव वीततमसं	३२२
द्रव्यपर्यायायोरैक्यं	४३
द्रव्यं ततः कथञ्चित्	८
न जन्मनः प्राङ् न च	७७
न सामान्यात्मनोदेति	८
नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानात्	९
नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञाना-	३४३
पज्जयविजुदं दव्वं	३३
पडिकमणं पडिसरणं	३१४
परिणममानस्य चितस्	१२२
परिणमदि जेण दव्वं	५४
परिणमदि जेण दव्वं	३२२ (टि०)
मरदु व जियदु व जीवो	८४ (टि०)
मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्ति	२७
मिथ्याभिप्रायनिर्मुक्ति	१९१
मिथ्यासमूहो मिथ्या चेत्	३३
यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं	७३ (टि०)
राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः	१५१
वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं	७
संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च	४३
सदेकनित्यवक्तव्यास्	३३
सदृष्टिज्ञानवृत्तानि	४
सभापतिः सभासभ्याः	७३ (टि०)
सम्मद्दंसण णाणं	४३

●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट ५

शब्द-कोष

गाथा

अतिव्याप्ति दोष ६८

जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहे, ऐसा लक्षण, जैसे जीव अमूर्तिक है।

अधर्म ३७

जीव और पुद्गल के ठहरने में सहायक द्रव्य।

अध्यवसान ३९

आत्मा की रागादिरूप परिणति को अध्यवसान कहते हैं।

अध्यात्मस्थान ५२

स्व और पर में एकत्व का भाव होना।

अनुभागस्थान ५२

कर्मप्रकृतियों के फलदान की तरतमता।

अनुमोदना (अनुमनन)

किसी कार्य की अनुमोदना करना।

अनेकान्त १

वस्तु में रहनेवाले परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का सद्भाव।

अपर्याप्त ६७

अपर्याप्तक के दो भेद हैं–१. निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक। जिनकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण तो नहीं हुई है परन्तु नियम से पूर्ण हो जायगी वे निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाते हैं। गर्भ और उपपाद जन्म वालों की प्रथम अन्तर्मुहुर्त में यह अवस्था होती है। उसके बाद वे नियम से पर्याप्तक हो जाते हैं। जिनकी एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है और न होगी वे लब्ध्यपर्याप्तक हैं। यह अवस्था सम्मूर्च्छन जन्मवाले मनुष्य और तिर्यञ्चों के ही होती है।

गाथा

अप्रतिबुद्ध ९९

कर्म, नोकर्म को आत्मरूप और आत्मा को कर्म-नोकर्म रूप माननेवाला जीव अप्रतिबुद्ध है–अज्ञानी है।

अप्रमत्त ६

सप्तमगुणस्थान से लेकर चौदहवें गुण-स्थान तक के जीवों को अप्रमत्त कहते हैं।

अभव्य २७३

जिसे रत्नत्रय प्राप्त होने की योग्यता न हो उसे अभव्य कहते हैं। इसके विपरीत जिसे रत्नत्रय प्राप्त करने की योग्यता है उसे भव्य कहते हैं।

अमूढदृष्टि अंग २३२

समस्त भावों में मूढता नहीं करना।

अमेचक १६

आत्मा की शुद्ध अवस्था को अमेचक कहते हैं।

अवधिज्ञान २०४

जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना रूपी द्रव्यों को अवधि–सीमा लिये हुए जानता है वह अवधिज्ञान है। इसके २ भेद हैं–भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक।

अविरतिभाव ८९

असंयमरूप भाव को अविरतिभाव कहते हैं। यह प्राणि-असंयम और इन्द्रिय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा

असंयम के भेद से दो प्रकार का है। प्राणि-असंयम के ६ और इन्द्रिय-असंयम के ६ भेद हैं।

अज्ञान २३

मिथ्यात्व से दूषित ज्ञान अज्ञान है। इसके कुमति, कुश्रुत और कुअवधि के भेद से तीन भेद हैं।

अव्याप्तिदोष ६८

लक्ष्य के एक देश में रहनेवाला लक्षण, जैसे जीव रागादि से रहित है।

असंभव ५८

जिसका लक्ष्य में हरना सम्भव न हो, जैसे जीव का लक्षण अज्ञान।

अधःकर्म २८७

जो आहार पापकर्म से उपार्जितद्रव्य के द्वारा बनाया गया है उसे अधःकर्म कहते हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञान २०४

यह मतिज्ञान का दूसरा नाम है। इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। इसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भेद से चार भेद हैं।

आलोचना ३८५

वर्तमान के दोषों पर पश्चात्ताप करना।

आस्रव ६९

आत्मा में कर्मप्रदेशों का आगमन आस्रव कहलाता है। इसके द्रव्यास्रव और भावस्रव के भेद से दो भेद हैं।

उदयस्थान ५३

अपना फल प्रदान करने में समर्थ कर्मों की उदयावस्था।

गाथा

उद्देशिक २८६

जो आहार किसी के निमित्त से बनाया जाता है उसे उद्देशिक कहते हैं।

उपगूहन अंग २३३

परनिन्दा का भाव नहीं होना। इस अंग का दूसरा नाम उपबृंहण भी है, जिसका अर्थ आत्मगुणों की वृद्धि करना है।

उपयोग ३६

आत्मा की चैतन्यगुण से सम्बन्ध रखने वाली परिणति को उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं– १. ज्ञानोपयोग और २. दर्शनोपयोग।

उपादान कारण ८२

जो स्वयं कार्यरूप परिणमता है वह उपादान कारण है, जैसे घड़ा का उपादन मिट्टी।

उपादानोपादेयभाव ११

जो स्वयं कार्यरूप परिणमन करता है वह उपादान है, और उससे जो कार्य होता है वह उपादेय है। यह उपादानोपादेयभाव एक द्रव्य में ही होता है, भिन्न द्रव्यों में नहीं।

कर्तृकर्मभाव ७०

जो कार्यरूप परिणमन करता है उसे कर्ता और जो परिणमन है उसे कर्म कहते हैं। जैसे 'मिट्टी से घट बना', यहाँ मिट्टी कर्ता है और घट कर्म है।

कर्म १९

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म आत्मा के प्रत्येक प्रदेशों के साथ कार्मणवर्गणा के कर्मरूप होने के उम्मेदवार पुद्गल परमाणु लगे हुए हैं। आत्मा के रागादि भावों का निमित्त पाकर वे कर्मरूप परिणम जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा

कर्मबन्धन के चार पाये २२९

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग।

कषाय १६३

जो आत्मा के चारित्रगुण का घात करे उसे कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबन्धी आदि १६ भेद हैं।

केवलज्ञान २०४

जो सर्वद्रव्य और उनकी सब पर्यायों को युगपत् जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

कारित २२४ (क०)

किसी कार्य को दूसरों से कराना।

कृत २२४ (क०)

किसी कार्य को स्वयं करना।

क्रियानय २६६ (क०)

चारित्र के आचरण पर बल देना।

गर्हा ३०६

गुरु की साक्षीपूर्वक दोषों का प्रकट करना गर्हा है।

गुण ७५

जो द्रव्य के आश्रय रहे परन्तु दूसरे गुण से रहित हो उसे गुण कहते हैं। ये गुण सामान्य और विशेष की अपेक्षा दो प्रकार के हैं।

गुणस्थान ५५

मोह और योग के निमित्त से होनेवाले आत्मपरिणामों के तारतम्य को गुणस्थान कहते हैं। इसके १४ भेद हैं–१. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. असंयत सम्यग्दृष्टि, ५. देशसंयत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसाम्पराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगकेवली और १४. अयोगकेवली।

विशेष ज्ञान के लिये जीवकाण्ड का गुणस्थानाधिकार द्रष्टव्य है।

गाथा

गुप्ति २७३

मन वचन कायरूप योगों का अच्छी तरह निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं। इसके ३ भेद हैं–१. मनोगुप्ति, २. वचनगुप्ति और ३. कायगुप्ति।

चारित्र २

निश्चय से आत्मस्वरूप में स्थिरता को चारित्र कहते हैं। व्यवहार से आत्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त कराने में सहायक व्रत, समिति, गुप्ति आदि को चारित्र कहते हैं।

चिदात्मा २७५ (क०)

चैतन्यस्वरूप आत्मा

जितेन्द्रिय ३१

जो स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों को अपने नियन्त्रण में रखता है वह जितेन्द्रिय है।

जीवस्थान ५५

जीवों के समस्त भेदों को संगृहीत करना जीवसमास है। उसके १४ भेद हैं। यथा-एकेन्द्रिय के बादर और सूक्ष्मी की अपेक्षा दो भेद, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय तथा असैनी पञ्चेन्द्रिय इन सात युगलों के पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दो-दो भेद करने से १४ जीवसमास होते हैं। जीवसमास के ५७ तथा ९८ भी भेद होते हैं। विस्तार के लिये जीवकाण्ड का जीवसमास प्रकरण द्रष्टव्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा

ज्ञान २

निश्चय से आत्मतत्त्व का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान सम्यक्ज्ञान है। व्यवहार से जीवादि प्रयोजनभूत पदार्थों में यथार्थज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहते हैं। यही ज्ञान जब मिथ्यात्व के उदय से दूषित होता है तब मिथ्याज्ञान कहलाता है।

ज्ञायकभाव ६

जीवादि पदार्थों को जाननेवाला आत्मा का भाव ज्ञायकभाव कहलाता है।

ज्ञेय-ज्ञायकभाव ९५

जिसे जाना जावे उसे ज्ञेय कहते हैं और जो जाननेवाला है उसे ज्ञायक कहते हैं।

ज्ञाननय २६६ (क)

जानने पर बल देना।

तप २७३

इच्छाओं के निरोध को तप कहते हैं। इसके बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो भेद हैं। बाह्य तप अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश के भेद से छह प्रकार का है। और आभ्यन्तर तप प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के भेद से छह प्रकार का है।

तीर्थंकर २६

धर्म की आम्नाय को चलानेवाले तीर्थंकर कहलाते हैं। ये प्रत्येक अवससर्पिणी और उत्सर्पिणी में चौबीस-चौबीस होते हैं।

त्रिविध उपयोग ९५

मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति।

गाथा

दर्शन २

निश्चय से परपदार्थ से भिन्न और अपने गुणपर्यायों से अभिन्न आत्मा की श्रद्धा होना दर्शन या सम्यग्दर्शन है। व्यवहार से जीवादि पदार्थों का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। दर्शनावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से प्रकट होनेवाला सामान्यावलोकनरूप दर्शन इससे पृथक् गुण है।

द्वेष ७६

जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जावे अथवा जो गुण और पर्यायों से सहित हो उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य छह हैं– १. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश और ६. काल।

द्रव्य ५१

अप्रीतिरूप परिणाम

धर्म ३७

जीव और पुद्गल के चलने में सहायक द्रव्य।

धारणा ३०६

पञ्चनमस्कारादि बाह्य द्रव्य का आलम्बन कर चित्त को स्थिर करना धारणा है।

नय १३

जो पदार्थ के एक अंश-परस्पर विरोधी दो धर्मों में से एक धर्म को ग्रहण करता है वह नय कहलाता है। इसके अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चय और व्यवहार के भेद से दो भेद किये गये हैं। तथा सामान्यतया द्रव्यानुयोग में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद किये गये हैं। इन्हीं दो नयों के नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द और समभिरूढ भेद होते हैं। अन्य ग्रन्थकारों ने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा

निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं तथा व्यवहारनय के सद्भुत और असद्भुत के भेद से २ भेद कर उनके अनुपचरित और उपचरित भेद किये हैं। नय का विशिष्ट ज्ञान करने के लिये आलापपद्धति और पञ्चाध्यायिका नयप्रकरण द्रष्टव्य है।

नवतत्त्व १३

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष– ये नौ तत्त्व हैं इन्हीं को नौ पदार्थ कहते हैं।

निक्षेप १३

नय और प्रमाण के अनुसार प्रचलित लोकव्यहार को निक्षेप कहते हैं। इसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा चार भेद हैं। इनका विस्तृत वर्णन कर्मकाण्ड अथवा सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में द्रष्टव्य है।

निःशङ्कित अंग २२८

इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, वेदनाभय, अकस्माद्भय और मरणभय इन सात भयों से रहित होना निःशङ्कित अंग है। इस अंग का धारक जीव उक्त सात भयों से भीत होकर श्रद्धान से विचलित नहीं होता।

निःकांक्षित अंग २३१

कर्मफल की इच्छा नहीं करना।

निंदा ३०६

आत्मसाक्षी पूर्वक दोषों को प्रकट करना निन्दा है।

निमित्त-नैमित्तिकभाव १००

जो कार्य की सिद्धि में सहायक होता है उसे निमित्त कहते हैं और निमित्त से जो

गाथा

कार्य होता है उसे नैमित्तिक कहते हैं। निमित्त के साक्षात्-निमित्त और परम्परा-निमित्त की अपेक्षा दो भेद हैं। कुंभकार अपने योग और उपोग का कर्त्ता है, यह साक्षात्-निमित्त है और कुम्भकार घट का कर्त्ता है, यह परम्परा-निमित्त है।

निमित्तकारण ८२

जो उपादानकारण के द्वारा होनेवाली कार्यरूप परिणति में सहायक होता है उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे घड़ा की उत्पत्ति में कुम्भकार आदि।

निर्जरा १९३

कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा है। इसके सविपाक और अविपाक के भेद से दो भेद हैं।

निर्विचिकित्सा अंग २३१

जुगुप्सा नहीं करना।

निवृत्ति ३०६

बहिरङ्ग विषय-कषायादिक में होनेवाली चेष्टा से चित्त की प्रवृत्ति को रोकना निवृत्ति है।

नोकर्म १९

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और तैजस– ये चार शरीर नोकर्म कहलाते हैं।

पञ्चत्व ४३

मृत्यु। मृत्यु के समय जीव का शरीर पञ्चभूतों में बिखर जाना है। इसलिये पञ्चरूप हो जाने को मृत्यु कहते है।

परसमय २

जो पुद्गलकर्म प्रदेशों में स्थित है अर्थात् उन्हें आत्मरूप या आत्मा के मानता है वह परसमय है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा

परिग्रह २०८

बाह्य पदार्थों के ममत्वभाव को परिग्रह कहते हैं। इसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से २ भेद हैं। अन्तरङ्ग १४ प्रकार का और बहिरङ्ग १० प्रकार है।

परिहार ३०६

मिथ्यात्व तथा रागादिक दोषों से आत्मा का निवारण करना परिहार हैं।

पर्याय ७६

कालक्रम से होनेवाली द्रव्य की अवस्था को पर्याय कहते हैं।

पर्याप्त ६७

जिनकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो चुकती है उन्हें पर्याप्त कहते हैं।

पुद्गल २

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से सहित द्रव्य पुद्गलद्रव्य है। ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य ही हैं।

प्रतिक्रमण ३८३

पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से अपने को पश्चात्ताप करना।

प्रतिक्रमण ३०६

किये हुए दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है।

प्रज्ञा २९४

भेदज्ञान रूपबुद्धि।

प्रतिसरण ३०६

सम्यक्चारित्र में आत्मा को प्रेरित करना प्रतिसरण है।

प्रत्याख्यान ३४

पर का त्याग करना।

गाथा

प्रत्याख्यान ३९४

आगामी दोषों का त्याग करना।

प्रत्यय ५१

आस्रव के कारण। मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग।

प्रमत्त ६

प्रथम से षष्ठगुणस्थान तक के जीव प्रमत्त कहलाते हैं।

प्रभावना अंग २३६

विद्यारूपी रथपर आरूढ होकर जिनेन्द्रदेव के ज्ञान की प्रभावना करना।

प्रमाण १३

जो पदार्थ के परस्पर विरोधी दोनों धर्मों को ग्रहण करता है उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाणनाम ज्ञान का हैं। इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो भेद हैं। सर्वदेशप्रत्यक्ष और एकदेशप्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष के भेद हैं। परोक्षप्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पांच भेद हैं। दूसरी विवक्षा से मति और श्रुत परोक्षप्रमाण हैं।

प्राकरणिक १९७

विवाह आदि कार्यों के स्वामित्व को रखने वाला व्यक्ति इसे बुंदेलखण्ड में 'पगरेत' कहते है।

बन्ध ७१

कषायसहित परिणामों के कारण आत्मप्रदेशों के साथ कर्मप्रमद्रेशों का एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होना बन्ध है।

भाव्यभावक भाव ९५

जिसका अनुभव किया जाता है उसे भाव्य और जो अनुभव करता है उसे भावक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा

कहते हैं।

भेदविज्ञान १९

शरीर तथा कर्मजन्य विकारीभावों से आत्मा को पृथक् भेदविज्ञान जानना है।

मनः पर्ययज्ञान २०४

जो इन्द्रियों की सहायता के बिना दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है उसे मनःपर्यायज्ञान कहते हैं। इसके २ भेद हैं– १. ऋजुमति और २. विपुलमति।

मार्गणास्थान ५३

जिनमें जीव की खोज की जाये उसे मार्गणा कहते हैं। इसके गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार के भेद से चौदह भेद हैं।

मिथ्यात्व ८७

परपदार्थ से भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं होना मिथ्यात्व है। अथवा जीवादि सात तत्त्वों या नौ पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान नहीं होना मिथ्यात्व है।

मुक्ति २७३ (क)

जीव की समस्त कर्मरहित शुद्ध अवस्था।

मेचक १६

आत्मा की कर्मोदय से कलुषित अवस्था को मेचक कहते हैं।

मोक्षपथ १५५

जीवादि पदार्थों का श्रद्धानरूप सम्यक्त्व, उनके ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और रागादिक परित्यागरूप चारित्र ये तीनों ही मोक्ष के पथ हैं।

योगस्थान ५३

काय, वचन और मन के निमित्त से आत्मप्रदेशों में होनेवाले परिस्पन्द को योगस्थान कहते हैं।

गाथा

राग ५१

प्रीतिरूप परिणाम

लवणखिल्यलीला १५

जिस प्रकार नमकडली सब ओर से खारी है। उसी प्रकार आत्मा सब ओर से ज्ञायक स्वभाव है।

वर्ग ५२

अविभागप्रतिच्छेदों के धारक कर्म परमाणुओं को वर्ग कहते हैं।

वर्गणा ५२

वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं।

वात्सल्य अंग २३५

साधुओं के मोक्षमार्ग में स्नेहभाव होना।

विकल्प १३

चारित्रमोह के उदय से परपदार्थों में जो ममत्वभाव होता है उसे विकल्प कहते हैं।

विशुद्धिस्थान ५४

कषाय के उदय की मन्दतारूप स्थान।

वेद्य-वेदकभाव २१६

आत्मा जिस भाव का वेदन करता है वह वेद्य है और वेदन करनेवाला आत्मा वेदक हैं।

व्यवहारनय ११

जो किसी अखण्डद्रव्य में गुण-गुणी का भेद करता है। अथवा दूसरे द्रव्य के संयोग से होनेवाले भावों को दूसरे द्रव्य का जानता है वह व्यवहारनय है।

व्रत २७३

हिंसादि पाँच पापों के त्याग को व्रत कहते हैं। यह त्याग एकदेश और सर्वदेश की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा

अपेक्षा दो प्रकार का है। एकदेशत्याग को अणुव्रत और सर्वदेशत्याग को महाव्रत कहते हैं।

व्याप्य-व्यापकभाव ७५

जिसमें व्याप्त हुआ जावे उसे व्याप्य और जो व्याप्त हो उसे व्यापक कहते हैं जैसे मिट्टी का घड़ा। यहाँ घड़ा व्याप्य है और मिट्टी व्यापक है। यह व्याप्य-व्यापकभाव एक ही द्रव्य में बनता है।

शील २७३

इन्द्रियदमन को शील कहते हैं।

शुद्धनय ११

जो द्रव्य को अभेदरूप से जानता है तथा परद्रव्य के संयोग से होनेवाले भाव को उस द्रव्य का स्वभाव नहीं समझता वह शुद्धनय है। इसीका नाम निश्चय नय है।

शुद्धि ३०६

गुरु के द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित को धारण करना शुद्धि है।

श्रुतज्ञान २०४

मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेषता से जानना श्रुतज्ञान है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक के भेद से २ भेद हैं।

श्रुतकेवली १

द्वादशाङ्ग के ज्ञाता मुनि। ये मुनि छठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। श्रुतकेवली का लक्षण ९-१० गाथा में देखें।

समय १

आत्मा अथवा जीवाजीवादि समस्त पदार्थ।

गाथा

समयप्राभृत १

जीव का निरूपण करनेवाला शास्त्र अथवा समस्त पदार्थों का सार–जीवतत्त्व।

समिति २७३

प्रमादरहित प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं–१. ईर्या, २. भाषा, ३. एषणा, ४. आदाननिक्षेपण और ५. प्रतिष्ठापन।

सर्वज्ञ २४

समस्त द्रव्य तथा उनकी अनन्तानन्त पर्यायों को जाननेवाला सर्वज्ञ कहलाता है।

संकल्प १३

दर्शनमोह के उदय से परपदार्थों में जो आत्मबुद्धि होती है उसे संकल्प कहते हैं।

संक्लेशस्थान ५४

कषाय के उदय की तीव्रता के स्थान।

संयमलब्धिस्थान ५४

चारित्रमोह के विपाक की क्रम से निवृत्ति होने रूप स्थान।

संवर १८१

नवीन कर्मों का नहीं आना संवर है।

संस्थान ५०

आकृति। इसके समचतुरस्रसंस्थान आदि ६ भेद हैं।

संहनन ५०

शरीरगत हड्डियों का विन्यास। इसके वज्र-वृषभ-नाराच-संहनन आदि ६ भेद हैं।

सिद्ध १

जिनकी आत्मा से समस्त कर्मों का सम्बन्ध सदा के लिये छूट जाता है वे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा

सिद्ध कहलाते हैं। ये सिद्ध लोक के अग्रभाग में तनुवातवलयसम्बन्धी उपरितन ५२५ धनुष के क्षेत्र में रहते हैं।

स्थितिबन्धस्थान ५४

भिन्न-भिन्न स्वभाववाली कर्मप्रकृतियों का कालान्तर में स्थित रह सकना।

स्थितीकरण २३४

उन्मार्ग में जाते हुए अपने आपको तथा पर को स्थिर करना।

स्पर्द्धक ५२

वर्गणाओं के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं।

गाथा

संयम २६६ (क)

इन्द्रिय-मनोनिग्रह और प्राणिरक्षण।

स्याद्वाद २४६, २६६, २६८ (क)

स्यात् (कथंचित्) की अपेक्षा से कथन करना। इसे अपेक्षावाद भी कहते हैं।

स्याद्वादशुद्धि २६४ (क)

एकान्त का निराश करके अनेकान्त का प्रतिपादन करना।

स्वसमय २

जो अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वभाव में स्थित है उसे स्वसमय कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1.	मेरी जीवन गाथा, भाग – 1	श्री गणेश प्रसाद वर्णी
2.	मेरी जीवन गाथा, भाग – 2	श्री गणेश प्रसाद वर्णी
3.	वर्णी वाणी, भाग – 2	डॉ0 नरेन्द्र विद्यार्थी
4.	जैन साहित्य का इतिहास, भाग– 1	पं0 कैलाश चन्द्र शास्त्री
5.	जैन साहित्य का इतिहास, भाग – 2	पं0 कैलाश चन्द्र शास्त्री
6.	जैन साहित्य का इतिहास, (पूर्व पीठिका)	पं0 कैलाश चन्द्र शास्त्री
7.	जैन दर्शन (संशोधित संस्करण)	पं0 महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य
8.	तत्त्वार्थसूत्र (संशोधित संस्करण)	पं0 फूलचन्द्र शास्त्री
9.	मंदिरवेदी प्रतिष्ठा एवं कलाशारोहण विधि	डॉ0 पन्नालाल जैन सात्याचार्य
10.	अनेकान्त और स्याद्वाद	प्रो0 उदयचन्द्र जैन
11.	कल्पवृक्ष : एकांकी	श्रीमति रुपवती किरण
12.	आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका	प्रो0 उदयचन्द्र जैन
13.	तत्त्वार्थसार	प्रो0 पन्नालाल जैन सात्याचार्य
14.	वर्णी अध्यात्म–पत्रावली, भाग–1	श्री गणेश प्रसाद वर्णी
15.	आदिपुराण में प्रतिपादित भारत	डा0 नेमिचन्द्र शास्त्री
16.	सत्य की ओर प्रथम कदम	श्री दयासागर
17.	समयसार (प्रवचनसहित)	श्री गणेश प्रसाद वर्णी
18.	श्रावक धर्म–प्रदीप	पं0 जगन्मोहन लाल शास्त्री
19.	पंचाध्यायी (संशोधित संस्करण)	पं0 देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री
20.	लघुतत्त्वस्फोट	डा0 पन्नालाल साहित्याचार्य
21.	भद्रबाहु–चाणक्य–चन्द्रगुप्त कथानक	प्रो0 राजाराम जैन
22.	आत्मानुशासन	पं0 फूलचन्द्र शास्त्री
23.	योगसार (भाषावचनिका)	डा0 कमलेश कुमार जैन
24.	जैनन्याय भाग–2	लाशचन्द्र शास्त्री
25.	स्वयम्भूस्तोत्र–तत्त्वदीपिका	उदयचन्द्र जैन
26.	देवीदास विलास	ते डॉ0 विद्यावती जैन
27.	अध्यात्म पद–पारिजात	कन्छेदीलाल जैन
28.	धवल–जयधवल सार	जवाहर लाल शास्त्री
29.	जैनधर्म दर्शन के सिद्धान्तों की वैज्ञानिकता	प्रो0 लक्ष्मीचन्द्र जैन
30.	On the Language of Ksatakhandagam	Dr. Satya Ranjan Banerjee
31.	गुरु परंपरा से प्राप्त दि0 जैन आगम– एक इतिहास	डॉ0 एम0डी0 वसंतराज

Serving JinShasan
134589
gyanmandir@kobatirth.org

अन्य उपलब्ध ग्रन्थ :

32.	सिद्धान्ताचार्य पं0 फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ	
33.	सिद्धान्ताचार्य पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ	
34.	अकिंचित्कर : एक अनुशीलन	पं0 फूलचन्द्र शास्त्री
35.	जैन तत्त्वमीमांसा	पं0 फूलचन्द्र शास्त्री
36.	सत्यान्वेषी एकादश	पं0 फूलचन्द्र शास्त्री

सभी प्रकार के पत्र व्यवहार करने एवं ड्राफ्ट भेजने का पताः

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी – 221005

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org